रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमदुमास्वातिविरचितं

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र

न्यायवाचस्पति–वादिगजकेसरी–स्याद्वादवारिधि स्व० पं० गोपालदासजी बरैयाके

अन्यतम शिष्य, विद्यावारिधि पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीरचित

हिन्दी–भाषानुवादसहित।

प्रकाशक—

शेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी

ऑनरेरी व्यवस्थापक–श्रीपरमश्रुतप्रभावक जैनमंडल।

जौहरीबाजार–खाराकुवा बम्बई नं. २।

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४५८

वैक्रम संवत् १९८९, सन् १९३२

मूल्य तीन रुपया।

प्रकाशकका निवेदन।

वीरनिर्वाण सं० २४३२ सन् १९०६ ई० में सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र पं० ठाकुरप्रसादजी व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका सहित पहली वार प्रकाशित हुआ था, प्रथम संस्करण कमीका समाप्त हो गया था, ग्रंथकी हमेशह माँग रहनेसे, महत्त्वपूर्ण उपयोगी और पाठ्य-ग्रंथ होनेके कारण पुनः विस्तृत भाषाटीका सहित प्रगट किया है। प्रथम संस्करणसे यह संस्करण दुगुना वड़ा है। ग्रंथका प्रचार हो, इससे मूल्य भी बहुत ही कम रखा है।

इस ग्रंथको दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय पूज्य मानते हैं। दोनों ही सम्प्रदायके आचार्योंने तत्त्वार्थसूत्रपर वड़े वड़े भाष्य-टीका-ग्रंथ लिखे हैं। ऐसी एक हिन्दी-टीकाकी जरूरत थी, जो महान् महान् टीका-ग्रंथोंका अध्ययन-मनन करके प्रचलित हिन्दीमें लिखी गई हो, और जिसमें पदार्थोंका विवेचन आधुनिक शैलीसे हो, इन ही सब बातोंपर लक्ष्य रखके यह टीका प्रकाशित की है। आशा है, पाठकोंको पसंद आयगी।

भविष्यमें श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालामें उत्तमोत्तम नये ग्रंथ और जो ग्रंथ समाप्त हो गये हैं, तथा जो समाप्तप्राय हैं, उन्हें पुन उत्तमता पूर्वक छपानेका विचार है। पाठकोंसे नम्र-निवेदन है, वे शास्त्रमालाके ग्रंथोंका प्रचार करके हमारे उत्साहको वृद्धिंगत करें।

झवेरीबाजार, बम्बई।
श्रावण शुक्ल १५-रक्षाबंधन सं० १९८९

निवेदक—
मणीलाल झवेरी।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी
विषय-सूची।

१ दि० श्वे० सूत्रोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक, १४
१ वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका १०

सम्बन्धकारिका।

विषय	पृष्ठ
मंगल और ग्रंथकी उत्पत्तिका सम्बन्ध-	१
मनुष्यका अन्तिम वास्तविक साध्य-	२
मोक्ष-पुरुषार्थकीसिद्धिके लिये निर्दोष प्रवृत्ति करो, जो यह न बने, तो यत्नाचारपूर्वक ऐसी प्रवृत्ति करो, जो पुण्यबंधका कारण हो-	२
प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यो और उनकी प्रवृत्तियोंकी जघन्य मध्यमोत्तमता, औरन करनेवालेकी अधमता	३
उत्तमोत्तम पुरुष कौन है?	३
अरहंतदेवकी पूजाका फल और उसकी आवश्यक्ता	४
अरहंतदेव जब कृतकृत्य हैं, तो वे उपदेश भी किस कारण देते हैं?	४
उपर्युक्त शंकाका समाधान	५
तीर्थकरकर्मके कार्यकी दृष्टान्त द्वारा स्पष्टता	५
अंतिम तीर्थकर श्रीमहावीर भगवानका स्मरण	५
महावीर शब्दकी व्याख्या	६
भगवानके गुणोंका वर्णन	७
भगवानने जिस मोक्षमार्गका उपदेश किया उसका संक्षिप्त स्वरूप, तथा उसका फल	९
जिस प्रकार सूर्यके तेजको कोई आच्छादित (ढँक) नहीं सकता, उसी प्रकार तीर्थकर द्वारा उपदेश किये अनेकान्त सिद्धान्तको एकान्तवादी मिलकर भी पराजित नहीं कर सकते,	१०
भगवानमहावीरको नमस्कार, उनकी देशना-उपदेशका महत्त्व और वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा	१०
भगवानके वचनोंके एकदेश संग्रह करना भी बड़ा दुष्कर है	११
सपूर्ण जिनवचनके संग्रहकी असंभवताका आगम-प्रमाण द्वारा समर्थन	१२
फलितार्थ	१३
जिनवचन सुननेवाले और व्याख्यान करनेवालोंकी फल-प्राप्ति वर्णन	१३
ग्रंथका व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओंको उत्साहित करना	१३
वक्ताओंको सदा श्रेयो-कल्याणकारी मार्गका ही उपदेश देना चाहिए	१४
वक्तव्य विषयकी प्रतिज्ञा	१४

१ प्रथम अध्याय।

	पृष्ठ
मोक्षका स्वरूप	१५
सम्यग्दर्शनका लक्षण	१७
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति जिस तरह होती है, उसके दो हेतुओंका उल्लेख	१८
निसर्ग और अधिगम सम्यग्दर्शनका स्वरूप	१९
जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका स्वरूप	२१
तत्त्वोंका व्यवहार किस तरह होता है?	२२
नाम, स्थापना, द्रव्य और भावका स्वरूप	२३
[illegible] पदार्थोंके जानने [illegible] उपाय	२५
[illegible] और नयका स्वरूप	२६
निर्देश, स्वामित्व आदि छह अनुयोगोंका स्वरूप	२७
१ सत्, २ संख्या ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और अल्पबहुत्व, आठ अनुयोगोंका स्वरूप	३१
ज्ञानका वर्णन	३३
प्रमाणका वर्णन	३४
परोक्षका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन	३५
प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन	३५
मतिज्ञानके भेद	३७
,, का सामान्य लक्षण	३७
अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणाका स्वरूप	३८

अवग्रहादिक कितने पदार्थोंको धारण करते हैं? ... ३९
बहु आदिक विशेषण किसके हैं? ... ४०
अव्यक्तके विषयमें विशेषता क्या है? ... ४०
व्यंजनावग्रहमें और भी विशेषता है ... ४१
श्रुतज्ञानका स्वरूप ... ४२
मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें क्या विशेषता है? इस प्रश्नका उत्तर ... ४३
अवधिज्ञानका स्वरूप ... ४४
भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तकअवधिज्ञानके भेदोंका स्वरूप ... ४५
क्षयोपशमनिमित्तक किनके होता है? उसमे भी भव कारण है या नहीं? ... ४६
मन-पर्यायज्ञान और उसके भेद ऋजुमति, विपुलमतिका वर्णन ... ४९
मन पर्यायज्ञानके दोनों भेद अतीन्द्रिय हैं, दोनोंका विषयपरिच्छेदन मन पर्यायोंको जानना भी सरीखा ही है, फिर इनमें विशेषता किस बातकी है? इस शंकाका समाधान ... ५०
अवधिज्ञान और मन·पर्यायज्ञानमें विशेषता क्या क्या है, और किस किस अपेक्षासे है? ... ५१
किस किस ज्ञानकी किस किस विषयमें प्रवृत्ति हो सकती है? ... ५३
अवधिज्ञानका विषय ... ५३
मन-पर्यायज्ञानका विषय ... ५४
केवलज्ञानका विषय ... ५४
मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमेंसे एक समयमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते हैं? ... ५५
प्रमाणाभासरूप ज्ञानोंका निरूपण— मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान विपरीत होते हैं, क्योकि वे ज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं करते? यह बात कैसे मालूम होवे? ... ५९
नयोंका वर्णन ... ६०
नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजूसूत्र और शब्द, नयके इन पाँच भेदोंमें और भी विशेषता है, ... ६१
नैगम नय आदि क्या पदार्थ हैं? ... ६३
नैगम नय आदिकको जैनप्रवचनसे भिन्न वैशेषिक आदि दर्शनशास्त्रवाले भी मानते हैं, अथवा ये नय स्वतंत्र ही हैं? अर्थात् ये नय अन्य सिद्धान्तका भी निरूपण करते हैं, अथवा यद्वा तद्वा, युक्त अयुक्त कैसा भी पक्ष ग्रहण करके जैनप्रवचनको सिद्ध करते है। इस शंकाका समाधान ... ६४
नयोंके स्वरूपमें विरुद्धता प्रतीत होती है, क्योंकि एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक अध्यवसायोंकी प्रवृत्ति मानी है। परंतु यह बात कैसे बन सकती है? इस शकाका समाधान ... ६५
जीव या नोजीव अथवा अजीव यद्वा नो अजीव इस तरहसे केवल शुद्ध पदका ही उच्चारण किया जाय, तो नैगमादिक नयोंमेंसे किस नयके द्वारा इन पदोंके कौनसे अर्थका बोधन कराया जाता है? इस शंकाका समाधान ... ६९
किस किस ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रवृत्ति हुआ करती है? ... ७१
कौन कौनसा नय किस किस ज्ञानका आश्रय लेता है? ... ७२
बाकी छह ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नहीं लेता? ... ७२
पाँच कारिकाओं—श्लोकोंमें पहले अध्यायका उपसंहार ... ७३

इति प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

२ द्वितीय अध्याय।

जीवतत्त्वका स्वरूप ... ७५
औपशमिकादि जीवके भाव-भेदोंकी संख्या ... ७६
औपशमिकके दो भेदोका स्वरूप ... ७७
क्षायिकके नौ भेद ,, ... ७७
क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद ,, ... ७८
औदयिकके इक्कीस भेद ,, ... ७९
पारिणामिकभावोंके तीन भेद ,, ... ८१
जीवका उपयोग लक्षणका स्वरूप ... ८२
लक्षणके उत्तरभेद ... ८२
लक्षणसे युक्त जीवद्रव्यके कितने भेद हैं? ... ८४
संसारी जीवोके उत्तरभेदोका वर्णन ... ८४
स्थावरोंके भेदोका ,, ... ८५

त्रसोंके भेदोंका वर्णन ८७
इन्द्रियोंकी संख्या और उनकी इयत्ता–सीमा ८८
इन्द्रियोंके सामान्य भेद ८९
द्रव्येन्द्रियका आकार और भेद ८९
भावेन्द्रियके भेद और उनका स्वरूप ९०
उपयोग शब्दसे कौनसा उपयोग लेना चाहिए? ९१
पाँच इन्द्रियोंके नाम ९३
पाँच इन्द्रियोंका विषय ९३
अनिन्द्रियोंका विषय ९५
किस किस जीवके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं? ९५
किस किस जीवनिकायके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं? ९६
दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं? ९६
समनस्क जीव कौनसे हैं? अनिन्द्रियकी अपेक्षा जीवका नियम ९७
जो जीव एक शरीरको छोड़कर शरीरान्तरको धारण करनेके लिये गमन करते हैं, उनके कौनसा योग पाया जाता है? ९५
जीवोंको यह भवान्तरप्रापिणी–गति किसी तरह नियमबद्ध है, अथवा अनियत ? इस शंकाका समाधान १००
पंचमगति–मोक्षका नियम १०१
वक्रागति किस प्रकार होती है, उसमें कितना काल लगता है ? १०१
भवान्तर जाते समय जीवको कालकी अपेक्षा कितना समय लगता है ? १०२
अनाहारकताका काल कितना है ? १०३
जन्मके तीन भेद–सम्मूर्छन, गर्भ और उपपातका स्वरूप १०५
कहाँपर जीव सम्मूर्छनजन्मको, कहाँपर गर्भ-जन्मको और कहाँपर उपपातजन्मको धारण करते हैं ? १०६
किस किस जीवके कौन कौनसा जन्म होता है ? उनके स्वामी कौन हैं ? १०८
उपपादजन्मके स्वामी १०९
सम्मूर्छनजन्मके स्वामी १०९
पूर्वोक्त योनियोंमें उपर्युक्त जन्मोंके धारण कर-नेवाले जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं ? उनके क्या क्या लक्षण हैं ? ११०
औदारिकशरीर स्थूल है, इससे शेष शरीर सूक्ष्म है, परन्तु यह सूक्ष्मता कैसी है ? शेष चारों ही शरीरोकी सूक्ष्मता सदृश है, अथवा विसदृश ? १११
शरीरोमें जब उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो उनके प्रदेशोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर कम होगी ? इस शंकाका समाधान ११२
तैजस और कार्माणशरीरके प्रदेशोंमें विशेषता ११३
अन्तके दो शरीरोंमें और भी विशेषता है ११३
औदारिक आदि तीन शरीरोंका सम्बन्ध कभी पाया जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या ? इस शंकाका समाधान ११४
यद्यपि इन दोनोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं, या किसी किसी के ? इस प्रश्नका उत्तर– ११४
दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी जीवोंके युगपत् पाया जाता है, इसी तरह अन्य शरीर भी एक जीवके एक ही कालमें पाये जाते हैं या नहीं ? यदि पाये जाते हैं, तो पाँचों शरीरोंमेंसे कितने शरीर युगपत् एक जीवके रह सकते हैं ? ११५
इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है ? अन्तिम कार्म-णशरीरका वर्णन ११७
इन शरीरोंमेंसे कौनसा शरीर किस जन्ममें हुआ करता ? अर्थात् किस किस जन्मके द्वारा कौन कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ? ११९
वैक्रियशरीरका जन्म किनके होता है ? १२०
वैक्रियशरीर औपपातिकके सिवाय, अन्य प्रकारका भी होता है १२०
आहारकशरीरका लक्षण और उसके स्वामी १२०
किस किस गतिमें, कौन कौनसा लिंग पाया जाता है ? १२९
जिन जीवोंमें नपुंसकलिंगका सर्वथा अभाव पाया जाता है, उनका अर्थात् देवोंका वर्णन १३०
चतुर्गति संबंधी प्राणियोंने अपनी पूर्व आयुका बंधन किया, उस आयुको परिपूर्ण भोगकर नवीन शरीर धारण करते हैं, या और प्रकारसे ? १३२

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

३ तृतीय अध्याय ।

जीवतत्त्वके वर्णनमें जीवोंका आधारविशेषके प्रतिपादनमें अधोलोकका वर्णन १३७
नरक कितने हैं? कहाँ हैं? और कैसे हैं? १३७
रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि ७ नरकभूमियोंका-वर्णन १३८
नरक कहाँ हैं? जिनमें नारक जीवोंका निवास पाया जाता है १४१
नारक-जीवोंका विशेष स्वरूप १४२
लेश्यादिक अशुभ अशुभतर किस प्रकार हैं? १४४
नारकियोंके शरीरका वर्णन १४५
,, ,, की ऊँचाईका वर्णन १४६
,, की वेदनाका वर्णन ,, १४७
,, के पारस्परिक दु.खोंका वर्णन १४८
नारकीके क्षेत्रस्वभावकृत दु ख कैसा है? १४९
क्षेत्रकृत दुःख-वर्णन १५०
असुरोदीरित दु.खोंका वर्णन १५१
असुरकुमार क्यों दुःख पहुँचाते हैं? उनका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है? १५३
नारकी इतने दु.खोंको सहन कैसे करते हैं? यंत्र पीडनादिसे उनका शरीर छिन्न भिन्न क्यो नहीं होता है? और उनकी मृत्यु क्यों नहीं होती है? १५४
सातों ही नरकोंके नारकियोकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण १५५
किस किस जातिके जीव ज्याद. से ज्याद किस किस नरक तक जा सकते हैं? १५६
नरक पृथ्वियोंकी रचनामें विशेषता १५७
लोकका वर्णन १५८
लोक क्या है? और वह कितने प्रकारका है? तथा किस प्रकारसे स्थित है? १५९
तिर्यग्लोकका संक्षिप्त स्वरूप १६०
द्वीप और समुद्र किस प्रकारसे अवस्थित हैं? और उनका प्रमाण कितना कितना है? १६२
जम्बूद्वीपका आकार और उसके विष्कंभ-विस्तारका प्रमाण १६३
जम्बूद्वीपके सात क्षेत्र कौन कौनसे हैं? १६५
जम्बूद्वीपको विभाजित (अलग अलग) करनेवाले कुलाचलोंका वर्णन १६७
पर्वतोंका अवगाह तथा ऊँचाई आदिका एवं जीवा धनुष आदिका विशेष प्रमाण १६७
द्वीपान्तरोंका वर्णन १७२
धातकीखंडका वर्णन १७३
धातकीखंड जैसी रचना पुष्करार्धमें है १७३
मनुष्य कौन हैं? और वे कहाँ कहाँ रहते हैं? १७६
मनुष्योंके मूलभेद कौनसे हैं? १७७
आर्य मनुष्यके क्षेत्रार्य आदि ६ भेदोंका वर्णन १७७
म्लेच्छोंका वर्णन १७८
मनुष्यक्षेत्रकी कर्मभूमि अकर्मभूमिका वर्णन १८१
मनुष्योंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका प्रमाण १८२
तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका प्रमाण १८३
तिर्यंचोंकी भवस्थितिका प्रमाण १८४

इति तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥

---

४ चतुर्थ अध्याय ।

देवोंके भेद १८६
चार निकायोंमेंसे ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व प्रत्यक्ष है १८८
चार निकायके अन्तर्भेद १८८
बारहवें स्वर्गतक इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, इसलिये उसको कल्प कहते हैं, किन्तु यह कल्पना कितने प्रकारकी है? १८९
व्यन्तर ज्योतिष्क देवोके आठ आठ भेद १९१
इन्द्रोंकी संख्याका नियम १९१
पहले दो निकायोंकी लेश्याका वर्णन १९२
देवोंके काम-सुखका वर्णन १९३
अदेवीक (जिनके देवियाँ नहीं) और अप्रवीचार देवोका वर्णन १९६
भवनवासी देवोंके दश भेद १९५

असुरकुमार नागकुमार आदि दश प्रकारके भवनवासी देवोंका वर्णन १९८
व्यन्तरनिकायके आठ भेद २००
किन्नर, किम्पुरुषादि ८ प्रकारके व्यन्तरोंका वर्णन २०१
किन्नरके १०, किम्पुरुषके १०, महोरगके १०, गान्धर्वके १२, यक्षके १३, राक्षसके ७, भूतके ९, पिशाचके १५ भेद, इन भेदोके क्रमशः नाम २०२
व्यन्तरोंके आठ भेदोंकी क्रमसे विक्रिया और उनके ध्वजचिन्ह २०२
तीसरे देवनिकाय-ज्योतिष्कोंका वर्णन २०४
ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति, और भ्रमण करनेवाले हैं, या उनमे किसी प्रकारका अन्तर है ? २०५
सूर्यमंडलका वर्णन २०७
ज्योतिष्कदेवोंकी गतिसे ही कालके विभाग घड़ी, पल दिन रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर-वर्ष आदि भेद होते हैं २०९
ज्योतिष्क विमानोद्वारा कालका जो विभाग होता है, उसकी स्पष्टता— २१०
समयका स्वरूप— २११
आवली, उछ्वास, प्राण, स्तोक, लव, नाली, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्वाङ्ग, पूर्व, अयुत, कमल, नलिन, कुमुद, तुटि, अडड अवव, हाहा, हूहू, आदि संख्यातकालके भेदोंका स्वरूप २१३
उपमा नियतकालका प्रमाण २१३
मनुष्यलोकमें तो ज्योतिष-चक्र मेरुकी प्रदक्षिणा देता हुआ नित्य ही गमनशील है, परन्तु उसके बाहर कैसा है ? विना प्रदक्षिणा दिये ही गतिशील है ? यद्वा उसका कोई और ही प्रकारसे है ? २१५
चौथे देवनिकाय—वैमानिकोंका वर्णन २१६
वैमानिकदेव जो कि अनेक विशेष ऋद्धियोंके धारक हैं, उनके मूलमें कितने भेद हैं ? २१७
कल्पोपन्न और कल्पातीत भेदोंमेंसे कल्पोपन्नदेवोंके कल्पोंकी अवस्थिति किस प्रकारसे है ? २१७
कल्पोपन्न और कल्पातीत दोनों भेदोंमेंसे किसीका भी नामनिर्देश नहीं किया है, अतएव वे कौन कौन हैं ? २१७
सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत आरण, और अच्युत १२ कल्पोंका वर्णन २१८
वैमानिकदेवोंकी उत्तरोत्तर अधिकतायें २२१
वैमानिकदेवोंमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर सुखादि विषयोंमें अधिकता है, उसी प्रकार किन्हीं किन्हीं विषयोंकी अपेक्षासे न्यूनता भी है २२३
वैमानिकदेवोमें कौन कौनसी लेश्या होती हैं ? २२८
कल्प किसे कहते हैं ? २२९
जो देव भगवान् अरहंतदेवके, गर्भ जन्मादिक कल्याणकोंके समय प्रमुदित-प्रसन्न हुआ करते हैं, क्या वे सभी देव सम्यग्दृष्टी हैं ? २३०
लौकान्तिकदेव कौन हैं ? और वे कितने प्रकारके हैं ? २३२
सारस्वत आदि आठ प्रकारके लौकान्तिकदेवोंकावर्णन २३३
अनुत्तरविमानके देवोंका विशेषत्व २३३
तिर्यञ्चोंका स्वरूप २३५
देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ? २३५
दक्षिणार्धके अधिपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति २३६
उत्तरार्धके अधिपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति २३६
दोनों असुरेन्द्रों (चमर और वलि) की उत्कृष्ट स्थिति २३७
सौधर्म और ऐशानकी उत्कृष्ट स्थिति (आयु) २३७
ऐशानकल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति २३८
सनत्कुमारकल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति २३८
माहेन्द्रकल्पसे लेकर अच्युत पर्यंत कल्पोंके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति २३८
कल्पातीतदेवोंकी उत्कृष्ट स्थिति २३९
वैमानिकदेवोंकी जघन्य स्थिति २४०
सानत्कुमारकल्पमें रहनेवाले देवोकी जघन्य स्थिति २४०
माहेन्द्रकल्पवर्त्ती देवोंकी जघन्य स्थिति २४०
जघन्य स्थितिका क्या हिसाब है ? २४१
नारकजीवोंकी जघन्य स्थिति २४२
नरककी पहली भूमिकी जघन्य स्थितिका प्रमाण २४२
भवनवासियोंकी जघन्य स्थिति २४३
व्यन्तरदेवोंकी जघन्य स्थिति २४३
व्यन्तरोकी उत्कृष्ट स्थिति २४३
ज्योतिष्कोंकी उत्कृष्ट स्थिति २४३
ग्रहादिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति २४३
नक्षत्र जातिके ज्योतिष्कदेवोंकी उत्कृष्ट स्थिति २४४
ताराओंकी उत्कृष्ट स्थिति २४४
,, जघन्य ,, २४४
ताराओंसे शेष ज्योतिष्कदेवोंकी जघन्य स्थिति २४४

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

५ पंचम अध्याय।

चौथे अध्याय तक तो जीवतत्त्वका निरूपण हुआ, अब इस अध्यायमें अजीवतत्त्वका वर्णन है,
काल द्रव्यको छोड़कर शेष धर्मादिक द्रव्योंका स्वरूप २४५
धर्मादिक चारोंकी द्रव्यता सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये द्रव्य हैं? अथवा पर्याय हैं? २४७
ये द्रव्य अपने स्वभावसे च्युत होते हैं, या नहीं? पाँचकी यह सख्या कभी विघटित होती है या नहीं? ये पाँचों ही द्रव्य मूर्त्त हैं अथवा अमूर्त्त? २४७
धर्मादिक द्रव्य अरूपी हैं, ऐसे अपर्युक्त वर्णनसे पुद्गल भी अरूपी ठहरता है, उसका निषेध, २४९
द्रव्योंकी और भी विशेषतायें २५०
धर्मादिकके वहुत प्रदेश हैं, परन्तु वे कितने कितने हैं? उनकी इयत्ता-प्रदेशोंकी संख्या २५३
जीवके भी उतने ही प्रदेश माने है, जितने कि धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्यके हैं, अतएव उसके भी प्रदेशोंकी संख्याका नियम २५३
आकाशद्रव्यके प्रदेशोंकी इयत्ता २५४
पुद्गलद्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या २५५
परमाणुके प्रदेश नहीं होते २५६
धर्मादिक द्रव्योंका आधार २५६
धर्म अधर्म द्रव्यका अवगाह लोकमें कैसा है? २५६
पुद्गलद्रव्यके अवगाहका स्वरूप २५७
जीवद्रव्यका अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है? २५८
एक जीवकी अवगाहना लोकाकाशके असंख्यातवें भागमें कैसे है? एक जीवका लोकप्रमाण प्रदेश है, इससें सर्वलोगमें व्याप्त चाहिए! इन प्रश्नोंका उत्तर २५९
धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण २६१
आकाशका उपकार २६२
पुद्गलद्रव्यका उपकार २६३
कार्यद्वारा पुद्गलका उपकार २६४
जीवद्रव्यका उपकार २६६
कालकृत उपकार २६७
पुद्गलके गुण २७०
पुद्गलके धर्म-
" पर्याय २७१
शब्दस्वरूप २७१
वंध " २७१
सूक्ष्म " २७१
स्थूल " २७१
संस्थान " २७२
भेद " २७२
तम " २७२
छाया " २७२
आतप " २७२
उद्योत-स्वरूप २७२
पुद्गलके २ भेद, अणु और स्कंधका वर्णन २७४
ये दो भेद होते किस कारणसे हैं? २७५
स्कंधोकी उत्पत्तिके ३ कारणोंका वर्णन २७५
परमाणुओंकी उत्पत्ति कैसे होती है? २७६
अचाक्षुष स्कंधका चाक्षुष बननेका कारण २७६
सत्का लक्षण २७७
उत्पात व्यय और ध्रौव्यका स्वरूप २७८
विरोधका परिहार और परिणामी नित्यत्वका स्वरूप २८०
जो नित्य है, उसीको अनित्य अथवा जो अनित्य है, उसीको नित्य कैसे कहा जा सकता है? २८२
अनेकान्तका स्वरूप २८३
सप्तमंगीका स्वरूप २८६
जिन पुद्गलोंका वंध हो जाता है, उन्हींका यदि संघात होता है, तो फिर वंध किस तरह होता है? २८८
पुद्गलोंके वंधमें उनके स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणको कारण वताया, परन्तु क्या यह एकान्त है, कि जहाँपर ये गुण होंगे, वहाँपर नियमसे वंध हो ही जायगा, या इसमें भी कोई विशेपता है? २८९
स्निग्ध रूक्षगुणोंकी समानताके द्वारा जो सदृश हैं, उनका वंध नहीं हुआ करता २९०
सभी सदृश पुद्गलोंका वंध नहीं होता, तो फिर वंध किनका होता है? २९०
एक स्निग्ध परमाणुका दूसरे रूक्ष परमाणुके साथ वंध हुआ, इनमेंसे कौन परिणमन करेगा? और कौन करावेगा? २९१

द्रव्यका लक्षण २९२
कालद्रव्यका स्वरूप, काल भी क्या पाँच द्रव्योंसे भिन्न छट्ठा द्रव्य है ? अथवा पाँचोंमें ही अन्तर्भूत है ? २९३
कालका विशेष स्वरूप २९४
गुणका लक्षण २९५
परिणामका स्वरूप २९६
परिणामके २ भेदोंका स्वरूप २९६
रूपी–मूर्त्त पदार्थोंका परिणाम अनादि है, या आदिमान् ? २९६
आदिमान् परिणामका स्वरूप २९७

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

६ छट्ठा अध्याय ।

आस्रवतत्त्वका वर्णन
आस्रव किसको कहते हैं ? योगका स्वरूप– २९८
योगके पहले भेद–शुभका स्वरूप २९९
दूसरे भेद–अशुभ योगका स्वरूप ३००
योगके स्वामिभेदकी अपेक्षासे भेद ३००
साम्परायिकआस्रवके भेद ३०१
साम्परायिकआस्रवके भेदोंमें जिन जिन कारणोंसे विशेषता है, उनका वर्णन ३०३
अधिकरण और उसके भेदोंका स्वरूप ३०४
भावाधिकरण जीवाधिकरणका स्वरूप ३०५
अजीवाधिकरण और उनके भेद ३०६
ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्मके कारणभूत आस्रवके विशेष भेद ३०८
असद्वेद्यबंधके कारण ३०९
सद्वेद्यकर्मके बंधके कारण ३१०
दर्शनमोहके बंधके कारण ३११
चारित्रमोहकर्मके बंधके कारण ३१२
नरकायुके आस्रवके कारण ३१२
तिर्यगायुके बंधके कारण ३१२
मनुष्यायुके आस्रवके कारण ३१३
सामान्यसे सभी आयुके आस्रवके कारण ३१३
देवायुके आस्रवके कारण ३१३
अशुभनामकर्मके बंधके कारण ३१४
शुभनामकर्मके आस्रवके कारण ३१४
तीर्थंकरकर्मके आस्रवके कारण–षोड़शकारण–भावनाओंका स्वरूप ३१५
नीचगोत्रके आस्रवके कारण ३१६
उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके कारण ३१७
अन्तरायकर्मके आस्रवके कारण ३१७

इति षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

७ सप्तम अध्याय ।

व्रतोंका स्वरूप, व्रती किसको समझना चाहिए ३१९
त्यागरूप व्रत कितने प्रकारका है ? और उसका स्वरूप क्या है ? ३१९
पाँच पापोंके त्यागरूप व्रतोंकी पाँच पाँच भावनाओंका स्वरूप ३२०
उपर्युक्त भावनाओंके सिवाय सामान्यतया सभी व्रतोंके स्थिर करनेवाली भावनाओंका स्वरूप ३२२
हिंसा आदि ५ पापोंमें दु:खही दु:ख है अतएव इनका त्याग ही करना श्रेयस्कर है ३२४
मैत्री, प्रमोद कारुण्य, माध्यस्थ्यभावनाका स्वरूप ३२६
संवेग और वैराग्यकी सिद्धिके लिये जगत और लोकस्वरूपका चिन्तवन करना चाहिए ३२९
हिंसाका लक्षण ३३०
अनृत–असत्यका लक्षण ३३०
चोरीका लक्षण ३३२
अब्रह्म–कुशीलका लक्षण ३३२
परिग्रहका स्वरूप ३३३
व्रती किसको कहते है ? ३३३
व्रतीके भेद ३३४
अगारी और अनगार में अन्तर और विशेषता ३३४

दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिकव्रत पौषधोपवास, उपभोगपरिभोगव्रत, और अतिथि संविभागव्रतका स्वरूप ३३५
सल्लेखनाव्रतका स्वरूप ३३८
शंका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, और अन्यदृष्टिसंस्तव, सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचारोंका स्वरूप ३३९
अहिंसा आदि व्रतों और सप्तशीलोंके पाँच पाँच अतीचार ३४१
अहिंसाव्रतके अतीचार ३४१
सत्याणुव्रतके अतीचार ३४२
अचौर्याणुव्रतके अतीचार ३४३
ब्रह्मचर्यव्रतके अतीचार ३४४
परिग्रहप्रमाण व्रतके अतीचार ३४५
दिग्व्रतके अतीचार ३४५
देशव्रतके अतीचार ३४६
अनर्थदंडव्रतके अतीचार ३४६
सामायिकव्रतके अतीचार ३४७
पौषधोपवासव्रतके अतीचार ३४८
भोगोपभोगव्रतके अतीचार ३४९
अतिथिसंविभागके अतीचार ३४९
सल्लेखनाव्रतके अतीचार ३५०
दानका स्वरूप ३५१
दानमें विशेषताके कारण ३५१

इति सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय ।

बंधतत्त्वका वर्णन
बंधके ५ कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगका स्वरूप ३५३
बंध किसका होता है? किस तरहसे होता है? और उसके स्वामी कौन हैं? ३५४
कार्मणवर्गणाओंका ग्रहणरूप बंधका वर्णन– ३५५
ग्रहणरूपबंधके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध ४ भेदोंका वर्णन ३५५
प्रकृतिबंधके भेद ३५५
,, उत्तरभेद ३५६
ज्ञानावरणके पाँच भेद ३५७
दर्शनावरणके ९ भेद ३५७
वेदनीयकर्मके २ भेद ३५७
मोहनीयकर्मके २८ भेदोंका वर्णन ३५८
आयुष्कप्रकृतिबंधके ४ भेद ३६५
नामकर्मके ४२ भेदोंका स्वरूप ३६७
गोत्रकर्मके २ भेदोंका स्वरूप ३७३
प्रकृतिबंध-अन्तरायकर्मके पाँच भेदोंका स्वरूप ३७३
स्थितिबंधकी उत्कृष्ट स्थिति ३७४
मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३७४
नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३७५
आयुकर्मकी स्थिति ३७५
वेदनीयकर्मकी स्थिति ३७५
गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति ३७५
बाकी कर्मोंकी जघन्य स्थिति ३७५
अनुभागबंधका लक्षण ३७६
कर्मका विपाक किस रूपमें होता है । ३७७
नामके अनुरूप विपाक हो जानेके अनन्तर उन कर्मोंका क्या होता है ३७७
प्रदेशबंधका वर्णन ३७८
पुण्यरूप और पापरूप प्रकृतियोंका विभाग ३७९

इति अष्टमोऽध्याय ॥८॥

९ नवम अध्यायः ।

संवरतत्त्व और निर्जरातत्त्व वर्णन
संवरका लक्षण ३८१
किन किन कारणोंसे कर्मोंका आना रुकता है । ३८१
संवर-सिद्धिका कारण-तपका स्वरूप ३८१
गुप्तिका लक्षण ३८२
१ ईर्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदाननिक्षेपण ५ उत्सर्ग पाँच समितियोंका स्वरूप ३८३
१ उत्तम क्षमा २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ शौच, ५ सत्य, ६ संयम, ७ तप, ८ त्याग, ९ आकिंचन्य, और १० ब्रह्मचर्य, दश धर्मोंका स्वरूप ३८५

१ अनित्य २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५अन्यत्वानुप्रेक्षा ६अशुचित्वानुप्रेक्षा ७आस्रवानुप्रेक्षा ८ संवरानुप्रेक्षा ९निर्जरानुप्रेक्षा १०लोकचिन्तवन ११बोधिदुर्लभ १२ धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा, बारह अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप ३९२
परीषह सहन क्यों करना चाहिए ४०५
१ क्षुधा २ पिपासा ३ शीत ४ उष्ण, ५ दंशमशक ६ नाग्न्य ७ अरति ८ स्त्री ९ चर्या १० निषद्या ११ शय्या १२ आक्रोश १३ वध १४ याचना १५ अलाभ १६ रोग १७ तृणस्पर्श १८ मल १९ सत्कार, २० प्रज्ञा २१ अज्ञान, २२ अदर्शन बाईस परीषहोंका वर्णन ४०६
किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीषहें होती हैं? कितनी कितनी परीषह किस किस गुणस्थानवर्ती जीवके पाई जाती हैं? ४०७
जिनभगवानमे ११ परीषहोकी संभवता ४०७
बादरसंपराय नववें गुणस्थानतक—सभी बाईसों परीषह संभव है ४०८
किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीषह होती हैं? ४०८
दर्शनमोहमे अदर्शनपरीषह, अंतरायके उदयसे अलाभपरीषह ४०९
चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीषहें ४०९
वेदनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीषहे ४१०
बाईस परीषहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें कमसे कम कितनी और अधिकसे अधिक कितनी होती हैं? ४१०
पांच प्रकारका चारित्र—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात, संयमका वर्णन ४११
१ अनशन, २ अवमौदर्य, ३ वृत्तिपरिसंख्यान, ४ रसपरित्याग, ५ विविक्तशय्यासन, ६ कायक्लेश इन बाह्य तपोंका स्वरूप ४१२
१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्त्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग, और ६ ध्यान, इन अन्तरंग तपोंका वर्णन ४१५
प्रायश्चित्तके भेद ४१५
प्रायश्चित्तके ९ भेद—१ आलोचन, २ प्रतिक्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ परिहार, ९ उपस्थापनका स्वरूप ४१६
विनयतपके ४ भेद— १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र और ४ उपचार विनयका स्वरूप ४१८
वैयावृत्त्यतपके १० भेद— १ आचार्यवैयावृत्य, २ उपाध्यावै० ३ तपस्विवै० ४ शैक्षकवै० ५ ग्लानवै० ६ गणवै०, ७कुलवैया०, ८ संघवैया०, ९ साधुवै० १० समनोज्ञवै० का स्वरूप ४१९
स्वाध्याय तपके ५ भेद—१ वाचना, २ प्रच्छन, ३ अनुप्रेक्षा, ४ आम्नाय, ५ धर्मोपदेशका स्वरूप ४२०
व्युत्सर्गतपके २ भेद—१ बाह्य, २ आभ्यन्तर व्युत्सर्गका स्वरूप ४२१
ध्यानतपका स्वरूप ४२२
ध्यानके कालका उत्कृष्ट प्रमाण ४२२
आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शुक्लध्यानका स्वरूप ४२३
धर्म और शुक्लध्यान मोक्षके कारण है ४२३
आर्त्तध्यानके ४ भेद—१ अनिष्टसंयोग, २ इष्टवियोग, ३ वेदनाचिंतन, ४ निदानका स्वरूप ४२३
दूसरे आर्त्तध्यानका स्वरूप ४२४
तीसरे आर्त्तध्यानका स्वरूप ४२४
चौथे आर्त्तध्यानका स्वरूप ४२४
आर्त्तध्यानके स्वामी ४२५
रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामी ४२५
धर्मध्यानके ४ भेद— १ आज्ञाविचय २ अपायविचय ३ विपाकविचय ४ संस्थानविचयका स्वरूप ४२६
धर्मध्यानके विषयमें एक विशेष बात ४२६
पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वरूप ४२६
शुक्लध्यानोके स्वामी ४२७
१ पृथक्त्ववितर्क २ एकत्ववितर्क ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानके ४ भेदोका स्वरूप ४२७
ये चारों ध्यान किस प्रकारके जीवोंके हुआ करते हैं? ४२८
चारों ध्यानोंमेंसे आदिके दो ध्यानोकी विशेषता ४२८
दूसरे एकत्ववितर्कशुक्लध्यानका वर्णन ४२८

वितर्क किसको कहते हैं? ४२९
वीचारका स्वरूप ४२९
सम्यग्दृष्टियोंकी निर्जराका तरतम भाव अर्थात् सम्यग्दृष्टिमात्रके कर्मोंकी निर्जरा एक सरीखी होती है, अथवा उसमें कुछ विशेषता है? ४३०
निर्ग्रन्थोंके पाँच विशेष भेद-१ पुलाक, २ बकुश ३ कुशील ४ निर्ग्रंथ ५ स्नातकका स्वरूप ४३१
सामान्यतया उपर्युक्त सभी निर्ग्रंथ कहे जाते हैं, परन्तु संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग लेश्या, उपपात स्थानके भेदसे सिद्ध करना चाहिये ४३२
संयम श्रुत, प्रतिसेवना आदिका स्वरूप ४३३

इति नवमोऽध्याय॰ ॥ ९ ॥

१० दशम अध्याय

मोक्षतत्त्व वर्णन
मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक होती है, केवल ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण ४३७
कर्मोंके अत्यन्त क्षय होनेके कारण ४३८
मोक्षका स्वरूप ४३९
अन्य कारण जिनके अभावसे मोक्षकी सिद्धि होती है ४४०
सकल कर्मोंके अभावसे मोक्ष हो जानेपर उस जीवकी क्या गति होती है? वह किस प्रकार परिणत होता है? ४४०
सिध्यमान गति-ऊर्ध्वगमनके हेतुके कारण ४४१
पूर्वप्रयोग, संग, बंध, आदिका वर्णन ४४२
मुक्तिके कारणोंको पाकर जो जीव मुक्त हो जाते हैं, वे सभी जीव स्वरूपकी अपेक्षा, समान हैं? अथवा असमान? ४४५
क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक-बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्वका स्वरूप ४४५
ग्रंथ-महात्म्य ४६१
आमर्शौषधित्वं, विप्रुडौषधित्व सर्वौषधित्व, शाप और अनुग्रहकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाली वचन-सिद्धि, ईशत्व, वशित्व, अवधिज्ञान, शारीरविकरण, अंगप्राप्तिता, अणिमा, लघिमा, और महिमा आदि ऋद्धियोंका स्वरूप ४६१
उपसंहार-ग्रंथका सार ४६४

प्रशस्ति।

ग्रंथकर्त्ता श्रीउमास्वातिकी गुरुपरम्परा-
ग्रंथकर्त्ताके ग्रथ रचनेका स्थान, माता, पिता, गोत्रका परिचय और इस उच्च आगमके रचनेका कारण ४७१

इति दशमोऽध्यायः ॥ १०

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका परिचय और ग्रंथ-सूची— ४७३

१ दिगम्बर और श्वेताम्बराम्नायके सूत्रपाठोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक।

प्रथमोध्यायः।

सूत्राङ्क। दिगम्बराम्नायीसूत्रपाठ।	सूत्राङ्क। श्वेताम्बराम्नायीसूत्रपाठ।
१५ अवग्रेहहावायधारणाः।	१५ अवग्रेहहापायधारणा॰।
× ×	२१ द्विविधोवधि.।
२१ भवप्रत्ययोवधिर्देवनारकाणाम्।	२२ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।
२२ क्षयोपशमनिमित्त. षड्विकल्पः शेषाणाम्।	२३ यथोक्तनिमित्तः..................।
२३ ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः।	२४ ....पर्यायः।
२८ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य।	२९ ....पर्यायस्य।
३३ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशव्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः।	३४ ....सूत्रशव्दा नयाः।
× ×	३५ आद्यशव्दौ द्वित्रिभेदौ।

द्वितीयोऽध्यायः।

दिगम्बराम्नायीसूत्रपाठ	श्वेताम्बराम्नायीसूत्रपाठ
५ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्च भेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।	५ .. ...दर्शनदानादिलब्धयः...।
१३ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय. स्थावराः।	१३ पृथिव्यब्वनस्पतय. स्थावराः।
१४ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।	१४ तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।
× ×	१९ उपयोग॰ स्पर्शादिषु।
२० स्पर्शरसगन्धवर्णशव्दास्तदर्थाः।	२१ .. .. शव्दास्तेषामर्था॰।
२२ वनस्पत्यन्तानामेकम्।	२३ वाय्वन्तानामेकम्।
२९ एकसमयाविग्रहा।	३० एकसमयोऽविग्रह.।
३० एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारक॰।	३१ एकं द्वौ वानाहारक॰।
३१ सम्मूर्च्छनगर्भोपपाद जन्म।	३२ सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म।
३३ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः।	३४ जराय्वण्डपोतजाना गर्भ।
३४ देवनारकाणामुपपाद.।	३५ नारकदेवानामुपपात.।
३७ परं परं सूक्ष्मम्।	३८ तेषां परं परं सूक्ष्मम्।
४० अप्रतीघाते।	४१ अप्रतिघाते।
४६ औपपादिकं वैक्रियिकम्।	४७ वैक्रियमौपपातिकम्।
४८ तैजसमपि।	× ×
४९ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव।	४९ ....चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।

१ भाष्यके सूत्रोंमें सर्वत्र मन.पर्ययके वदले मनःपर्याय है।

५२ शेषास्त्रिवेदाः ।	× ×
५३ औपपादिकचरमोत्तमदेहाःसङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।	५२ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्ये ... .

तृतीयोऽध्यायः ।

१ रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातम प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा सप्ताधोऽधः ।	१ ....सप्ताधोऽध·पृथुतरा ।
२ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।	२ तासु नरका ।
३ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः।	३ नित्याशुभतरलेश्या..... ....।
७ जम्बूद्वीपलवणोदादय शुभनामानो द्वीपसमुद्रा· ।	७ जम्बूद्वीपलवणादय शुभनामानोद्वीप समुद्रा ।
१० भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षा· क्षेत्राणि ।	१० तत्र भरत...... ....।
१२ हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममया· ।	× ×
१३ मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ।	× ×
१४ पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।	× ×
१५ प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ।	× ×
१६ दशयोजनावगाह· ।	× ×
१७ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।	× ×
१८ तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ।	× ×
१९ तन्निवासिन्यो देव्य· श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य पल्योपमस्थितयःससामानिकपरिषत्काः ।	× ×
२० गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।	× ×
२१ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।	× ×
२२ शेषास्त्वपरगाः ।	× ×
२३ चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृत्ता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्य· ।	× ×
२४ भरत· षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तार षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ।	× ×
२५ तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षाविदेहान्ताः ।	× ×
२६ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ।	× ×
२७ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।	× ×
२८ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ।	× ×
२९ एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकः ।	× ×

३० तथोत्तराः।	× ×
३१ विदेहेषु सङ्ख्येयकालाः।	× ×
३२ भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशत-भागः।	× ×
३८ नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।	१७ ....परापरे................।
३९ तिर्यग्योनिजानां च।	१८ तिर्यग्योनीनां च।

चतुर्थोऽध्यायः।

२ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः।	२ तृतीयः पीतलेश्याः।
× ×	७ पीतान्तलेश्याः।
८ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः।	८ .... प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः।
१२ ज्योतिष्का सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णक-तारकाश्च।	१३ ....प्रकीर्ण तारकाः।
१९ सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।	२० सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तक-महाशुक्रसहस्रारे............... ....सर्वार्थसिद्धे च।
२२ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु।	२३ ....लेश्या हि विशेषेषु।
२४ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः।	२४ ....लौकान्तिकाः।
२८ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः।	२९ स्थितिः।
× ×	३० भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम्।
× ×	३१ शेषाणां पादोने।
× ×	३२ असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च।
२९ सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके।	३३ सौधर्मादिषु यथाक्रमम्।
× ×	३४ सागरोपमे।
× ×	३५ अधिके च।
३० सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त।	३६ सप्त सानत्कुमारे।
३१ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु।	३७ विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च
३३ अपरा पल्योपमधिकम्।	३९ अपरा पल्योपममधिकं च।
× ×	४० सागरोपमे।
× ×	४१ अधिके च।
३९ परापल्योपमधिकम्।	४७ परापल्योपमम्।
४० ज्योतिष्काणां च।	४८ ज्योतिष्काणामधिकम्।
× ×	४९ ग्रहाणामेकम्।
× ×	५० नक्षत्राणामर्धम्।
× ×	५१ तारकाणां चतुर्भागः।
४१ तदष्टभागोऽपरा।	५२ जघन्या त्वष्टभागः।
× ×	५३ चतुर्भागः शेषाणाम्।
४२ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।	× ×

पञ्चमोऽध्यायः ।

२ द्रव्याणि ।	२ द्रव्याणि जीवाश्च ।
३ जीवाश्च ।	× ×
१० संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।	७ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः
× ×	८ जीवस्य च ।
१६ प्रदेशसंहारविसर्प्पाभ्यां प्रदीपवत् ।	१६ ......विसर्गाभ्यां......।
२६ भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ।	२६ सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।
२९ सद्द्रव्यलक्षणम् ।	× ×
३७ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।	३७ बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ।
३९ कालश्च ।	३९ कालश्चेत्येके ।
× ×	४२ अनादिरादिमांश्च ।
× ×	४३ रूपिष्वादिमान् ।
× ×	४४ योगोपयोगौ जीवेषु ।

षष्ठोऽध्यायः ।

३ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ।	३ शुभः पुण्यस्य ।
× ×	४ अशुभः पापस्य ।
५ इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।	३ अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः......... .... ।
६ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।	७ ......भाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।
१७ अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य ।	१८ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ।
१८ स्वभावमार्दवं च ।	× ×
२१ सम्यक्त्वं च ।	× ×
२३ तद्विपरीतं शुभस्य	२२ विपरीतं शुभस्य ।
२४ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।	२३ ....भीक्ष्णं...................................... तपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्यकरण-... .... तीर्थकृत्त्वस्य[1] ।

सप्तमोऽध्यायः ।

४ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ।	× ×
५ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।	× ×
६ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादा. पञ्च ।	× ×

१ आठवें अध्यायके १२ वें सूत्रमें भी तीर्थकरत्वं च के स्थानमे तीर्थकृत्त्वं च पाठ है ।

७ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाःपञ्च ।	× ×
८ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।	× ×
९ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।	४ हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ।
१२ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।	७ जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ।
२८ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ।	२३ परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीता .... ।
३२ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।	२७ कन्दर्पकौकुच्य.................................णोपभोगाधिकत्वानि ।
३४ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।	२९ ....संस्तारो ....नुपस्थापनानि ।
३७ जीवितमरणशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।	३२ .... निदानकरणानि ।

अष्टमोऽध्यायः ।

२ सकपायत्वाज्जीव कर्म्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः	२ ....पुद्गलानादत्ते ।
× ×	३ स बन्धः ।
४ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।	५ .... मोहनीयायुष्क नाम......।
६ मतिश्रुतावधिमनःपर्य्ययकेवलानाम् ।	७ मत्यादीनाम् ।
७ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।	८ ....स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ।
९ दर्शनचारित्रमोहनीयाकपायाकपायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकपायकपायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकश क्रोधमानमायालोभाः ।	१० ....मोहनीयकषायनोकषाय । .... तदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदाः ।
१३ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।	१४ दानादीनाम् ।
१६ विंशतिर्नामगोत्रयोः ।	१७ नामगोत्रयोर्विंशतिः ।
१७ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ।	१८ ....युष्कस्य ।
१९ शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।	२१ ....मुहूर्तम् ।
२४ नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।	२५ ....क्षेत्रावगाढस्थिताः..................।
२५ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।	२६ सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुः ।
२६ अतोऽन्यत्पापम् ।	× ×

नवमोऽध्यायः।

६ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमस्तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्य्याणि धर्मः।	६ उत्तमक्षमा.......... ....।
१७ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतिः।	१७ ....विंशतेः।
१८ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम्।	१८ ... . यथाख्यातानि चारित्रम्।
२२ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापना.।	२२ ... ...स्थापनानि।
२७ उत्तमसंहनस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।	२७ ... ... निरोधो ध्यानम्।
	२८ आमुहूर्तात्।
× ×	३३ विपरीतं मनोज्ञानाम्।
३१ विपरीतं मनोज्ञस्य।	३७ ... ... धर्म्ममप्रमत्त संयतस्य।
३६ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयायधर्म्यम्।	
× ×	३८ उपशान्तक्षीणकषाययोश्च।
३७ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।	३९ शुक्ले चाद्ये।
४० त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्।	४२ तत्त्र्येककाययोगा........।
४१ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे।	४३ ....सवितर्के पूर्वे।

दशमोऽध्यायः।

२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।	२ ....निर्जराभ्याम्।
× ×	३ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।
३ औपशामिकादि भव्यत्वानां च।	४ औपशामिकादिभव्यत्वाभावाश्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य।
४ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।	× ×
५ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात्।	६ ....गच्छत्या......।
६ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिमाणाच्च।	७ ... ... तद्गति.
७ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालावूवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्च।	× ×
८ धर्मास्तिकाया भावात्।	× ×

२ वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका।

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
	अ			
१	अगार्यनगारश्च	७	१४	३३४
२	अजीवकाया०	५	१	२४५
३	अणवः स्कन्धाश्च	५	२५	२७४
४	अणुव्रतोऽगारी	७	१५	३३४
५	अदत्तादानं स्तेयम्	७	१०	३३२
६	अधिकरणं जीवाजीवाः	६	८	३०४
७	अधिके च	४	३५	२३८
८	अधिके च	४	४१	२४०
९	अनन्तगुणे परे	२	४०	११३
१०	अनशनावमौदर्य०	९	१९	४११
११	अनादिरादिमांश्च	५	४२	२९६
१२	अनादिसम्बन्धे च	२	४२	११४
१३	अनित्याशरण०	९	७	३९२
१४	अनुग्रहार्थं०	७	३३	३५१
१५	अनुश्रेणि गतिः	२	२७	१००
१६	अपरा पल्योपममधिकं च	४	३९	२४०
१७	अपरा द्वादशमुहूर्ता	८	१९	३७५
१८	अप्रतिघाते	२	४१	११३
१९	अप्रत्यवेक्षिता०	७	२९	३४८
२०	अर्थस्य	१	१७	४०
२१	अर्पितानर्पितसिद्धेः	५	३१	२८२
२२	अल्पारम्भपरिग्रहत्वं०	६	१८	३१३
२३	अवग्रहेहापायधारणाः	१	१५	३८
२४	अविग्रहा जीवस्य	२	२८	१०१
२५	अविचारं द्वितीयम्	९	४४	४२८
२६	अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः०	६	६	३०१
२७	अशुभः पापस्य	६	४	३००
२८	असंख्येयाः प्रदेशा०	५	७	२५३
२९	असंख्येयभागादिषु—	५	१५	२५८
३०	असदभिधानमनृतम्	७	९	३३०
३१	असुरेन्द्रयो ०	४	३३	२३२
	आ			
३२	आकाशस्यानन्ताः	५	९	२५४
३३	आकाशस्यावगाहः	५	१८	२६२
३४	आकाशादेकद्रव्याणि	५	५	२५०
३५	आचार्योपाध्याय०	९	२४	४१९
३६	आदितस्तिसृणामन्तरायस्य०	८	१५	३७४
३७	आद्यंसंरम्भ०	६	९	३०५
३८	आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ	१	३५	६१
३९	आद्ये परोक्षम्	१	११	३४
४०	आद्यो ज्ञानदर्शनावरण०	८	५	३५५
४१	आनयनप्रेष्यप्रयोग०	७	२६	३४६
४२	आमुहूर्तात्	९	२८	४२२
४३	आरणाच्युतादू०	४	३८	२३९
४४	आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि	९	२९	४२३
४५	आर्तममनोज्ञानां०	९	३१	४२३
४६	आर्याम्लेच्छाश्च	३	१५	१७७
४७	आलोचनप्रतिक्रमण०	९	२२	४१६
४८	आस्रवनिरोधः संवरः	९	१	३८१
४९	आज्ञापायविपाक०	९	३७	४२५
	इ			
५०	इन्द्रसामानिक०	४	४	१८९
	ई			
५१	ईर्याभाषैषणा०	९	५	३८३
	उ			
५२	उच्चैर्नीचैश्च	८	१३	३७३
५३	उत्तमक्षमा०	९	६	३८४
५४	उत्तमसंहननस्यै०	९	२७	४२२
५५	उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्	५	२९	२७७
५६	उपयोगो लक्षणम्	२	८	८२
५७	उपयोगाः स्पर्शादिषु	२	१९	९१
५८	उपर्युपरि	४	१९	२१७
५९	उपशान्तक्षीणकषाययोश्च	९	३८	४२६
	ऊ			
६०	ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्य०	७	२५	३४५
	ऋ			
६१	ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः	१	२४	४९
	ए			
६२	एकप्रदेशादिषु भाज्यः०	५	१४	२५५

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
६३	एकसमयोऽविग्रहः	२	३०	१०२
६४	एकं द्वौ वानाहारकः	२	३१	१०३
६५	एकादश जिने	९	११	४०७
६६	एकादयो भाज्या०	६	१७	३१२
६७	एकादीनि भाज्यानि०	१	३१	५५
६८	एकाश्रये सवितर्के०	९	४३	४२८

औ

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
६९	औदारिकवैक्रिय०	२	३७	११०
७०	औपपातिकचरमदेहो०	२	५२	१२२
७१	औपपातिकमनुष्येभ्यः०	४	२८	२३५
७२	औपशमिकक्षायिकौ०	२	१	७५
७३	औपशमिकादि०	१०	४	४४०

क

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
७४	कषायोदयात्तीव्र	६	१५	३१२
७५	कन्दर्पकौकुच्य०	७	२७	३४६
७६	कल्पोपपन्नाः०	४	१८	२१७
७७	कायप्रवीचारा०	४	८	१९३
७८	कायवाङ्मनःकर्मयोगः	६	१	२९८
७९	कालश्चेत्येके	५	३८	२९४
८०	कृमिपिपीलिका०	२	२४	९६
८१	कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः	१०	३	४३९
८२	केवलिश्रुतसङ्घ०	६	१४	३११
८३	क्षुत्पिपासा०	९	९	४०६
८४	क्षेत्रवास्तुहिरण्य०	७	२४	३४५
८५	क्षेत्रकालगतिलिङ्ग०	१०	७	४४५

ग

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
८६	गतिकषायलिङ्ग०	२	६	७९
८७	गतिशरीरपरिग्रहा०	४	२२	२२३
८८	गतिस्थित्युपग्रहो	५	१७	२६१
८९	गतिजातिशरीरा०	८	१२	३६५
९०	गर्भसंमूर्छनजमाद्यम्	२	४६	११९
९१	गुणसाम्ये सदृशानाम्	५	३५	२८९
९२	गुणपर्यायवद्द्रव्यम्	५	३७	२९२
९३	ग्रहाणामेकम्	४	४९	२४३

च

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
९४	चक्षुरचक्षुरवधि०	८	८	३५७
९५	चतुर्भागः शेषाणाम्	४	५३	२४४
९६	चारित्रमोहे०	९	१५	४०९

ज

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
९७	जगत्कायस्वभावौ च	७	७	३२८
९८	जघन्या त्वष्टभागः	४	५२	२४४
९९	जम्बूद्वीपलवणादयः	३	७	१६०
१००	जराय्वण्डपोतजानां गर्भः	२	३४	१०८
१०१	जीवभव्याभव्यत्वादीनि च	२	७	८२
१०२	जीवश्च च	५	८	२५३
१०३	जीवाजीवास्रव०	१	४	२१
१०४	जीवितमरणाशंसा०	७	३२	३५०
१०५	ज्योतिष्काः०	४	१३	२०४
१०६	ज्योतिष्काणमधिकम्	४	४८	२४३

त

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
१०७	ततश्च निर्जरा	८	४२	४२८
१०८	तत्कृत. कालविभागः	४	१५	२०९
१०९	तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्	१	२	१७
११०	तत्र्येककाययोगायोगानाम्	९	४२	४२८
१११	तत्प्रमाणे	१	१०	३४
११२	तत्प्रदोषनिह्नव०	६	११	३०८
११३	तत्र भरत०	३	१०	१६५
११४	तत्स्थैर्यार्थं०	७	३	३२०
११५	तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य	१	२९	५४
११६	तदनन्तरमूर्ध्वं०	१०	५	४४०
११७	तदविरतदेशविरत०	९	३५	४२५
११८	तदादीनि भाज्यानि०	२	४४	११६
११९	तदिन्द्रिया०	१	१४	३७
१२०	तद्विभाजिनः०	३	११	१६६
१२१	तद्विपर्ययो०	६	२५	३१७
१२२	तद्भाव परिणामः	५	४१	२९६
१२३	तद्भावाव्ययं नित्यम्	५	३०	२८१
१२४	तन्निसर्गादधिगमाद्वा	१	३	१८
१२५	तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो०	३	९	१६३
१२६	तपसा निर्जरा च	९	३	३८१
१२७	तारकाणा चतुर्भाग०	४	५१	२४४
१२८	तासु नरकाः	३	२	१४१
१२९	तिर्यग्योनीना च	३	१८	१८३
१३०	तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात०	६	७	३०३
१३१	तृतीयः पीतलेश्यः	४	२	१८८
१३२	तेजोवायू०	२	१४	८७
१३३	तेषा परं परं सूक्ष्मम्	२	३८	१११

नं०		अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
१३४	तेष्वकत्रि०	३	६	१५५
१३५	त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य	८	१८	३७५
१३६	त्रायस्त्रिंशलोकपाल०	४	५	१९१
	द			
१३७	दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता०	६	२३	३१५
१३८	दर्शनचारित्रमोहनीय०	८	१०	३५८
१३९	दर्शनमोहान्तराययो०	९	१४	४०९
१४०	दश वर्षसहस्राणि	४	४४	२४२
१४१	दशाष्टपञ्च०	४	३	१८८
१४२	दानादीनाम्	८	१४	३७३
१४३	दिग्देशानर्थदण्ड०	७	१६	३३५
१४४	दुःखशोकतापा०	६	१२	३०९
१४५	दुःखमेव वा	७	५	३२४
१४६	देवाश्चतुर्निकायाः	४	१	१८६
१४७	देशसर्वतोऽणुमहती	७	२	३१७
१४८	द्रव्याणि जीवाश्च	५	२	२४७
१४९	द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः	५	४०	२५५
१५०	द्विनवाष्टादशै०	२	२	७६
१५१	द्विर्द्विर्विष्कम्भाः०	३	८	१६२
१५२	द्विर्धातकीखण्डे	३	१२	१७२
१५३	द्विविधानि	२	१६	८९
१५४	द्विविधोऽवधिः	१	२१	४५
१५५	द्व्यधिकादिगुणानां तु	५	३५	२९०
	ध			
१५६	धर्माधर्मयोः कृत्स्ने	५	१३	२५६
	न			
१५७	नक्षत्राणामर्धम्	४	५०	२४४
१५८	न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम	१	१९	४१
१५९	न जघन्यगुणानाम	५	३३	२८९
१६०	न देवाः	२	५१	१३०
१६१	नवचतुर्दश०	९	२१	४१५
१६२	नाणोः	५	११	२५६
१६३	नामगोत्रयोर्विंशतिः	८	१७	३७५
१६४	नामगोत्रयोरष्टौ	८	२०	३७५
१६५	नामप्रत्ययाः ०	८	२५	३७८
१६६	नामस्थापनाद्रव्य०	१	५	२२
१६७	नारकदेवानामुपपातः	२	३५	१०९
१६८	नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि	२	५०	१२९
१६९	नारकाणां च द्वितीयादिषु	४	४३	२४२
१७०	नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि	८	११	३६५
१७१	नित्यावस्थितान्यरूपाणि	५	३	२४७
१७२	नित्याशुभतरलेश्या०	३	३	१४३
१७३	निदानं च	९	३४	४२४
१७४	निरुपभोगमन्त्यम्	२	४५	११७
१७५	निर्देशस्वामित्व०	१	७	२६
१७६	निर्वर्तनानिक्षेप०	६	१०	३०७
१७७	निर्वृत्त्युपकरणे०	२	१७	८९
१७८	निःशल्यो व्रती	७	१३	३३३
१७९	निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्	६	१९	३१३
१८०	निष्क्रियाणि च	५	६	२५१
१८१	नृस्थिती परापरे०	३	१७	१८२
१८२	नैगमसंग्रह०	१	३४	६०
	प			
१८३	पञ्चनव०	७	६	३५६
१८४	पञ्चेन्द्रियाणि	२	१५	८८
१८५	परतः परतः०	४	४२	२४१
१८६	परविवाहकरणे०	७	२३	३४४
१८७	परस्परोदीरितदुःखाः०	३	४	१४८
१८८	परस्परोपग्रहो जीवानाम्	५	२१	२६६
१८९	परात्मनिन्दाप्रशंसे०	६	२४	३१६
१९०	परा पल्योपमम्	४	४७	२४३
१९१	परे केवलिनः	९	४०	४२७
१९२	परेऽप्रवीचाराः	४	१०	१९६
१९३	परे मोक्षहेतू	९	३०	४२३
१९४	पीतपद्मशुक्ललेश्या०	४	२३	२२८
१९५	पीतान्तलेश्याः	४	७	१९२
१९६	पुलाकबकुश०	९	४८	४३१
१९७	पुष्करार्धे च	३	१३	१७३
१९८	पूर्वप्रयोगासङ्गत्वा०	१०	६	४४१
१९९	पूर्वयोर्द्वीन्द्राः	४	६	१९१
२००	पृथक्त्वैकत्व०	९	४१	४२७
२०१	पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः	२	१३	८५
२०२	प्रकृतिस्थित्यनुभाव०	८	४	३५५
२०३	प्रत्यक्षमन्यत्	१	१२	३५
२०४	प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं	२	३९	११२
२०५	प्रदेशसंहार०	५	१६	२५८
२०६	प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा	७	८	३३०
२०७	प्रमाणनयैरधिगम	१	६	२५

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
२०८ प्राग्ग्रैवेयकेभ्य.कल्पाः	४	२४	२३०
२०९ प्राग्मानुषोत्तरान्मनुष्याः	३	१४	१७६
२१० प्रायश्चित्तविनय०	९	२०	४१५
व			
२११ बन्धवधविच्छेदा०	७	२०	३४१
२१२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्	१०	२	४३८
२१३ बन्ध समाधिकौ०	५	३६	२९२
२१४ बहिरवस्थिता.	४	१६	२१५
२१५ बहुबहुविध०	१	१६	३९
२१६ बह्वारम्भपरिग्रहत्वं०	६	१७	३१२
२१७ बाह्याभ्यन्तरोपध्योः	९	२६	४२१
२१८ ब्रह्मलोकालया०	४	२५	२३२
भ			
२१९ भरतैरावतविदेहा०	३	१६	१८१
२२० भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्	१	२२	४५
२२१ भवनवासिनो०	४	११	१९८
२२२ भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीना०	४	३०	२३६
२२३ भवनेषु च	४	४५	२४३
२२४ भूतव्रत्यनुकम्पा०	६	१३	३१०
२२५ भेदसंघाताभ्या चाक्षुषाः	५	२८	२७६
२२६ भेदादणु०	५	२७	२७६
म			
२२७ मति स्मृति.०	१	१३	३७
२२८ मतिश्रुतावधि०	१	९	३३
२२९ मतिश्रुतयोर्निबन्ध ०	१	२७	५३
२३० मतिश्रुतावधयो०	१	३२	५७
२३१ मत्यादीनाम्	८	७	३५७
२३२ माया तैर्यग्योनस्य	६	१७	३१२
२३३ मारणान्तिकी संलेखनां जोषिता	७	१७	३३८
२३४ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं०	९	८	४०५
२३५ मिथ्यादर्शनाविरति०	८	१	३५३
२३६ मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यान०	७	२१	३४२
२३७ मूर्च्छा परिग्रहः	७	१२	३३३
२३८ मेरुप्रदक्षिणा	४	१४	२०६
२३९ मैत्रीप्रमोदकारुण्य०	७	६	३२६
२४० मैथुनमब्रह्म	७	११	३३२
२४१ मोहक्षयाज्ज्ञा०	१०	१	४३७

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
य			
२४२ यथोक्तनिमित्तः०	१	२३	४६
२४३ योगदुष्प्रणिधाना०	७	२८	३४७
२४४ योगवक्रता०	६	२१	३१४
२४५ योगोपयोगौ जीवेषु	५	४४	२९७
र			
२४६ रत्नशर्करा०	३	१	१३८
२४७ रूपिण· पुद्गला.	५	४	२४९
२४८ रूपिष्ववधे.	१	२८	५४
२४९ रूपिष्वादिमान्	५	४३	२९६
ल			
२५० लब्धिप्रत्ययं च	२	४८	१२०
२५१ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्	२	१८	९१
२५२ लोकाकाशेऽवगाह.	५	१२	२५६
व			
२५३ वर्तना परिणामः०	५	२२	२६७
२५४ वाचनाप्रच्छना०	९	२५	४२०
२५५ बादरसंपरायेसर्वे	९	१२	४०८
२५६ वाय्वन्तानामेकम्	२	२३	९६
२५७ विग्रहगतौ कर्मयोग	२	२६	९९
२५८ विग्रहवती च०	२	२९	१०१
२५९ विघ्नकरणमन्तरायस्य	६	२६	३१७
२६० विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति	९	४६	४२९
२६१ विजयादिषु द्विचरमा.	४	२७	२३३
२६२ वितर्क· श्रुतम्	९	४५	४२९
२६३ विधिद्रव्यदातृ०	७	३४	३५१
२६४ विपरीतं शुभस्य	६	२२	३१४
२६५ विपरीतं मनोज्ञानाम्	९	३३	४२४
२६६ विपाकोऽनुभाव.	८	२२	३७६
२६७ विशुद्धिक्षेत्र०	१	२६	५१
२६८ विशुद्धप्रतिपाताभ्या तद्विशेष.	१	२५	५०
२६९ विशेषत्रिसप्त०	४	३७	२३८
२७० वेदनायाश्च	९	३२	४२४
२७१ वेदनीये शेषा·	९	१६	४१०
२७२ वैक्रियमौपपातिकम्	२	४७	११९
२७३ वैमानिका	४	१७	२१६
२७४ व्यञ्जनस्यावग्रह	१	१८	४०
२७५ व्यन्तरा किन्नर०	४	१२	२००
२७६ व्यन्तराणा च	४	४६	२४३
२७७ व्रतशीलेषु पञ्च०	७	१९	३४१

श

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
२७८ शङ्काकाङ्क्षा०	७	१८	३३९
२७९ शब्दबन्धसौक्ष्म्य०	५	२४	२७०
२८० शरीरवाङ्मन.०	५	१९	२६३
२८१ शुक्ले चाद्ये	९	२९	४२३
२८२ शुभं विशुद्धमव्याघाति०	२	४९	१२०
२८३ शुभ· पुण्यस्य	६	३	२९९
२८४ शेषा· स्पर्शरूप०	४	९	१९४
२८५ शेषाणा संमूर्च्छनम्	२	३६	१०९
२८६ शेषाणा पादोने	४	३१	२३६
२८७ शेषाणामन्तर्मुहूर्तम्	८	२१	३७६
२८८ श्रुतं मतिपूर्व०	१	२०	४२
२८९ श्रुतमनिन्द्रियस्य	२	२२	९५

स

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
२९० स आस्रव.	६	२	२९९
२९१ स कषायत्वाज्जीव ०	८	२	३५४
२९२ स कषाया०	६	५	३००
२९३ संक्लिष्टासुरो०	३	५	१५१
२९४ स गुप्तिसमिति०	९	२	३८१
२९५ संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते	५	२६	२७५
२९६ सङ्ख्येयासङ्ख्येयोश्च	५	१०	२५५
२९७ सचित्तनिक्षेपपिधान०	७	३१	३४९
२९८ सचित्तशीतसंवृत्ताः०	२	३३	१०६
२९९ सचित्तसंवद्ध०	७	३०	३४९
३०० सत्सङ्ख्या०	१	८	३०
३०१ सदसतोरविशेषाद्य०	१	३३	५९
३०२ सदसद्वेद्ये	८	९	३५७
३०३ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद.	२	९	८२
३०४ सद्वेद्य०	८	२६	३७९
३०५ सप्ततिर्मोहनीयस्य	८	१६	३३५
३०६ स वन्ध	८	३	३५५
३०७ संमूर्छनगर्भोपपाता जन्म	२	३२	१०७
३०८ समनस्कामनस्का·	२	११	८४
३०९ सम्यक्त्वचारित्रे	२	३	७७
३१० सम्यग्दर्शन०	१	१	१५
३११ सम्यग्दृष्टिश्रावक०	९	४७	४३०
३१२ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः	९	४	३८२
३१३ सप्त सनत्कुमारे	४	३६	२३८
३१४ स यथा नाम	८	२३	३७७
३१५ सयम श्रुत०	९	४९	४३२
३१६ सरागसंयम०	६	२०	३१३
३१७ सर्वद्रव्यपर्यायेषु	१	३०	५४
३१८ सर्वस्य	२	४३	११४
३१९ संसारिणो मुक्ताश्च	२	१०	८४
३२० ससारिणस्त्रसस्थावरा:	२	१२	८५
३२१ संज्ञिनः समनस्का.	२	२५	९७
३२२ सागरोपमे	४	३४	२३७
३२३ सागरोपमे	४	४०	२४०
३२४ सारस्वता०	४	२६	२२३
३२५ सामायिकच्छेदोप०	९	१८	४११
३२६ सुखदुःख०	५	२०	२६४
३२७ सूक्ष्मसम्पराय०	९	१०	४०७
३२८ सोऽनन्तसमयः	५	३९	२९४
३२९ सौधर्मादिषु यथाक्रमम्	४	३३	२३७
३३० सौधर्मैशान०	४	२०	२१८
३३१ स्तेनप्रयोग०	७	२२	३४३
३३२ स्थिति.	४	२९	२३५
३३३ स्थितिप्रभाव०	४	२१	२२०
३३४ स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध·	५	३२	२८८
३३५ स्पर्शनरसनघ्राण०	२	२०	९३
३३६ स्पर्शरसगन्ध०	५	२३	२७०
३३७ स्पर्शरस०	२	२१	९४

ह

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
३३८ हिंसादिष्विहामुत्र०	७	४	३२२
३३९ हिंसानृतस्तेयविषय०	९	३६	४२५
३४० हिंसानृतस्तेया०	७	१	३१९

ज्ञ

नं०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
३४१ ज्ञानदर्शनदान०	२	४	७७
३४२ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने	९	१३	४०८
३४३ ज्ञानदर्शनचरित्रोपचारा.	९	२३	४१८
३४४ ज्ञानाज्ञानदर्शन०	२	५	७८

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीमदुमास्वातिविरचितं

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ।

हिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

सम्बन्धकारिकाः

आचार्योंने कृतज्ञता आदि प्रकट करनेके लिये ग्रंथकी आदिमें मङ्गलाचरण करना आस्तिकोंके लिये आवश्यक माना है, अतएव यहाँपर भी आचार्यउमास्वातिवाचक वस्तु निर्देशात्मक मंगलको करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकी भाष्यरूप टीका करनेके पूर्व इस ग्रंथकी उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाओंको लिखते हैं ।

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥ १ ॥

अर्थ—कोई भी मनुष्य यदि इस प्रकारके ज्ञान और वैराग्यको नियमसे प्राप्त कर लेता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो, यद्यपि संसारमें जन्म धारण करना दुःखका ही कारण है, फिर भी उसका जन्म धारण करना सार्थक अथवा सुखकर ही समझना चाहिये। भावार्थ—संसार जन्म-मरण रूप है, और इसी लिये वह दुःखोंका घर है। किंतु सभी प्राणी दुःखोंसे छूटना या सुखको प्राप्त करना चाहते है। परन्तु दुःखोंसे छुटकारा या सुखकी प्राप्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक जीव संसार शरीर और भोग इन तीनों विषयोंसे ज्ञानपूर्वक वैराग्यको प्राप्त न हो जाय। साथ ही यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये, कि ज्ञान और वैराग्य भी शुद्ध वही माना जा सकता या वस्तुतः वही कार्यकारी हो सकता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे युक्त हो। अतएव यद्यपि जन्म ग्रहण करना अथवा संसार दुःखरूप या दुःखोंका ही निमित्त है, फिर भी उनके लिये वह समीचीन या सुखका ही कारण हो जाता है, जोकि उसको धारण करके इस रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रको धारण किया करते हैं ।

जन्मनि कर्मक्लेशैरनुवद्धेऽस्मिंस्तथा प्रयतितव्यम् ।
कर्मक्लेशाभावो यथा भवत्येष परमार्थः ॥ २ ॥

अर्थ—यह जन्म जिन क्लेशोंसे पूर्ण है, वे कर्मोदयसे प्राप्त हुआ करते हैं, तथा वे कर्म भी संक्लिष्ट परिणामोंके द्वारा ही प्राप्त हुए थे और उन कर्मोका उदय आनेपर होनेवाले संक्लिष्ट परिणामोंके द्वारा यह जीव नवीन जन्मका कारणभत कर्मोका फिर भी संग्रह कर लेता है । इस प्रकारसे यह जन्म कर्म-क्लेशोसे अनुवद्ध हो रहा है । अतएव इस अनुवन्ध परम्पराका सर्वथा नाश करनेके लिये ऐसे प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है, कि जिससे परमार्थ—परमनिःश्रेयस मोक्षकी सिद्धि हो । क्योंकि कर्मक्लेशोंसे अपरामृष्ट[1] अवस्था ही वस्तुतः सुख स्वरूप है, और इसी लिये उसका प्राप्त करना ही मनुष्यका अन्तिम और वास्तविक साध्य है ।

यद्यपि अभीष्ट अविनश्वर सुखको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको उस अवस्थाके प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये; किन्तु उसके लिये प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति कितने मिलेंगे ? वहुत कम । अतएव जो उसके लिये सर्वथा प्रयत्न नहीं कर सकते उनको क्या करना चाहिये सो वताते है—

परमार्थालाभे वा दोषेष्वारम्भकस्वभावेषु ।
कुशलानुवन्धमेव स्यादनवद्यं यथा कर्म ॥ ३ ॥

अर्थ—परम अर्थ–मोक्ष पुरुषार्थका यदि लाभ न हो सके, तो जन्म मरणके कारणभूत कर्मोका जिनसे संग्रह होता है, ऐसे दोषरूप कार्योका आरम्भ होना स्वाभाविक है । अतएव उनके लिये प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु इस प्रकारका प्रयत्न करनेमें वही कर्म करना चाहिये जोकि अनवद्य हो—हिंसादिक दोषोंसे रहित तथा अनिंद्य हो और पुण्यकर्मका ही वन्ध करानेवाला हो । भावार्थ—मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा आरम्भ रहित निर्दोष प्रवृत्ति ही करनी पड़ती है, जोकि पूर्ण निर्ग्रंथ मुनियोंके द्वारा ही साध्य है । जो इस प्रकारकी प्रवृत्ति करनेमें असमर्थ है, उन्हें देशसंयमी होना चाहिये । मुनियोंकी प्रवृत्ति निर्जरा—संचित कर्मोके क्षयका कारण है । किंतु देशसंयमीकी प्रवृत्ति सर्वथा निरारम्भ न हो सकनेके कारण आरम्भ सहित ही हो सकती है, और वैसी ही होती है । अतएव इस प्रकारके व्यक्तियोंके लिये ही कहा गया है, कि यदि परमनिःश्रेयस अवस्थाकी साधक सर्वथा निरारम्भ और निर्दोष प्रवृत्ति तुम नहीं कर सकते और दोषरूप आरम्भ प्रवृत्ति ही तुमको करना है, तो वह यत्नाचार

1—इस अवस्थाके प्राप्त करनेवाले आत्माको ही ईश्वर कहते हैं । अतएव पातञ्जल योगदर्शनमे " क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः " ऐसा माना है । किंतु यह सिद्धान्त ऐकान्तिक होनेसे मिथ्या है । क्योंकि उन्होंने पुरुष—जीवको ज्ञानस्वरूप अथवा सुखस्वरूप नहीं माना है । जैनसिद्धान्तमे जीवको ज्ञानस्वरूप व सुखस्वरूप मानकर भी क्लेशकर्मविपाकाशयसे अपरामृष्ट अवस्थाका धारक माना है, सो निर्दोष होनेसे सत्य और उपादेय है ।

पूर्वक और ऐसी करो, जोकि पुण्यबंधका ही कारण हो तथा हिंसादिक दोषोंसे रहित हो, एवं निन्द्य अथवा गर्ह्य न हो ।

प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यों और उनकी प्रवृत्तियोंकी जघन्य मध्यमोत्तमता बताते हुए प्रशस्त प्रवृत्ति करनेकी तरफ लक्ष्य दिलानेके लिये उसके न करनेवालेकी अधमता और करनेवालेकी उत्तमता बताते है ।

कर्माहितमिह चामुत्र चाधमतमो नरः समारभते ।
इह फलमेव त्वधमो विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ॥ ४ ॥
परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।
मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥ ५ ॥
यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।
नित्यं स उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥ ६ ॥

अर्थ—मनुष्य तीन प्रकारके समझने चाहिये–उत्तम, मध्यम, अधम । इनमें से उत्तम और अधमके इसी प्रकार तीन तीन भेद और भी समझने चाहिये । जो अधमाधम अधमोंमें भी अधम दर्जेके हैं, वे ऐसे कर्मका आरम्भ किया करते हैं, जो कि आत्माके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही भवोंमें अहितकर–दुःखका कारण हो । जो अधमोंमें मध्यम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य किया करते हैं, कि जो इसी भवमें सुखरूप फलको देनेवाला हो । जो अधमोंमें उत्तम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य पसंद करते है, कि जो इस भवमें और परभवमें दोनों ही जगह सुखरूप उत्तम फलको दे सके । मध्यम दर्जेके मनुष्य सदा ऐसी क्रियाओंके करनेमें ही प्रवृत्त हुआ करते है, कि जो परलोकमें हित कर हों । किंतु उस विशिष्टमतिको उत्तम पुरुष समझना चाहिये, कि जो मोक्षको सिद्ध करनेके लिये ही सदा चेष्टा किया करता है । तथा जो इस प्रकारकी अपनी चेष्टाको सिद्ध करके कृतार्थ–कृतकृत्य हो जाता है, वह उत्तमोंमें मध्यम दर्जेका समझना चाहिये । और प्रशस्त धर्मको पाकर स्वयं कृतकृत्य होकर भी जो दूसरोंके लिये भी उस धर्मका उपदेश देता है, वह उत्तमोंमें भी उत्तम है और पज्योंमें भी निरंतर सर्वोत्कृष्ट पूज्य समझना चाहिये ।

भावार्थः—मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना उत्तम पक्ष, परलोकमें हितकर–पुण्यरूप कार्य करना मध्यम पक्ष, और इस लोकमें भी सुखरूपताकी अपेक्षा रखकर कार्य करना जघन्य पक्ष है । जो दोनो भवके लिये अहितकर कार्य करते है वे सर्वथा अधम है । इसी प्रकार जो स्वयं अनंतज्ञानादिको प्राप्त करके दूसरोके लिये भी उसके उपायका उपदेश देते है, वे उत्तमोंमें सर्वोत्कृष्ट है । अतएव जहाँतक हो, मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना चाहिये, और यदि वह न बन सके, तो निर्दोष पुण्यरूप कर्म करना ही उचित है । उत्तमोत्तम पुरुष कौन है, सो बताते हैं–

तस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके।
देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ॥ ७ ॥

अर्थ——उत्तमोत्तमका जो स्वरूप ऊपर बताया है, कि स्वयं कृतकृत्य होकर दूसरोंको भी उसके कारणभूत उत्तम धर्मका नित्य उपदेश देनेवाला और सर्वोत्कृष्ट पूज्य, सो यह स्वरूप एक अरहंतमें ही घटित होता है। अतएव जगत्में उन्हींको उत्तमोत्तम समझना चाहिये, क्योंकि संसारके अन्य प्राणी जिनकी पूजा किया करते हैं, उन देवों ऋषियों और नरेन्द्रों—चक्रवर्त्ती आदिकोंके द्वारा भी वे पूज्य हैं। वे देवेन्द्र मुनीन्द्र नरेन्द्र आदि संसारके सभी इन्द्रोंके द्वारा पूजाको प्राप्त होते हैं।

अरहंतदेवकी पूजाका फल और उसकी आवश्यकता बताते हैं।

अभ्यर्चनादर्हतां मनः प्रसादस्ततः समाधिश्च।
तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ——अरहंतदेवका पूजन करनेसे राग द्वेष आदि मानसिक दुर्भाव दूर होकर चित्त निर्मल बनता है, और मनके प्रसन्न——निर्विकार होनेसे समाधि——ध्यानकी एकाग्रता सिद्ध होती है। ध्यानके स्थिर हो जानेसे कर्मोकी निर्जरा होकर निर्वाण—पदकी प्राप्ति होती है। अतएव मुमुक्षुओंको अरहंतका पूजन करना न्यायप्राप्त है।

भावार्थ——जो मुमुक्षु गृहस्थ हैं——मोक्षमार्ग—मुनिधर्मका पालन करनेमें असमर्थ होनेके कारण आरम्भमें प्रवृत्ति करनेवाले है, उनके लिये निर्दोष पुण्यबंधकी कारण क्रिया करनेका ऊपर उपदेश दिया था। वह क्रिया कौनसी है, सो ही इस श्लोकमें बताई है, कि ऐसी क्रिया अरहंतदेवकी पूजन करना हो सकती है, क्योंकि उनका पूजन करनेसे उनके पवित्र गुणोंका स्मरण होता है, जिससे परिणामोंकी कष्मलता दूर होती है, और उससे मन निर्विकार होकर समाधिकी सिद्धि होती है। तथा इसी तरह परम्परया पुनीत परमपदकी प्राप्ति होती है।

ऊपर यह बात बताई गई है, कि अरहंतदेव दूसरोंको भी उत्तम धर्म—मोक्षमार्गका उपदेश देते है। सो यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब वे कृतकृत्य है—उन्हें अब कुछ भी करनेकी इच्छा बाकी नहीं रही है, तो वे उपदेश भी किस कारणसे देते हैं? अतएव इस शंकाका परिहार करते हैं।

१——तिर्यंच मनुष्य देव इन तीनों गतियोंके मिलाकर १०० इन्द्र होते हैं। भवनवासी देवोंके ४०, व्यन्तरोंके ३२, कल्पवासियोंके २४, ज्योतिषियोंके २, मनुष्य तिर्यंचोंका १—१, अरहत इन सौ इन्द्रोंके द्वारा पूज्य होते हैं। यथा——इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवकाण। अंतातीतगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ॥

तीर्थप्रवर्तनफलं यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।
तस्योदयात्कृतार्थोऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोमें एक नामकर्म भी है। उसीका एक भेद तीर्थंकर नामकर्म है। उसका यही फल–कार्य है, कि उसका उदय होनेपर जीव तीर्थ–मोक्षमार्गका प्रवर्तन करता है। अरहंत भगवान्‌के इस तीर्थकर नामकर्मका उदय रहता है। यही कारण है, कि भगवान् कृतकृत्य होकर भी तीर्थका प्रवर्तन–मोक्षमार्गका उपदेश किया करते है।

भावार्थः—केवल तीर्थंकर नामकर्मके उदयवश होकर विना इच्छाके ही भगवान् उपदेश करते है। अतएव उनके उपदेश और कृतकृत्यतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता।

तीर्थंकर कर्मके कार्यको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अपने स्वभावसे ही लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्मका भी यह स्वभाव ही है, कि उसके उदयसे तीर्थका प्रवर्तन हो। अतएव उसके उदयके अधीन हुए अरहंत सूर्य समान तीर्थप्रवर्तनमें प्रवृत्त हुआ करते हैं।

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव अतर्क्य होता है—"स्वभावोऽतर्क गोचरः"। जिस प्रकार सूर्य अग्नि जल वायु आदि पदार्थ अपने स्वभावसे ही अतर्क्य कार्य कर रहे हैं। उसी प्रकार कर्म अथवा तीर्थंकर प्रकृति भी स्वभावसे ही कार्य करती है।

इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे धर्मका उपदेश देनेवाले तीर्थंकर इस युगमें वृषभादि महावीर पर्यंत २४ हुए हैं। इस समय अंतिम तीर्थंकर महावीर भगवान्‌का तीर्थ चल रहा है। अतएव उन तीर्थंकर भगवानका यहाँ कुछ उल्लेख करते हैं:—

यः शुभकर्मासेवनभावितभावो भवेष्वनेकेषु ।
जज्ञे ज्ञातेक्ष्वाकुषु सिद्धार्थनरेन्द्रकुलदीपः ॥ ११ ॥

अर्थ—अनेक जन्मोंमें शुभ कर्मोके सेवनसे जिनके परिणाम शुभ संस्कारोंसे युक्त हो गये थे, और जो **सिद्धार्थ** नामक राजाके कुलको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान थे, उन्होंने इक्ष्वाकु नामक प्रशस्त जातिके वंशमें जन्म धारण किया था।

भावार्थ—भगवान् महावीरस्वामीने इक्ष्वाकु वंशमें जन्म लिया था। और उनके पिताका नाम सिद्धार्थ था। उनके भाव–परिणाम अनेक भव पैहलेसे ही शुभकर्मोंके करनेसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुसंस्कृत होते आ रहे थे।

१–क्योंकि सिंहकी पर्यायसे ही शुभ कर्मोंका करना और उनके द्वारा उनकी आत्माका सुसंस्कृत होना शुरू होगया था।

ज्ञानैः पूर्वाधिगतैरप्रतिपातिभिर्मतिश्रुतावधिभिः ।
त्रिभिरपि शुद्धैर्युक्तः शैत्यद्युतिकान्तिभिरिवेन्दुः ॥ १२ ॥

अर्थ—वे भगवान् मति श्रुत और अवधि इन तीन शुद्ध ज्ञानोंसे युक्त थे। अतएव वे ऐसे मालूम पड़ते थे, जैसे शीतलता द्युति और कमनीयता—आल्हादकता इन तीन गुणोंसे युक्त चन्द्रमा हो। भगवान्के ये तीनों ही गुण पूर्वाधिगत—पूर्व जन्मसे ही चले आये हुए और अप्रातिपाती—केवलज्ञान होने तक न छूटनेवाले थे।

भावार्थ—भगवान् जब गर्भमें आते हैं, तभीसे वे तीन[1] ज्ञानोंसे युक्त रहा करते हैं। उनका अवधिज्ञान देवोंके समान भवप्रत्यय होता है। उसके सम्बन्धसे उनका मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी उसी प्रकार विशिष्ट रहा करता है। उनके ये ज्ञान केवलज्ञानको उत्पन्न करके ही नष्ट होते हैं।

शुभसारसत्त्वसंहननवीर्यमाहात्म्यरूपगुणयुक्तः ।
जगति महावीर इति त्रिदशैर्गुणतः कृताभिख्यः ॥ १३ ॥

अर्थ—वे भगवान् शुभ सार—सत्त्व—संहनन—वीर्य—माहात्म्य और रूप आदि गुणोंसे युक्त थे, अतएव देवोंने गुणोंके अनुसार जगत्में उनका "महावीर" यह नाम रखकर प्रसिद्ध किया।

भावार्थ—भगवान्का "महावीर" यह इन्द्रका रक्खा[2] हुआ नाम अन्वर्थ है। क्योंकि इस नामके अर्थके अनुसारही उनमें सार—सत्त्व आदि गुण भी पाये जाते हैं।

शरीरकी स्थिरताकी कारणभूत शक्तिको सार कहते है। सत्त्व नाम पराक्रमका है। संहनन[3] नाम हड्डीका या उसकी दृढ़ताका है। वीर्य नाम उत्साह शक्तिका है। जिसके द्वारा आत्माकी महत्ता—उत्कृष्टता प्रकट हो ऐसी शक्तिको या उस गुणको माहात्म्य[4] कहते हैं। चक्षुके द्वारा दीखनेवाले गुणको रूप[5] कहते हैं।

स्वयमेव बुद्धतत्त्वः सत्वहिताभ्युद्यताचलितसत्त्वः ।
अभिनन्दितशुभसत्त्वः सेन्द्रैर्लोकान्तिकैर्देवैः ॥ १४ ॥

१—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, इन तीनोका स्वरूप आगे चल कर प्रथमें ही लिखा है। २—तीर्थंकरोंका नाम-निर्देश इंद्र किया करता है। ३—हड्डीकी दृढ़ताकी तरतमता और बंधन विशेषकी अपेक्षा संहनन छह प्रकारका माना है, उसके भेदोका आगे उल्लेख किया जायगा। तीर्थंकरोंके सर्वोत्कृष्ट शुभ संहनन होता है, उसको वज्रऋषभ-नाराचसंहनन कहते हैं। अर्थात् उनका वेष्टन कीली और हड्डी वज्रके समान दृढ़ हुआ करती है। ४—भगवानके शरीरमें लक्षण और व्यंजन मिलाकर एक हजार आठ चिन्ह होते हैं, जो उनकी महत्ताको प्रकट करते हैं। ५—उनका रूप अतुल—अनुपम हुआ करता है।

अर्थ—तीर्थंकर स्वयंबुद्ध[1] ही होते हैं, वे किसीसे भी तत्त्वोंका बोध प्राप्त नहीं करते। तथा उनका कभी भी चलायमान न होनेवाला सत्त्व—पराक्रम दूसरे प्राणियोंका हित सिद्ध करनेके लिये सदा उद्यत रहा करता है। उनके शुभ भावोंका इन्द्र[2] और लौकान्तिकदेव[3] भी अभिनंदन—प्रशंसा किया करते है।

जन्मजरामरणार्त्तं जगदशरणमभिसमीक्ष्य निःसारम् ।
स्फीतमपहाय राज्यं शमाय धीमान् प्रवव्राज ॥ १५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त गुणोंसे युक्त और अतिशय विवेकी भगवान् महावीरने जब जगत्की समीक्षा—उसके गुणदोषोंकी पर्यालोचना की, तो उन्होंने उसको अंतमें निःसार ही पाया। उन्होंने देखा, कि यह संसार जन्म जरा और मरण इन तीन प्रकारकी अर्त्ति—पीड़ाओंसे व्याप्त है। तथा इसमें कोई भी किसीके लिये शरण नहीं है। अतएव उन्होंने परम शान्तिको प्राप्त करनेके लिये विशद राज्यका भी परित्याग कर दीक्षा धारण की।

प्रतिपद्याशुभशमनं निःश्रेयससाधकं श्रमणलिङ्गम् ।
कृतसामायिककर्मा व्रतानि विधिवत्समारोप्य ॥ १६ ॥

अर्थ—भगवान्ने दीक्षा लेकर परमपुरुषार्थ—मोक्षके साधक अर्थात् जिसके धारण किये विना कर्मोंकी सर्वथा निर्जरा होकर आत्माकी पूर्ण विशुद्ध अवस्था नहीं हो सकती—उस श्रमण लिङ्ग—निर्ग्रंथ जिनलिंगको धारण करके अशुभ कर्मोंका उपशमन कर दिया—उन्हें फल देकर आत्माको विकृत बनानेके अयोग्य कर दिया। सामायिक[4] कर्मको करके विधिपूर्वक व्रतोंका[5] भी समारोपण किया।

भावार्थ—दीक्षा धारण करते ही भगवान्की अशुभ प्रकृतियोंका उपशम हो गया, और वे सामायिक करने तथा व्रतोंके पूर्ण करनेमें प्रवृत्त हुए। समय नाम एकत्वका है। एक शुद्ध आत्म तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये योग्य कालमें उसीका चिन्तवन करते हुए उसकी साधन-

---

१—ज्ञानकी अपेक्षासे जीव दो प्रकारके माने हैं—स्वयंबुद्ध, बोधितबुद्ध। जिनको स्वयं तत्त्वोंका या मोक्षमार्गका बोध हो, उनको स्वयंबुद्ध और जिनको वह परके उपदेशसे हो उनको बोधितबुद्ध कहते हैं। भगवान् स्वयंबुद्ध होते हैं—उनका कोई गुरु नहीं होता। २—इन्द्र अपने समस्त परिकर और वैभवके साथ आकर भगवान्के दीक्षा—कल्याणका उत्सव किया करता है। ३—जब भगवान् दीक्षा धारण करनेका विचार करते हैं, और संसारके स्वरूपका चिन्तवन करते हुए अनित्य अशरण आदि वक्ष्यमाण बारह भावनाओंका पुनः२ स्मरण करते हैं, तब पाँचवें स्वर्गके लौकान्तिकदेव आकर उनकी स्तुति और प्रशंसा किया करते हैं। ये ब्रह्मलोकके अंतमें रहते हैं, इसलिये इनको लौकान्तिक कहते हैं। अथवा ये ब्रह्मचारी की तरह रहते हैं और इन्हें वैराग्य पसंद है, एक ही मनुष्यभवको धारण कर लोकका अंत कर देते हैं—मुक्त होते हैं इसलिये भी इनको लौकान्तिक कहते हैं। ४—अध्याय ७ सूत्र १६ की टीका—सामायिकं नामाभिगृह्य कालं सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥ ५—अध्याय ७ सूत्र १–२ में इसका लक्षण और भेदकथन है।

भूत स्थान उपवेशन आवर्त शिरोनति आदि क्रिया करते हुए सावद्य योगके निरोध करनेको सामायिक कहते हैं। व्रत मूलमें अहिंसादिके भेदसे पाँच प्रकारके हैं, तथा उसके उत्तरभेद अनेक है। भगवान्‌ने इन व्रतोंका भी सम्यक् प्रकारसे अपनी आत्मामें आरोपण–निष्ठापन किया।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंवरतपःसमाधिबलयुक्तः।
मोहादीनि निहत्याशुभानि चत्वारि कर्माणि ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्र संवर तप और समाधिके बलसे संयुक्त भगवान्‌ने मोहनीय आदि चारों[1] अशुभ[2] कर्मोंका घात कर दिया।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रयका स्वरूप आगे यथास्थान लिखा है। कर्मोंके न आनेको अथवा जिन क्रियाओंके करनेसे कर्मोंका आना रुकता है, उनको संवर कहते है। गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र एवं तपस्या ये संवररूप क्रियाएं है। सावद्य कर्मका निरोध करने अथवा निर्जरासिद्धिके लिये मन वचन कायके रोकनेमें कष्ट सहन करनेको तप कहते है। यह दो प्रकारका है—अन्तरङ्ग और बाह्य। और उनमें भी अन्तरङ्गके प्रायश्चित्तादि तथा बाह्यके अनशन आदि छह छह भेद हैं। स्थिर ध्यानको समाधि कहते हैं, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। रत्नत्रय और इन तीन कारणोंके बलसे भगवान्‌ने चार पाप कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर दिया।

केवलमधिगम्य विभुः स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तम्।
लोकहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थमिदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—चार घातिया कर्मोंका स्वयं ही नाश करके विभु भगवानने जिसका अंत नहीं पाया जा सकता, ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन गुणों[3]को प्राप्त किया। इस प्रकार कृतकृत्य होकर भी उन्होंने केवल लोक हितके लिये इस तीर्थ–मोक्षमार्गका उपदेश दिया।

भावार्थ—चार अशुभ कर्मोंको नष्ट कर अनंतचतुष्टयके प्राप्त होनेसे कृतकृत्य अवस्था कही जाती है। अनंतकेवलज्ञान गुणके उद्भूत होजाने पर सम्पूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्म स्थूल चराचर जगत प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है। उनका ज्ञान समस्त द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है; क्योंकि सभी पदार्थ केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते है। अतएव

१—मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय। २—कर्म दो प्रकारके माने हैं–घाती और अघाती, प्रत्येकके चार चार भेद हैं। अघातियोंके भेदोंमें शुभ अशुभ दोनो तरहके कर्म होते हैं, किंतु घातियोंके सब भेद अशुभ ही हैं। इन्हीं चार घातियोंका भगवान्‌ने सबसे पहले नाश किया। ३—चार घातिया कर्मोंके नाशसे अनन्तज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य ये चार गुण प्रकट होते हैं। जैसा कि अध्याय १० सूत्र १ के अर्थमें सिद्ध है।

इस ज्ञानशक्तिकी अपेक्षा भगवानको विभु कहा है। अथवा समुद्घातकी अपेक्षासे भी उनको विभु कहा जा सकता है। इस ज्ञानसाम्राज्यके प्रतिबंधक कर्मोका नाश भगवान्‌ने किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं, किन्तु अपनी ही शक्तिसे किया था। कृतकृत्य भगवान्‌की वाणी तीर्थंकर-प्रकृतिके निमित्तसे लोकहितके लिये जो प्रवृत्त हुई वह केवलज्ञानपूर्वक थी, अतएव उसको सर्वथा निर्वाध ही समझना चाहिये।

भगवान्‌ने जिस मोक्षमार्गका उपदेश दिया उसका स्वरूप कैसा है और उसके भेद कितने हैं, तथा उसका फल क्या है सो बताते हैं---

द्विविधमनेकद्वादशविधं महाविषयममितगमयुक्तम्।
संसारार्णवपारगमनाय दुःखक्षयायालम् ॥ १९ ॥

अर्थ---भगवान्‌ने जिस मार्गका उपदेश दिया वह जीवादिक ६ द्रव्य या सात तत्त्व और नव पदार्थ तथा इनके उत्तर भेदरूप महान् विषयोंसे परिपूर्ण है। और अनंतज्ञानरूप तथा युक्तिसिद्ध है, अथवा अनंत प्रमेयोंसे युक्त है। इसके मूलमें दो भेद है---अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगबाह्यके अनेक भेद और अंगप्रविष्टके बारह भेद है। यह भगवान्‌का उपदिष्ट तीर्थ संसार-समुद्रसे पार ले जानेके लिये और दुःखोंका क्षय करनेके लिये समर्थ है।

भावार्थ---भगवान्‌की उपदिष्ट वाणीको ही श्रुत कहते हैं। उसमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, वे महान् है अनंत है और युक्तिसिद्ध है। अतएव उसके अनुसार जो क्रिया करते हैं, वे संसार--समुद्रसे पार हो कर सांसारिक दुःखों--तापत्रयका क्षयकर आत्मसमुत्थ स्वाभाविक अविनश्वर अव्याबाध सुखको प्राप्त किया करते है। श्रुतके भेदोंका वर्णन और स्वरूप आगे चलकर पहले अध्यायके १९ वें सूत्रमें लिखेंगे वहाँ देखना।

ग्रंथार्थवचनपटुभिः प्रयत्नवद्भिरपि वादिभिर्निपुणैः।
अनभिभवनीयमन्यैर्भास्कर इव सर्वतेजोभिः ॥ २० ॥

अर्थ---जिस प्रकार संसारके तेजोमय पदार्थ सबके सब मिलकर भी सूर्यके तेजको आच्छादित नहीं कर सकते, उसी प्रकार अनेकान्त सिद्धान्तके विरुद्ध एकान्तरूपसे तत्त्वस्वरूप-

---

१---शरीरसे सम्बन्ध न छोड़कर शरीरके बाहर भी आत्मप्रदेशोंके निकलनेको समुद्घात कहते है। उसके सात भेद हैं-वेदना, कषाय, विक्रिया, मरण, आहार, तैजस और केवल। केवलसमुद्घात केवली भगवान्‌के ही होता है। जब अघाति कर्मोंमें आयुकर्म और शेष वेदनीय आदि कर्मोकी स्थितिमें न्यूनाधिकता होती है, तब भगवान् शेष कर्मोकी स्थितिको आयुकर्मकी स्थितिके समान बनानेके लिये समुद्घात करते हैं। इसका काल आठ समयका है, और वह तेरहवें गुणस्थानके अंतमें होता है। इसके चार भेद हैं-दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण। लोकपूर्ण अवस्थामें जीवके प्रदेश फैलकर लोकके ३४३ राजूप्रमाण समस्त प्रदेशोंमे व्याप्त हो जाते हैं। इस अपेक्षासे भी भगवान्‌को विभु कहा जा सकता है।

२---दशवैकालिक उत्तराध्ययन आदि। ३---आचाराङ्ग सूत्रकृताग, स्थानाग, आदि द्वादशाग।

को माननेवाले अनेक ऐसे प्रवीणवादी जोकि ग्रंथ और अर्थके निरूपण करनेमें अत्यंत कुशल हैं, वे मिलकर प्रयत्न करनेपर भी इस अरहंत प्ररूपित मोक्षमार्गको अथवा उसके बोधक श्रुतको अभिभूत-पराजित-तिरस्कृत-बाधित नहीं कर सकते।

भावार्थ—तीर्थंकर केवली भगवान्का उपदिष्ट आगम प्रशस्त अनंत विषयोंका युक्तिपूर्ण प्रतिपादन करनेवाला और सुखका साधक तथा दुःखका बाधक है। यही कारण है, कि एकान्त-वादियोंके द्वारा चाहे वे कैसे भी ग्रंथोंकी रचना करनेवाले और अर्थका व्याख्यान करनेवाले अथवा दोनों ही विषयोंमें कुशल क्यों न हों, यह श्रुत विजित नहीं हो सकता। सबके सब वादी मिलकर भी इसको जीत नहीं सकते। क्या सूर्यको कोई भी प्रकाश अभिभूत (पराजित) कर सकता है।

इस प्रकार अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी देशनाका महत्त्व उद्घोषित करके उनको नमस्कार करते हुए वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं—

कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम्।
पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय॥ २१॥
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य॥ २२॥

अर्थ—मोह शत्रुको सर्वथा नष्ट करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट पूज्य उक्त परम ऋषि[1] श्रीवीरभगवान्को मैं—ग्रन्थकार अपने मन वचन और काय इन तीन करणोंको शुद्ध करके नमस्कार कर तत्त्वार्थाधिगम नामक ग्रंथका निरूपण करूँगा। यह ग्रंथ शब्द-संख्याके प्रमाणकी अपेक्षा अति अल्प परन्तु अर्थकी अपेक्षा विपुल-बड़ा होगा। इसमें महान् और प्रचुर विषयोंका संग्रह किया गया है। इसकी रचना केवल शिष्योका हित सिद्ध करनेके लिये ही है। इसमें[2] अरहंत भगवान्के वचनोंके एकदेशका संग्रह किया गया है।

भावार्थ—ग्रंथकारको अपने वचनोंकी प्रामाणिकता प्रकट करनेके लिये, यह बताना आवश्यक है, कि हम जो कुछ लिखेंगे, वह सर्वज्ञके उपदेशानुसार ही लिखेंगे, अतएव उन्होने यहाँपर यह बात दिखलाई है, कि अरहंत भगवान्के उपदेशके एकदेशका ही इसमें संग्रह किया गया है। तथा इस ग्रंथकी बह्वर्थ और लघुग्रंथ इन दो विशेषणोके द्वारा आचार्यने सूत्ररूपता[3] प्रकट की है, और इस ग्रंथमें जिस विषयका वर्णन करेंगे, वह उसके नामसे ही प्रकट है, कि इसमें तत्त्वार्थोका

१—जो क्लेश-राशिको नष्ट करते हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं—"रेषणात् क्लेशराशीनामृषिः प्रोक्तः"—यशस्तिलकचम्पू-सोमदेवसूरी।

२—कारिकामें "अर्हद्वचनैकदेशस्य" यह जो पद आया है, उसका अर्थ इसी कारिकाके अर्थके साथ यहाँ पर लिखा है। परन्तु इस पदका अर्थ आगेकी कारिकाके साथ भी जुड़ता है, इसलिये वह भी अर्थ दिखानेके लिये आगेकी कारिकाका अर्थ लिखते हुए भी इस पदका अर्थ लिखा है।

३—सूत्रका लक्षण इस प्रकार है—अल्पाक्षरं बह्वर्थं सूत्रम्।

वर्णन किया जायगा । क्योंकि इस ग्रंथका " तत्त्वार्थाधिगम " यह नाम अन्वर्थ है । इस प्रकार ग्रंथकारने ग्रंथ बनानेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका नाम विषय स्वरूप प्रमाण और प्रामाणिकताको भी बता दिया है। तथा " शिष्यहितम् " इस शब्दके द्वारा उसका प्रयोजन[1] और उसकी इष्टता तथा शक्यानुष्ठानता भी प्रकट कर दी है। अर्थात् इस ग्रंथके बनानेका ख्याति लाभ पूजा आदि प्राप्त करना मेरा हेतु नहीं है, केवल श्रोताओंका हित करना, इस भावनासे ही मैंने यह ग्रंथ बनाया है । और इसके पढ़ने तथा सुनने सुनानेसे साक्षात् तत्त्वज्ञान और परम्पर-या मोक्ष तकका जो फल है, वह मुमुक्षुओंको इष्ट है, तथा उसका सिद्ध करना भी शक्य है ।

इस ग्रंथकी रचना जिनके उपदेशानुसार की जा रही है, और जिन्होंने अनन्त प्राणि-गणोंका अनुग्रह (दया) करनेके लिये तीर्थका प्रवर्तन किया, उनके प्रति ग्रंथकी आदिमें कृतज्ञता प्रकट करना भी आवश्यक है । इसके सिवाय मंगल-क्रिया किये विना ही कोई भी कार्य करना आस्तिकता नहीं है । यही कारण है, कि आचार्यने यहाँपर वर्धमान भगवान्‌को नमस्कार रूप मंगल क्रिया-मंगलाचरण करके ही ग्रंथरचनाकी प्रतिज्ञा की है ।

मैंने यहाँपर जिन भगवान्‌के वचनके एकदेशका ही संग्रह करना क्यों चाहा है, अथवा उनके सम्पूर्ण वचनोंका संग्रह करना कितना दुष्कर है, इस अभिप्रायको आगेकी कारिकाओंमें ग्रंथकार प्रकट करते हैं—

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रंथभाष्यपारस्य ।
कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥ २३ ॥
शिरसा गिरिं बिभित्सेदुच्चिक्षिप्सेच्च स क्षितिं दोर्भ्याम् ।
प्रतितीर्षेच्च समुद्रं मित्सेच्च पुनः कुशाग्रेण ॥ २४ ॥
व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत् ।
गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ॥ २५ ॥
खद्योतकप्रभाभिः सोऽभिबुभूषेच्च भास्करं मोहात् ।
योऽतिमहाग्रन्थार्थं जिनवचनं संजिघृक्षेच्च ॥ २६ ॥

अर्थ—जिनभगवान्‌के वचन बड़े भारी समुद्रके समान महान् और अत्यन्त उत्कृष्ट-गम्भीर विषयोंसे युक्त है, क्या उनका कोई भी संग्रह कर सकता है? अथवा क्या उनकी कोई भी प्रतिकृति-नकल भी कर सकता है? कोई दुर्गम ग्रंथोंकी रचना या निरूपणा करनेमें अत्यंत कुशल हो, तो वह भी उसका पार

१—" मंगलनिमित्तहेतुप्रमाणनामानि शास्त्रकर्तृंश्च । व्याकृत्य षडपि पश्चात् व्याचष्टां शास्त्रमाचार्यः " इस नियमके अनुसार ग्रंथकी आदिमें छह बातोंका उल्लेख करना आवश्यक है ।

नहीं पा सकता । क्योंकि जिन-वचनरूपी समुद्र अपार है । इस महान् गम्भीर अपार श्रुत-समुद्रका जो कोई संग्रह करना चाहता है, तो कहना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने शिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है, दोनों भुजाओसे पृथ्वीको उठाकर फेंकना चाहता है, अपनी दोनों बाहुओंके ही बलसे समुद्रको तरना चाहता है, और केवल कुशाके अग्रभागसे ही उसका-समुद्रका माप करना चाहता है, पैरोंसे चलकर आकाशमें उपस्थित चन्द्रमाको भी लाँघना चाहता है, अपने एक हाथसे मेरुपर्वतको हिलाना चाहता है, गतिके द्वारा वायुको भी जीतना चाहता है, अंतिम समुद्र-स्वयंभूरमणका पान करना चाहता है, और केवल खद्योत-जुगनूकी प्रभाओंको इकट्ठा करके अथवा उसके ही समान प्रभाओंसे सूर्यके तेजको अभिभूत-आच्छादित करना चाहता है । अर्थात् इन असंभव कार्योंके करनेकी इच्छा उसी व्यक्तिकी हो सकती है, जिसकी कि बुद्धि मोहके उदयसे विपर्यस्त हो गई है । उसी प्रकार अत्यंत महान् ग्रंथ अर्थरूप जिन-वचन का संग्रह होना असंभव है, फिर भी यदि कोई इसका संग्रह करना चाहता है, तो कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि मोह—मिथ्यात्वके उदयसे विकृत हो गई है ।

संपूर्ण जिनवचनके संग्रहकी असंभवताका आगमप्रमाणके द्वारा हेतुपूर्वक समर्थन करते हैं—

एकमपि तु जिनवचनाद्यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति ।
श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥ २७ ॥

अर्थ—आगमके अन्दर ऐसा सुननेमें आता है, कि केवल सामायिक पदोंका उच्चारण करके ही अनंत जीव सिद्ध पर्यायको प्राप्त हो गये हैं । अतएव यह बात सिद्ध होती है, कि जिनवचनका एक भी पद संसार-समुद्रसे जीवको पार उतारनेवाला है ।

भावार्थ—जब सामायिक-पाठके पदोंमें ही इतनी शक्ति है, कि उसका पाठमात्र करनेसे ही सम्यग्दृष्टि साधुओंने संसारका नाश कर निर्वाणपद प्राप्त कर लिया, और उस अनंतशक्तिका कोई पार नहीं पा सकता, तो सम्पूर्ण जिनवचनका कोई संग्रह किस प्रकार कर सकता है ।

इस प्रकार जिनवचनकी अनंतशक्ति और महत्ताको बताकर फलितार्थको प्रकट करते है ।

१—"दुर्गमग्रंथभाष्यपारस्य" इसके दो पदच्छेद हो सकते हैं, एक तो दुर्गमग्रंथभाषी-अपारस्य, और दूसरा जैसेका तैसा-दुर्गमग्रंथभाष्यपारस्य । पहले पदच्छेदके अनुसार ऊपर अर्थ लिखा गया है। दूसरे पक्षमे इस वाक्यके साथ अर्हद्वचनैकदेशस्यका सम्बन्ध करना चाहिये, और इस अवस्थामें ऐसा अर्थ करना चाहिये, कि यह दुर्गम ग्रंथ भाष्य-तत्त्वार्थाधिगम जिन-वचनरूपी समुद्रके पार-तटके समान है । क्योकि यह अर्हद्वचनके एकदेशरूप है। इसी प्रकार " महतः " और " अति महाविपयस्य " इन दोनो विशेषणोंका भी अर्थ इस पक्षमे इस पदके साथ घटित हो सकता है ।

तस्मात्तत्प्रामाण्यात् समासतो व्यासतश्च जिनवचनम् ।
श्रेय इति निर्विचारं ग्राह्यं धार्यं च वाच्यं च ॥ २८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे जिनवचनकी प्रमाणता सिद्ध है । वह समास और व्यास दोनों ही तरहसे कल्याणरूप है, अथवा कल्याणका कारण है । अतएव निःसंशय होकर इसीको ग्रहण करना चाहिये, इसीको धारण करना चाहिये, और इसीका उपदेश-निरूपण आदि करना चाहिये ।

भावार्थ—इसके एक एक पदकी शक्ति अनंत है, वादियोंके द्वारा अजेय है, दुःखका ध्वंसक, और अनंत सुखका साधक है, निर्बाध विषयोंका प्रतिपादक गम्भीर और और अतिशययुक्त है, इत्यादि पूर्वोक्त कारणोंसे जिनवचनकी प्रामाणिकता सिद्ध है । अतएव उसमें किसी प्रकार भी संदेह करना उचित नहीं है । श्रवण ग्रहण धारण आदि जो श्रोताओंके गुण बताये हैं, उनके अनुसार प्रत्येक श्रोता और वक्ताको इस जिनवचनका ही निःसंदेह होकर ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये ।

इस जिनवचनके सुननेवाले और व्याख्यान करनेवालोंको जो फल प्राप्त होता है उसे बताते हैं—

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ २९ ॥

अर्थ—इस हितरूप श्रुतके श्रवण करनेसे सभी श्रोताओंको एकान्तसे—सर्वात्मना धर्मकी प्राप्त होती है, इतना ही नहीं, बल्कि उनके ऊपर अनुग्रह करनेकी सदिच्छासे जो उसका व्याख्यान करता है, उस वक्ताको भी सर्वथा धर्मका लाभ होता है[३] ।

भावार्थ—इस ग्रंथको जो आत्म—कल्याण की बुद्धिसे स्वयं सुनेंगे अथवा दूसरोंको सुनावेंगे वे दोनों ही आत्म—कल्याणको सिद्ध करेंगे । क्योंकि धर्म ही आत्माका हित है, और उसका कारण जिनवचन ही है ।

इस ग्रंथका व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओंको उत्साहित करते हैं—

श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम् ।
आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनवचनरूपी मोक्षमार्गका वक्ता अवश्य ही धर्मका आराधन करनेवाला है । बल्कि इतना ही नहीं, किंतु हितरूप श्रुतका उपदेश देनेवाला अपना और परका दोनोंका ही अनुग्रह—कल्याण करता है; अतएव वक्ताओंको अपने श्रम आदिका विचार न करके सदा इस श्रेयोमार्गका ही उपदेश देना चाहिये ।

१–सक्षेप । २–विस्तार । ३–इसका दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है, कि इस ग्रंथके सभी श्रोताओंको धर्मकी सिद्धि होगी, ऐसा एकान्तरूपसे नहीं कहा जा सकता, परन्तु अनुग्रहबुद्धिसे व्याख्यान करनेवालेको धर्मका लाभ होता ही है, ऐसा एकान्तरूपसे कहा जा सकता है ।

भावार्थ—जब इसके उपदेशसे स्व और परका कल्याण एकान्तरूपसे होना निश्चित है, तब विद्वानोंको इसके उपदेश देनेमें ही सदा अप्रमत प्रवृत्ति रखना उचित है ।

इस प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशकी आवश्यकता और सफलताको बताकर अब अन्तकी सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाके द्वारा वक्तव्य–विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस समस्त संसारमें मोक्षमार्गके सिवाय और किसी भी तरहसे हितोपदेश[1] नहीं बन सकता, अतएव मै—ग्रंथकार केवल इस मोक्षमार्गका ही अब यहाँ व्याख्यान करूँगा ।

भावार्थ—जगत्‌में जितने भी उपदेश हैं, वे जीवका वास्तवमें सिद्ध नहीं कर सकते । क्योंकि वे कर्मोके क्षयका उपाय नहीं बताते । अहितका कारण कर्म है । अतएव जबतक उसका क्षय न होगा, तबतक आत्माका वस्तुतः हित भी कैसे होगा । इसलिये मोक्षमार्गका उपदेश ही एक ऐसा उपदेश है, जोकि वस्तुतः आत्माके हितका साधक माना जा सकता है । अतएव जो मुमुक्षु हैं, और जो अपना तथा परका कल्याण करना चाहते है, उन्हें इसीका ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये ।

अतएव ग्रंथकार भी इस ग्रंथमें मोक्षमार्गके ही उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

इति सम्बन्धकारिकाः समाप्ताः ।

इस प्रकार इकतीस कारिकाओंमें इस सूत्रग्रंथके निर्माण–सम्बन्धको बताया है । अब आगे वक्तव्य विषयका प्रारम्भ करेंगे ।

१—भगवन्! किं नु खलु आत्मने हितमिति, स आह मोक्ष इति ।–पूज्यपाद–सर्वार्थसिद्धि । तथा "अन्तरेण मोक्षमार्गोपदेश हितोपदेशो दुष्प्राप्य इति" ।—अकलंकदेव–राजवार्त्तिक०

प्रथमोऽध्यायः ।

सूत्रम्—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः। तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः। शास्त्रानुपूर्वीविन्यासार्थं तूद्देशमात्रमिदमुच्यते। एतानि च समस्तानि मोक्षसाधनानि, एकतराभावेऽप्यसाधनानीत्यतस्त्रयाणां ग्रहणं। एषां च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरं। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः। तत्र सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः, समञ्चतेर्वा भावः। दर्शनमिति।-दृशेरव्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिरेतत्सम्यग्दर्शनम्। प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनं। संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम्। एवं ज्ञानचारित्रयोरपि।

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस तरहसे यह मोक्षमार्ग तीन प्रकारका है। इसके लक्षण और भेदोंका हम आगे चलकर विस्तारके साथ निरूपण करेंगे। परन्तु नाममात्र भी कथन किये विना शास्त्रकी रचना नहीं हो सकती। अतएव केवल शास्त्रकी रचना क्रमबद्ध हो सके, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर यहाँपर इनका उद्देशमात्र[1] ही निरूपण किया जाता है। ये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों[2] मिले हुए ही मोक्षके साधन माने गये हैं, न कि पृथक् पृथक् एक अथवा दो। इनमेंसे यदि एक भी न हो, तो बाकीके भी मोक्षके साधक नहीं हो सकते, यही कारण है, कि आचार्यने इस सूत्रमें तीनोंका ही ग्रहण किया है। इनमें से पूर्वका लाभ होनेपर भी उत्तर—आगेका भजनीय है,—अर्थात् पूर्वगुणके प्रकट होनेपर उसी समय उत्तरगुण भी प्रकट हो ही ऐसा नियम[3] नहीं है। हाँ, उत्तरगुणके प्रकट होनेपर पूर्वगुणका लाभ होना अवश्य ही नियत है।

सूत्रमें सम्यक् शब्द जो आया है, वह दो[4] प्रकारसे प्रशंसा अर्थका द्योतक माना है। अव्युत्पन्न पक्षमें यह शब्द निपातरूप होकर प्रशंसा अर्थका वाचक होता है। और व्युत्पन्न पक्षमें सम्पूर्वक अञ्चु धातुसे क्विप् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है, और इसका भी अर्थ प्रशंसा ही होता है।

सम्यक् शब्दकी तरह दर्शन शब्द भी दृश् धातुसे भावमें युट् प्रत्यय होकर बना है। प्रशंसार्थक सम्यक् शब्द दर्शनका विशेपण है। अतएव जिसमें

१—नाममात्रकथनमुद्देशः। २—इन तीनोकी रत्नत्रय संज्ञा है। रत्नका लक्षण ऐसा बताया है कि "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तत्तद्रत्नमिहोच्यते।" जो जो पदार्थ-हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुरुष, खड्ग, दण्ड, चक्र चर्म आदि अपनी अपनी जातिमें उत्कृष्ट है, वे वे उस जातिमें रत्न कहाते हैं। मोक्षके साधनमें ये तीनों आत्मगुण सर्वोत्कृष्ट हैं, अतएव इनको रत्नत्रय कहते हैं। ३—सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियमसे उत्पन्न हो ही यह बात नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो ही ऐसा नियम नहीं है। किन्तु सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यग्दर्शन नियमसे होता ही है। यह बात किस अपेक्षासे कही है, सो हिंदी टीकामें आगे इसी सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है। ४—व्याकरणमें दो पक्ष माने हैं—एक व्युत्पन्न दूसरा अव्युत्पन्न।

किसी प्रकारका भी व्यभिचार नहीं पाया जाता ऐसी इन्द्रिय और मनके विषयभूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि—श्रद्धारूप प्राप्तिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। प्रशस्त—उत्तम—संशय विपर्यय अनध्यवसाय आदि दोषोंसे रहित दर्शनको अथवा संगत—युक्तिसिद्ध दर्शनको सम्यग्दर्शन कहते हैं। दर्शन शब्दकी तरह ज्ञान और चारित्र शब्दके साथ भी सम्यक् शब्दको जोड़ लेना चाहिये।

भावार्थ—सूत्रमें "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि" यह विशेषणरूप वाक्य है, और "मोक्षमार्गः" यह विशेष्यरूप वाक्य है। व्याकरणके नियमानुसार जो वचन विशेष्यका हो वही विशेषणका होना चाहिये, किन्तु यहाँपर वैसा नहीं है; यहाँ तो विशेषण—वाक्य बहुवचनान्त है, और विशेष्य—वाक्य एकवचनान्त है। फिर भी यह वाक्य अयुक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ विशेषको सूचित करनेके लिये ऐसा भी वाक्य बोला जा सकता है। अतएव इस प्रकारका वाक्य बोलकर आचार्यने इस विशेष अर्थको सूचित किया है, कि ये समस्त—तीनों मिलकर ही मोक्षके मार्ग—उपाय—साधन हो सकते हैं, अन्यथा—एक या दो—नहीं।

यद्यपि इन तीनों गुणोंमेंसे सम्यग्दर्शनके साथ शेषके दो गुण भी किसी न किसी रूपमें प्रकट हो ही जाते हैं, फिर भी यहाँपर पूर्वके होनेपर भी उत्तरको भजनीय जो कहा है सो शब्दनयकी अपेक्षासे समझना चाहिये। क्योंकि शब्दनयकी अपेक्षासे यहाँ सम्यग्दर्शन आदि शब्दोंसे क्षायिक[1] और पूर्ण सम्यग्दर्शन आदि ही ग्रहण करने चाहिये। सो क्षायिकसम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्रमसे ही प्रकट होते हैं। क्षायिकसम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थान[2]में हो सकता है। क्षायिकसम्यग्ज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें ही होता है। क्षायिकसम्यक्चारित्र चौदहवें गुणस्थानके अंतमें ही होता है। अतएव इन क्षायिक गुणोंकी निष्पत्ति[3]की अपेक्षा पूर्व गुणके होनेपर उत्तरगुणको भजनीय समझना चाहिये। और उत्तर गुणके प्रकट होनेपर पूर्व गुणका प्रकट होना नियमसे समझना चाहिये।

यहाँपर दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनो शब्दोंको कर्तृसाधन[4] करणसाधन[5] और भावसाधन[6] इस तरह तीनों प्रकारका समझना चाहिये, और इनमेंसे प्रत्येकके साथ सम्यक् शब्दका

१—जो प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर आत्माका गुण प्रकट होता है, उसको क्षायिक कहते हैं। जसे कि सम्यग्दर्शन गुणके घातनेवाले कर्म सात हैं—मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृति और चार अनतानुबंधी कषाय। सो इनका सर्वथा अभाव होनेपर जो प्रकट होगा, उसको क्षायिक सम्यग्दर्शन कहेंगे। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका सर्वथा अभाव होनेपर क्षायिकज्ञान होता है, और चारित्रको विपरीत अथवा अपूर्ण रखनेवाले कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर क्षायिकचारित्र होता है। २—सम्यक्त्व चारित्र और योग इनकी अपेक्षासे आत्माके गुणोंके जो स्थान हो, उनको गुणस्थान कहते हैं—इनके चौदह भेद हैं-मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय, उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली। ३—प्रारब्धकार्यकी समाप्ति। ४—जैसे पश्यति इति दर्शनम्, जानाति इति ज्ञानम्, चरति इति चारित्रम्। ५—दृश्यते अनेन इति दर्शनम्, ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्, चर्यते अनेन इति चारित्रम्,। ६—दृष्टिर्दर्शनम्, ज्ञातिर्ज्ञानम्, चरणं चारित्रम्।

सम्बन्ध करना चाहिये । क्योंकि “ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि ” इस पदमें द्वन्द्वसमास किया गया है, और व्याकरणका यह नियम है, कि द्वन्द्वसमासमें आदिके अथवा अंतके शब्दका उसके प्रत्येक शब्दके साथ सम्बन्ध हुआ करता है । अतएव इसका ऐसा अर्थ होता है, कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी पूर्ण मिली हुई अवस्था मोक्षका मार्ग-उपाय है ।

सम्यक् शब्दके लगानेसे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति बताई है । इसी लिये यहाँपर सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताते हुए प्राप्तिका विशेषण अव्यभिचारिणी ऐसा दिया है । अन्यथा अतत्त्व श्रद्धान, और संशय विपर्यय अनध्यवसायरूप ज्ञान, तथा विपरीत चारित्रको भी कोई मोक्षमार्ग समझ सकता था ।

मोक्षके मार्गस्वरूप रत्नत्रयमेंसे क्रमानुसार पहले सम्यग्दर्शनका लक्षण बतानेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैः—

सूत्र—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—तत्त्वानामर्थानां श्रद्धानं तत्त्वेन वार्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम् तत् सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः । तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते । त एव चार्थास्तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्ययावधारणम् । तदेवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥

अर्थ—तत्त्वरूप अर्थोंके श्रद्धानको, अथवा तत्त्वरूपसे अर्थोंके श्रद्धान करनेको तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं, और इसीका नाम सम्यग्दर्शन है । तत्त्वरूपसे श्रद्धान करनेका अभिप्राय यह है, कि भावरूपसे निश्चय करना । तत्त्व जीव अजीव आदिक सात हैं, जैसा कि आगे चल कर उनका वर्णन करेंगे । इन तत्त्वोंको ही अर्थ समझना चाहिये, और उनके श्रद्धानको अथवा उनमें विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इस प्रकार तत्त्वार्थोंके श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन होता है, उसका लक्षण—चिन्ह इन पाँच भावोंकी अभिव्यक्ति-प्रकटता है—प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ।

भावार्थ—तत् शब्द सर्वनाम है, और सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थके वाचक हुआ करते हैं । तत् शब्दसे भाव अर्थमें त्व प्रत्यय होकर तत्त्व शब्द बना है । अतएव हरएक पदार्थके स्वरूपको तत्त्व शब्दसे कह सकते है । जो निश्चय किया जाय—निश्चयका विषय हो उसको अर्थ कहते हैं ।

अनेकान्त सिद्धान्तमें भाव और भाववान्में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद माना है ।

१—“ चकारबहुलो द्वन्द्वः । ” २—द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं परिसमाप्यते । ३—इसी अध्यायका सूत्र ४ । ४—अर्थते=निश्चीयते इति अर्थः । ५—जैनमतमें, क्योंकि जैनमत वस्तुको अनंतधर्मात्मक मानता है । अनेकान्त शब्दका अर्थ भी ऐसा ही माना है, कि अनेके अन्ताः=धर्माः यस्मिन् असौ अनेकान्तः । ६—किसी अपेक्षा विशेषसे ।

अतएव तत्त्व और अर्थमें भी कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। इसी लिये यहाँपर "तत्त्वार्थ श्रद्धानम्" इस पदकी निरुक्ति दो प्रकारसे की है। यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब तत्त्व और अर्थमें अभेद है, तब दोनों शब्दोंके प्रयोगकी सूत्रमें क्या आवश्यकता है? या तो "तत्त्वश्रद्धानं" इतना ही कहना चाहिये, अथवा "अर्थश्रद्धानम्" ऐसा ही कहना चाहिये। परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा होनेसे दोनों ही पक्षमें एकान्तरूप मिथ्या अर्थका ग्रहण हो सकता है। "तत्त्वश्रद्धानं" इतना ही कहनेसे केवल सत्ता या केवल एकत्व अथवा केवल भावके ही श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है। इसी प्रकार अर्थश्रद्धानं इतना ही माननेपर तत्त्वके भी श्रद्धानका अर्थ छूट जाता है। अतएव दोनों पदोंका ग्रहण करना ही उचित है।

तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन आत्माका एक ऐसा सूक्ष्म गुण है, कि जिसको हरएक जीव प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। अतएव जो सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आत्मामें प्रकट हो सकते हैं, उन प्रशम संवेग आदि पाँच भावरूप चिन्होंको देखकर सम्यग्दर्शनके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। उन पाँच भावोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार हैं—

प्रशम[3]—राग द्वेष अथवा क्रोधादि कषायोंका उद्रेक न होना। या उन कषायोंको जागृत न होने देना और जीतनेका प्रयत्न करना।

संवेग[4]—जन्म मरण आदिके अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारको देखकर भयभीत होना। संसारके कारणभूत कर्मोंका मेरे संग्रह न हो जाय, ऐसी निरंतर चित्तमें भावना रखना।

निर्वेद[5]— संसार शरीर और भोग इन तीन विषयोंसे उपरति अथवा इनके त्यागकी भावना होना।

अनुकम्पा[6]—संसारके सभी प्राणियोंपर दयाका होना अथवा सभी संसारी जीवोंको अभय बनानेका भाव होना।

आस्तिक्य[7]—जीवादिक पदार्थोंका जो स्वरूप अरंहतदेवने बताया है, वही ठीक है, अथवा उन पदार्थोंको अपने अपने स्वरूपके अनुसार मानना।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया, अब उसकी उत्पत्ति किस तरहसे होती है, इस बातको बतानेके लिये उसके दो हेतुओंका उल्लेख करनेको सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तदेतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधं भवति—निसर्गसम्यग्दर्शनमधिगमसम्यग्दर्शनं च। निसर्गादधिगमाद्वोत्पद्यत इति द्विहेतुकं द्विविधम्। निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेश इत्य-

---

१—सत्ता ही तत्त्व है, ऐसा किसी किसी का मत है, कोई एकत्वको ही तत्त्व मानते हैं, कोई अर्थको छोड़कर केवल भावका ही ग्रहण मानते हैं, इत्यादि। २—नैयायिकोंने भावको छोड़कर केवल अर्थका ही ग्रहण—ज्ञान होना माना है। ३—रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। ४—संसाराद्भीरुता संवेगः। ५—संसारशरीरभोगेषूपरतिः। ६—सर्वभूतदया। ७—जीवादयोऽर्थाः यथास्वं सन्तीतिमतिरास्तिक्यम्।

नर्थान्तरम् । ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव इति वक्ष्यते । तस्यानादौ संसारे परिभ्रमतः कर्मत एव कर्मणः स्वकृतस्य बन्धनिकाचनोदयनिर्जरापेक्षं नारकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभवग्रहणेषु विविधं पुण्यपापफलमनुभवतो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वाभाव्यात् तानि तानि परिणामाध्यवसायस्थानान्तराणि गच्छतोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि सतः परिणामविशेषादपूर्वकरणं तादृग्भवति येनास्यानुपदेशात्सम्यग्दर्शनमुत्पद्यत इत्येतन्निसर्गसम्यग्दर्शनम् । अधिगमः अभिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तदेवं परोपदेशाद्यत्तत्त्वार्थश्रद्धानं भवति तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति ॥

अर्थ—जिसका कि ऊपर लक्षण बताया गया है, वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—एक निसर्गसम्यग्दर्शन दूसरा अधिगमसम्यग्दर्शन । कोई सम्यग्दर्शन निसर्गसे उत्पन्न होता है, और कोई अधिगमसे उत्पन्न होता है, अतएव यहाँपर ये दो भेद उत्पत्तिके दो कारणोंकी अपेक्षासे हैं, न कि स्वरूपकी अपेक्षासे । जो सम्यग्दर्शन निसर्गसे होता है, उसको निसर्गज और जो अधिगमसे होता है, उसको अधिगमज कहते है । निसर्ग स्वभाव परिणाम और अपरोपदेश इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है । ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । अतएव परोपदेशके विना स्वभावसे ही परिणाम विशेषके हो जानेपर जो सम्यग्दर्शन होता है, उसको निसर्गज, और जो परोपदेशके निमित्तसे परिणाम विशेषके होनेपर प्रकट होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

जीवका लक्षण ज्ञानदर्शनरूप उपयोग है, ऐसा आगे चलकर बतावेंगे । यह जीव अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण कर रहा है । कर्मके निमित्तसे यह जीव स्वयं ही जिन नवीन कर्मोंको ग्रहण करता है, उनके बंध निकाचन उदय निजरा आदिकी अपेक्षासे यह जीव नारक तिर्यग् मनुष्य और देव इन चार गतियोंको योग्यतानुसार ग्रहण करता है, और उनमें नाना प्रकारके पुण्य पापके फलको भोगता है । अपने ज्ञानदर्शनोपयोगरूप स्वभावके कारण यह जीव विलक्षण तरहके उन उन परिणामाध्यवसाय स्थानोंको प्राप्त होता है, कि जिनको प्राप्त होनेपर अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके भी उन परिणाम विशेषके द्वारा ऐसे अपूर्वकरण हो जाते है, कि जिनके निमित्तसे विना उपदेशके ही उस जीवके सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है । इस तरहके सम्यग्दर्शनको ही निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अधिगम अभिगम आगम[1] निमित्त श्रवण[2] शिक्षा उपदेश ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । इसलिये जो परोपदेशके निमित्तसे उत्पन्न होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें पंच लब्धियों[3]को कारण माना है; क्षयोपशम

१—आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः—"न्यायदीपिका" । २—शब्द । ३—लब्धि नाम प्राप्तिका है । परन्तु यहाँपर जिनके होनेपर ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है, ऐसी योग्यताओंकी प्राप्तिको ही लब्धि समझना चाहिये । इसके पाँच भेद हैं, यथा–" खयउवसमियविसोही देसणपाउग्ग करणलद्धी य । चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते । ६५० ॥ " (गोम्मटसार–जीवकाण्ड)

विशुद्धि देशना प्रायोग्य और करण । कर्मोंकी स्थिति घटकर जब अंतःकोटीकोटी प्रमाण रह जाती है, तभी जीव सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य बनता है । इसी प्रकार जब उसके परिणाम एक विशिष्ट जातिकी भद्रता और निर्मलताको धारण करते हैं, तभी उसमें सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेकी योग्यता आती है, और इसी तरह सद्गुरुका उपदेश मिलनेसे वास्तविक जीव अजीव और संसार मोक्षका–सप्त तत्त्व नव पदार्थ षड्द्रव्यका स्वरूप मालूम होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेकी योग्यता जीवमें आती है । तथा संज्ञी पर्याप्त जागृत अवस्था साकारोपयोग[1] आदि योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते है, इसके भी होनेपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है । करण नाम आत्माके परिणामोंका है । वे तीन प्रकारके है–अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण[2] ।

इन पाँच लब्धियोंमें से चार लब्धि सामान्य है और करणलब्धि विशेष है । अर्थात् करणलब्धि हुए विना चार लब्धियोंके हो जानेपर भी सम्यक्त्व नहीं होता । अनादिकालसे जीवको संसारमें भ्रमण करते हुए अनेक वार चार लब्धियोंका संयोग मिला, परन्तु करणलब्धिके न मिलनेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ । फिर भी सम्यग्दर्शनके होनेमें उन चार लब्धियोंका होना भी आवश्यक है ।

देशनालब्धिको ही उपदेश या अधिगम आदि शब्दोंसे कहते हैं । इसके निमित्तसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज और जो इसके विना ही हो, उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

कर्मके अधीन हुआ यह जीव जब उसके निमित्तसे नवीन कर्मको ग्रहण कर लेता है तब उसको उस कर्मके बंध[3] निकाचन[4] उदय[5] निर्जराकी[6] अपेक्षासे चतुर्गतिमें भ्रमण और उनमें रहकर उन कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है। उन उन कर्मजनित परिणामस्थानोंको प्राप्त करता हुआ यह जीव अनादि मिथ्यादृष्टि होकर भी कभी अपने उपयोग स्वभावके कारण परिणाम विशेषके द्वारा देशनालब्धि–परोपदेशके विना ही करणलब्धिके भेदस्वरूप अपूर्वकरण[7] जातिके परिणामोंको प्राप्त कर लेता है, और उससे उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है ।

१–उपयोगके दो भेद हैं–ज्ञान और दर्शन । इनमेंसे ज्ञान साकारोपयोग है, और दर्शन निराकारोपयोग । सम्यक्त्व साकारोपयोग–ज्ञानकी अवस्थामें ही होता है, निराकार दर्शनोपयोगकी अवस्थामें नहीं होता । २—इनका विस्तृत स्वरूप गोम्मटसार जीवकाण्ड अथवा सुशीला उपन्यासमें देखना चाहिये । ३—पुद्गलकर्मोंका आत्मप्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाह होनेको बंध कहते हैं—"आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंध । सर्वार्थसिद्धि–पूज्यपाद– अथवा " अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बंध· । " ४—जिसका फल अवश्य भोगना ही पड़ता है, उसको निकाचनबंध कहते हैं । ५–द्रव्यक्षेत्र आदिके निमित्तसे कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं । ६–फल देकर आत्मासे कर्मोंका जो सम्बन्ध छूट जाता है, उसको निर्जरा कहते हैं । ७—जो आत्माके करण–परिणाम पूर्वमें कभी भी नहीं हुए उनको अपूर्वकरण कहते है ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब चारों लब्धियोंका मिलना भी सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक बताया है, तब उनमें से देशनालब्धिके विना ही वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? इसका उत्तर यह है, कि इसमें केवल साक्षात् असाक्षात् का ही भेद है[1]। साक्षात् परोपदेशके मिलनेपर जो तत्त्वार्थका श्रद्धान होता है, उसको अधिगमज कहते हैं और साक्षात् परोपदेशके न मिलनेपर जो उत्पन्न होता है, उसको निसर्गज कहते हैं। अनादिकालसे अब तक जिसको कभी भी देशनाका निमित्त नहीं मिला है, उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, किंतु जिसको देशनाके मिलनेपर भी करणलब्धिके न होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, उसको ही कालान्तरमें और भवान्तरमें विना परोपदेशके ही करणलब्धिके भेद–अपूर्वकरणके होनेपर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इसीको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते है।

भाष्य--अत्राह, तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। तत्र किं तत्त्वमिति? अत्रोच्यते—

अर्थः—ऊपर तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बताया है, अतएव उसमें यह शंका होती है, कि वे तत्त्व कितने हैं और उनका क्या स्वरूप है, कि जिनके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है ? अतएव इस शंकाको दूर करनेके लिये–तत्त्वोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—जीवा अजीवा आस्रवा बन्धः संवरो निर्जरा मोक्ष इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्। एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि। तांल्लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेणोपदेक्ष्यामः॥

अर्थ—जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष यह सात–प्रकारका अर्थ तत्त्व समझना चाहिये। अथवा इन सात पदार्थोंको ही तत्त्व कहते हैं। इनका लक्षण और भेद कथनके द्वारा आगे चलकर विस्तारसे वर्णन किया जायगा।

भावार्थ—मूलमें तत्त्व दो ही है, एक जीव दूसरा अजीव। सर्व सामान्यकी अपेक्षा जीवद्रव्यका एक ही भेद है। अजीवके पाँच भेद हैं–पुद्गल[2] धर्म अधर्म आकाश और काल। इनका लक्षण आदि बतावेंगे। इन्हीं छहको षड्द्रव्य कहते हैं। किंतु इतनेसे ही मोक्षमार्ग मालूम नहीं होता। अतएव सात तत्त्वोंको भी जानना चाहिये। ये सात तत्त्व जीव और अजीवके संयोगसे ही निष्पन्न होते है। तथा यहाँपर अजीव शब्दसे मुख्यतया पुद्गलका[3] ग्रहण करना चाहिये। संक्षेपमें इन सातोंका स्वरूप इस प्रकार है—

जो चेतना गुणसे युक्त है, अथवा जो ज्ञान और दर्शनरूप उपयोगको धारण करनेवाला है उसको जीव कहते है। जो इस जानने और देखनेकी शक्तिसे रहित है उसको अजीव कहते हैं। जीव और अजीवका संयोग होनेपर नवीन कार्माण-[4]

१—" भेदः साक्षादसाक्षाच्च "–तत्त्वार्थसार—अमृतचंद्रसूरि। २ —जो रूपरसगंधस्पर्शसे युक्त है उसको पुद्गल कहते हैं। कर्म पुद्गल द्रव्यकी ही एक पर्याय विशेष है। ३—पुद्गलका। ४—पुद्गलके २३ भेदोंमेंसे जो स्कन्ध कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता रखते हैं, उनको कार्माणवर्गणा कहते हैं।

वर्गणाओंके आनेको अथवा जिन परिणामोंके द्वारा कर्म आते हैं, उनको आस्रव कहते हैं। जीव और कर्मके एकक्षेत्रावगाहको बंध कहते हैं। कर्मोंके न आनेको अथवा जिन परिणामोंके निमित्तसे कर्मोंका आना रुक जाय, उनको संवर कहते हैं। कर्मोंके एकदेशरूपसे आत्मासे सम्बन्धके छूटनेको निर्जरा कहते हैं। आत्मासे सर्वथा कर्मोंके सम्बन्धके छूट जानेको मोक्ष कहते है।

अब इन तत्त्वोंका व्यवहार किस किस तरहसे होता है, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—एभिर्नामादिभिश्चतुर्भिरनुयोगद्वारैस्तेषां जीवादीनां तत्त्वानां न्यासो भवति। विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेप इत्यर्थः। तद्यथा। नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति। नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम्। चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्यजीवइति नाम क्रियते स नामजीवः। यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवो देवताप्रतिकृतिव दिन्द्रोरुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति। द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते। अथवा शून्योऽयं भङ्गः। यस्य ह्यजीवस्य सतो भव्यं जीवत्वं स्यात् स द्रव्यजीवः स्यात्, अनिष्टं चैतत्। भावतोजीवा औपशमिकक्षायिकक्षायौपशमिकौदयिकपारणामिकभावयुक्ता उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ताश्च द्विविधा वक्ष्यन्ते। एवमजीवादिषु सर्वेष्वनुगन्तव्यम्। पर्यायान्तरेणापि नामद्रव्यं स्थापनाद्रव्यं द्रव्यद्रव्यम् भावतोद्रव्यमिति। यस्यजीवस्याजीवस्य वा नाम क्रियते द्रव्यमिति तन्नामद्रव्यम्। यत्काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते द्रव्यमिति तत्स्थापनाद्रव्यम्। देवताप्रतिकृतिवदिन्द्रोरुद्रःस्कन्दो विष्णुरिति। द्रव्यद्रव्यं नाम गुणपर्यायवियुक्तं प्रज्ञास्थापितं धर्मादिनामन्यतमत्। केचिदप्याहुर्यद्द्रव्यतो द्रव्यं भवति तच्च पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रत्येतव्यम्। अणवः स्कन्धाश्च सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्त इति वक्ष्यामः। भावतो द्रव्याणि धर्मादीनि सगुणपर्यायाणि प्राप्तिलक्षणानि वक्ष्यन्ते। आगमतश्च प्राभृतज्ञो द्रव्यमितिभव्यमाह। द्रव्यं च भव्ये। भव्यमिति प्राप्यमाह। भूप्राप्तावात्मनेपदी। तदेवं प्राप्यन्ते प्राप्नुवन्ति वा द्रव्याणि। एवं सर्वेषामनादीनामादिमतांच जीवादीनां भावानां मोक्षान्तानां तत्त्वाधिगमार्थं न्यासः कार्य इति।

अर्थ—इन नामादिक चार अनुयोगोंके द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका न्यास—निक्षेप—व्यवहार होता है। लक्षण और भेदोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान जिससे विस्तारके साथ हो सके, ऐसे व्यवहाररूप उपायको न्यास अथवा निक्षेप कहते है। इसी बातको जीवद्रव्यके ऊपर घटित करके बताते हैं—

जीव शब्दका व्यवहार चार प्रकारसे हो सकता है—नाम स्थापना द्रव्य और भाव। इन्हींको क्रमसे नामजीव स्थापनाजीव द्रव्यजीव और भावजीव कहते है। इनमें से प्रत्येकका खुलासा इस प्रकार है—नाम और संज्ञाकर्म शब्द एक ही अर्थके वाचक है। चेतनायुक्त अथवा अचेतन किसी भी द्रव्यकी "जीव" ऐसी संज्ञा रख देनेको नामजीव कहते हैं। किसी भी काष्ठ पुस्त चित्र अक्ष निक्षेपादिमें "ये जीव है" इस तरहके आरोपणको स्थापनाजीव कहते

१—मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग। २—गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र।

हैं । जैसे कि देवताओंकी मूर्तिमें हुआ करता है, कि ये इन्द्र हैं, ये महादेव हैं, ये गणेश हैं, या ये विष्णु हैं, इत्यादि । द्रव्यजीव गुणपर्यायसे रहित होता है, सो यह अनादि पारिणामिक-भावसे युक्त है, अतएव जीवको द्रव्यजीव केवल बुद्धिमें स्थापित करके ही कह सकते हैं । अथवा इस भंगको शून्य ही समझना चाहिये, क्योंकि जो पदार्थ अजीव होकर जीवरूप हो सके, वह द्रव्यजीव कहा जा सकता है, सो यह बात अनिष्ट है । जो औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारणामिक भावोंसे युक्त[1] है और जिनका लक्षण उपयोग है, ऐसे जीवोंको भावजीव कहते हैं । वे दो प्रकारके है—संसारी और मुक्त । सो इनका स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे । जिस तरह यहाँपर जीवके ऊपर ये चारों निक्षेप घटित किये हैं, उसी प्रकार अजीवादिकके ऊपर भी घटित कर लेना चाहिये ।

इसके सिवाय नामद्रव्य स्थापनाद्रव्य द्रव्यद्रव्य और भावद्रव्य इस तरह प्रकारान्तरसे भी इनका व्यवहार होता है, सो इसको भी यहाँ घटित करके बताते हैं—

किसी भी जीव या अजीवका "द्रव्य" ऐसा संज्ञाकर्म करना नामद्रव्य कहा जाता है । काष्ठ पुस्त चित्रकर्म अक्ष निक्षेपादिमें "ये द्रव्य हैं" इस तरहसे आरोपण करनेको स्थापना-द्रव्य कहते है । जैसे कि देवताओंकी मूर्तिमें यह इन्द्र है, यह रुद्र है, यह गणेश है, यह विष्णु है, ऐसा आरोपण हुआ करता है । धर्म अधर्म आकाश आदिमेंसे केवल बुद्धिके द्वारा गुण पर्याय रहित किसी भी द्रव्यको द्रव्यद्रव्य कहते हैं । कुछ आचार्योका इस विषयमें ऐसा कहना है, कि द्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा द्रव्य केवल पुद्गल द्रव्यको ही समझना चाहिये । सो इस विषयका "अणवःस्कन्धाश्च" और "संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते" इन दो सूत्रोंका[2] आगे चलकर हम वर्णन करेंगे, उससे खुलासा हो जायगा । प्राप्तिरूप लक्षणसे युक्त और गुण पर्याय सहित धर्मादिक द्रव्योंको भावद्रव्य कहते हैं । आगमकी अपेक्षा से द्रव्यके स्वरूपका निरूपण करनेवाले प्राभृत—शास्त्रके ज्ञाता जीवको जो द्रव्य कहते हैं, सो यहाँपर द्रव्य शब्दसे भव्य[3]—प्राप्य अर्थ समझना चाहिये । क्योकि व्याकरणमें भव्य अर्थमें ही द्रव्य शब्दका निपात[4] होता है । भव्य शब्दका अर्थ भी प्राप्य है । क्योंकि प्राप्ति अर्थवाली आत्मनेपदी भू धातुसे यह शब्द बनता है । अर्थात् जो प्राप्त किये जायँ, अथवा जो प्राप्त हों उनको द्रव्य[5] कहते है ।

१—कर्मोंके उपशान्त हो जानेपर जो भाव होते हैं, उनको औपशमिक, क्षयसे होनेवालेको क्षायिक, सर्वघातीके क्षय—विना फल दिये निर्जरा और उपशम होनेपर तथा साथमें देशघातीका उदय भी होनेपर होनेवाले भावोको क्षायोपशमिक, एवं कर्मके उदयसे होनेवाले भावोंको औदयिक कहते हैं । किंतु जिनमें कर्मकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है, ऐसे स्वाभाविक जीवत्व आदि भावोंको पारणामिकभाव कहते हैं ।

२—पाँचवें अध्यायके २५ और २६ नंवरके ये दोनों सूत्र हैं । ३—भवितुं योग्यो भव्यः, अर्थात् जो होनेके योग्य हो, उस को भव्य कहते हैं । ४—व्याकरणकी संज्ञा विशेष है । विना प्रकृति प्रत्ययकी अपेक्षा लिये किसी अर्थ विशेषमें शब्दके निष्पन्न होनेको कहते हैं । ५—द्रवितुं योग्यं द्रव्यम्, अथवा द्रूयते द्रवति द्रविष्यति अदुद्रवत् इति द्रव्यम् ।

इस प्रकारसे अनादि और सादि जीव अजीव आदिक मोक्षपर्यन्त समस्त भावोंके तत्त्वका अधिगम प्राप्त करनेके लिये न्यासका उपयोग करना चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुका शब्द द्वारा व्यवहार चार प्रकारसे हुआ करता है, अतएव उस वस्तुका उस शब्द व्यवहारके द्वारा ज्ञान भी चार प्रकारसे हुआ करता है। इस जाननेके उपायको ही निक्षेप कहते हैं। उसके चार भेद है—नाम स्थापना द्रव्य और भाव।

गुणकी अपेक्षा न करके केवल व्यवहारकी सिद्धिके लिये जो किसीकी संज्ञा रख दी जाती है, उसको नाम[3]निक्षेप कहते है; जैसे कि किसी मूर्खका भी नाम विद्याधर रख दिया जाता है, अथवा माणिक और लाल रत्नके गुण न रहनेपर भी किसीका माणिकलाल नाम रख दिया जाता है। इत्यादि।

किसी वस्तुमें अन्य वस्तुके इस तरहसे आरोपण करनेको कि "यह वही है" स्थापना निक्षेप कहते हैं, चाहे वह वस्तु जिसमें कि आरोपण किया गया है, साकार—जिस वस्तुका आरोपण किया गया है, उसके समान आकारको धारण करनेवाली हो या न[4] हो। जैसे कि महावीर भगवान्‌के आकारवाली मूर्तिमें यह आरोपण करना, कि ये वे ही महावीर भगवान् हैं, कि जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिके उदयवश भव्यजीवोंके हितार्थ समवसरणमें मोक्षके मार्गका उपदेश दिया था, इसको साकारमें स्थापनानिक्षेप समझना चाहिये। और शतरंजके मुहरोंमें जो बादशाह बजीर हाथी घोड़ा आदिका आरोपण किया जाता है उसको अतदाकारमें स्थापनानिक्षेप कहना चाहिये।

नाम और स्थापना दोनों ही निक्षेपोंमें गुणकी अपेक्षा नहीं रक्खी जाती, फिर दोनोंमें क्या अन्तर है? यह प्रश्न हो सकता है। सो उसका उत्तर इस प्रकार है, कि पहले तो नाम निक्षेपमें जिस प्रकार गुणकी अपेक्षाका सर्वथा अभाव है, उस प्रकार स्थापनानिक्षेपमें नहीं है। क्योंकि नाम रखनेमें किसी प्रकारका नियम नही है; किन्तु स्थापनाके लिये अनेक प्रकारके नियम बताये हैं। दूसरी बात यह है, कि नाममें आदरानुग्रह नहीं होता, परन्तु स्थापनामें वह होता है। मूर्तिमें जो पार्श्वनाथकी स्थापना की गई है, सो उस मूर्तिका भी खास पार्श्वनाथ भगवान्‌के समान ही आदर सत्कार किया जाता है।

किसी वस्तुकी आगे जो पर्याय होनेवाली है, उसको पहले ही उस पर्यायरूप कहना इसको द्रव्यनिक्षेप[5] कहते है। जैसे कि राजपुत्र अथवा युवराजको राजा कहना। क्योंकि यद्यपि वह वर्तमानमें राजा नहीं है, परन्तु भविष्यमें होनेवाला है, अतएव उसको वर्तमानमें राजा

१—वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा। २ पर्यायकी अपेक्षा। ३—अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रासिद्धये यत्सञ्ज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥ ४—साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम्। सोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥ ५—आगामिगुणयोग्योऽर्थोद्रव्यन्यासस्य गोचरः ॥ (तत्त्वार्थसार—अमृतचंद्रसूरि)

कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है । अथवा भूत भविष्यत् पर्यायरूपसे वर्तमान वस्तुके व्यवहार करनेको द्रव्यनिक्षेप[1] कहते है । जैसे कि राज्य छोड़ देनेवालेको भी राजा कहना, अथवा मुनीमीकी नौकरी छोड़ देनेवालेको भी मुनीमजी कहना या विद्यार्थीको पंडित कहना, इत्यादि ।

किसी भी वस्तुको वर्तमानकी पर्यायकी अपेक्षासे कहना भावनिक्षेप[2] है । जैसे कि राज्य करते हुएको राजा कहना अथवा मनुष्य पर्याययुक्त जीवको मनुष्य कहना । इत्यादि ।

इन उपर्युक्त चार निक्षेपोको यहाँपर जीव द्रव्यकी अपेक्षासे घटित करके बताया है । उसी प्रकार समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों तथा सम्यग्दर्शन आदिकी अपेक्षासे भी घटित कर लेना चाहिये । विशेष बात यह ध्यानमें रखनी चाहिये, कि जो भंग जहां संभव न हो, उसको छोड़ देना चाहिये । जैसा कि यहाँपर जीवद्रव्यके द्रव्यनिक्षेपका भंग शून्यरूप बताया गया है । क्योंकि उसमेंसे जीवन गुणका कभी भी अभाव नहीं होता । द्रव्यनिक्षेपसे जीव उसको कह सकते है, कि जिसमें वर्तमानमें तो जीवन गुण न हो, परन्तु भूत अथवा भविष्यतमें वह गुण पाया जाय । सो यह बात असंभव है । क्योंकि यदि किसी वस्तुके गुणका कभी भी अभाव माना जायगा तो उस वस्तुका ही अभाव मानना पड़ेगा, और एक वस्तुके किसी भी गुणका दूसरी वस्तुमें यदि संक्रमण माना जायगा, तो सर्वसंकरता नामका दोष आकर उपस्थित होगा ।

यहाँपर जीवद्रव्यके विषयमें द्रव्यनिक्षेपको जो शून्यरूप कहा है, वह जीवत्व–सामान्य जीवद्रव्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये । जीव विशेषकी अपेक्षासे यह भंग भी घटित हो सकता है, यथा–कोई मनुष्य जीव मरकर देव होनेवाला है, क्योंकि उसने देव आयुका निकाचित बंध किया है, ऐसी अवस्थामें उस मनुष्य जीवको देवजीव कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है ।

जीवादिक पदार्थोंको जाननेके लिये और भी उपाय बतानेको सत्र कहते हैं:—

सूत्र—प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—एषां च जीवादीनां तत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नामादिभिर्न्यस्तानां प्रमाणनयैर्विस्तराधिगमो भवति । तत्र प्रमाणं द्विविधं परोक्षं प्रत्यक्षं च वक्ष्यते । चतुर्विधमित्येके । नयवादान्तरेण । नयाश्च नैगमादयो वक्ष्यन्ते ।

किंचान्यत् ।

अर्थ—जिन जीव अजीव आदि तत्त्वोंका नामनिर्देश " जीवाजीवास्रव "—आदि सूत्रके द्वारा किया जा चुका है, और जिनका न्यास–निक्षेप " नामस्थापना "—आदि उपर्युक्त सूत्रके द्वारा किया गया है, उनका विस्तार पूर्वक अधिगम प्रमाण और नयके द्वारा हुआ करता है ।

१–अतद्भावं वा–राजवार्तिक–अकलङ्कदेव । २–तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावोऽभिधीयते ॥

इनमेंसे प्रमाणके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। किसी किसी आचार्यने इसके चार भेद माने है। सो यह कथन भिन्न नयवाद—अपेक्षासे समझना चाहिये। इसी प्रकार नयोंके नैगम संग्रह आदि सात भेद हैं। उनका भी हम आगे चलकर वर्णन करेंगे।

भावार्थ—तत्त्वोंके जाननेका ज्ञानरूप उपाय प्रमाण और नय इस तरह दो प्रकारका है। सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणके एक देशको नय कहते हैं। प्रमाणके यद्यपि अनेक भेद हैं, जिनका कि आगे चलकर निरूपण किया जायगा, परन्तु सामान्यसे उसके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। जो पर—आत्मासे भिन्न—इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है, उसको परोक्ष, और जो परकी सहायता न लेकर केवल आत्ममात्रसे ही उत्पन्न होता है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रमाण और नय दोनों ज्ञानस्वरूप हैं, फिर भी उनमें महान् अन्तर है। क्योंकि एक गुणके द्वारा अशेष वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको प्रमाण और वस्तुके एक अंशविशेषके ग्रहण करनेको नय कहते है। अतएव दोनोंमें सकलादेश और विकलादेशका अन्तर समझना चाहिये।

उपर्युक्त उपायोंके सिवाय जीवादिक तत्त्वोंको विस्तारसे जाननेके लिये और भी उपाय हैं। अतएव उनको भी बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—एभिश्च निर्देशादिभिः षड्भिरनुयोगद्वारैः सर्वेषां भावानां जीवादीनां तत्त्वानां विकल्पशो विस्तरेणाधिगमो भवति। तद्यथा-निर्देशः। को जीवः ? औपशमिकादिभावयुक्तो द्रव्यं जीवः।

सम्यग्दर्शनपरीक्षायाम्—किं सम्यग्दर्शनम्? द्रव्यम्। सम्यग्दृष्टिजीवोऽरूपी नोस्कन्धो नो ग्रामः। स्वामित्वम्—कस्य सम्यग्दर्शनमित्येतदात्मसंयोगेन परसंयोगेनोभयसंयोगेन चेति वाच्यम्। आत्मसंयोगेन जीवस्य सम्यग्दर्शनम्। परसंयोगेन जीवस्याजीवस्य जीवयोरजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पाः। उभयसंयोगेन जीवस्य नोजीवस्य जीवयोरजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पा न सन्ति। शेषाः सन्ति। साधनम्—सम्यग्दर्शनं केन भवति ? निसर्गादधिगमाद्वा भवतीत्युक्तम्। तत्र निसर्गः पूर्वोक्तः। अधिगमस्तु सम्यग्व्यायामः। उभयमपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयेणोपशमेन क्षयोपशमाभ्यामिति। अधिकरणं त्रिविधमात्मसन्निधानेन परसन्निधानेनोभयसन्निधानेनेति वाच्यम्। आत्मसन्निधानमभ्यन्तरसन्निधानमित्यर्थः। कस्मिन् सम्यग्दर्शनम्? आत्मसन्निधाने तावत्जीवे सम्यग्दर्शनम् जीवे ज्ञानम्, जीवेचारित्रमित्येतदादि। बाह्यसन्निधाने जीवे सम्यग्दर्शनम् नोजीवे सम्यग्दर्शनमिति यथोक्ता विकल्पाः। उभयसन्निधाने चाप्यभूताः सद्भूताश्च यथोक्ता भंगविकल्पा इति। स्थितिः—सम्यग्दर्शनम् कियन्तं कालम्? सम्यग्दृष्टिर्द्विविधा। सादिः सपर्यवसाना सादिरपर्यवसाना च। सादिसपर्यवसानमेव च सम्यग्दर्शनम्। तज्जघन्येनान्तर्मुहुर्तम् उत्कृष्टेन षट्षष्टिः सागरोपमाणि साधिकानि। सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्यवसाना। सयोगः शैलेशीप्राप्तश्च केवली सिद्धश्चेति। विधानम्—हेतुत्रैविध्यात् क्षयादित्रि-

विधं सम्यग्दर्शनम् । तदावरणीयस्य कर्मणो दर्शनमोहस्य च क्षयादिभ्यः । तद्यथा-क्षयसम्यग्दर्शनम्, उपशमसम्यग्दर्शनम्, क्षयोपशमसम्यग्दर्शनमिति । अत्रचौपशमिकक्षायौपशमिकक्षायिकाणां परतः परतो विशुद्धिप्रकर्षः ।

किं चान्यत्—

अर्थ—ये निर्देश आदि जो छह अनुयोग[1] द्वार हैं, उनसे सभी भावरूप जीवादिक तत्त्वोंका उनके भेद प्रभेदरूपसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है। जैसे कि निर्देशकी अपेक्षा किसीने पूछा कि—जीव किसको कहते हैं ? तो उसका उत्तर देना, कि जो द्रव्य औपशमिक आदि भावोंसे युक्त है, उसको जीव कहते हैं।

इसी तरह यदि कोई सम्यग्दर्शनके विषयमें निर्देश[2]की अपेक्षा प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं ? उसका स्वरूप क्या है ? तो उसको उत्तर देना, कि वह जीव द्रव्यस्वरूप है। क्योंकि नोस्कन्ध और नोग्रामरूप अरूपी सम्यग्दृष्टि जीवरूप ही वह होता है।

स्वामित्व[3]के विषयमें यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके होता है ? तो उसका उत्तर तीन अपेक्षाओंसे दिया जा सकता है, आत्मसंयोगकी अपेक्षा परसंयोगकी अपेक्षा और उभयसंयोगकी अपेक्षा। अर्थात् इन में-से किसी भी एक दो अथवा तीनों ही प्रकारसे सम्यग्दर्शन के स्वामित्वका व्याख्यान करना चाहिये। इनमेंसे पहले भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका स्वामी जीव है—अर्थात् आत्मसंयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन जीवके होता है। दूसरे भेद—परसंयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन एक जीवके या एक अजीवके अथवा दो जीवोंके या दो अजीवोंके यद्वा बहुतसे जीवोंके या बहुतसे अजीवोंके हो सकता है, इस प्रकार इस भेदकी अपेक्षा स्वामित्वके भेदोंको समझना चाहिये। तीसरे भेद—उभयसंयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके स्वामित्वमें ये विकल्प नहीं होते—एक जीवके, नोजीव—ईषत् जीवके, दो जीवके या दो अजीवके, बहुतसे जीवोंके या बहुतसे अजीवोके, इनके सिवाय अन्य विकल्प हो सकते हैं।

सा[4]धनकी अपेक्षासे यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके द्वारा होता है ? उसकी उत्पत्तिका कारण क्या है ? तो उसका उत्तर यह है, कि सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दो हेतुओंसे उत्पन्न हुआ करता है। इनमेंसे निसर्गका स्वरूप पहले[5] बता चुके हैं। और अधिगमका अभिप्राय यहाँपर सम्यग्व्यायाम समझना चाहिये। अर्थात् ऐसी शुभ क्रियाएं करना, कि जिनके निमित्तसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हो सके। निसर्गज तथा अधिगमज इस तरह दोनों ही प्रकारका सम्यग्दर्शन अपने अपने आवरण कर्मके क्षयसे अथवा उपशमसे यद्वा क्षयोपशमसे हुआ करता है। अधिकरण तीन प्रकारका माना है—आत्मसन्निधानकी अपेक्षा, परसन्निधानकी

१—जाननेके उपायोंको अनुयोग कहते हैं। २—लक्षण अथवा स्वरूपके कहनेको निर्देश कहते हैं। " निर्देशः स्वरूपाभिधानम्। "—सर्वार्थसिद्धिः। ३—स्वामित्वमाधिपत्यम्। ४—साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्। ५—इसी अध्यायके दूसरे सूत्रकी व्याख्यामें।

अपेक्षा, और उभयसन्निधानकी अपेक्षा। आत्मसन्निधानका अभिप्राय अभ्यन्तरसन्निधान और परसन्निधानका अभिप्राय बाह्यसन्निधान है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों सन्निधानोंके मिश्रणको उभयसन्निधान कहते हैं। अतएव यदि कोई अधिकरणकी अपेक्षासे प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है, तो उसका उत्तर इन तीन सन्निधानोंकी अपेक्षासे दिया जा सकता है। आत्मसन्निधानकी अपेक्षा कहना चाहिये, कि जीवमें सम्यग्दर्शन रहता है। इसी तरह ज्ञान और चारित्र आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि जीवमें ज्ञान है, अथवा जीवमें चारित्र है, इत्यादि। बाह्य सन्निधानकी अपेक्षा जीवमें सम्यग्दर्शन नोजीवमें सम्यग्दर्शन, इन विकल्पोंको पहले कहे अनसार आगममें कहे हुए अनुसार समझ लेना चाहिये। इसी तरह उभयसन्निधानकी अपेक्षासे भी अभूत और सद्भूतरूप भङ्गोंके विकल्प आगमके अनुसार समझ लेने चाहिये। स्थितिका अर्थ कालप्रमाण है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है, इस बातको स्थिति अनुयोगके द्वारा जानना चाहिये। सम्यग्दृष्टिके दो भेद हैं—एक सादिसांत और दूसरा सादिअनंत। सम्यग्दर्शन सादि और सांत ही हुआ करता है। उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक छ्यासठ सागर[1] प्रमाण है, सम्यग्दृष्टि सादि होकर अनन्त होते हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती सयोगकेवली अरिहंत भगवान्, शील[2]—ब्रह्मचर्यकी स्वामिताको प्राप्त चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान्, और संसारातीत सिद्धपरमेष्ठी ये सादि अनन्त सम्यग्दृष्टि हैं। विधान नाम भेदोंका है। सम्यग्दर्शन हेतुभेदकी अपेक्षासे तीन प्रकारका कहा जा सकता है। क्योंकि वह सम्यग्दर्शनको आवृत करनेवाले दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे अथवा उपशमसे यद्वा क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ करता है। अतएव सम्यग्दर्शन भी तीन प्रकारका समझना चाहिये—क्षयसम्यग्दर्शन उपशमसम्यग्दर्शन और क्षयोपशमसम्यग्दर्शन। प्रतिपक्षी दर्शनमोहनीय कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इनका क्षय होनेपर जो सम्यग्दर्शन प्रकट हो, उसको क्षय सम्यग्दर्शन अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये। और जो सम्यग्दर्शन इन कर्मोंके उपशान्त होनेपर उद्भूत हो, उसको उपशमसम्यग्दर्शन अथवा औपशमिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये। तथा इन कर्मोंका क्षय और उपशम दोनों होनेपर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो, उसको क्षयोपशम अथवा क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इनमें विशेषता यह है कि औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक इनकी विशुद्धि क्रमसे उत्तरोत्तर[3] अधिक अधिक हुआ करती है।

१—उपमामानका एक भेद है, इसका स्वरूप गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है। २—" सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदी ॥६५॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड) इस कथनके अनुसार अयोगकेवलीको शैलेशी प्राप्त समझना चाहिये। क्योंकि शीलके अठारह हजार भेदोंकी पूर्णता यहीं पर होती है। ३-दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार औपशमिक और क्षायिकसम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनकी विशुद्धि कम हुआ करती है। क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें प्रतिपक्षी कर्मोंमेंसे सम्यक्त्व नामकी देशघाती प्रकृतिका उदय भी रहा करता है, जिसके निमित्तसे उसमें चल मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न हुआ करते हैं। औपशमिक और क्षायिकमें उसका उदय नहीं रहता, अतएव दोष भी उत्पन्न नहीं होते। तथा निर्मलताकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शन समान हैं।

अर्थात् औपशमिकसे क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिकसे क्षायिककी विशुद्धि—निर्मलता अधिक हुआ करती है ।

भावार्थ—जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप विस्तृत रूपसे जाननेके लिये ये निर्देशादिक छह अनुयोगद्वार बताये हैं । अतएव यद्यपि यहाँपर केवल सम्यग्दर्शन की अपेक्षा लेकर ही ये घटित करके बताये हैं, परन्तु इनको सभी विषयोंमें आगमके अनुसार घटित कर लेना चाहिये ।

अनेक मतवालोंने वस्तुका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारसे माना है, कोई वस्तुको शून्यरूप मानते है, कोई धर्मरहित मानते है, कोई नित्य मानते है, कोई अनित्य मानते हैं, कोई विज्ञानरूप मानते हैं, कोई ब्रह्मरूप मानते हैं, और कोई शब्दरूप ही मानते है, इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएं प्रचलित है, जिनसे वस्तुके वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होता, अतएव उसके बतानेकी आवश्यकता है । यही पहले अनुयोग—निर्देशका कार्य है ।

किसी किसी का कहना है, कि वस्तुमें सम्बन्धकी कल्पना करना सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तुओंमें हुआ करता है । सो यदि शशविषाण और अश्वविषाणकी तरह वह दो असिद्ध वस्तुओंका माना जायगा, तो सर्वथा अयुक्त है, और यदि वन्ध्या तथा उसके पुत्रकी तरह एक सिद्ध और एक असिद्ध वस्तुका वह माना जायगा, तो वह भी बन नहीं सकता । इसी प्रकार यदि दो सिद्ध वस्तुओंका सम्बन्ध माना जायगा तो वह भी अयुक्त ही है । क्योंकि सम्बन्ध परतन्त्रताकी अपेक्षा रखता है, और सभी वस्तुएं अपने अपने स्वरूपमें स्वतन्त्र हैं । यदि वस्तुस्वरूप परतन्त्र माना जायगा, तो अनेक प्रकारकी बाधाएं उपस्थित होंगीं । इत्यादि । सो यह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि वस्तुके अन्दर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद स्याद्वादसिद्धान्तके द्वारा सुसिद्ध है, और इसी लिये स्वस्वामी आदिके सम्बन्ध भी सुघट ही है । इसके विना वस्तुका स्वरूप भी स्थिर नहीं रह सकता । अतएव इस तरहके सम्बन्धोंका और उनके द्वारा वस्तुका बोध कराना दूसरे अनुयोग—स्वामित्वका कार्य है ।

कोई वादी कह सकता है, कि वस्तुका स्वरूप स्वयं ही सिद्ध है । क्योंकि सत्का विनाश नहीं हो सकता, और असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि वस्तुको परतः सिद्ध माना जायगा तो सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी । अतएव जब वस्तु स्वयंसिद्ध ही है तो उसकी उत्पत्तिके निमित्तोंको बतानेकी क्या आवश्यकता है ? सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है । यदि वस्तुको सर्वथा नित्य ही माना जायगा, तो संसारके सम्पूर्ण व्यवहारोंका लोप हो जायगा, और संसार मोक्षका भेद तथा मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ही ठहरेगा । अतएव वस्तुका स्वरूप कथंचित् अनित्य भी है । और इसीलिये उसकी पर्यायोंके कारणोंको बताना भी आवश्यक है । कौनसी कौनसी पर्याय किन किन कारणोंसे उत्पन्न होती है, यह बताना ही तीसरे अनुयोग—साधनका प्रयोजन है ।

इसी प्रकार जो पदार्थोंको आधाराधेय भावसे सर्वथा रहित मानते हैं, उनका कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, इस बातको बतानेके लिये ही अधिकरण अनुयोगका उल्लेख किया है। यद्यपि निश्चयनयसे कोई भी पदार्थ न किसीका आधार है, और न किसीका आधेय है। आकाशके समान सभी पदार्थ स्वप्रतिष्ठ ही हैं। परन्तु सर्वथा ऐसा ही नहीं है। क्योंकि द्रव्यगुण आदिका भी आधाराधेयभाव प्रमाणसे सिद्ध है। अतएव पदार्थोंके परिमाणकृत अल्प-बहुत्व अथवा व्याप्यव्यापक भावका बताना आवश्यक है, और यह बताना ही चौथे अनुयोग—अधिकरणका प्रयोजन है।

कोई कोई मतवाले पदार्थको क्षणनश्वर मानते हैं, और इसीलिये वे उसकी स्थितिको वस्तुभूत नहीं मानते। परन्तु सर्वथा ऐसा माननेसे पदार्थोंके निरन्वय नाशका प्रसङ्ग आता है। और पुण्य पापका अनुष्ठान भी व्यर्थ ही ठहरता है। अतएव यह बतानेकी आवश्यकता है, कि जब पदार्थ कथंचित् अनित्य है और कथंचित् नित्य है, तो उसकी अनित्यताके कालका प्रमाण कितना है। और इसी लिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्षणमात्रका कालप्रमाण तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनेक क्षणका उसका काल प्रमाण है, यह बताना ही पाँचवें अनुयोग—स्थितिका प्रयोजन है।

सम्पूर्ण सद्भूत तत्त्व एकरूप ही है। उसके आकार या विशेष भेद वास्तविक नहीं हैं। ऐसा किसी किसी का कहना है, सो भी ठीक नही है। क्योंकि वस्तुके नाना आकारोंके विना एकरूपता भी बन नहीं सकती। सम्पूर्ण पदार्थोंको एकरूप कहना ही अनेक भेदोंको सिद्ध करता है। अतएव वस्तुमें भेद कल्पना भी वास्तविक ही है, और इसी लिये नानाभेदरूपसे जीवादिक तत्त्वोंका या सम्यग्दर्शनादिकका अधिगम कराना छट्ठे अनुयोग—विधानका युक्ति सिद्ध प्रयोजन समझना चाहिये।

इस प्रकार रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और उसके विषयभूत जीवादिक तत्त्वोंको संक्षेपसे जाननेके लिये उपायभूत निर्देशादिक छह अनुयोगोंका वर्णन किया। जो विस्तारके साथ उनका स्वरूप जानना चाहते है, उनके लिये इनके सिवाय सदादिक आठ अनुयोगद्वार और भी बताये है। अतएव अब उन्हींको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सत्, संख्या, क्षेत्रं, स्पर्शनं, कालः, अन्तरं, भावः, अल्पबहुत्वमित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणादिभिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानां विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति। कथमितिचेदुच्यते-सत् सम्यग्दर्शनं किमस्ति नास्तीति। अस्तीत्युच्यते। क्वास्तीति चेदुच्यते-अजीवेषु तावन्नास्ति। जीवेषु तु भाज्यम्। तद्यथा-गतीन्द्रियकाययोगकषायवेदलेश्यासम्यक्त्व ज्ञानदर्शनचारित्राहारोपयोगेषु त्रयोदशस्वनुयोद्वारेषु यथासंभवं सद्भूतप्ररूपणा कर्तव्या। संख्या-कियत्सम्यग्दर्शनं किं संख्येयमसंख्येयमनन्तमिति, उच्यते,-असंख्येयानि सम्यग्दर्श-

नानि, सम्यग्दृष्टयस्त्वनन्ताः ॥ क्षेत्रं, सम्यग्दर्शनं कियतिक्षेत्रे, लोकस्यासंख्येयभागे। स्पर्शनम् । सम्यग्दर्शनेन किंस्पृष्टम्? लोकस्यासंख्येयभागः, सम्यग्दृष्टिना तु सर्वलोक इति । अत्राह-सम्यग्दृष्टिसम्यग्दर्शनयोः कः प्रतिविशेष इति । उच्यते । अपायसद्द्रव्यतया सम्यग्दर्शनमपाय आभिनिबोधिकम् । तद्योगात्सम्यग्दर्शनम् । तत्केवलिनो नास्ति । तस्मान्न केवली सम्यग्दर्शनी, सम्यग्दृष्टिस्तु ॥ कालः । सम्यग्दर्शनं कियन्तं कालमित्यत्रोच्यते । तदेकजीवेन नानाजीवैश्च परीक्ष्यम् तद्यथा-एकजीवं प्रति जघन्येनान्तमुहूर्तमुत्कृष्टेन षट्षष्टिः सागरोपमाणि साधिकानि । नानाजीवान् प्रति सर्वाद्धा ॥ अन्तरम्। सम्यग्दर्शनस्य को विरहकालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टेन उपार्धपुद्गल परिवर्तः । नानाजीवान् प्रति नास्त्यन्तरम् ॥ भावः । सम्यग्दर्शनमौपशमिकादीनां भावानां कतमो भावः? उच्यते । औदयिकपारणामिकवर्जं त्रिषुभावेषु भवति । अल्पबहुत्वम् । अत्राह-सम्यग्दर्शनानां त्रिषु भावेषु वर्तमानानां किं तुल्यसंख्यत्वमाहोस्विदल्पबहुत्वमस्तीति । उच्यते । सर्वस्तोकमौपशमिकम् । ततः क्षायिकमसंख्येयगुणम् । ततोऽपिक्षायोपशमिकमसंख्येयगुणम् । सम्यग्दृष्टयस्त्वनन्तगुणा इति । एवं सर्वभावानां नामादिभिर्न्यासं कृत्वा प्रमाणादिभिरधिगमः कार्यः ॥

उक्तं सम्यग्दर्शनम् । ज्ञानं वक्ष्यामः ।

अर्थ—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी जीवादिक तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकका अधिगम हुआ करता है। ये सत् संख्या आदि पदोंकी प्ररूपणा आदिक आठ अनुयोग द्वार ऐसे हैं, कि जिनके द्वारा जीवादिक सभी पदार्थोके भेदोंका क्रमसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है। सो किस तरहसे होता है, यही बात यहाँपर बताते हैं और उसके लिये आठोंमेंसे सबसे पहली-सत्प्ररूपणाको सम्यग्दर्शनका आश्रय लेकर यहाँ दिखाते हैं।—यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन है या नहीं? तो इस सामान्य प्रश्नका उत्तर भी सामान्यसे यही हो सकता है, कि है, परन्तु उसमें भी यदि कोई विशेषरूपसे प्रश्न करे, कि वह सम्यग्दर्शन कहाँ कहाँपर है, तो उसका उत्तर भी विशेषरूपसे ही होगा, और वह इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन अजीव द्रव्यमें तो नहीं ही होता, जीवद्रव्यमें ही होता। परन्तु जीवद्रव्यमे भी सबमें नहीं होता, किसीमें होता है किसीमें नहीं होता, किस किस में होता है, इस बातको भी विशेषरूपसे जाननेके लिये गति इन्द्रिय काय योग कषाय वेद लेश्या सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन चरित्र आहार और उपयोग इन तेरह अनुयोगद्वारोमें[1] आगमानुसार यथासंभव सत्प्ररूपणा घटित करलेनी चाहिये।

क्रमानुसार संख्या प्ररूपणाको कहते है—सम्यग्दर्शन कितने है, संख्यात है असंख्यात हैं, या अनंत हैं? इसका उत्तर इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन असंख्यात हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि अनन्त हैं।

१—इनको जीवसमास तथा मार्गणा भी कहते हैं। दिगम्बर सिद्धान्तमे इनके चौदह भेद माने हैं—गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्यत्व सम्यक्त्व संज्ञा और आहार।

क्षेत्रप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में रहता है ? इसका उत्तर इतना ही समझना चाहिये, कि लोकके असंख्यातवें भागमें, । अर्थात् असंख्यात प्रदेशरूप तीनसे तेतालीस (३४३) राजू[1] प्रमाण लोकमें असंख्यात[2]का भाग देनेसे जितने प्रदेश लब्ध आवें, उतने ही लोकके प्रदेशोंमें सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है ।

स्पर्शन[2]प्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने स्थानका स्पर्श करता है ? उत्तर—सम्यग्दर्शन तो लोकके असंख्यातवें भागका ही स्पर्श किया करता हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण लोकका स्पर्श किया करते है । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शन इनमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर—दोनोंमें अपाय और सद्द्रव्यकी अपेक्षासे अन्तर है । सम्यग्दर्शन अपाय आभिनिबोधिकरूप है, और सम्यग्दृष्टि सद्-द्रव्यरूप है । अर्थात् अपाय नाम छूटनेका है, सो सम्यग्दर्शनमें इसका सम्बन्ध पाया जाता है—सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर छूट जाता है, या छूट सकता है । परन्तु सम्यग्दृष्टिमें यह बात नहीं है । केवली सद्द्रव्यरूप है, अतएव उनको सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं सम्यग्दर्शनी नहीं कह सकते[3] । क्योंकि उनमें अपायका योग नहीं पाया जाता ।

कालप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—कालकी परीक्षा या प्ररूपणा दो प्रकारसे हो सकती है, एक तो एक जीवकी अपेक्षा दूसरी नाना जीवोंकी अपेक्षा । एक जीवकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और उत्कृष्ट काल छयासठ सागरसे कुछ अधिक है । अर्थात् किसी एक जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर कमसे कम अन्तर्मुहूर्त तक अवश्य रहा करता है । उसके बाद वह छूट सकता है, और ज्यादःसे ज्यादः वह कुछ अधिक छयासठ सागर तक रह सकता है, उसके बाद अवश्य छूट जाता है । नाना जीवोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण काल है । अर्थात् कोई भी समय ऐसा न था न है और न होगा, कि जब किसी भी जीवके सम्यग्दर्शन न रहा हो या न पाया जाय ।

अन्तरप्ररूपणा—सम्यग्दर्शनका विरहकाल कितना है ? उत्तर—एक जीवकी अपेक्षा

१—लोक यह भी उपमामान संख्याका भेद है । क्योंकि उपमामानके आठ भेद हैं पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतराङ्गुल, घनाङ्गुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और लोक । इनका स्वरूप आगे लिखेंगे । जगच्छ्रेणीके सातवें भागको राजू कहते हैं । २—असंख्यातके भी असंख्यात भेद हैं ।—वर्तमान कालके आधारको क्षेत्र और तीनो कालके आधारको स्पर्शन कहते हैं । ३—दिगम्बर सिद्धान्तमे सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिमें इस तरहका अन्तर नहीं माना है । क्योंकि गुण गुणीको छोड़कर नहीं रह सकता । अतएव सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, वह जिनके पाया जाय, उनको सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शनी समझना चाहिये । इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिका भेद नहीं कहा जा सकता । हाँ सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकारके हुआ करते हैं—संसारी और मुक्त । संसारी जीवोंका सम्यग्दर्शन सादिसांत—अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ अधिक छयासठ सागरतकका होता है, और मुक्त जीवोका सादिअनन्त होता है ।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अर्धपुद्गल[1] परिवर्तन है । किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षासे अन्तरकाल होता ही नहीं है । अर्थात् जब नाना जीवोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन सदा ही रहा करता है, तो उसका विरहकाल कभी भी नहीं रह सकता, यह बात स्पष्टतया सिद्ध है । हाँ एक जीवकी अपेक्षा अन्तर पाया जा सकता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर छूट भी जाता है। उत्पन्न होकर छूट जाय, और फिर वही उत्पन्न हो, उसके मध्यमें जितना काल लगता है उसको विरहकाल कहते है । एक जीवके सम्यग्दर्शनका विरहकाल कमसे कम अन्तर्मुहूर्त्त और ज्याद:से ज्याद: अर्धपुद्गलपरिवर्तन है ।

भावप्ररूपणा—औपशमिकादिके[2] भावोंमेंसे सम्यग्दर्शनको कौनसा भाव समझना चाहिये ? इसका उत्तर यह है, कि औदायिक और पारणामिक इन दो भावोंको छोड़कर बाकीके तीनों ही भावोंमें सम्यग्दर्शन रहा करता है । अर्थात् सम्यग्दर्शन कहीं औपशमिक कहीं क्षायिक और कहीं क्षायोपशमिक इस तरह तीनों ही भावरूप पाया जा सकता है ।

अल्प बहुत्व प्ररूपणा—औपशमिकादि तीन प्रकारके भावोंमें रहनेवाले तीनों ही सम्यग्दर्शनोंकी संख्या समान है, अथवा उसमें कुछ न्यूनाधिकता है ? उत्तर—तीनोंमेंसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी संख्या सबसे कम है । उससे असंख्यातगुणी क्षायिकसम्यग्दर्शनकी संख्या है, और उससे भी असंख्यातगुणी क्षायोपशमिक की है । परन्तु सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या अनंतगुणी है ।

इस प्रकार अनुयोगद्वारोंका स्वरूप बताया । सम्यग्दर्शनादिक तथा उसके विषयभूत जीवादिक सभी पदार्थोंका नाम स्थापना आदिके द्वारा विधिपूर्वक व्यवहार करके प्रमाण नय आदिक उपर्युक्त अनुयोगोंके द्वारा अधिगम प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि इनके द्वारा निश्चित तत्त्वार्थोंका तथाभूत श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका प्रकरण समाप्त करके क्रमानुसार ज्ञानका वर्णन करते हैं ।—

सूत्र—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमित्येतन्मूलविधानतः पञ्चविधं ज्ञानम् । प्रभेदास्त्वस्य पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते ॥

अर्थ—मूल भेदोंकी अपेक्षासे ज्ञान पाँच प्रकारका है—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इनके उत्तरभेदोंका वर्णन आगे चलकर करेंगे ।

१—संसारमें अनादिकालसे जीवका जो नाना गतियोंमें परिभ्रमण हो रहा है, उसीको परिवर्तन कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं-द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव । इनका स्वरूप और इनके कालका प्रमाण आगे चलकर लिखेंगे। इनमेंसे पहले द्रव्यपरिवर्तनके कालके आधे कालको अर्धपुद्गलपरिवर्तन समझना चाहिये । २—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारणामिक ।

भावार्थ—बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों निमित्तोंके मिलनेपर चेतना गुणका जो साकार परिणमन होता है, उसको ज्ञान कहते हैं। सामान्यसे इसके पाँच भेद हैं। पाँचोंके स्वरूप विषय और कारण भिन्न भिन्न हैं। इनका विशेष खुलासा आगे चलकर क्रमसे लिखेंगे।

पाँचों ही प्रकारके ज्ञान दो भागोंमें विभक्त हैं—एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। तथा ये दोनों ही भेद प्रमाण हैं। इसी बातको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

भाष्यम्—तदेतत्पञ्चविधमपि ज्ञानं द्वे प्रमाणे भवतः परोक्षं प्रत्यक्षं च।

अर्थ—पूर्वोक्त पाँच प्रकारका ज्ञान प्रमाण है, और उसके दो भेद हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष।

भावार्थ—जिसके द्वारा वस्तुस्वरूपका परिच्छेदन हो, उसको प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण अनेक सिद्धान्तवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारका माना है। कोई सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं। कोई निर्विकल्पदर्शनको, कोई कारकसाकल्यको और कोई, वेदको ही प्रमाण मानते है। इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएं हैं, जो कि युक्तियुक्त या वास्तविक न होनेके कारण प्रमाणके प्रयोजनको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। अतएव आचार्यने यहाँपर प्रमाणका निर्दोष लक्षण बताया है, कि उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण समझना चाहिये। प्रमाणके भेद भी भिन्न भिन्न मतवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारसे माने है। कोई एक प्रत्यक्षको ही मानते हैं, तो कोई प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो भेद मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान ऐसे तीन, तो कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम ऐसे चार भेद मानते हैं, कोई इन्हीं चारको अर्थापत्तिके साथ करके पाँच और कोई अभावको भी जोड़कर छह प्रमाण मानते है। इत्यादि प्रमाणके भेदोंके विषयमें भी अनेक कल्पनाएं हैं, जो कि अव्याप्ति आदि दूषणोंसे युक्त होनेके कारण अवास्तविक है। अतएव आचार्योंने यहाँपर प्रमाणके दो भेद गिनाये हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष जो कि सर्वथा निर्दोष है, और इसी लिये इष्ट अर्थके साधक है, तथा इन्हींमें प्रमाणके सम्पूर्ण भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

क्रमानुसार पहले परोक्षका स्वरूप और उसके भेद बताते हैं:—

सूत्र—आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आदौ भवमाद्यम्। आद्ये सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति। तदेवमाद्ये मतिज्ञानश्रुतज्ञाने परोक्षं प्रमाणं भवतः। कुतः? निमित्तापेक्षत्वात्। अपायसद्द्रव्यतया मतिज्ञानम्। तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति वक्ष्यते। तत्पूर्वकत्वात्परोपदेशजत्वाच्च श्रुतज्ञानम्।

अर्थ—जो आदिमें हो उसको आद्य कहते हैं। यहाँपर आद्ये ऐसा द्विवचनका प्रयोग किया है, अतएव "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" इस सूत्रके पाठ क्रमके प्रमाणा-

नुसार आदिके दो परोक्ष प्रमाण समझने चाहिये, ऐसी आचार्यकी आज्ञा है। इस प्रकारसे आदिके दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं, यह बात सिद्ध होती है। इनको परोक्ष प्रमाण क्यों कहते है, तो इसका उत्तर यह है, कि ये दोनों ही ज्ञान निमित्तकी अपेक्षा रखते हैं। मतिज्ञान अपायसद्द्रव्यतया परोक्ष है। क्योंकि आगे चलकर ऐसा सूत्र भी कहेंगे कि "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" अर्थात् आत्मासे भिन्न स्पर्शनादिक पाँचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय–मनके निमित्तसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव वह अपायसद्द्रव्यरूप है और इसी लिये परोक्ष भी है। क्योंकि निमित्त नित्य नहीं है। श्रुतज्ञान भी परोक्ष है। क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और दूसरेके उपदेशसे उत्पन्न होता है।

भावार्थ—जिस ज्ञानके उत्पन्न होनेमें आत्मासे भिन्न पर वस्तुकी अपेक्षा हो, उसको परोक्ष कहते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें इन्द्रिय और मन जो कि आत्मासे भिन्न पुद्गलरूप है, निमित्त हुआ करते हैं, अतएव इनको परोक्ष कहते हैं। विशेषता यह है, कि इनमेंसे मतिज्ञानमें तो इन्द्रिय और मन दोनों ही निमित्त पड़ते हैं, परन्तु श्रुतज्ञानमें केवल मन ही निमित्त पड़ता है। किंतु वह मतिज्ञान-पूर्वक ही होता है, अतएव उपचारसे उसमें इन्द्रियाँ भी निमित्त पड़ती है। जैसे कि परोपदेशके सुननेमें श्रोत्रइन्द्रिय निमित्त है। इस सुननेको ही मतिज्ञान कहते हैं। सुने हुए शब्दके विषयमें अथवा उसका अवलंबन लेकर अर्थान्तरके विषयमें विचार करनेको श्रुतज्ञान कहते हैं। सो इसमें मुख्यतया बाह्य निमित्त मन ही है। परन्तु उपचारसे श्रोत्रेन्द्रिय भी निमित्त कहा जा सकता है। क्योंकि बिना सुने विचार नहीं हो सकता। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेद बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

भाष्यम्—मतिश्रुताभ्यां यदन्यत् त्रिविधं ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति। कुतः? अतीन्द्रियत्वात्। प्रमीयन्तेऽर्थास्तैरिति प्रमाणानि। अत्राह–इह अवधारितं द्वे एव प्रमाणे प्रत्यक्ष-परोक्षे इति। अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानपि च प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति। अत्रोच्यते सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्। किंचान्यत्–अप्रमाणान्येव वा। कुतः? मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च। मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति वक्ष्यते। नयवादान्तरेण तु यथा मतिश्रुतविकल्पजानि भवन्ति तथा परस्ताद्वक्ष्यामः।

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको छोड़कर बाकीके अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीन प्रकारके जो ज्ञान हैं, वे प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। क्योंकि ये अतीन्द्रिय हैं। जिनके द्वारा पदार्थोंको भले प्रकारसे जाना जाय, उनको प्रमाण कहते हैं। शंका—यहाँपर प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण बताये है; परन्तु कोई अनुमान उपमान आगम अर्थापत्ति और अभावको भी प्रमाण मानते हैं, सो यह किस तरहसे माना जाय? उत्तर—सबसे पहली बात तो यह है, कि ये सभी

प्रमाण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षका निमित्त पाकर ही उत्पन्न होनेवाले हैं। दूसरी बात यह है, कि ये वस्तुतः प्रमाण ही नहीं हैं। क्योंकि ये मिथ्यादर्शनके सहचारी हैं, तथा विपरीत उपदेशसे उत्पन्न होनेवाले और विपरीत ही उपदेशको देनेवाले हैं। मिथ्यादृष्टिके जो मति श्रुत या अवधिज्ञान होता है, वह नियमसे अप्रमाण ही होता है, यह बात आगे चलकर कहेंगे भी। परन्तु समीचीन नयवादके द्वारा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके जो जो और जिस जिस प्रकारसे भेद होते हैं, उनको भी आगे चलकर बतावेंगे।

भावार्थ—आत्माके सिवाय पर पदार्थ इन्द्रिय और मनकी सहायताकी जिसमें अपेक्षा नहीं है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, और इसीलिये इसका नाम अतीन्द्रिय भी है। बहुतसे लोग ऐन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय ज्ञानको परोक्ष कहते है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ परमात्माके प्रत्यक्ष ज्ञान ही माना है, और यदि वह इन्द्रियजन्य माना जायगा, तो उसकी सर्वज्ञता स्थिर नहीं रह सकेगी, क्योंकि इन्द्रियोंका विषय आदि अल्प और नियत है। अतएव अक्ष नाम आत्माका है, जो ज्ञान उसीकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न हो, उसको प्रत्यक्ष और जो पर–अर्थात् आत्मासे भिन्न इन्द्रियानिन्द्रयकी सहायतासे हो उसको परोक्ष ज्ञान समझना चाहिये।

प्रत्यक्ष ज्ञानके सामान्यसे दो भेद हैं–एक देशप्रत्यक्ष दूसरा सकलप्रत्यक्ष। अवधि और मनःपर्ययको देशप्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि इनका विषय नियत और अपरिपर्ण है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। क्योंकि वह सम्पूर्ण त्रैकालिक वस्तुओंको और उनकी अनन्तानन्त अवस्थाओंको विषय करनेवाला और नित्य है। इसके सिवाय मतिज्ञानको भी उपचारसे अथवा व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा उसमें अधिक स्पष्टता रहा करती है। मुख्यरूपसे वह परोक्ष ही है।

अवधि मनःपर्यय और केवल ये प्रत्यक्षके समीचीन भेद भी प्रमाण ही है। यद्यपि अन्य मतवालोंने ऊपर लिखे अनुसार अनुमान उपमान आदिको भी प्रमाण माना है। परन्तु उनका लक्षण अपरिपूर्ण होनेसे युक्तिशून्य और मिथ्यादर्शनादिसे दूषित है। किन्तु समीचीन अनुमानादिकका लक्षण आगे चलकर हम लिखेंगे और बतावेंगे, कि इनमेंसे किस किस का मतिज्ञानादिमेंसे किस किस में किस किस अपेक्षासे अन्तर्भाव होता है, तथा उनके–मतिज्ञानादिके भेद कौन कौन से हैं।

भाष्यम्—अत्राह, उक्तं भवता मत्यादीनि ज्ञानानि उद्दिश्य तानि विधानतो लक्षणतश्च परस्ताद्विस्तरेण वक्ष्याम इतिः; तदुच्यतामिति। अत्रोच्यतेः—

अर्थ—शंका–ऊपर आपने मतिज्ञानादिकका सामान्यसे नाममात्र उल्लेख करके यह कहा था, कि इनके भेद और लक्षणोंको हम आगे चलकर विस्तारके साथ कहेंगे, सो अब उनका वर्णन करना चाहिये । उत्तर–यह बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं । इसमें क्रमानुसार सबसे पहले मतिज्ञानके भेद बताते हैं:—

सूत्र–मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

भाष्यम्—मतिज्ञानं, स्मृतिज्ञानं, संज्ञाज्ञानं, चिन्ताज्ञानं, आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—मतिज्ञान स्मृतिज्ञान संज्ञाज्ञान चिन्ताज्ञान और आभिनिबोधिकज्ञान ये पाँचों ही ज्ञान एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—ये मतिज्ञानके ही भेद है, क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेसे ही होते हैं, अतएव इनको एक ही अर्थका वाचक माना है । वस्तुतः ये भिन्न भिन्न विषयके प्रतिपादक हैं, और इसी लिये इनके लक्षण भी भिन्न भिन्न ही है । अनुभव स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान ये क्रमसे पाँचोंके अपर नाम है । इन्द्रिय अथवा मनके निमित्तसे किसी भी पदार्थका जो आद्यज्ञान होता है, उसको अनुभव अथवा मतिज्ञान कहते हैं । कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका " तत्–वह " इस तरहसे जो याद आना इसको स्मृति कहते हैं । अनुभव और स्मृति इन दोनोंके जोड़रूप ज्ञानको संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । साध्य[1] और साधनके[2] अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिके ज्ञानको चिन्ता अथवा तर्क कहते हैं । और साधनके द्वारा जो साध्यका ज्ञान होता है, उसको अनुमान अथवा अभिनिबोध कहते हैं । इनमेंसे मतिज्ञानमें प्रत्यक्षका और प्रत्यभिज्ञानमें उपमानका तथा अनुमानमें अर्थापत्तिका अन्तर्भाव समझना चाहिये । और इसी प्रकारसे आगम तथा अभावप्रमाणका भी अन्तर्भाव यथा योग्य समझ लेना चाहिये ।

मतिज्ञानका सामान्य लक्षण बताते हैं:—

सूत्र—तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानं द्विविधं भवति। इन्द्रियनिमित्तमनिन्द्रियनिमितं च। तत्रेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शनादीनां पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चस्वेव स्वविषयेषु। अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिरोघज्ञानं च ।

अर्थ—उपर्युक्त पाँच प्रकारका मतिज्ञान दो तरहका हुआ करता है–एक तो इन्द्रिय निमित्तक दूसरा अनिन्द्रिय निमित्तक । इन्द्रियाँ पाँच है–स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ।

१—जो सिद्ध किया जाय या अनुमानका विषय हो, उसको साध्य कहते हैं, जैसे पर्वतमें अग्नि । २—साध्यके अविनाभावी चिन्हको साधन कहते हैं, जैसे अग्निका साधन धूम ।

इनके विषय भी क्रमसे पाँच हैं–स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द, जैसा कि आगे चलकर बतावेंगे। इन पाँचों ही को अपने अपने विषयोंका जो ज्ञान होता है उसको, इन्द्रियनिमित्तक कहते हैं। मनकी प्रवृत्तियोंको अथवा विशेष विचारोंको यद्वा समूहरूप ज्ञानको अनिन्द्रिय निमित्तक कहते हैं।

इस प्रकार निमित्तभेदसे मतिज्ञानके भेद बताकर स्वरूप अथवा विषयकी अपेक्षासे भेद बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अवग्रहेहापायधारणाः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानमुभयनिमित्तमप्येकशश्चतुर्विधं भवति। तद्यथा-अवग्रह ईहापायो धारणा चेति। तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। अवग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम्। अवगृहीते विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा ईहा। ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम्। अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपायः। अपायोऽपगमः अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम्। धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च। धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम्॥

अर्थ—ऊपर इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक इस तरह दो प्रकारका जो मतिज्ञान बताया है, उसमें प्रत्येकके चार चार भेद हैं।–अवग्रह ईहा अपाय और धारणा। अपनी अपनी इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विषयोंका अव्यक्त रूपसे जो आलोचनात्मक अवधारण–ग्रहण होता है, उसको अवग्रह कहते है। अवग्रह ग्रहण आलोचन और अवधारण ये एक ही अर्थके वाचक शब्द है। अवग्रहके द्वारा जिस पदार्थके एक देशका ग्रहण कर लिया गया है, उसीके शेष अंशको भी जाननेके लिये जो प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उस पदार्थका विशेष रूपसे निश्चय करनेके लिये जो जिज्ञासा–चेष्टा विशेष होती है, उसीको ईहा कहते है। ईहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा और जिज्ञासा ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक है। अवग्रह तथा ईहाके द्वारा जाने हुए पदार्थके विषयमें यह समीचीन है, अथवा असमीचीन है, इस तरहसे गुणदोषोंका विचार करनेके लिये जो निश्चयरूप ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है, उसको अपाय कहते हैं। अपाय अपगम अपनोद अपव्याध अपेत अपगत अपविद्ध और अपनुत्त ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं। धारणा नाम प्रतिपत्तिका है। अर्थात् अपने योग्य पदार्थका जो बोध हुआ है, उसका अधिक कालतक स्थिर रहना इसको धारणा कहते हैं। धारणा प्रतिपत्ति अवधारण अवस्थान निश्चय अवगम और अवबोध ये सब शब्द भी एक ही अर्थके वाचक हैं।

भावार्थ—मतिज्ञानके चार भेद हैं-अवग्रह ईहा अपाय और धारणा। इन्द्रिय और पदार्थका योग्य क्षेत्रमें अवस्थान होनेपर सबसे पहले दर्शन होता है, जोकि निर्विकल्प अथवा

निराकार है। उसके बाद उस पदार्थका ग्रहण होता है, जोकि सविकल्प अथवा साकार हुआ करता है, जैसे कि यह मनुष्य है, इत्यादि। इस ज्ञानके बाद उस पदार्थको विशेषरूपसे जाननेके लिये जब यह शंका हुआ करती है, कि यह मनुष्य तो है, परन्तु दाक्षिणात्य है, अथवा औदीच्य है? तब उस शंकाको दूर करनेके लिये उसके वस्त्र आदिकी तरफ दृष्टि देनेसे यह ज्ञान होता है, कि यह दाक्षिणात्य होना चाहिये। इसीको ईहा कहते हैं। जब उस मनुष्यके निकट आ जानेपर बातचीतके सुननेसे यह दृढ़ निश्चय होता है, कि यह दाक्षिणात्य ही है, तब उसको अपाय कहते है। परन्तु उसी ज्ञानमें ऐसे संस्कारका हो जाना, कि जिसके निमित्तसे वह अधिक कालतक ठहर सके, उस संस्कृत ज्ञानको ही धारणा कहते हैं। इसके होनेसे ही कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका स्मरण हो सकता है।

ये अवग्रहादिक कितने प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अवग्रहादयश्चत्वारो मतिज्ञानविभागा एषां बह्वादीनामर्थानां सेतराणां भवन्त्येकशः। सेतराणामिति सप्रतिपक्षाणामित्यर्थः। बह्ववगृह्णाति अल्पमवगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति एकविधमवगृह्णाति, क्षिप्रमवगृह्णाति चिरेणावगृह्णाति, अनिश्रितमवगृह्णाति निश्रितमवगृह्णाति, अनुक्तमवगृह्णाति उक्तमवगृह्णाति,[1] ध्रुवमवगृह्णाति अध्रुवमवगृह्णाति इत्येवमीहादीनामपि विद्यात्।

अर्थ—बहु बहुविध क्षिप्र अनिश्रित अनुक्त और ध्रुव ये छह और छह सेतर अर्थात् इनसे उलटे, अर्थात् बहुका उल्टा अल्प, बहुविधका उल्टा एकविध, क्षिप्रका उल्टा चिरेण, अनिश्रितका उल्टा निश्रित, अनुक्तका उल्टा उक्त और ध्रुवका उल्टा अध्रुव। इस तरहसे बारह प्रकारके अर्थ है। मतिज्ञानके अवग्रहादिक चार भेद जो बताये है, उनमें से प्रत्येक भेद इन बारहों तरहके अर्थोंके हुआ करते हैं। अर्थात् अवग्रह इन विषयोंकी अपेक्षासे बारह प्रकारका है—बहुका अवग्रह, अल्पका अवग्रह, बहुविधका अवग्रह, एकविधका अवग्रह, क्षिप्रका अवग्रह, चिरेणका अवग्रह, अनिश्रितका अवग्रह, निश्रितका अवग्रह, अनुक्तका अवग्रह, उक्तका अवग्रह, ध्रुवका अवग्रह, अध्रुवका अवग्रह। इसी तरहसे ईहादिकके भी बारह बारह भेद समझ लेने चाहिये।

भावार्थ—अवग्रहादिक ज्ञानरूप क्रियाएं हैं, अतएव उनका कर्म भी अवश्य बताना चाहिये। इसीलिये इस सूत्रमें ये बारह प्रकारके कर्म बताये हैं। एक जातिकी दोसे अधिक संख्यावाली वस्तुको बहु कहते है। और एक जातिकी दो संख्या तककी वस्तुको अल्प

१—असंदिग्धमवगृह्णाति, संदिग्धमवगृह्णातीति पाठान्तरम्।

कहते हैं। दोसे अधिक जातिवाली वस्तुओंको बहुविध कहते हैं, और दो तककी जातिवाली वस्तुओंको एकविध अथवा अल्पविध कहते है। शीघ्र गतिवाली वस्तुको क्षिप्र और मंद गतिवालीको चिरेण कहते है। अप्रकटको अनिश्रित और प्रकटको निश्रित कहते है। विना कही हुईको अनुक्त और कही हुईको उक्त कहते है। और तदवस्थको ध्रुव तथा उससे प्रतिकूलको अध्रुव कहते हैं।

बहु आदिक शब्द विशेषणवाची है, अतएव ये विशेषण किसके है, यह बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—अर्थस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—अवग्रहादयो मतिज्ञानविकल्पा अर्थस्य भवन्ति ।

अर्थ—अवग्रह आदिक मतिज्ञानके जो भेद बताये है, वे अर्थके हुआ करते हैं।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि ऊपर बहु आदिक जो विशेषण बताये है, वे किसी न किसी विशेष्यके तो होंगे ही, और विशेष्य जो होगा, वह पदार्थ ही होगा, अतएव ये अर्थ–पदार्थके विशेषण है, यह बतानेके लिये सूत्र करनेकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है, कि किसी किसी मतवालेने ज्ञानका साक्षात् विषय पदार्थको नहीं माना है; किंतु ज्ञानका साक्षात् विषय विशेषणको ही माना है, और समवाय समवेतसमवाय संयुक्त-समवेतसमवाय आदि सम्बन्धोंके द्वारा पदार्थको विषय माना है। सो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें विशेष्य विशेषण एक साथ ही विषय होते है। क्योंकि दोनोंमें कथंचित् अभेद है। एक दूसरेको सर्वथा छोड़कर ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। अतएव विशेषणके साथ साथ विशेष्यरूप पदार्थ भी विषय होता ही है, यह बताना ही इस सूत्रका प्रयोजन है। और इसी लिये यहाँपर यह कहा है, कि मतिज्ञानके अवग्रहादिक भेद अर्थके हुआ करते हैं।

विशेष्यरूप पदार्थ दो प्रकारके हुआ करते है—एक व्यक्त दूसरे अव्यक्त। व्यक्तको अर्थ और अव्यक्तको व्यंजन कहा करते है। इस सूत्रमें व्यक्त पदार्थके ही अवग्रहादिक बताये हैं; क्योंकि अव्यक्तके विषयमें कुछ विशेषता है। वह विशेषता क्या है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—व्यंजनस्यावग्रह एव भवति नेहादयः। एवं द्विविधोऽवग्रहो व्यंजनस्यार्थस्य च। ईहादयस्त्वर्थस्यैव ॥

अर्थ—व्यंजन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इस तरहसे अव-ग्रह तो दोनों ही प्रकारके पदार्थका हुआ करता है, व्यंजनका भी और अर्थका भी जिनको कि

क्रमसे व्यंजनावग्रह तथा अर्थावग्रह कहते हैं। ईहा आदिक मतिज्ञानके शेष तीन विकल्प अर्थ-के ही होते हैं, व्यंजनके नहीं होते।

भावार्थ[1]—जिस प्रकार मट्टीके किसी सकोरा आदि वर्तनके ऊपर जलकी बूंद पड़नेसे पहले तो वह व्यक्त नहीं होती, परन्तु पीछे से वह धीरे धीरे क्रम क्रम—से पड़ते पड़ते व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार कहीं कहीं कानोंपर पड़ा हुआ शब्द आदिक पदार्थ भी पहले तो अव्यक्त होता है, पीछे व्यक्त हो जाता है। इसी तरहके अव्यक्त पदार्थको व्यंजन और व्यक्तको अर्थ कहते हैं। व्यक्तके अवग्रहादि चारों होते हैं, और अव्यक्तका अवग्रह ही होता है।

इसके सिवाय व्यंजनावग्रहमें और भी जो विशेषता है, उसको बतातेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—चक्षुषा नोइन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति। चतुर्भिरिन्द्रियैः शेषैर्भवतीत्यर्थः। एवमेतन्मतिज्ञानं द्विविधं चतुर्विधं अष्टाविंशतिविधं अष्टषष्ठ्युत्तरशतविधं षट्त्रिंशत्त्रिशतविधं च भवति।

अर्थ—यह व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन इनके द्वारा नहीं हुआ करता है। मतलब यह है, कि वह केवल स्पर्शन रसन घ्राण और श्रोत्र इन बाकीकी चार इन्द्रियोंके द्वारा ही हुआ करता है। इस प्रकारसे इस मतिज्ञानके दो भेद अथवा चार भेद यद्वा अट्ठाईस भेद या एक सौ अड़सठ भेद अथवा तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।

भावार्थ[1]—चक्षुरिन्द्रिय और मन ये दोनों ही अप्राप्यकारी है। अर्थात् ये वस्तुको प्राप्त-सम्बद्ध न होकर ही ग्रहण करते है। अतएव इनके द्वारा व्यक्त पदार्थका ही ग्रहण हो सकता है, अव्यक्तका नहीं।

मतिज्ञानके निमित्त कारणकी अपेक्षासे दो भेद हैं—एक इन्द्रियनिमित्तक दूसरा अनिन्द्रिय निमित्तक। अवग्रह ईहा अपाय और धारणाकी अपेक्षासे चार भेद हैं। तथा ये चारों भेद पाँच इन्द्रिय और छट्ठे मनसे हुआ करते हैं, अतएव चारको छहसे गुणा करनेपर २४ अर्थावग्रहादिके भेद होते हैं, और इन्हींमें व्यंजनावग्रहके ४ भेद मिलानेसे २८ भेद होते हैं। क्योंकि व्यंजनका एक अवग्रह ही होता है, और वह चार इन्द्रियोंसे ही होता है। इन अट्ठाईस भेदोंका बहु बहुविध क्षिप्र अनिश्रित अनुक्त और ध्रुव इन छह भेदोंके साथ गुणा करनेसे १६८ भेद होते हैं। और यदि इनके उल्टे अल्प अल्पविध आदि छह भेदोंको भी साथमें जोड़कर बारहके साथ इन अट्ठाईसका गुणा किया जाय, तो मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं।

1—पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूवं। फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं विजाणादि॥

भाष्यम्—अत्राह गृह्णीमस्तावन्मतिज्ञानम्। अथ श्रुतज्ञानं किमिति। अत्रोच्यते।

अर्थ—यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है, कि आपने मतिज्ञानके स्वरूपका और उसके भेदादिकोंका जो वर्णन किया सो सब हमने समझा। अब निर्देश-क्रमके अनुसार श्रुतज्ञानका वर्णन प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवति। श्रुतमाप्तवचनमागम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्। तद्द्विविधमङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टं च। तत्पुनरनेकविधं द्वादशविधं च यथासंख्यम्। अङ्गबाह्यमनेकविधम्, तद्यथा-सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकं उत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ निशीथमृषिभाषितान्येवमादि। अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं, तद्यथा-आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनदशाः अन्तकृद्दशाः अनुत्तरौपपादिकदशाः प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिपात इति। अत्राह-मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः कः प्रतिविशेष इति। अत्रोच्यते-उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं सांप्रतकालविषयं मतिज्ञानम्। श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम्। उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम्। अत्राह-गृह्णीमो मतिश्रुतयोर्नानात्वम्। अथ श्रुतज्ञानस्य द्विविधमनेकद्वादशविधमिति किं कृतः प्रतिविशेष इति। अत्रोच्यते-वक्तृविशेषाद्द्वैविध्यम्। यद्भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम्। गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तम् तदङ्गबाह्यमिति। सर्वज्ञप्रणीतत्वादानन्त्याच्च ज्ञेयस्य श्रुतज्ञानं मतिज्ञानान्महाविषयम्। तस्य च महाविषयत्वात्तांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्वम्। किंचान्यत्-सुखग्रहणधारणविज्ञानापोहप्रयोगार्थं च। अन्यथा ह्यनिबद्धमङ्गोपाङ्गशः समुद्रप्रतरणवद्दुरध्यवसेयं स्यात्। एतेन पूर्वाणि वस्तूनि प्राभृतानि प्राभृतप्राभृतानि अध्ययनान्युद्देशाश्च व्याख्याताः। अत्राह-मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति "द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इति। तस्मादेकत्वमेवाऽस्त्विति। अत्रोच्यते-उक्तमेतत् साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयं विशुद्धतरं चेति। किंचान्यत्। मतिज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्पारिणामिकं, श्रुतज्ञानं तु तत्पूर्वकमाप्तोपदेशाद्भवतीति॥

अर्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, श्रुत आप्त-वचन आगम उपदेश ऐतिह्य आम्नाय प्रवचन और जिनवचन ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट। इनमें अङ्गबाह्यके अनेक भेद है और अङ्गप्रविष्टके बारह भेद है। अङ्गबाह्यके अनेक भेद कौनसे है, सो बताते है—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमण कायव्युत्सर्ग प्रत्याख्यान दशवैकालिक उत्तराध्यायदशा कल्पव्यवहार निशीथ

इत्यादि । इसी प्रकार ऋषियोंके द्वारा कहे हुए और भी अनेक भेद समझ लेने चाहिये। अङ्ग प्रविष्टके बारह भेद कौनसे हैं, सो बताते हैं—आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग स्थानाङ्ग समवायाङ्ग व्याख्या-प्रज्ञप्ति ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनदशाङ्ग अन्तकृद्दशाङ्ग अनुत्तरौपादिकदशाङ्ग प्रश्नव्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिपाताङ्ग ।

शंका—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें क्या विशेषता है? उत्तर—जो उत्पन्न तो हो चुका है, किंतु अभीतक नष्ट नहीं हुआ है, ऐसे पदार्थको ग्रहण करनेवाला तो मतिज्ञान है, अर्थात् मतिज्ञान केवल वर्तमानकालवर्ती ही पदार्थको ग्रहण करता है। किंतु श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक है, वह उत्पन्न-वर्तमान और विनष्ट—भूत तथा अनुत्पन्न—भविष्यत् इस तरह तीनों काल सम्बन्धी पदार्थोंको ग्रहण करता है । प्रश्न—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका भेद समझमें आया। परन्तु श्रुतज्ञानके जो भेद बताये हैं, उनमें एकके अनेक भेद और एकके बारह भेद बताये, सो इनमें क्या विशेषता है ? उत्तर—श्रुत ज्ञानके ये दो भेद वक्ताकी विशेषताकी अपेक्षासे हैं। अपने स्वभावके अनुसार प्रवचनकी प्रतिष्ठापना—प्रारम्भ करना ही जिसका फल है, ऐसे परम शुभ तीर्थंकर नामकर्मके उदयसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमर्षि अरिहंत भगवान्‌ने जो कुछ कहा है, और जिसकी उत्तम—अतिशयसे युक्त वचनऋद्धि तथा बुद्धिऋद्धिसे परिपूर्ण अरिहंत भगवान्‌के सातिशय शिष्य गणधर भगवानके द्वारा रचना हुई है, उसको अङ्गप्रविष्ट कहते हैं। गणधर भगवानके अनन्तर होने-वाले आचार्योंके द्वारा जिनकी कि वचनकी शक्ति और मतिज्ञानकी शक्ति परम प्रकर्षको प्राप्त हो चुकी है, तथा जिनका आगम—श्रुतज्ञान अत्यंत विशुद्ध है, काल दोषसे तथा संहनन और आयुकी कमी आदिके दोषसे जिनकी शक्ति अत्यंत कम होगई है, ऐसे शिष्योंपर अनुग्रह करनेके लिये जिनकी रचना हुई है, उनको अङ्गबाह्य कहते हैं ।

मतिज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका विषय महान् है। क्योंकि उसमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, अथवा उसके द्वारा जिन विषयोंका ज्ञान होता है, वे ज्ञेय—प्रमेयरूप विषय अनन्त हैं, तथा उसका प्रणयन—निरूपण सर्वज्ञके द्वारा हुआ है । उसका विषय अति-शय महान् है, इसी लिये उसके एक एक अर्थको लेकर अधिकारोंकी रचना की गई है, और तत्तत् अधिकारोंके प्रकरणकी समाप्तिकी अपेक्षासे उसके अङ्ग और उपाङ्गरूपमें नाना भेद हो गये है। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ऐसा होनेसे उन विषयोंका सुखपूर्वक ग्रहण हो सकता है—उनका निरूपित तत्त्व अच्छी तरह समझमें आसकता है, और उनका धारण भी हो सकता है—याद रक्खा जा सकता है। तथा उनको जानकर उनके विषयमें मनन अथवा ऊहापोह भी किया जा सकता है। और उसके बाद उसका निश्चय भी भले प्रकार हो सकता है, एवं हेयको हेय समझकर उसके त्याग करनेरूप तथा उपादेयको उपादेय समझकर उसके ग्रहण करनेरूप प्रयोग भी अच्छी तरह किया जा सकता है। यदि अङ्ग और उपाङ्ग

रूपसे उसकी रचना न कीगई होती, तो समुद्रको तरनेके समान वह दुरवगम्यही हो गया होता। अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य समुद्रको तर नहीं सकता, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति श्रुतका भी पार नहीं पा सकता था। इसी कथनसे पूर्वोंका वस्तुओंका प्राभृतोंका प्राभृतप्राभृतोंका अध्ययनोंका तथा उद्देशोंका भी व्याख्यान समझ लेना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त कथनमें ही पूर्व आदिकोंका भी कथन आ जाता है।

शंका—आगे चलकर ऐसा कहेंगे कि "द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय सम्पूर्ण द्रव्य किन्तु उनकी कुछ पर्याय है। इससे स्पष्ट है, कि आचार्य दोनों ज्ञानोंका विषय समान ही बतावेंगे। अतएव दोनों ज्ञानोंकी एकता–समानता ही रहनी चाहिये? आपने भिन्नता कैसे कही? उत्तर–यह बात हम पहले ही कह चुके है, कि मतिज्ञान वर्तमान कालविषयक है, और श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक है, तथा मतिज्ञानकी अपेक्षा अधिक विशुद्ध भी है। अर्थात् यद्यपि दोनोका विषयनिबन्ध सामान्यतया एक ही है, परन्तु विषयोंमें कालकृत भेद रहनेसे उनमें अन्तर भी है। तथा दोनोंमें विशुद्धिकी अपेक्षासे भी भेद है। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि इन्द्रियनिमित्तक हो अथवा अनिन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान तो आत्माकी ज्ञस्वभावताके कारण पारणामिक है, परन्तु श्रुतज्ञान ऐसा नहीं है, क्योंकि वह आप्तके उपदेशसे मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है।

भावार्थ—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है–ज्ञानरूप और शब्दरूप। इनमेंसे ज्ञानरूप मुख्य है, और शब्दरूप गौण है। इनके भेद प्रभेद और उनके अक्षर पद आदिका स्वरूप तथा प्रमाण एवं विषय आदिका विस्तृत वर्णन **गोम्मटसार जीवकाण्ड** आदिमें देखना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं श्रुतज्ञानम्। अथावधिज्ञानं किमिति. अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न–आपने श्रुतज्ञानका जो स्वरूप कहा, सो समझमें आया। परंतु श्रुतज्ञानके बाद जिसका आपने नामनिर्देश किया था, उस अवधिज्ञानका क्या स्वरूप है? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते है—

१—पूर्व वस्तु प्राभृत और प्राभृतप्राभृत आदि अङ्गोंके ही भेदोंके नाम हैं। यथा–पज्जायक्खरपद सघादं पडिवत्तियाणिजोग च। दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥ ३१६॥ तेसिं च समासेहिं य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं। आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंतित्ति॥३१७॥ (गोम्मटसार–जीवकाड) इसके सिवाय बारहवे अंगके पाँच भेद हैं–परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। इसमें परिकर्मके पॉच भेद हैं–चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। चौथे भेद पूर्वगतके १४ भेद हैं, जिनको कि १४ पूर्व कहते हैं, यथा–उत्पादपूर्व आग्रायणी वीर्यानुवाद अस्तिनास्तिप्रवाद सत्यप्रवाद ज्ञानप्रवाद आत्मप्रवाद कर्मप्रवाद प्रत्याख्यान पूर्वविद्यानुवाद कल्याणवाद प्राणवाद क्रियाविशाल और त्रिलोकविन्दुसार। चूलिकाके पॉच भेद हैं–जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता और रूपगता। इनका विशेप स्वरूप जीवकाण्डमें देखना चाहिये।

२—"अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणति सुदणाणं। आभिणिबोहिय पुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥ ३१४॥ (गोम्मटसार जीवकांड)

सूत्र—द्विविधोऽवधिः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च। तत्र—

अर्थ—अवधिज्ञान दो प्रकारका है—एक भवप्रत्यय दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक। उनमेंसे—

सूत्र—[1]भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां च यथास्वं[2] भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति। भवप्रत्ययं भवहेतुकं भवनिमित्तमित्यर्थः। तेषां हि भवोत्पत्तिरेव तस्य हेतुर्भवति पक्षिणामाकाशगमनवत् न शिक्षा न तप इति ॥

अर्थ—नारक और देवोंके जो यथायोग्य अवधिज्ञान होता है, वह भवप्रत्यय कहा जाता है। यहाँपर प्रत्यय शब्दका अर्थ हेतु अथवा निमित्तकारण समझना चाहिये। अतएव भवप्रत्यय या भवहेतुक अथवा भवनिमित्त ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। क्योंकि नारक और देवोंके अवधिज्ञानमें उस भवमें उत्पन्न होना ही कारण माना है। जैसे कि पक्षियोंको आकाशमें गमन करना स्वभावसे—उस भवमें जन्म लेनेसे ही आ जाता है, उसके लिये शिक्षा और तप कारण नहीं है, उसी प्रकार जो जीव नरक गति अथवा देवगतिको प्राप्त होते है, उनको अवधिज्ञान भी स्वयं प्राप्त हो ही जाता है।

भावार्थ—यद्यपि अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे ही प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी देव और नारकियोंके अवधिज्ञानको क्षयोपशमनिमित्तक न कह कर भवहेतुक ही कहा जाता है। क्योंकि वहाँपर भवकी प्रधानता है। जो उस भवको धारण करता है, उसके नियमसे अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम हो ही जाता है। अतएव बाह्यकारणकी प्रधानतासे देव और नारकियोंके अवधिज्ञानको भवप्रत्यय ही माना है। जिसको किसीका उपदेश मिल जाय, अथवा जो अनशन आदि तप करे, उसी देव या नारकीको वह हो अन्यको न हो, ऐसा नहीं हैं। क्योंकि इन दोनों ही गतियोंमें शिक्षा और तप इन दोनों ही कारणोंका अभाव है।

इसके लिये यथायोग्य शब्द जो दिया है उसका अभिप्राय यह है, कि सभी देव अथवा नारकियोके अवधिज्ञान समान नहीं होता। जिसके जितनी योग्यता है, उसके उतनी ही समझना चाहिये।

१—" तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् " एवंविध सूत्रपाठोऽन्यत्र।

२—" यथास्वमिति यस्य यस्यात्मीय यथादित्यर्थः। तद्यथा—रत्नप्रभापृथिवीनरकनिवासिना ये सर्वोपरि तेषामन्यादृशम्, ये तु तेभ्योऽधस्तात् तेषां तस्यामेवावनावन्यादृक् प्रस्तारापेक्षयेति एवं सर्व पृथिवीनारकाणा यथास्वमित्येतन्नेयम्। देवानामपि यद्यस्य सम्भवति तच्च यथास्वमिति विज्ञेयम् भवप्रत्ययं भवकारण अधोऽवो विस्तृतविषयमवधिज्ञानं भवति। "-सिद्धसेनगणि टीकायाम्।

अवधिज्ञानका दूसरा भेद—क्षयोपशमनिमित्तक किनके होता है, और उसमें भी भव कारण है, या नहीं इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः । तदेतदवधिज्ञानं क्षयोपशमनिमित्तं षड्विधं भवति शेषाणाम्[1] । शेषाणामिति नारकदेवेभ्यः शेषाणां तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां च । अवधिज्ञानावरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमाभ्यां भवति षड्विधम् । तद्यथा-अनानुगामिकं, आनुगामिकं, हीयमानकं, वर्धमानकं, अनवस्थितम्, अवस्थितमिति । तत्रानानुगामिकं यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत् । आनुगामिकं यत्र क्वचिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति भास्करप्रकाशवत् घटरक्तभाववच्च । हीयमानकं असंख्येयेषु द्वीपेषु समुद्रेषु पृथिवीषु विमानेषु तिर्यगूर्ध्वमधो यदुत्पन्नं क्रमशः संक्षिप्यमाणं प्रतिपतति आ अङ्गुलासंख्येयभागात् प्रतिपतत्येव वा परिच्छिन्नेन्धनोपादानसंतत्यग्निशिखावत् । वर्धमानकं यदङ्गुलस्यासंख्येयभागादिषूत्पन्नं वर्धते आ सर्वलोकात् अधरोत्तरारणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तशुष्कोपचीयमानाधीयमानेन्धनराश्यग्निवत्[2] । अनवस्थितं हीयते वर्धते च वर्धते हीयते च प्रतिपतति चोत्पद्यते चेति पुनः पुनरूर्मिवत् । अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतत्या केवलप्राप्तेः[3] आ भवक्षयाद्वा जात्यन्तरस्थायि वा[4] भवति लिङ्गवत्[5] ॥

अर्थ—अवधिज्ञानके दूसरे भेदको बतानेके लिये सूत्रमें "यथोक्तनिमित्तः" ऐसा शब्द जो दिया है, उससे अभिप्राय क्षयोपशमनिमित्तकका है । यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकारका होता है, और यह उपर्युक्त भवप्रत्यय अवधिज्ञानके स्वामी जो देव और नारक उनके सिवाय बाकीके दो गतिवाले जीवोंके अर्थात् तिर्यञ्चोंके और मनुष्योंके पाया जाता है । अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षासे इस अवधिज्ञानके भी छह भेद हो जाते

नरककी सातों पृथिवियोंके कुल ४९ प्रस्तार-पटल हैं । उनमेंसे पहले नरकके पहले पटलमें अवधिका क्षेत्र एक योजन है, और अंतिम पटलमें करीब साढ़े तीन कोस है । इसी तरह नीचे नीचेकी पृथिवियोंमें आधा आधा कोस कम कम होता गया है, अंतकी सातवीं पृथिवीमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है । यथा—

" सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव ।
जाव य पढमे णिरये जोयणमेक्कं हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥ " (गोम्मटसार-जीवकाण्ड)

देव चार प्रकारके हैं-भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक-कल्पवासी । इनके अवधिका क्षेत्र कमसे कम २५ योजन और अधिकसे अधिक लोकनाड़ी-एक राजू मोटी एक राजू चौड़ी, तथा चौदह राजू ऊंची त्रसनाली है, और देवोंके अवधिका क्षेत्र ऊपर कम किंतु तिर्यक् और नीचे अधिक हुआ करता है । यथा—

" भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होदि बहुगं तु ।
उड्ढेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ति पस्संति ॥ ४२८ ॥
सव्वं च लोयणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा ॥ ४३१ ॥ " (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

१—" शेषाणाम " इतिपाठः पुस्तकान्तरे नास्ति । २-निर्मथनासन्नोपात्तेति पाठान्तरम् ॥

२—" प्राप्तेरवतिष्टते " इतिपाठान्तरम् । ३—" वा " इति पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति । ४—लिङ्गवज्जात्यन्तरचिन्हितायमवस्थायी वा भवति " इति वा पाठ. ।

हैं । वे छह भेद कौनसे हैं सो बताते हैं,—अनानुगामी, आनुगामी, हीयमानक, वर्धमानक, अनवस्थित और अवस्थित ।

जिस स्थानपर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उस स्थानपर तो वह काम कर सके और उस स्थानको छोड़कर स्थानान्तरमें चले जानेपर वह छूट जाय—काम न कर सके—अपने विषयको जाननेमें समर्थ या उपयुक्त न हो सके, उस अवधिज्ञानको अनानुगामिक कहते है । जैसे कि किसी किसी ज्योतिषी या निमित्तज्ञानी आदि मनुष्योंके वचनके विषयमें देखा जाता है, कि यदि उससे कोई प्रश्न किया जाय, तो वह उसका उत्तर किसी नियत स्थानपर ही दे सकता है, न कि सर्वत्र । इसी तरह इस अवधिज्ञानके विषयमें भी समझना चाहिये । आनुगामिक अवधिज्ञान इससे उल्टा है । वह जिस जीवके जिस क्षेत्रमें उत्पन्न होता है, वह जीव यदि क्षेत्रान्तरको चला जाय, तो भी वह छूटता नहीं । उत्पन्न होनेके स्थानमें और स्थानान्तरमें दोनों ही जगह वह अपने योग्य विषयको जाननेका काम कर सकता है । जैसे कि पूर्व दिशामें उदित होता हुआ सूर्य—प्रकाश पूर्व दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, और अन्य दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है । अथवा जिस प्रकार अवा—पाकस्थानमे रक्तताको धारण करनेवाला घट अपने स्थानमें—पाकस्थानमें जिस प्रकार रक्ततासे युक्त रहा करता है, उसी प्रकार स्थानान्तर—तड़ागादिमें भी रहा करता है । ऐसा नहीं है कि पाकस्थानमें तो वह रक्तताको धारण करे या प्रकाशित करे, परन्तु तड़ाग—सरोवरपर जानेपर वह वैसा न करे । इसी प्रकार जो अवधिज्ञान स्वस्थान और परस्थान दोनों ही जगह अपने विषयको ग्रहण कर सकता या अपने स्वरूपको प्रकाशित कर सकता है, उसको आनुगामिक कहते हैं । असंख्यात द्वीप समुद्र पृथिवी विमान और तिर्यक्—तिरछा अथवा ऊपर नीचेके जितने क्षेत्रका प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है, क्रमसे उस प्रमाणसे घटते घटते जो अवधिज्ञान अङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण तकके क्षेत्रको विषय करने-वाला रह जाय, उसको हीयमान कहते है । जिस प्रकार किसी अग्निका उपादान कारण यदि परिमित हो, तो उस उपादान संततिके न मिलनेसे उस अग्निकी शिखा भी क्रमसे कम कम होती जाती है, उसी प्रकार इस अवधिज्ञानके विषयमें समझना चाहिये । जो अवधिज्ञान अङ्गुलके असंख्यातवें भाग आदिक जितने विषयका प्रमाण लेकर उत्पन्न हो, उस प्रमाणसे बढ़ता ही चला जाय उसको वर्धमानक कहते हैं । जैसे कि नीचे और ऊपर अरणिके संघर्षणसे उत्पन्न हुई अग्निकी ज्वाला शुष्क पत्र आदि ईंधन राशिका निमित्त पाकर बढ़ती ही चली जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान जितने प्रमाणको लेकर उत्पन्न हुआ है, उससे अन्तरङ्ग बाह्य निमित्त पाकर सम्पूर्ण लोकपर्यन्त बढ़ता ही चला जाय, उसको वर्धमानक कहते हैं । अर्थात् जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट प्रमाणतक विषयकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके

जितने स्थान हैं, उनमेंसे जिस स्थानका अवधि उत्पन्न होकर परम शुभ परिणामोंका निमित्त पाकर उत्कृष्ट प्रमाणतक बढ़ता ही जाय उसको वर्धमानक समझना चाहिये । अनवस्थित अवधिज्ञान उसको समझना चाहिये जोकि एक रूपमें न रहकर अनेक रूप धारण कर सके । या तो कभी उत्पन्न प्रमाणसे घटता ही जाय, या कभी बढ़ता ही जाय, अथवा कभी घटे भी और बढ़े भी, यद्वा कभी छूट भी जाय और फिर कभी उत्पन्न हो जाय । जिस प्रकार किसी जलाशयकी लहरें वायुवेगका निमित्त पाकर अनेक प्रकारकी—छोटी मोटी या नष्टोत्पन्न हुआ करती हैं, उसी प्रकार इस अवधिके विषयमें समझना चाहिये । शुभ या अशुभ अथवा उभयरूप जैसे भी परिणामोंका इसको निमित्त मिलता है, उसके अनुसार इसकी हानि वृद्धि आदि अनेक अवस्थाएं हुआ करती है । कभी उत्पन्न प्रमाणसे बढ़ती ही है, कभी घटती ही है कभी एक दिशाकी तरफ घटती है और दूसरी दिशाकी तरफ बढ़ती है, कभी नष्टोत्पन्न भी होती है । इत्यादि । अवस्थित अवधिज्ञान उसको कहते है, जो कि जितने प्रमाण क्षेत्रके विषयमें उत्पन्न हो, उससे वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि केवलज्ञानकी प्राप्ति न हो जाय, अथवा उसका वर्तमान मनुष्य जन्म छूटकर जबतक उसको भवान्तरकी प्राप्ति न हो जाय, यद्वा जात्यन्तरस्थायि न बन जाय । जैसे कि लिंग—स्त्रीलिंग पुल्लिंग या नपुसंकलिंग प्राप्त होकर जात्यन्तरताको धारण किया करते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी जिस जातिका उत्पन्न होता है, उससे भिन्न जातिरूप परिणमन कर लिया करता है । अर्थात् जिसके अवस्थित जातिका अवधिज्ञान होता है, उसके वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि उसको केवलज्ञानादिकी प्राप्ति न हो जाय । क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है, उसके साथ क्षायोपशमिकज्ञान नहीं रह सकता । यदि उसी जन्ममें केवलज्ञान न हो, तो जन्मान्तरमें वह अवधिज्ञान उस जीवके साथ भी जाता है । जिस प्रकार इस जन्ममें प्राप्त हुआ पुरुष लिंग आदि तीन प्रकारके लिंगोंमेंसे कोई भी लिंग जैसे इस जन्ममें आमरण साथ रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरमें भी साथ जाता है । उसी प्रकार यह अवधिज्ञान केवलज्ञान होनेतक अथवा इस जन्मके पूर्ण होनेतक तदवस्थ रहा करता है—जितने प्रमाणमें उत्पन्न हुआ है, उसी प्रमाणमे ज्योंका त्यों अवस्थित रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरको साथ भी चला जाता है ।

भावार्थ—अवधिज्ञानके ये छह भेद दो कारणोंसे हुआ करते हैं—अंतरंग और बाह्य । अंतरंग कारण क्षयोपशमकी विचित्रता है, और बाह्य कारण संयम स्थानादिकी तथा अन्य निमित्त कारणोंकी विभिन्नता है । इस षड्भेदात्मक अवधिको क्षयोपशमनिमित्तक कहते है । क्योंकि इसमें भवप्रत्ययके समान भव प्रधान कारण नहीं है । जिस प्रकार देव या नारक भवधारण करनेवालेको उस भवके धारण करनेसे ही अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम अवश्य प्राप्त हो

जाता है, वैसा इसमें नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंचोंको नियमसे अवधिज्ञान नहीं होता, किंतु जिनको संयम स्थानादिका निमित्त मिलता है, उन्हींको वह प्राप्त होता है। अतएव अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग निमित्तके दोनों ही जगह समानरूपसे रहनेपर भी बाह्य कारण और उसके नियमके भेदसे ही अवधिके दो भेद बताये हैं—एक भवप्रत्यय दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक।

इसके सिवाय अवधिज्ञानका तर तम रूप दिखानेके लिये देशावधि परमावधि और सर्वावधि इस तरहसे उसके तीन भेद भी बताये है। देव नारकी तिर्यंच और सागार मनुष्य इनके देशावधि ज्ञान ही हो सकता है। बाकीके दो भेद—परमावधि और सर्वावधि मुनियोंके ही हो सकते हैं। इनका विशेष खुलासा और इनके द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप विषयका भेद गोम्मटसार जीवकाण्ड आदिसे जानना चाहिये।

भाष्यम्—उक्तमवधिज्ञानम्। मनःपर्यायज्ञानं वक्ष्यामः।—

अर्थ—लक्षण और विधानपूर्वक अवधिज्ञानका वर्णन उक्त रीतिसे किया। अब उसके बाद मनःपर्यायज्ञानका वर्णन क्रमानुसार प्राप्त है। अतएव उसके भी लक्षण और विधान—भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते है।—

सूत्र—ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः॥ २४॥

भाष्यम्—मनःपर्यायज्ञानं द्विविधं,—ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानं विपुलमति मनःपर्यायज्ञानं च। अत्राह,—कोऽनयोः प्रतिविशेषः? इति। अत्रोच्यते।—

अर्थ—मनःपर्यायज्ञानके दो भेद हैं—एक ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान और दूसरा विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान।

भावार्थ—जीवके द्वारा ग्रहणमें आई हुई और मनके आकारमें परिणत द्रव्य विशेषरूप मनोवर्गणाओंके अवलम्बनसे विचाररूप पर्यायोंको इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षा लिये विना ही साक्षात् जानता है, उसको मनःपर्यायज्ञान कहते है। सम्पूर्ण प्रमादोंसे रहित और जिसको मनःपर्यायज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम प्राप्त हो चुका है, उस साधुको यह एक अत्यंत विशिष्ट और क्षायोपशमिक किंतु प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके कि निमित्तसे वह साधु मनुष्य लोकवर्ती[1] मनःपर्याप्तिके[2] धारण करनेवाले पंचेन्द्रिय प्राणीमात्रके त्रिकालवर्त्ती मनोगत विचारोंको विना इन्द्रिय और मनकी सहायताके ही जान सकता है।

१—मध्यलोकमें ढाई द्वीप (प्रमाणाङ्गुलसे ४५ लाख योजन) चौड़े और मेरुप्रमाण ऊंचे क्षेत्रको मनुष्य क्षेत्र कहते हैं। २—शक्ति विशेषकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। इसके छह भेद हैं—आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन। इनमेंसे एकेन्द्रियके ४, दोइन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतकके ५, और संज्ञी पंचेन्द्रियके छहों होती हैं। यथा—"आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो। चत्तारि पंच छप्पि य, एइंदियवियलसण्णिसण्णीणं" ॥ ११८॥ गोम्मटसार जीवकांड। जिन जीवोंकी मनोवर्गणाओंको द्रव्य मनके आकारमें परणमानेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है उनको मनःपर्याप्त कहते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना। जिनकी शरीरपर्याप्ति भी पूर्ण नहीं हो पाती किन्तु मरण हो जाता है, उनको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। भवग्रहणके प्रथम अन्तर्मुहूर्त कालमें ही अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंकी पूर्णता हो जाती है, तथा इनका प्रारम्भ युगपत् किंतु पूर्णता क्रमसे हुआ करती है। फिर भी प्रत्येक पर्याप्तिका काल अन्तर्मुहूर्त ही है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्तके भी असंख्यात भेद हैं।

विषय भेदकी अपेक्षासे इस ज्ञानके दो भेद हैं। जो ऋजु—सामान्य—दो तीन पर्यायोंको ही ग्रहण करे, उसको ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान कहते हैं, और जो विपुल—बहुतसी पर्यायोंको ग्रहण कर सके, उसको विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान कहते हैं। अर्थात् विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान त्रिकालवर्त्ती मनुष्यके द्वारा चिन्तित अचिन्तित अर्ध चिन्तित ऐसे तीनों प्रकारकी पर्यायोंको जान सकता है, परन्तु ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान केवल वर्तमानकालवर्ती जीवके द्वारा ही चिन्त्यमान पर्यायोंको ही विषय कर सकता है। इसके सिवाय यह दोनों ही प्रकारका ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं हुआ करता। जैसे कि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी दर्शन पूर्वक ही हुआ करता है, वैसे यह नहीं होता। यह ईहा नामक मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है।

प्रश्न—जब कि मनःपर्यायज्ञानके ये दोनों ही भेद अतीन्द्रिय हैं, और दोनोंका विषय-परिच्छेदन—मनःपर्यायोंको जानना भी सरीखा ही है, फिर इनमें विशेषता किस बातकी है? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिकृतश्चाप्रतिपातकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः । तद्यथा-ऋजुमतिमनःपर्यायाद्विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम् । किं चान्यत् । ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानं प्रतिपतत्यपि भूयो विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानं तु न प्रतिपततीति ।

अर्थ—मनःपर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता दो प्रकारकी समझनी चाहिये। एक तो विशुद्धिकृत दूसरी अप्रतिपातकृत। मतलब यह है, कि एक तो ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानकी अपेक्षा विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान अधिक विशुद्ध हुआ करता है। दूसरी बात यह है, कि ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होकर छूट भी जाता है, और एक वार ही नहीं अनेक वार भी उत्पन्न हो हो करके छूट सकता है। परन्तु विपुलमतिमें यह बात नहीं है, वह उत्पन्न होनेके अनंतर जबतक केवलज्ञान प्रकट न हो तबतक छूटता नहीं।

भावार्थ—ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानसे विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान विशुद्धि और अप्रतिपात इन दो कारणोंसे विशिष्ट है। क्योंकि ऋजुमतिका विषय स्तोक और विपुलमतिका उससे अत्यधिक है। ऋजुमति जितने पदार्थको जितनी सूक्ष्मताके साथ जान सकता है, विपुलमति उसी पदार्थको नानाप्रकारसे विशिष्ट गुण पर्यायोंके द्वारा अत्यंत अधिक

१—तियकालविसयरूविं चिंतितं वट्टमाणजीवेण । उजुमदिणाण जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी ॥ ४४० ॥
२—परमणसिट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय । पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ॥ ४४७ ॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड।

सूक्ष्मताके साथ जान सकता है । अतएव विपुलमतिकी विशुद्धि—निर्मलता ऋजुमतिसे अधिक है । इसी प्रकार ऋजुमतिके विषयमें यह नियम नहीं, है कि वह उत्पन्न होकर नहीं ही छूटे, किंतु विपुलमतिके विषयमें यह नियम है । जिस संयमी साधुको विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसको उसी भवसे केवलज्ञान प्रकट होकर निर्वाण-पद भी प्राप्त हो जाता है । अतएव विपुलमति अप्रतिपाती है ।

भाष्यम्—अत्राह-अथावधि मनःपर्यायज्ञानयोः कः प्रतिविशेषः? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—मनःपर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता किस किस कारणसे है, सो तो समझमें आया; परन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें विशेषता क्या क्या है, और किस किस अपेक्षासे है? इसी बातका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिकृतः क्षेत्रकृतः स्वामिकृतो विषयकृतश्चानयोर्विशेषो भवत्यवधिमनःपर्यायज्ञानयोः । तद्यथा—अवधिज्ञानान्मनः पर्यायज्ञानं विशुद्धतरम् । यावन्ति हि रूपाणि[1] द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि मनोगतानि[2] जानीते । किं चान्यत्—क्षेत्रकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः । अवधिज्ञानमङ्गुलस्यासंख्येयभागादिषूत्पन्नं भवत्यासर्वलोकात् । मनः पर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति नान्यक्षेत्र इति । किं चान्यत्-स्वामिकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः । अवधिज्ञानं संयतस्य असंयतस्य वा[3] सर्वगतिषु भवति । मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्यैव भवति नान्यस्य । किं चान्यत्-विषयकृतश्चानयोः प्रतिविशेषः । रूपिद्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धो भवति । तदनन्तभागे मनःपर्यायस्येति ।

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषय इन चार कारणोंसे विशेषता है । जिसके द्वारा अधिकतर पर्यायोंका परिज्ञान हो सके, ऐसी निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं । क्षेत्र नाम आकाशका है । जिन जीवोंको वह ज्ञान हो, उनको उस विवक्षित ज्ञानका स्वामी समझना चाहिये । ज्ञानके द्वारा जो पदार्थ जाना जाय, उसको ज्ञेय अथवा विषय कहते है । इन चारों ही कारणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमे अन्तर है । वह किस प्रकार है सो बताते हैं—

अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानकी विशुद्धि अधिक होती है । जितने रूपी द्रव्योंको[4] अवधिज्ञानी जान सकता है, उनको मनःपर्यायज्ञानी अधिक स्पष्टतासे और मनोगत होनेपर भी जान लिया करता है । इसके सिवाय दोनोंमें क्षेत्रकृत विशेषता इस प्रकारसे है, कि अवधिज्ञानका क्षेत्र अङ्गुलके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त है । अर्थात् सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें जो शरीरकी जघन्य अव-

---

१ "रूपीणि" इति पाठान्तरं साधु प्रतिभाति । २—"मनोरहस्यगतानीव" इत्यपि पाठः । ३—"वा" इतिपाठोऽन्यत्र नास्ति । ४—गुणसंघातमक रूपरसगंधस्पर्शयुक्त द्रव्य ।

गाहना होती, इसका जितना प्रमाण होता है, उतना ही अवधिज्ञानके जघन्य क्षेत्रका प्रमाण समझना चाहिये। इतने क्षेत्रमें जितने भी जघन्य द्रव्य होंगे, उन सबको वह जघन्य अवधिज्ञानवाला जान सकता है। इसके ऊपर क्रमसे बढ़ता हुआ अवधिका क्षेत्र सम्पूर्ण लोकपर्यन्त हुआ करता है। और प्रत्येक अवधिज्ञान अपने अपने योग्य क्षेत्रमें स्थित यथायोग्य द्रव्योंको जान सकता है। परन्तु मनःपर्यायज्ञानके विषयमें ऐसा नहीं है। उसका क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण ही है। वह उतने क्षेत्रके भीतर ही संज्ञी जीवकी होनेवाली मनःपर्यायोंको जान सकता है, बाहरकी नहीं। इसके सिवाय स्वामीकी अपेक्षासे भी दोनोंमें अन्तर है। वह इस प्रकार है कि—अवधिज्ञान तो संयमी साधु और असंयमी जीव तथा संयतासंयत श्रावक इन सभीके हो सकता है, तथा चारों ही गतिवाले जीवोंके हो सकता है। परन्तु मनःपर्यायज्ञान संयमी मनुष्यके ही हो सकता है, अन्यके नहीं हो सकता। इसी तरह विषयकी अपेक्षासे भी अवधि और मनःपर्यायमें अन्तर है। वह इस प्रकारसे कि अवधिज्ञान रूपी द्रव्योंको और उसकी असम्पूर्ण पर्यायोंको जानता है। परन्तु अवधिके विषयका अनंतवां भाग मनःपर्यायका विषय है। अतएव अवधिकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानका विषय अतिशय सूक्ष्म है।

भावार्थ—यद्यपि संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षासे भी इन दोनोंमें अन्तर है, परन्तु इनका अन्तर्भाव इन कारणोंमें ही हो जाता है, अतएव यहाँपर चार कारणोंकी अपेक्षासे ही विशेषताका उल्लेख किया है। इसी प्रकार यद्यपि क्षेत्रका प्रमाण अवधिकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानका थोड़ा है, परन्तु फिर भी उत्कृष्ट मनःपर्यायज्ञानको ही समझना चाहिये। क्योंकि उसका विषय बहुतर और सूक्ष्मतर होनेसे प्रकृष्ट तथा स्वामी भी संयत मनुष्य ही होनेसे विशिष्ट हुआ करता है। जैसे कि अनुमानसे—धूमको देखकर होनेवाले अग्नि-ज्ञानकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होनेवाले अग्निज्ञानमें अधिक स्पष्टता रहा करती है। अथवा जैसे कि एक व्यक्ति तो अपने पठित ग्रंथका ही और एक ही प्रकारसे अर्थ कर सकता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति पठितापठित ग्रन्थोंका और अनेक प्रकारसे अर्थ कर सकता है, इनमेंसे जैसे दूसरे व्यक्तिका ज्ञान उत्कृष्ट समझा जाता है, उसी प्रकार अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्यायज्ञानको भी उत्कृष्ट समझना चाहिये। इसके सिवाय जिस तरह अवधिज्ञान चारों गतिके जीवोंके उत्पन्न हो सकता है, वैसे मनःपर्याय नहीं होता। वह संयमी मनु-

---

१—उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे उत्पन्न व्यवहार सूच्यङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण भुजा कोटी और वेधमें परस्पर गुणा करनेसे जघन्य अवगाहनाका प्रमाण निकलता है। यथा—" अवरोगाहणमाणं उस्सेहंगुलअसखभागस्स। सूइस्स य घणपदर होदि हु तक्खेत्तसमकरणे॥३७५॥ गो० जीवकाण्ड। २—णोकम्मुरालसंच मज्झिमजोगज्जियं सविस्ससचयं। लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा॥३७६॥ गो०जी०। अर्थात् विस्रसोपचयसहित और मध्यम योगके द्वारा संचित डेढ़ गुणी हानिमात्र समयप्रवद्धरूप औदारिक नोकर्मके समूहमे लोकप्रमाणका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, वही अवधिज्ञानके जघन्य द्रव्यका प्रमाण है।

ण्यके ही होता है, और उसमें भी ऋद्धिप्राप्तको ही होता है और ऋद्धिप्राप्तोंमें भी सबको नहीं किन्तु किसी किसीके ही होता है।

भाष्यम्—अत्राह,–उक्तं मनः पर्यायज्ञानम्। अथ केवलज्ञानं किमिति। अत्रोच्यते।— केवलज्ञानं दशमेऽध्याये वक्ष्यते–" मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलमिति।" अत्राह-एषां मतिज्ञानादीनां कः कस्य विषयनिबन्धः? इति। अत्रोच्यते।—

अर्थ—प्रश्न–आपने मनःपर्यायज्ञानका तो लक्षण और भेद विधान आदिके द्वारा निरूपण किया, परन्तु अब इसके बाद केवलज्ञानका निरूपण क्रमानुसार प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है? **उत्तर**–केवलज्ञानका स्वरूप आगे चलकर इसी ग्रंथके दशवें अध्याय के प्रारम्भ में–पहले ही सूत्रमें इस प्रकार बतावेंगे कि " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।" वहीं पर उसका विशेष खुलासा समझना चाहिये, यहाँपर भी उसका वर्णन करके पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है।[1]

प्रश्न—यहाँपर ज्ञानके प्रकरणमें ज्ञानके मतिज्ञान आदि पाँच भेद बताये है। परन्तु यह कहिये, कि उनमेसे किस किस ज्ञानकी किस किस विषयमें प्रवृत्ति हो सकती है? क्योंकि उसके विना ज्ञानके स्वरूपका यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता। अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते है, उसमें सबसे पहले क्रमानुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय बताते हैं—

सूत्र–मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्विषयनिबन्धो भवति सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। ताभ्यां हि सर्वाणि द्रव्याणि जानीते न तु सर्वैः पर्यायैः॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंका विषय सम्पूर्ण द्रव्योंमें है, परन्तु उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें नहीं है। इन ज्ञानोंके द्वारा जीव समस्त द्रव्योंको तो जान सकता है, परन्तु सम्पूर्ण पर्यायोंके द्वारा उनको नहीं जान सकता।

भावार्थ—ये दोनों हीं ज्ञान परापेक्ष हैं, यह बात पहले ही बता चुके है। उन अपेक्षित पर कारणोंमेंसे इन्द्रियोंका विषय और क्षेत्र नियत है। अतएव उनकेद्वारा सम्पूर्ण द्रव्य तथा उनकी समस्त पर्यायोंका ज्ञान नहीं हो सकता। तथा मनकी भी इतनी शक्ति नहीं है, कि वह धर्मादिक सभी द्रव्योंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी पर्यायोंको जान सके। अतएव श्रुतग्रन्थके अनुसार ये दोनों ही ज्ञान सम्पर्ण द्रव्योंको और उनकी कुछ पर्यायोंको हीं जान सकते हैं, उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकते।

क्रमानुसार अवधिज्ञानका विषय बतानेको सूत्र कहते है—

१—चार घाती कर्मोंमें से पहले मोहनीय कर्मका और फिर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनोंका सर्वथा क्षय हो जानेपर केवलज्ञान प्रकट होता है।

सूत्र—रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—रूपिष्वेव द्रव्येष्ववधिज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति असर्वपर्यायेषु । सुविशुद्धेनाप्यवधिज्ञानेन रूपीण्येव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तान्यपि न सर्वैः पर्यायैरिति ।

अर्थ—अवधिज्ञानका विषय रूपी द्रव्यही है । किन्तु वह भी सम्पूर्ण पर्यायों करके युक्त नहीं है । क्योंकि अवधिज्ञानी चाहे जैसे अतिविशुद्ध अवधिज्ञानको धारण करनेवाला क्यों न हो, परन्तु वह उसके द्वारा रूपी द्रव्योंको ही जान सकता है, अन्योंको नहीं । तथा रूपी द्रव्योंकी भी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकता ।

क्रमानुसार मनःपर्यायज्ञानका विषय बताते है—

सूत्र—तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥ २९ ॥

भाष्यम्—यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्तभागे मनःपर्यायस्य विषयनिबन्धो भवति । अवधिज्ञानविषयस्यानन्तभागं मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यापन्नानि विशुद्धतराणि चेति ।

अर्थ—जितने रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञान जान सकता है, उसके अनन्तवें भागको मनःपर्यायज्ञानी जान सकता है । अवधिज्ञानका जितना विषय है, उसका अनन्तवां भाग मनःपर्याय ज्ञानका विषय है । क्योंकि मनःपर्यायज्ञानी अन्तरङ्गमें स्थित अतएव अन्तःकरण-रूप मनके विचारोंमें प्राप्त—आये हुए रूपी द्रव्योंको तथा मनुष्य क्षेत्रवर्त्ती अवधिज्ञानकी अपेक्षा अतिशय विशुद्ध—सूक्ष्मतर और बहुतर पर्यायोंके द्वारा उन रूपी द्रव्योंको जान सकता है ।

भावार्थ—मनःपर्यायज्ञानका विषय अवधिके विषयसे अनन्तैकभागप्रमाण रूपी द्रव्य है । परन्तु वह भी असर्वपर्यायही है । अपने विषयकी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकता । फिर भी वह अधिकतर सूक्ष्म विषयको विशेषरूपसे जानता है, अतएव प्रशस्त है ।

क्रमानुसार केवलज्ञानका विषयनिबन्ध बतानेको सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च केवलज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति । तद्धि सर्वभावग्राहकं संभिन्न लोकालोकविषयम् । नातःपरं ज्ञानमस्ति । न च केवलज्ञानविषयात्परं किंचिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायमित्यर्थः ॥

अर्थ—केवलज्ञानका विषय निबन्ध संपूर्ण द्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायोंमें है । क्योंकि वह द्रव्य क्षेत्र काल भाव विशिष्ट तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सभी पदार्थोंको ग्रहण करता है, सम्पूर्ण लोक और अलोकको विषय किया करता है । इससे बड़ा और कोई भी ज्ञान नहीं है, और न ऐसा कोई ज्ञेय ही है, जो कि केवलज्ञानका विषय होनेसे बाकी बच रहे ।

इस ज्ञानको केवल परिपूर्ण समग्र असाधारण निरपेक्ष विशुद्ध सर्वभावज्ञापक लोकालोकविषय और अनंतपर्याय ऐसे नामोंसे कहा करते हैं ।

भावार्थ—जीवपुद्गलादिक सम्पूर्ण मूलद्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण सूक्ष्म स्थूल पर्यायें इस ज्ञानका विषय हैं । न तो इस ज्ञानसे उत्कृष्ट कोई ज्ञान ही है, और न ऐसा कोई पदार्थ या पर्याय ही है, जो कि इस ज्ञानका विषय न हो । यह ज्ञान क्षायिक है, ज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय होनेसे प्रकट होता है । अतएव दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे कोई भी ज्ञान इसके साथ नहीं रह सकता और न रहता ही है, यह एकाकी ही पाया जाता या रहा करता है, इसी लिये इसको केवल कहते हैं । यह सकल द्रव्य भावोंका परिच्छेदक है, इसलिये इसको परिपूर्ण कहते हैं । जिस तरह यह एक जीव पदार्थको जानता है, उसी तरह सम्पूर्ण पर पदार्थोंको भी जानता है, इसलिये इसको समग्र कहते हैं ।-किसी भी मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानसे इसकी तुलना नहीं हो सकती, इसलिये इसको असाधारण कहते हैं । इसको इन्द्रिय मन आलोक आदि किसी भी अवलम्बन या सहायककी अपेक्षा नहीं है, इसलिये इसको निरपेक्ष कहते हैं । ज्ञानावरण दर्शनावरण आदिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली मलदोष रूप अशुद्धियोंसे यह सर्वथा रहित है, इसलिये इसको विशुद्ध कहते हैं । यह समस्त पदार्थोंका ज्ञापक है, इसीसे सम्पूर्ण तत्त्वोंका बोध होता है, इसलिये इसको सर्वभावज्ञापक कहते हैं । लोक और अलोकका कोई भी अंश इससे अपरिच्छिन्न नहीं है, इसलिये इसको लोकालोक विषय कहते हैं । अगुरुलघुगुणके निमित्तसे इसकी अनन्तपर्याय परिणमन होते हैं, इसलिये इसको अनन्तपर्याय कहते है । अथवा इसकी ज्ञेयरूप पर्याय अनन्त हैं, यद्वा इसके अविभागप्रतिच्छेद अनन्त है, इसलिये भी इसको अनंतपर्याय कहते हैं । मतलब यह कि अनन्त शक्ति और योग्यताके धारण करनेवाला यह ज्ञान सर्वथा अप्रातिम है ।

भाष्यम्—अत्राह-एषां मतिज्ञानादीनां युगपदेकस्मिन्जीवे कति भवन्ति? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने ज्ञानोंका विषय निबन्ध जो बताया सो समझमें आया । परन्तु अब यह बताइये, कि इन मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमें से एक समयमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते है? इसीका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—एषां मत्यादीनां ज्ञानानामादित एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन् जीवे आ चतुर्भ्य[1], कस्मिंश्चिज्जीवे मत्यादीनामेकं भवति, कस्मिंश्चिज्जीवे द्वे भवतः, कस्मिंश्चित् त्रीणि भवन्ति, कस्मिंश्चिच्चत्वारि भवन्ति । श्रुतज्ञानस्य तु मतिज्ञानेन नियतः सहभावस्तत्पूर्वकत्वात् । यस्य तु मतिज्ञानं तस्य श्रुतज्ञानं स्याद्वा न वेति । अत्राह-अथ केवलज्ञानस्य पूर्वैर्मतिज्ञानादिभिः किं सहभावो भवति नेत्युच्यते । केचिदाचार्या व्याचक्षते, नाभावः किं तु तद-

१—अतोऽग्रे " तद्यथा " इत्यपि पाठान्तरम् । २—" नेति ? अत्रोच्यते " इति पाठान्तरम्

भिभूतत्वादकिंचित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत् । यथा वा व्यभ्रे नभसि आदित्य उदिते भूरितेजस्त्वादादित्येनाभिभूतान्यतेजांसि ज्वलनमणिचन्द्रनक्षत्रप्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यकिंचित्कराणि भवन्ति तद्वदिति । केचिदप्याहुः ।–अपायसद्द्रव्यतया मतिज्ञानं तत्पूर्वकं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमनःपर्यायज्ञाने च रूपिद्रव्यविषये तस्मान्नैतानि केवलिनः सन्तीति ॥ किं चान्यत् ।–मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत् । संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति । किं चान्यत् ।–क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि क्षयादेव केवलम् । तस्मान्न केवलिनः शेषाणि ज्ञानानि सन्तीति ॥

अर्थ—ऊपर मति आदिक जो ज्ञानके भेद गिनाये है, उनमेंसे एक जीवके एक समयमें प्रारम्भके एकसे लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं। किसी जीवके तो मतिज्ञानादिकमेंसे एक ही ज्ञान हो सकता है, किसी जीवके दो हो सकते है, किसीके तीन हो सकते है, और किसीके चार हो सकते हैं। इनमेंसे श्रुतज्ञानका तो मतिज्ञानके साथ सहभाव नियत है। क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है। परन्तु जिस जीवके मतिज्ञान है, उसके श्रुतज्ञान हो भी और न भी हो। शंका–केवलज्ञानका अपनेसे पूर्वके मति आदिक ज्ञानोंके साथ सहभाव है, या नहीं? उत्तर–इस विषयमें कुछ आचार्योंका तो ऐसा कहना है, कि केवलज्ञान हो जानेपर भी इन मतिज्ञानादिकका अभाव नहीं हो जाता। किंतु ये ज्ञान केवलज्ञानसे अभिभूत हो जाते हैं, अतएव वे उस अवस्थामें अपना कुछ भी कार्य करनेके लिये समर्थ नहीं रहते। जैसे कि केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी इन्द्रियाँ तदवस्थ रहती है, परन्तु वे अपना कुछ भी कार्य नहीं कर सकतीं, इसी प्रकार मतिज्ञानादिक के विषयमें समझना चाहिये। अथवा जैसे कि मेघपटलसे रहित आकाशमें सूर्यका उदय होते ही उसके सातिशय महान् तेजसे अन्य तेजो द्रव्य–अग्नि रत्न चन्द्रमा नक्षत्र प्रभृति प्रकाशमान पदार्थ आच्छादित हो जाते है, और अपना प्रकाशकार्य करनेमें अकिंचित्कर हो जाते हैं, वैसे ही केवलज्ञानके उदित होनेपर मतिज्ञानादिके विषयमें समझना चाहिये।

किसी किसी आचार्यका ऐसा भी कहना है, कि ये ज्ञान केवलीके नहीं हुआ करते। क्योंकि श्रोत्रादिक इन्द्रियोंसे उपलब्ध तथा ईहित पदार्थके निश्चयको अपाय कहते हैं, और मतिज्ञान अपायस्वरूप है तथा वह सद्द्रव्यतया हुआ करता है वह विद्यमान अथवा विद्यमानवत् पदार्थको ही ग्रहण किया करता है। किंतु केवलज्ञानमें ये दोनों ही बातें सर्वथा नहीं पायी जातीं। अतएव वह केवलज्ञानके साथ नहीं रहा करता। और इसीलिये श्रुतज्ञान भी उसके साथ नहीं रह सकता, क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञान केवल रूपी द्रव्यको ही विषय करनेवाले हैं अतएव वे भी उसके साथ नहीं रह सकते। इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि–मतिज्ञानादिक

१—भवन्तीति पाठान्तरम्।

चार प्रकारके जो क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, जीवके उनका उपयोग क्रमसे हुआ करता है, युगपत् नहीं हुआ करता । अर्थात् ये चारों ही ज्ञान क्रमवर्त्ती हैं न कि सहवर्ती । परन्तु केवलज्ञान ऐसा नहीं है । जिन केवली भगवान् को परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण दर्शन प्राप्त हो गया है, उनका वह केवलज्ञान और केवलदर्शन समस्त पदार्थोंको युगपत विषय किया करता है, क्योंकि वह असहाय है, और इसीलिये इन दोनोंका उपयोग प्रतिसमय युगपत्[1] ही हुआ करता है । तथा एक बात यह भी है, कि पांच प्रकारके जो ज्ञान हैं उनमेंसे आदिके चार ज्ञान क्षायो-पशमिक-ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले हैं, परन्तु केवलज्ञान उसके सर्वथा क्षयसे ही प्रकट होता है । अतएव केवली भगवान्के केवलज्ञान ही रहा करता है, बाकीके चार ज्ञान उनके नहीं हुआ करते ।

भावार्थ---क्षायिक और क्षायोपशमिकमें परस्पर विरोध है, अतएव क्षायिक-केवलज्ञा-नके साथ चारों क्षायोपशमिक ज्ञानोंका सहभाव नहीं रह सकता, इसलिये केवलीके केवलज्ञानके सिवाय चारोंका अभाव ही समझना चाहिये ।

यहाँतक प्रमाणरूप पाँचो ज्ञानोंका वर्णन किया, अब प्रमाणाभास रूप ज्ञानोंका निरूपण करनेकी इच्छासे सूत्र कहते हैं---

सूत्र---मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्---मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमिति विपर्ययश्च भवत्यज्ञानं चेत्यर्थः । ज्ञान-विपर्ययोऽज्ञानमिति । अत्राह । तदेव ज्ञानं तदेवाज्ञानमिति । ननु च्छायातपवच्छीतोष्णवच्च तदत्यन्तविरुद्धमिति । अत्रोच्यते ।-मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतग्राहकत्वमेतेषाम् । तस्मादज्ञा-नानि भवन्ति । तद्यथा ।-मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति । अवधिर्विपरीतो विभङ्ग इत्युच्यते ॥

अर्थ---मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये विपर्यय भी हुआ करते है, अर्थात् ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप भी कहे जाते हैं । क्योंकि ज्ञानसे जो विपरीत है, उन्हींको अज्ञान कहते हैं । शंका-उसीको ज्ञान कहना और उसीको अज्ञान कहना यह कैसे बन सकता है ?

१---केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयमें दो सिद्धान्त हैं-दिगम्बर आम्नायमें दोनो उपयोग एक समयमे ही हुआ करते हैं, ऐसा माना है । क्योकि दोनों उपयोगोंको आवृत्त करनेवाले दो कर्म हैं-ज्ञानावरण और दर्शनावरण । इन दोनोंका केवलीके सर्वथा क्षय हो जानेसे फिर कोई भी क्रमवर्तिताका कारण शेष नहीं रहता । इसी लिये ऐसा लिखा भी है कि " दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा । जुगवं जम्हा केवलिणाह जुगवं तु ते दोवि ॥ ४४ ॥" -द्रव्यसग्रह-श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती । परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमे ऐसा नहीं माना है । श्रीसिद्धसेनगणिकृत टीकामें लिखा है कि "नचातीवाभिनिवेशोऽस्माकं युगपदुपयोगो मा भूदिति । वचनं न पश्यामस्तादृशम्, क्रमोपयोगार्थ-प्रतिपादने तु भूरिवचनमुपलभामहे ।" अर्थात् इस विषयमें हमारा ऐसा कोई अत्यधिक आग्रह नहीं है, कि केवल-ज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं ही हो । परन्तु इस विषयके विधायक वचन नहीं दीखते । उपयोगकी क्रमवर्तिता रूप अर्थके प्रतिपादक वचन बहुतसे देखनेको मिलते हैं । यथा-" नाणम्मि दंसणम्मिय एत्तो एगयरम्मि उवउत्ता । " (प्रज्ञापनायाम्) । तथा " सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो णात्थि उवओगा ।" (वि. ३०९६)

क्योंकि जिस प्रकार छाया और आतप—धूपमें परस्पर विरोध है, अथवा शीत उष्ण पर्यायोंमें अत्यंत विरुद्धता है। उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भी परस्परमें सर्वथा विरुद्ध हैं, फिर भी मति श्रुत और अवधिको ज्ञान भी कहना और अज्ञान भी कहना यह कैसे बन सकता है? उत्तर—जिन जीवोंने मिथ्यादर्शनको ग्रहण—धारण कर रक्खा है, उन जीवोंके ये तीनों ही ज्ञान पदार्थको याथात्म्यरूपसे ग्रहण नहीं करते—विपरीततया ग्रहण करते हैं, अतएव उनको विपरीत—अज्ञान कहते हैं। अर्थात् उनको क्रमसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान न कह कर मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभंग कहा करते हैं। विपरीत अवधि—मिथ्यादृष्टि जीवके अवधिज्ञानको ही विभंग कहा करते हैं। अवध्यज्ञान और विभङ्ग पर्याय वाचक शब्द हैं।

भावार्थ—व्यवहारमें ज्ञानके निषेधको अज्ञान कहा करते हैं, और निषेध दो प्रकारका माना है—पर्युदास और प्रसह्य। जो सदृश अर्थको ग्रहण करनेवाला है उसको पर्युदास कहते हैं, और जो सर्वथा निषेध—अभाव अर्थको प्रकट करता है उसको प्रसह्य कहा करते हैं। सो यहाँपर ज्ञानके निषेधका अर्थ पर्युदासरूप करना चाहिये न कि प्रसह्यरूप। अर्थात् अज्ञानका अर्थ ज्ञानोपयोगका अभाव नहीं है, किंतु मिथ्यादर्शन सहचरित ज्ञान ऐसा है। मिथ्यादर्शनका सहचारी ज्ञान तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टिके ये तीन ही ज्ञानोपयोग हो सकते हैं; क्योंकि मनःपर्याय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही हुआ करते हैं। अतएव इन तीनोंको विपरीतज्ञान अथवा अज्ञान कहा है।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता सम्यग्दर्शनपरिगृहीतं मत्यादि ज्ञानं भवत्यन्यथाऽज्ञानमेवेति। मिथ्यादृष्टयोऽपि च भव्याश्चाभव्याश्चेन्द्रियनिमित्तानविपरीतान् स्पर्शादीनुपलभन्ते, उपदिशन्ति च स्पर्शं स्पर्श इति रसं रस इति, एवं शेषान्। तत्कथमेतदिति। अत्रोच्यते।— तेषां हि विपरीतमेतद्भवति।:—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा कि सम्यग्दर्शनके सहचारी मत्यादिकको तो ज्ञान कहते हैं, और उससे विपरीत—मिथ्यादर्श सहचारी मत्यादिकको अज्ञान कहते हैं। सो यह बात कैसे बन सकती है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी चाहे वे भव्य हों चाहे अभव्य इन्द्रियोंके निमित्तसे जिनका ग्रहण हुआ करता है, उन स्पर्शादिक विषयोंको अविपरीत ही ग्रहण किया करते हैं और उनका निरूपण भी वैसा ही किया करते हैं। वे भी स्पर्श को स्पर्श और रसको रस ही जानते तथा कहा भी करते हैं। इसी प्रकार शेष विषयोंमें भी समझना चाहिये। फिर क्या कारण है कि उनके ज्ञानको विपरीत ज्ञान अथवा अज्ञान कहा जाय? उत्तर—मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान विपरीत ही हुआ करता है। क्योंकि:—

१—" पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसह्यस्तु निषेधकृत्।" २—मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं॥ १८॥—गो० जीवकांड।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक भव्य दूसरे अभव्य । जो सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं, उनको भव्य कहा करते हैं, और इसके विपरीत हैं—जिनमें सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है, उनको अभव्य कहा करते है । मिथ्यादृष्टिके दूसरी तरहसे तीन भेद भी हुआ करते है—एक अभिगृहीतमिथ्यादर्शन दूसरे अनभिगृहीत-मिथ्यादर्शन तीसरे संदिग्ध । जो जिनभगवान्के प्रवचनसे सर्वथा विपरीत निरूपण करनेवाले हैं, उन बौद्धादिकोंको अभिगृहीतमिथ्यादर्शन कहते है, और जो जिनभगवानके वचनोंपर श्रद्धान नहीं करते, उनको अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं, तथा उसपर संदेह करनेवालोंको संदिग्ध कहा करते हैं । ये तीनों ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि भव्य भी हुआ करते है, और अभव्य भी हुआ करते है। परन्तु सभी मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टिके ही समान घटपटादिक और रूप रसादिकका ग्रहण और निरूपण किया करते है । फिर क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टिके ग्रहणको तो समीचीन कहा जाय और मिथ्यादृष्टिके ग्रहणको विपरीत। क्योंकि बाधक प्रत्ययके होनेसे ही किसी भी ज्ञानको मिथ्या कह सकते हैं, अन्यथा नहीं । जैसे कि किसीको सीपमें चांदीका ज्ञान हुआ, यह ज्ञान इसलिये मिथ्या कहा जाता है, कि उसका बाधक ज्ञान उपस्थित है । सो ऐसा यहाँपर तो नहीं पाया जाता, फिर समीचीन और मिथ्याके भेदका क्या कारण है ? इसका उत्तर यही है, कि मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान विपरीत ही हुआ करते हैं । क्योंकि वे ज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं किया करते । वे यथार्थ परिच्छेदन नहीं करते यह बात कैसे मालूम हो । अतएव इस बातको स्पष्टतया बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—यथोन्मत्तः कर्मोदयादुपहतेन्द्रियमतिर्विपरीतग्राही भवति। सोऽश्वं गौरित्यध्यवस्यति गां चाश्व इति लोष्टं सुवर्णमिति सुवर्णं लोष्ट इति लोष्टं च लोष्ट इति सुवर्णं सुवर्णमिति तस्यैवमविशेषेण लोष्टं सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति विपरीतमध्यवस्यतो नियतमज्ञानमेव भवति । तद्वन्मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञानं भवन्ति ॥

अर्थ—जैसे कि कोई उन्मत्त पुरुष जिसकी कि कर्मोदयसे इन्द्रियोंकी और मनकी शक्ति नष्ट हो गई है, पदार्थके स्वरूपको विपरीत ही ग्रहण किया करता है, वह घोड़ाको गौ समझता है, और गौको घोड़ा समझता है, मट्टीके ढेलेको सुवर्ण मानता है, और सुवर्णको ढेला मानता है, कभी ढेलेको यह ढेला है, ऐसा भी जानता है, और सुवर्णको यह सुवर्ण है, ऐसा भी समझता है, तथा जैसा समझता है, वैसा ही कहता भी है, फिर भी उसके ज्ञानको अज्ञान ही कहते हैं । क्योंकि उसका वह ज्ञान ढेलेको सुवर्ण और सुवर्णको ढेला समझनेवाले विपरीत ज्ञानसे किसी प्रकारकी विशेषता नहीं रखता । इसी प्रकार जिसकी मिथ्यादर्शन कर्मके निमित्तसे देखने और विचार करनेकी शक्ति तथा योग्यता नष्ट हो गई है, यद्वा विपरीत हो गई है, वह जीव जीवादिक पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको न

देख सकता, न विचार सकता और न असहायरूपसे ही जान सकता है, अतएव उसके मति-श्रुत और अवधि ये तीनों हा ज्ञान अज्ञान ही कहे जाते हैं।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव घट पटादिक पदार्थोको यद्यपि सम्यग्दृष्टिके समान ही ग्रहण करता, तथा उनका निरूपण भी किया करता है, परन्तु मिथ्यात्वके निमित्तसे उसके कारण-विपर्यास भेदाभेदविपर्यास स्वरूपविपर्यास भी रहा करते हैं, अतएव उसके ज्ञानको प्रमाणभूत अथवा समीचीन नहीं कह सकते। जैसे कि कोई पुरुष वस्त्रको तो वस्त्र ही माने, परन्तु उसको कुम्भारका वनाया हुआ और पत्थरका बना हुआ माने, तो उसके ज्ञानको अज्ञान ही समझा जाता है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि मनुष्यको मनुष्य ही कहता है परन्तु उसके कारणके विषयमें ईश्वर आदिकी भी कल्पना किया करता है, और वैसा ही फिर श्रद्धान भी करता है। इसी तरह भेदाभेद तथा स्वरूपके विषयमें भी समझना चाहिये। अत-एव उसके ज्ञानको प्रमाणरूप न मानकर अज्ञान ही मानना चाहिये।

भाष्यम्—उक्तं ज्ञानम्। चारित्रं नवमेऽध्याये वक्ष्यामः। प्रमाणे चोक्ते। नयान् वक्ष्यामः। तद्यथा।—

अर्थ—पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानका निरूपण और प्रकरण समाप्त हुआ। अब इसके बाद क्रमानुसार चारित्रका वर्णन प्राप्त है, परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर इसी ग्रन्थके नौवें अध्या-यमें करेंगे, अतएव यहाँपर उसके करनेकी आवश्यकता नहीं है। ज्ञानके प्रकरणमें प्रमाण और नय इन दोका उल्लेख किया था, उसमेंसे प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्षरूप दोनों भेदोंका भी वर्णन ऊपर हो चुका। अतएव उसके अनंतर क्रमानुसार नयोंका वर्णन होना चाहिये। सो उन्हींको वतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—नैगमः संग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्रः शब्दः इत्येते पञ्चनया भवन्ति। तंत्र[1]।—

अर्थ—नयोंके पाँच भेद है।—नैगम सङ्ग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द।

भावार्थ—यह बात पहले लिखी जा चुकी है, कि प्रमाणके एक देशको नय कहते है। अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक है। परन्तु उन अनन्त धर्मोंमेंसे—अस्तित्व या नास्तित्व, नित्यत्व या अनित्यत्व, एकत्व या अनेकत्व आदि किसी भी एक धर्मके द्वारा उस वस्तुके अवधारण करनेवाले ज्ञान विशेष—विकलादेशको नय कहते हैं। इस नयके अनेक अपेक्षाओंसे अनेक भेद है। परन्तु सामान्यसे यहाँपर उसके उपर्युक्त पाँच भेद समझने चाहिये।

जो वस्तुके सामान्य विशेष अथवा भेदाभेदको ग्रहण करनेवाला है, उसको अथवा संकल्पमात्र वस्तुके ग्रहण करनेको नैगम नय कहते हैं। जैसे कि अरहंतको सिद्ध कहना

१—तत्रेति पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति।

अथवा मट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहना । विवक्षित पदार्थमें भेद न करके किसी भी सामान्य गुणधर्मकी अपेक्षासे अभेदरूपसे किसी भी पदार्थके ग्रहण करनेको **संग्रह** नय कहते हैं । जैसे जीवत्व सामान्य धर्मकी अपेक्षासे ये जीव है ऐसा समझना या कहना । जो सङ्ग्रह नयके द्वारा गृहीत विषयमें भेदको ग्रहण करता है, उसको **व्यवहार** नय कहते हैं । जैसे जीव द्रव्यमें संसारी मुक्तका भेद करके अथवा फिर संसारीमेंसे भी चार गतिकी अपेक्षा किसी एक भेदका ग्रहण करना । केवल वर्तमान पर्यायके ग्रहण करनेको **ऋजूसूत्र** कहते हैं । इसका वास्तवमें उदाहरण नहीं बन सकता । क्योंकि शुद्ध वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायका ग्रहण या निरूपण नहीं किया जा सकता । स्थूलदृष्टिसे इसका उदाहरण भी हो सकता है । जैसे कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न जीवको आमरणान्त मनुष्य कहना । कर्त्ता कर्म आदि कारकोंके व्यवहारको सिद्ध करनेवाले अथवा लिंग संख्या कारक उपग्रह काल आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवालेको **शब्द** नय कहते है । जैसे कि किसी वस्तुको भिन्न भिन्न लिंगवाले शब्दोंके द्वारा निरूपण करना । इस प्रकार नयोंके सामान्यसे पाँच भेद यहाँ बताये हैं । परन्तु इसमें और भी विशेषता है, जैसे कि इनमेंसे——

सूत्र——आद्यशब्दौ[1] द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह । स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति । शब्दस्त्रिभेदः साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति । अत्राह-किमेषां लक्षणमिति? अत्रोच्यते ।-निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रग्राही नैगमः । अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः । लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः । सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः । यथार्थाभिधानं शब्दः । नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः । सत्स्वर्थेष्वसंक्रमः समभिरूढः । व्यंजनार्थयोरेवम्भूत इति ।

अर्थ——यहाँपर सूत्रमें आद्य शब्दका जो प्रयोग किया है, उससे नैगम नयका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि पूर्वोक्त सूत्र (नैगमसंग्रहव्यवहारेत्यादि) में जो क्रम बताया है, वह प्रमाण है । उसके अनुसार नयोंका आद्य-पहला भेद नैगम ही होता है । अतएव नैगम नयके दो भेद है-एक देशपरिक्षेपी दसरा सर्वपरिक्षेपी । शब्द नयके तीन भेद हैं-साम्प्रत समभिरूढ और एवम्भूत ।

शंका——आपने पहले सूत्रमें और इस सूत्रमें जो नयोंके भेद गिनाये हैं, उनका लक्षण क्या है? **उत्तर**-निगम नाम जनपद-देशका है । उसमें जो शब्द जिस अर्थके लिये नियत है, वहाँपर उस अर्थके और शब्दके सम्बन्धको जाननेका नाम नैगम नय है । अर्थात् इस शब्दका ये अर्थ है, और इस अर्थके लिये इस शब्दका प्रयोग करना चाहिये, इस तरहके वाच्य वाचक सम्बन्धके ज्ञानको नैगम कहते है । वह दो प्रकारका है । क्योंकि शब्दोंका प्रयोग दो प्रकारसे हुआ करना है-एक तो वस्तुके सामान्य अंशकी

1—" तत्राद्यशब्दौ " इति क्वचित्पाठ. । स तु भाष्यकाराणां तत्रेतिशब्देन मिश्रणाज्जात इत्यनुमीयते ।

अपेक्षासे दूसरा विशेष अंशकी अपेक्षासे । जो सामान्य अंशका अवलंबन लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, उसको **समग्रग्राही नैगमनय** कहते हैं । जैसे कि चांदीका या सोनेका अथवा मट्टीका या पीतलका यद्वा सफेद पीला लाल काला आदि भेद न करके केवल घटमात्रको ग्रहण करना । जो विशेष अंशका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको **देशग्राही नैगम** कहते हैं । जैसे कि घटको मट्टीका या पीतलका इत्यादि विशेषरूपसे ग्रहण करना । पदार्थोंके सर्व देश और एक देश दोनोंके ग्रहण करनेको **संग्रहनय** कहते हैं । अर्थात् संग्रहनय "सम्पूर्ण पदार्थ सन्मात्र हैं" इस तरहसे सामान्यतया ही वस्तुको ग्रहण करनेवाला है । जिस प्रकार लौकिक पुरुष प्रायः करके घटादिक विशेष अंशको लेकर ही व्यवहार किया करते है। उसी प्रकार जो नय विशेष अंशको ही ग्रहण किया करता है, उसको व्यवहार कहते है। यह नय प्रायः करके उपचारमें[1] ही प्रवृत्त हुआ करता है। इसके ज्ञेय विषय अनेक हैं, इसी लिये इसको विस्तृतार्थ भी कहते हैं । जैसे यह कहना कि घड़ा चूता है, रास्ता चलता है, इत्यादि । वस्तुतः घड़ेमें भरा हुआ पानी चूता है, और रास्तेके ऊपर मनुष्यादि चलते हैं, फिर भी लौकिक जन घड़ेका चूना और रास्तेका चलना ही कहा करते हैं । इसी तरहका प्रायः उपचरित विषय ही व्यवहार नयका विषय समझना चाहिये । जो वर्तमान कालवर्ती घटादिक पर्यायरूप पदार्थोंको ग्रहण करता है, उसको **ऋजूसूत्र नय** कहते है । व्यवहार नय त्रिकालवर्ती विशेष अंशोंको ग्रहण करता है, परन्तु उनमेंसे भूत और भविष्यत्को छोड़कर केवल वर्तमानकालमें विद्यमान विशेष अंशोंको ही यह नय—ऋजुसूत्र ग्रहण करता है । व्यवहारकी अपेक्षा ऋजुसूत्रकी यही विशेषता है । जैसा पदार्थका स्वरूप है, वैसा ही उसका उच्चारण करना—कर्त्ता कर्म आदि कारकोंकी अपेक्षासे अर्थके अनुरूप ग्रहण या निरूपण करनेको **शब्दनय** कहते हैं । इस नयके तीन भेद है—साम्प्रत समभिरूढ और एवम्भूत । निक्षेपोंकी अपेक्षासे पदार्थ चार प्रकारका है—नामरूप स्थापनारूप द्रव्यरूप और भावरूप । इनमेंसे किसी भी प्रकारके पदार्थका ऐसे शब्दके द्वारा जिसके कि उस पदार्थके साथ वाच्यवाचक सम्बन्धका पहलेसे ही ज्ञान है, ज्ञान होनेको **साम्प्रत नय** कहते हैं । घटादिक वर्तमान पर्यायापन्न पदार्थोंके विषयमें शब्दका संक्रम न करके ग्रहण करनेको **समभिरूढ नय** कहते हैं । व्यञ्जन—वाचकशब्द और अर्थ—अभिधेयरूप पदार्थ इन दोनोंका यथार्थ संघटन करनेवाले अध्यवसायको **एवंभूत नय** कहते है[2] ।

१—अन्यत्र सिद्धस्यार्थस्यान्यत्रारोप उपचार । २—इन नयोके विषयमे श्रीसिद्धसेनगणि कृत टीकामें विशेष लिखा है—३—इन नयोंके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायमें संज्ञा और लक्षण भिन्न प्रकारसे ही माना है। उन्होने मूलसूत्रमें ही नयोंके सात भेद गिनाये हैं, यथा—"नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतानयाः ।" अर्थात् नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। इनमेंसे आदिके तीन द्रव्यार्थिक और अंतकी चार पर्यायार्थिक हैं । अथवा आदिके ४ अर्थनय और अतके ३ शब्दनय हैं । सातोका विषय पूर्व पूर्वका महान् और उत्तरोत्तरका अल्प अल्प है । इनका लक्षण और संघटन आदिक **तत्त्वार्थराजवार्त्तिक** तथा **तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक** आदिमें देखना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह–उद्दिष्टा भवता नैगमादयो नयाः । तन्नया[1] इति कः पदार्थः ? इति । नयाः प्रापकाः कारकाः साधकाः निर्वर्तका निर्भासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन्पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्तिकारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः ॥

अर्थ—शंका–ऊपर आपने जिन नैगम आदि नयोंका उल्लेख किया है, वे नय क्या पदार्थ हैं ? उत्तर–नय प्रापक कारक साधक निर्वर्तक निर्भासक उपलम्भक और व्यञ्जक ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। जो जीवादिक पदार्थोंको सामान्यरूपसे प्रकाशित करते हैं, उनको नय कहते हैं। जो उन पदार्थोंको आत्मामें प्राप्त कराते–पहुँचाते हैं, उनको प्रापक कहते है। जो आत्मामें अपूर्व पदार्थके ज्ञानको उत्पन्न करावें, उनको कारक कहते हैं। परस्परकी व्यावृत्तिरूप–जिससे एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें मिश्रण न हो जाय, इस तरहके विज्ञप्तिरूप तथा सिद्धिके उपायभूत वचनोंको जो सिद्ध करें, उनको साधक कहते हैं। अपने निश्चित अभिप्रायके द्वारा जो विशेष अध्यवसायरूपसे उत्पन्न होते है, उनको निर्वर्तक कहते है। जो निरंतर वस्तुके अंशका भास–ज्ञापन करावें उनको निर्भासक कहते हैं। विशिष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षासे अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ विशेषोंमें जो आत्मा या ज्ञानका अवगाहन करावें उनको उपलम्भक कहते हैं। जो जीवादिक पदार्थोंको अपने अभिप्रायानुसार यथार्थ स्वभावमें स्थापित करें उनको व्यञ्जक कहते हैं।

भावार्थ—इस प्रकारसे यहाँपर निरुक्तिकी अपेक्षासे नय आदिक शब्दोंका अर्थ यद्यपि भिन्न भिन्न बताया है। परन्तु फलितार्थमें ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अतएव जो नय हैं, वे ही प्रापक है, और वे ही कारक हैं, तथा वे ही साधक हैं। इत्यादि सभी शब्दोंके विषयमें समझ लेना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह–किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित्स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति। अत्रोच्यते।–नैते तन्त्रान्तरीया नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविताः। ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि। तद्यथा-घट इत्युक्ते योऽसौ चेष्टाभिर्निर्वृत्त ऊर्ध्वकुण्डलौष्ठायतवृत्तग्रीवोऽधस्तात्परिमण्डलो जलादीनामाहरणधारणसमर्थ उत्तरगुणनिर्वर्तना निर्वृत्तो द्रव्यविशेषस्तस्मिन्नेकस्मिन्विशेषवति तज्जातीयेषु वा सर्वेष्वविशेषात्परिज्ञानं नैगमनयः। एकस्मिन्वा बहुषु वा नामादिविशेषितेषु साम्प्रतातीतानागतेषु घटेषु सम्प्रत्ययः सङ्ग्रहः। तेष्वेवलौकिकपरीक्षक ग्राह्येषूपचारगम्येषु यथा स्थूलार्थेषु संप्रत्ययो व्यवहारः। तेष्वेव सत्सु साम्प्रतेषु सम्प्रत्ययः ऋजुसूत्रः। तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादीनामन्यतमग्राहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्ययः साम्प्रतः शब्दः। तेषामेव साम्प्रतानामध्यवसायासंक्रमो वितर्कध्यानवत् समभिरूढः। तेषामेव व्यंजनार्थयोरन्योन्यापेक्षार्थग्राहित्वमेवम्भूत इति ॥

शंका—आपने ये नैगम आदिक जो नय बताये हैं, उनको अन्यवादी–जैनप्रवचनसे भिन्न वैशेषिक आदि मतके अनुसार वस्तुस्वरूपका निरूपण करनेवाले भी मानते है, अथवा

१—तत्र नया इति पाठः टीकाकाराणामभिमतः।

ये—नय स्वतन्त्र ही हैं। अर्थात् ये नय अन्य सिद्धान्तका भी निरूपण करते है, अथवा यद्वा तद्वा–दुरुक्त अनुक्त या युक्त अयुक्त कैसे भी पक्षको ग्रहण करके जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये चाहे जैसे भी बुद्धिभेदके द्वारा दौड़नेवाले—प्रवृत्ति करनेवाले है? उत्तर—इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। न तो ये अन्य सिद्धान्तके प्ररूपक हैं और न चाहे जैसे बुद्धिभेदके द्वारा जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति करनेवाले है। किन्तु ज्ञेयरूप पदार्थको विषय करनेवाले ये ज्ञान विशेष है। अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तुको ही ग्रहण करनेवाले ज्ञान अनेक प्रकारके हैं, उन्हींको नय कहते हैं। अतएव ये नय जैनशास्त्रका ही निरूपण करनेवाले है। जैसे कि किसीने घट शब्दका उच्चारण किया। यहाँपर देखना चाहिये, कि लोक में घट शब्दसे क्या चीज ली जाती है। जो घटनक्रिया—कुंभकारकी चेष्टाके द्वारा निष्पन्न बना हुआ है, जिसके ऊपरके ओष्ठ कुण्डलाकार गोल है, और जिसकी ग्रीवा आयतवृत्त—लम्बगोल है, तथा जो नीचेके भागमें भी परिमण्डल—चारों तरफसे गोल है, एवं जो जल घी दूध आदि पदार्थोको लाने तथा अपने भीतर भरे हुए उन पदार्थोंको धारण करनेके कार्यको करनेमें समर्थ है, और जो अग्निपाकसे उत्पन्न होनेवाले रक्तता आदि उत्तर गुणोंकी परिसमाप्ति होजानेसे भी निष्पन्न हो चुका है, ऐसे द्रव्य विशेषको ही घट कहते हैं। इस तरहके किसी भी एक खास घटका अथवा उस जातिके—जिन जिन में यह अर्थ घटित हो, उन सभी घटोंका सामान्यरूपसे जो परिज्ञान होता है, उसको नैगम नय कहते है।

घटादिक पदार्थ निक्षेप भेदसे चार प्रकारके होते है।—जैसे कि नामघट स्थापनाघट द्रव्यघट और भावघट। इनके भी वर्तमान भूत और भविष्यत् की अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं। सो इनमेंसे किसी भी तरहके एक या अनेक—बहुतसे घटोंका सामान्यरूपसे बोध होता है, उसको संग्रहनय कहते हैं। क्योंकि यह नय विशेष अंशोको ग्रहण न कर सामान्य अंशोंको ही ग्रहण किया करता है। तथा इन्हीं एक दो या बहुत्व संख्यायुक्त नामादिस्वरूप और जिनका लोक प्रसिद्ध एवं परीक्षक—पर्यालोचना करनेवाले जलादिक द्रव्योंको लाने आदिकमें उपयोग किया करते हैं और जो उपचारगम्य हैं—लोकक्रियाके आधारभूत है, ऐसे यथायोग्य स्थूल पदार्थोंका जो ज्ञान होता है, उसको व्यवहार नय कहते हैं। क्योंकि प्रायः करके यह नय सामान्यको ग्रहण न करके विशेषको ही ग्रहण किया करता है, और इसी प्रकार सूक्ष्मको गौण करके स्थूल विषयमें ही यह प्रायः प्रवृत्त हुआ करता है। वर्तमान क्षणमें ही विद्यमान उन्हीं घटादिक पदार्थोंके जाननेको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। ऋजुसूत्र नयके ही विषयभूत और केवल वर्तमानकालवर्ती तथा निक्षेपकी अपेक्षा नामादिकके भेदसे चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसीको भी विषय करनेवाले और जिनका वाच्यवाचक सम्बन्ध पहलेसे ही ज्ञात है, अथवा जिनका संकेत ग्रहण हो चुका है, ऐसे शब्दरूपसे घटादिकके ग्रहण करनेको साम्प्रत शब्दनय कहते हैं। उन्हीं सद्रूप—विद्यमान वर्ते-

मानकाल सम्बन्धी घटादि पदार्थोके अध्यवसायके असंक्रम—विषयान्तरमें प्रवृत्ति न करनेको **समभिरूढ** नय कहते है । जिस प्रकार तीन योगोमेसे किसी भी एक योगका आश्रय लेकर वितर्कप्रधान शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति हुआ करती है, उसी प्रकार इस नयके विषयमें भी समझना चाहिये । यद्यपि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका पहला शुक्लध्यान भी वितर्क प्रधान हुआ करता है, परन्तु उसका उदाहरण न देकर यहॉ दसरे शुक्लध्यानका ही उदाहरण दिया है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि पहले भेदमें अर्थ व्यंजन योगकी संक्रान्ति रहा करती है, और दूसरे भेदमें वह नहीं रहती[1] । तथा यह नय भी अध्यवसायके असंक्रमरूप है । अतएव दूसरे शुक्लध्यानका ही उदाहरण युक्तियुक्त है । अनंतरोक्त नयोंके द्वारा गृहीत घटादिक पदार्थोके व्यंजन—वाचकशब्द और उसके अर्थ—वाच्य पदार्थकी परस्परमें अपेक्षा रखकर ग्रहण करनेवाले अध्यवसायको **एवम्भूत नय** कहते हैं । अर्थात इस शब्दका वाच्यार्थ यही है, और इस अर्थका प्रतिपादक यही शब्द है, इस तरहसे वाच्यवाचक सम्बन्धकी अपेक्षा रखकर योग्य क्रिया विशिष्ट ही वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको एवम्भूत नय कहते है ।

भावार्थ—शंकाकारने नयके लक्षणमें दो विकल्प उठाकर अपना मतलब सिद्ध करना चाहा था, परन्तु ग्रंथकारने तीसरे ही अभिप्रायसे उसका लक्षण बताकर शंकाकारके पक्षका निराकरण कर दिया है । नयोंका अभिप्राय क्या है, सो ऊपर बता दिया है, कि वे न तो अन्य सिद्धान्तका निरूपण करनेवाले है और न सर्वथा स्वतन्त्र ही हैं । किंतु जिनप्रवचनके अनुसार और यथार्थ वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेवाले है ।

भाष्यम्—अत्राह–एवमिदानीमेकस्मिन्नर्थेऽध्यवसायनानात्वान्ननु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग इति । अत्रोच्यते ।–यथा सर्वमेकं सदविशेषात् सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात सर्वं त्रित्व द्रव्यगुणपर्यायावरोधात् सर्वं चतुष्ट्वं[2] चतुर्दर्शनविषयावरोधात् सर्वं पञ्चत्वमस्तिकायावरोधात्[3] सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधादिति । यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराण्येतानि तद्वन्नयवादा इति । किं चान्यत् ।—यथा मतिज्ञानादिभिः पञ्चभिर्ज्ञानैर्धर्मादीनामस्तिकायानामन्यतमोऽर्थः पृथक् पृथगुपलभ्यते पर्यायविशुद्धिविशेषादुत्कर्षेण न च ता विप्रतिपत्तयः तद्वन्नयवादाः यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैरेकोऽर्थः प्रमीयते स्वविषयनियमात न च ता विप्रतिपत्तयो भवन्ति तद्वन्नयवादा इति । आह च—

अर्थ—शंका-आपने जो नयोका स्वरूप बताया है; उसमें विरुद्धता प्रतीत होती है । क्योंकि आपने एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक अध्यवसायोंकी प्रवृत्ति मानी है । परन्तु यह बात कैसे बन सकती है । एक ही वस्तु जो सामान्यरूप है, वही विशेषरूप कैसे हो

१—वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्ति ॥ अ० ९ सूत्र ४६ । अविचारं द्वितीयम् ॥ अ० ९, सूत्र ४४
२—"चतुष्ट्यं" इति च पाठः । ३—"पंचास्तिकायात्मकत्वात" इति पाठान्तरम् । ४—[illegible] पाठः ।
५—तानीत्यपि पाठ ।

सकती है, अथवा जो त्रैकालिक है, वही वर्तमानक्षणवर्ती कैसे कही जा सकती है। यद्वा नामादिक तीनोंको छोड़कर केवल भावरूप या पर्याय शब्दोंका अवाच्य अथवा विशिष्ट क्रियासे युक्त वस्तु विशेष कैसे मानी जा सकती है। ये सभी प्रतीति विरुद्ध होनेसे निश्चयात्मक—तत्त्वज्ञान-रूप कैसे कही जा सकती है? उत्तर—अपेक्षा विशेषके द्वारा एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक होनेसे अनेक अध्यवसायोका विषय हो सकती है, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। जैसे कि सम्पूर्ण वस्तुमात्रको सत्सामान्यकी अपेक्षा एक कह सकते हैं, और उसीको जीव अजीवकी अपेक्षा दो भेद रूप कह सकते हैं, तथा द्रव्य गुण और पर्यायकी अपेक्षासे तीन प्रकारकी भी कह सकते हैं। समस्त पदार्थ चक्षु अचक्षु अवधि और केवल इन चार दर्शनोंके विषय हुआ करते है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, कि जो इन चार दर्शनोंमेंसे किसी न किसी दर्शनका विषय न हो। अतएव वस्तु मात्रको चार प्रकारका भी कह सकते है। इसी तरह पंच अस्तिकायोंकी अपेक्षा पाँच भेदरूप और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह भेदरूप भी कह सकते हैं। जिस प्रकार इस विभिन्न कथनमें कोई भी विप्रतिपत्ति—विवाद उपस्थित नहीं होते, और न अध्यवसाय स्थानोंकी भिन्नता ही विरुद्ध प्रतीत होती है, उसी प्रकार नयवादोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार वस्तुमात्रमें एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि संख्याओंका समावेश या निरूपण विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। क्योंकि ये धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं है। यदि जीवको अजीव कहा जाय या ज्ञानगुणको अज्ञान—जड़रूप कहा जाय। अथवा अमूर्त आकाशादि द्रव्योंको मूर्त बताया जाय, तो वह कथन विरुद्ध कहा जा सकता है, और उसके ग्रहण करनेवाले अध्यवसायोंमें भी विप्रतिपत्तिका प्रसङ्ग आ सकता है। परन्तु नयोंमें यह बात नहीं है, क्योंकि वे जिन अनेक धर्मोंको विषय करती है, वे परस्परमें विरुद्ध नहीं है।

इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि—जिस प्रकार मतिज्ञान आदि पाँच प्रकारके ज्ञानोंके द्वारा धर्मादिक अस्तिकायोंमेंसे किसी भी पदार्थका पृथक् पृथक् ग्रहण हुआ करता है, उसमें किसी भी प्रकारकी विप्रतिपत्तिका प्रसंग—विसंवाद उपस्थित नही होता। क्योकि उन ज्ञानोंमें ज्ञानावरण कर्मके अभावसे विशेष विशेष प्रकारकी जो विशुद्धि—निर्मलता रहा करती है, उसके द्वारा उत्कृष्टताके साथ उन्हीं पदार्थोंका भिन्न भिन्न अंशको लेकर परिच्छेदन हुआ करता है, इसी प्रकार नयवादके विषयमें भी समझना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही विषयमें प्रवृत्ति करनेवाले मतिज्ञानादिमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोके विषयमें भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही घटादिक अथवा मनुष्यादिक किसी भी पर्यायको मतिज्ञानी चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जेसा कुछ ग्रहण करता है, श्रुतज्ञानी उसी पदार्थको अधिक रूपसे जानता है। क्योंकि

मतिज्ञान कुछ ही पर्यायोंको विषय कर सकता है, परन्तु श्रुतज्ञान असंख्यात[1] पर्यायोंके ग्रहण और निरूपणमें समर्थ है । अवधिज्ञान श्रुतज्ञानकी भी अपेक्षा अधिक स्पष्टतासे इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा भी न लेकर रूपी पदार्थको जान सकता है, और इसी तरह मनःपर्यायज्ञान अपने विषयको अवधिकी अपेक्षा भी अधिक विशुद्धताके साथ ग्रहण कर सकता है । और केवलज्ञानसे तो अपरिच्छिन्न कोई विषय ही नहीं है । इस प्रकार सभी ज्ञानोंका स्वरूप और विषयपरिच्छेदन भिन्न होनेसे उनमें किसी भी तरह की बाधा नहीं है, उसी तरह नयोंका भी स्वरूप तथा विषयपरिच्छेदन भिन्न भिन्न है, अतएव उनमें भी किसी भी तरहकी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती ।

अथवा जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान तथा आप्तवचन—आगम[2] इन प्रमाणोंके द्वारा अपने अपने विषयके नियमानुसार एक ही पदार्थका ग्रहण किया जाता है, उसमें कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोंमें भी कोई विरोध नहीं है । अर्थात् जैसे वनमें लगी हुई अग्निको एक जीव जो निकटवर्ती है, अपनी आंखोंसे देखकर स्वयं अनुभवरूप प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उसी अग्निको जानता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति उसी अग्निको धूम हेतुको देखकर जानता है, तथा तीसरा व्यक्ति उसी अग्निको ऐसा स्मरण करके कि सुवर्ण पुञ्जके समान पीत वर्ण प्रकाशमान और आमूलसे उष्ण स्पर्शवाली अग्नि हुआ करती है, तथा वैसा ही प्रत्यक्षमें देखकर उपमानके द्वारा जानता है, तथा चौथा व्यक्ति केवल किसीके यह कहनेसे ही कि इस वनमें अग्नि है, उसी अग्निको जान लेता है । यहाँपर इन चारों ज्ञानोंमें और उनके विषयोंमें किसी भी प्रकारका विसंवाद नहीं है, उसी प्रकार नयोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव ऐसा कहा[3] भी है कि—

भाष्यम्—नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः । देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ॥१॥
यत्संगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च[4] विशेषे । तत्संग्रहनयनियतं ज्ञानं विद्यान्नयविधिज्ञः ॥२॥
समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासंज्ञादि[5] निश्चयापेक्षम् । लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ३
साम्प्रत विषयग्राहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात् । विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ४

अर्थ—निगम नाम जनपदका है, उसमें जो बोले जाते है, उनको **नैगम** कहते है । ऐसे—नैगमरूप शब्द और उनके वाच्य पदार्थोंके एक—विशेष और अनेक सामान्य अंशोंको

१—" संखातीतेऽवि भवे । " (आव० नि०) । २—विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु यहाँपर अनुभवरूप मतिज्ञानसे अभिप्राय है, हेतुको देखकर साध्यके ज्ञानको **अनुमान** कहते है । उपमानसे मतलब यहाँपर सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का है । सत्य वक्ताके वचनोंसे जो ज्ञान होता है, उसको **आगम** कहते हैं । ३—इस शब्दका अभिप्राय टीकाकार श्रीसिद्धसेनगणीने यह बताया है, कि इस शब्दसे ग्रन्थकार अपनेको ही प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं यथा—" आहचेत्यात्मानमेव पर्यायान्तरवर्तिनं निर्दिशति । " ४—देशतो विशेषाच्च " इति पाठान्तरम् । ५—संज्ञादि निश्चयापेक्षमेवं क्वचित्पाठः । क्वचित्तु " संज्ञाविनिश्चयापेक्षम् " इतिपाठः ।

प्रकाशित करनेकी रीतिकी अपेक्षा रखकर देश—विशेष और समग्र—सामान्यको विषय करनेवाले अध्यवसायको जिसका कि व्यवहार परस्पर विमुख सामान्य विशेषके द्वारा हुआ करता है, नैगम नय कहते है ॥ १ ॥ जो सामान्य ज्ञेयको विषय करनेवाला है, जो गोत्वादिक सामान्य विशेष और उसके खंडमुण्डादिक विशेषोंमें प्रवृत्त हुआ करता है, ऐसे ज्ञानको नयोंकी विधि—भेदस्वरूपके जाननेवालोंको संग्रहनयका निश्चित स्वरूप समझना चाहिये । क्योंकि सामान्यको छोड़कर विशेष और विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं रह सकता, और सत्ताको छोड़कर न सामान्य रह सकता है, न विशेष रह सकता है । अतएव यह नय दोनोंको ही विषय किया करता है ॥ २ ॥ समुदाय नाम संघात अथवा समूहका है । मनुष्य आदिक सामान्य विशेषरूप पदार्थको व्यक्ति कहते हैं । चौड़ा गोल लम्बा तिकोना षट्कोण आदि संस्थानको आकृति कहते है । सत्ता शब्दसे यहाँ महासामान्य अर्थ समझना चाहिये । संज्ञा आदिसे प्रयोजन नामादिक चार निक्षेपोंका है । इन समुदायादिक विषयोंके निश्चयकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होनेवाले अध्यवसायको व्यवहारनय कहते है । यह नय विस्तृत माना गया है । क्योंकि लोकमें "पर्वत जल रहा है" इत्यादि व्यवहारमें आनेवाले उपचरित विषयोंमें भी यह प्रवृत्त हुआ करता है । तथा उपचरित और अनुपचरित दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका यह आश्रय लेता है, इसलिये इसको विस्तीर्ण कहते हैं ॥ ३ ॥ जो वर्तमानकालीन पदार्थका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको ऋजुसूत्रनय कहते है । यहाँ पर ऋजुसूत्रनयका स्वरूप संक्षेपसे इतना ही समझना चाहिये यथार्थ[1] शब्दको विषय करनेवाले और विशेषित ज्ञानको शब्दनय कहते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राह-अथ जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीव इत्याकारिते केन नयेन कोऽर्थः प्रतीयत इति । अत्रोच्यते ।-जीव इत्याकारिते नैगमदेशसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रसाम्प्रतसमभिरूढैः पञ्चस्वपि गतिष्वन्यतमो जीव इति प्रतीयते । कस्मात्, एते हि नया जीवं प्रत्यौपशमिकादियुक्तभावग्राहिणः । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं जीवस्य वा देशप्रदेशौ । अजीव इति अजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति जीव एव तस्य वा देशप्रदेशाविति ॥ एवम्भूतनयेन तु जीव इत्याकारिते भवस्थो जीवः प्रतीयते । कस्मात्, एष हि नयो जीवं प्रत्यौदयिकभावग्राहक एव । जीवतीति जीवः प्राणिति प्राणान्धारयतीत्यर्थः । तच्च जीवनं सिद्धे न विद्यते तस्माद्भवस्थ एव जीव इति । नोजीव इत्यजीवद्रव्यं सिद्धो वा । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति भवस्थ एव जीव इति । समग्रार्थग्राहित्वाच्चास्य नयस्य नानेन देशप्रदेशौ गृह्येते । एवं जीवौ जीवा इति द्वित्व बहुत्वाकारितेष्वपि । सर्व संग्रहणे तु जीवो नोजीवः अजीवो नोऽजीवो जीवौ नोजीवौ अजीवौ नोऽजीवौ इत्येकद्वित्वाकारितेषु शून्यम् कस्मात्, एष हि नयः संख्यानन्त्याज्जीवानां बहुत्वमेवेच्छति यथार्थग्राही । शेषास्तुनया जात्यपेक्षमेकस्मिन् बहुवचनत्वं बहुषु च बहुवचनं सर्वाकारितग्राहिण इति । एवं सर्वभावेषु नयवादाधिगमः कार्यः ।

१–"यथार्थ शब्द" ऐसा कहनेसे मुख्यतया एवम्भूतनयको सूचित किया है, जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणीकृत टीकामें भी कहा है कि "अनेन तु एवम्भूत एव प्रकाशितो लक्ष्यते सर्व विशुद्धत्वात्तस्य ।" "विशेषितपदम्" ऐसा कहनेसे साम्प्रत और समभिरूढ इन दो भेदोंको ध्वनित किया है ।

अर्थ—शंका—"जीव" या "नोजीव" अथवा "अजीव" यद्वा "नोअजीव" इस तरहसे केवल शुद्धपदका ही यदि उच्चारण किया जाय, तो नैगमादिक नयोंमेंसे किस नयके द्वारा इन पदोंके कौनसे अर्थका बोधन कराया जाता है ? उत्तर—"जीव" ऐसा उच्चारण करनेपर देशग्राही नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र साम्प्रत और समभिरूढ इन नयोंके द्वारा पाँच गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीव पदार्थका बोधन होता है। क्योंकि ये नय जीव शब्दसे औपशमिक आदि परिणामोंसे जो युक्त है, उसको जीव कहते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करनेवाले हैं। अर्थात् इन नयोंके द्वारा औपशमिकादि पाँच प्रकारके भावोंमेंसे यथासंभव भावोंको जो धारण करनेवाला है, वह जीव है ऐसे अर्थका बोधन कराया जाता है। "नोजीव" ऐसा कहनेसे जीवके देश अथवा प्रदेश इन दोनोंका प्रत्यय होता है। "अजीव" ऐसा कहनेसे केवल अजीव द्रव्यका ही बोध होता है। और "नोअजीव" ऐसा कहनेमे या तो जीव द्रव्यका ही बोध होता है अथवा उसीके—जीवके ही देश और प्रदेश दोनोंका बोध होता है।

भावार्थ—ऊपर नैगम आदिक नयोंका जो स्वरूप बताया है, वह केवल घटादिक अजीव पदार्थोंके उद्देशको लेकर ही दिखाया गया है, न कि जीव पदार्थका भी उदाहरण देकर। अथवा उन उदाहरणोंमें केवल विधिरूपका ही उल्लेख पाया जाता है, न कि प्रतिषेधरूपका। अतएव यहाँपर जीव नो जीव अजीव नोअजीव इन चार विकल्पोंके द्वारा उन नयोंका अभिप्राय स्पष्ट किया है। इनमेंसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर जवि पदार्थ का ही बोध होता है। औपशमिकादि भावोंमेंसे किसी भी, एक को या दो को अथवा सभीको जो धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं। सिद्धजीव क्षायिक और पारणामिक भावोंको ही धारण करनेवाले हैं परन्तु अन्य जीवोंमें औपशमिक क्षायोपशमिक और औदयिकभाव भी पाये जाते है। वह जीव नरक तिर्यंच मनुष्य और देव इस तरह चार गतियोंमें और पाँचवीं सिद्ध गतिमें भी रहनेवाला है। समग्रग्राही नैगम और एवंभूतको छोड़कर बाकी उपर्युक्त सभी नयोंके द्वारा इन पाँचों ही स्थानों—अवस्थाओंमें रहनेवाले जीवपदार्थका बोध हुआ करता है।

नोजीव इस शब्दके द्वारा दो अर्थोंका बोध होता, एक तो जीवसे भिन्न पदार्थ दूसरा जीवका अंश। क्योंकि नो शब्द सर्व प्रतिषेधमें भी आता है, और ईषत् प्रतिषेधमें भी आता है। सो जब सर्व प्रतिषेध अर्थ विवक्षित हो, तब तो नोजीव शब्दका अर्थ जीवद्रव्यसे भिन्न कोई भी द्रव्य[1] ऐसा समझना चाहिये, और जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीव द्रव्यका अंश ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये। अंश भी दो प्रकारसे समझने चाहिये, एक तो चतुर्थांश

१—क्योंकि जैनासिद्धान्तमे तुच्छाभाव कोई पदार्थ नहीं माना है, और यह बात युक्तिसिद्ध भी है। क्योंकि सर्वथा अभावरूप वस्तु प्रतीतिविरुद्ध है, तथा स्वरूपकी बोधक और अर्थक्रियाकी साधक नहीं हो सकती। अतएव अभावको वस्त्वन्तररूप ही मानना चाहिये।

षष्ठांश अष्टमांश आदि देशरूप अथवा अविभागी प्रदेशरूप । अजीव शब्दसे पुद्गलादिक अजीव द्रव्यका ही ग्रहण होता है । क्योंकि यहाँपर[1] अकार सर्वप्रतिषेधवाची है । नोअजीव ऐसा कहनेसे दो अर्थोंका बोध होता है, जब नो और अ इन दोनोंका ही अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब तो नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्य ही समझना चाहिये । क्योंकि दो नकार—निषेधका निषेध प्रकृ-तस्वरूपकाही बोधन कराया करता[2] है । किंतु जब नोका अर्थ ईषत् निषेध और अ का अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्यका देश अथवा प्रदेश ऐसा करना चाहिये ।

इस प्रकार जीव नोजीव आदि चार विकल्पोंमें प्रवृत्ति करनेवाले नैगम आदि नयोंसे किस अर्थका बोध होता है, सो ही यहाँपर बताया है । परन्तु एवंभूतनयमें यह बात नहीं है। उसमें क्या विशेषता है सो बताते हैं—

एवंभूतनयसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर चतुर्गतिरूप संसारमें रहनेवाले जीवद्रव्य-का ही बोध होता है, सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेवाले जीवका बोध नहीं होता । क्योंकि यह नय जीवके विषयमें औदयिक भावको ही ग्रहण करनेवाला है । तथा जीव शब्दका अर्थ ऐसा होता है कि " जीवतीति जीवः । " अर्थात् जो श्वासोच्छ्वास लेता है—प्राणोंको धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं । सो सिद्ध पर्यायमें प्राणोंका धारण[3] नहीं है । अतएव एवम्भूत नयसे संसारी जीवका ही ग्रहण करना चाहिये । नोजीव शब्दसे या तो अजीव द्रव्यका ग्रहण होता, अथवा सिद्ध जीवका । क्योंकि जीव शब्दका अर्थ जीवन—प्राणोंका धारण करना है, सो दोनोंमें से किसीमें भी नहीं पाया जाता। अजीव कहनेसे केवल पुद्गलादिक अचेतन द्रव्यका ही ग्रहण होता है, और नोअजीव कह-नेसे संसारी जीवका ही बोध होता है । यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार नोजीव और नोअजीव शब्दोंका अर्थ जीवके देश अथवा प्रदेशका भी हो सकता है, परन्तु यह अर्थ यहाँपर नहीं लेना चाहिये; क्योंकि एवम्भूतनय देश प्रदेशको ग्रहण नहीं करता । वह स्थूल अथवा सूक्ष्म अवयवरूप पदार्थको विषय न करके परिपर्ण अर्थको ही ग्रहण किया करता है । इस प्रकार

१—नञ्रूप प्रतिषेधके भी दो अर्थ होते हैं—एक प्रसज्य दूसरा पर्युदास । प्रसज्य पक्षमें नञ्का अर्थ सर्व प्रतिषेध और पर्युदास पक्षमें तद्भिन्न तत्सदृश अर्थ होता है । यथा—" पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् । " इस नियमके अनुसार अजीव शब्दके भी दो अर्थ हो सकते हैं । परन्तु नो जीव शब्दके दो अर्थ किये गये हैं, अतएव अजीव शब्दका एक सर्वप्रतिषेधरूपही अर्थ करना उचित है, ऐसा इस लेखसे आचार्यका अभिप्राय मालूम होता है । २—" द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतं गमयतः " ऐसा नियम है । ३—जिनका संयोग रहनेपर जीवमें " यह जीता है " ऐसा व्यवहार हो और जिनका वियोग होनेपर " यह मर गया " ऐसा व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । ऐसे प्राण दश है—पाच इन्द्रिय तीन बल–मन वचन काय आयु और श्वासोच्छ्वास यथा—" जं संजोगे जीवदि मरदि वियोगे वि तेवि दह पाणा । " तथा—पंचवि इंदिय पाणा मणवचिकाऐसु तिण्णि बलपाणा । आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंतिदसपाणा ॥" सो ये प्राण संसारी जीवोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं । सिद्धोंमें ये नहीं रहते, क्योंकि प्राण दो प्रकारके होते हैं, द्रव्यरूप और भावरूप । द्रव्यप्राणोंके ये दश भेद हैं । भावप्रमाण चेतनारूप है । संसारी जीवमें दोनों ही तरहके प्राण पाये जाते हैं, और सिद्धोंमें केवल भावप्राण–चेतना ही पाया जाता है ।

जीव नोजीव अजीव और नोअजीव इन चार विकल्पोंको एक वचनके ही द्वारा बताया है । परन्तु इसी तरह से द्विवचन और बहुवचनके द्वारा भी समझ लेना चाहिये ।

सर्व संग्रहनय भी इसी तरह चारों विकल्पोंको ग्रहण करता होगा? ऐसा संदेह किसीको न हो जाय, इसलिये उसकी विशेषताको स्पष्ट करते हैं, कि सर्वसंग्रहनय जीवः नोजीवः अजीवः नोअजीवः इन एक वचनरूप विकल्पोंको तथा जीवौ नोजीवौ अजीवौ नो-अजीवौ इन द्विवचनरूप विकल्पोंको ग्रहण नहीं करता । क्योंकि यह नय यथार्थग्राही है—जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसा ही ग्रहण करता है । चारों गतिवर्त्ती संसारी और सिद्ध ऐसे पाँचों प्रकारके जीवोंकी संख्या सब मिलकर अनन्त है । अतएव यह नय बहुवचनको ही विषय करता है । यद्यपि इसके विकल्पोका आकार पहले अनुसार ही है, परन्तु उसका अर्थ केवल बहुवचनरूप ही है, ऐसा समझ लेना चाहिये । इसी लिये बाकीके जो नैगमादिक नय हैं, वे द्विवचनरूप और एकवचनरूप भी विकल्पोंको विषय किया करते है, ऐसा अर्थ स्पष्ट ही हो जाता है । जिस समय जीव शब्दका अर्थ एक जीव द्रव्य ऐसा अभीष्ट हो, वहॉ एकवचनका प्रयोग होता है, परन्तु जहाँ जातिकी अपेक्षा हो, वहॉ उस एक पदार्थके अभिधेय रहते हुए भी बहुवचनका प्रयोग हो सकता है । इसके सिवाय जहॉपर जीव शब्दका अर्थ बहुतसे प्राणी ऐसा दिखाना अभिप्रेत हो, वहॉपर भी बहुवचनका प्रयोग हुआ करता है । अतएव संग्रहनय बहुवचनरूप ही विकल्पोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, और बाकीके नय एकवचनरूप द्विवचनरूप और बहुवचनरूप तीनों ही तरहके विकल्पोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हो सकते हैं । क्योंकि वे सर्वाकारग्राही हैं । यहाँपर जिस तरह जीव शब्दके विधिप्रतिषेधको लेकर नयोंका अनुगत अर्थ बताया है, उसी प्रकार तत्त्व—बुभुत्सुओंको धर्मास्तिकायादिक अन्य सभी पदार्थोके विषयमें भी उक्त सम्पूर्ण नयोंका अनुगम कर लेना चाहिये ।

ऊपर वस्तुस्वरूपको विषय करनेवाले ज्ञानके आठ भेद बताये है । उनमेंसे किस किस ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रवृत्ति हुआ करती है, इस बातको बतानेके लिये आगेका प्रकरण लिखते है—

भाष्यम्—अत्राह-अथ पञ्चानां ज्ञानानां सविपर्ययाणां कानि को नयः श्रयत इति । अत्रोच्यते-नैगमादयस्त्रयः सर्वाण्यष्टौ श्रयन्ते । ऋजुसूत्रनयो मतिज्ञानमत्यज्ञानवर्जानि षट् । अत्राह ।—कस्मान्मतिं सविपर्ययां न श्रयत इति । अत्रोच्यते ।—श्रुतस्य सविपर्ययस्योपग्रहत्वात् । शब्दनयस्तु द्वे एव श्रुतज्ञानकेवलज्ञाने श्रयते । अत्राह ।—कस्माच्चेत-

१—जीवौ नोजीवौ अजीवौ नो अजीवौ । २—जीवा. नोजीवा अजीवा. नोअजीवा ।

राणि श्रयते इति। अत्रोच्यते।—मत्यवधिमनःपर्यायाणां श्रुतस्यैवोपग्राहकत्वात्। चेतनाज्ञस्वाभाव्याच्च सर्वजीवानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवो विद्यते, तस्मादपि विपर्ययान्न श्रयत इति। अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत इति। आह च।—

अर्थ—प्रश्न—पहले ज्ञानके पाँच भेद बता चुके है, और तीन विपरीत ज्ञानोंका स्वरूप भी लिख चुके हैं। दोनों मिलकर ज्ञानके आठ भेद हैं। इनमेंसे किन किन ज्ञानोंकी नैगमादि नयोंमेंसे कौन कौनसा नय अपेक्षा लेकर प्रवृत्त हुआ करता है? अर्थात् कौन कौनसा नय किस किस ज्ञानका आश्रय लिया करता है? **उत्तर**—नैगम आदिक तीन नय—नैगम संग्रह और व्यवहार तो कुल आठों प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया करते हैं, और ऋजुसूत्र नय आठमेंसे मतिज्ञान और मत्यज्ञान इन दोके सिवाय बाकी छह प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया करता है। **प्रश्न**—यह नय मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय क्यों नहीं लेता? **उत्तर**—ये दोनों ही ज्ञान श्रुतज्ञान और श्रुताज्ञानका उपकार करने वाले हैं, अतएव उनका आश्रय नहीं लिया जाता। चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह यदि अवग्रहमात्र ही हो, तो उससे वस्तुका निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि जब श्रुतज्ञानके द्वारा उस पदार्थका पर्यालोचन किया जाता है, तभी उसका यथावत् निश्चय हुआ करता है। अतएव मतिज्ञानसे फिर क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? इसी लिये ऋजुसूत्रनय मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय नहीं लिया करता। शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञान इन दो ज्ञानोंका ही आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ करता है। **प्रश्न**—बाकी छह ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नही लेता? **उत्तर**—मतिज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान श्रुतज्ञानका ही उपकार करनेवाले है। क्योंकि ये तीनों ही ज्ञान स्वयं जाने हुए पदार्थके स्वरूपका दूसरेको बोध नहीं करा सकते। ये ज्ञान स्वयं मूक हैं, अपने आलोचित विषयके स्वरूपका अनुभव दूसरेको स्वयं करानेमें असमर्थ हैं, श्रुतज्ञानके द्वारा ही उसका बोध करा सकते है, और वैसा ही कराया भी करते हैं। यद्यपि केवल ज्ञान भी मूक ही है, परन्तु वह समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला और इसीलिये सबसे प्रधान है। अतएव शब्दनय उसका अवलम्बन लेता है। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि चेतना—जीवत्व—अर्थात् सामान्य परिच्छेदकत्व और ज्ञ अर्थात् विशेषपरिच्छेदकता इन दोनोंका तथाभूत परिणमन सभी जीवोंमें पाया जाता है। इस नयकी अपेक्षासे पृथिवीकायिक आदि कोई भी जीव न मिथ्यादृष्टि है और न अज्ञ ही है। क्योंकि सभी जीव अपने अपने विषयका परिच्छेदन किया करते है—स्पर्शको स्पर्श और रसको रसरूपसे ही ग्रहण किया करते हैं, उनके इस परिच्छेदनमें अयथार्थता नहीं रहा करती। इसी प्रकार कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञानका अभाव पाया जाय। ज्ञानजीवका लक्षण है, वह सबमें रहता ही है, कमसे कम अक्षरके अनंतवें

भाग प्रमाण तो रहता ही है । इस अपेक्षा से सभी जीव सम्यग्दृष्टि हैं, और ज्ञानी है । अतएव इस दृष्टिसे कोई विपरीत ज्ञान ही नही ठहरता है । और उसके विना शब्दनय अवलम्बन किसका लेगा । इसलिये भी विपरीत ज्ञानका शब्दनय आश्रय नहीं लेता । और इसी लिये प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आप्तवचन--आगमको भी प्रमाण समझ लेना चाहिये ।

अब इस अध्यायके अंतमें पाँच कारिकाओंके द्वारा इस अध्यायमें जिस जिस विषयका वर्णन किया गया है, उसका उपसंहार करते हैं ।

भाष्यम्--विज्ञायैकार्थपदान्यर्थपदानि च विधानमिष्टं च ।
विन्यस्य परिक्षेपात्, नयैः परीक्ष्याणि तत्त्वानि ॥ १ ॥
ज्ञानं सविपर्यासं त्रयः श्रयन्त्यादितो नयाः सर्वम् ।
सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः ॥ २ ॥
ऋजुसूत्रः षट् श्रयते मतेः श्रुतोपग्रहादनन्यत्वात् ।
श्रुतकेवले तु शब्दः श्रयते नान्यच्छ्रुताङ्गत्वात् ॥ ३ ॥
मिथ्यादृष्ट्यज्ञाने न श्रयते नास्य कश्चिदज्ञोऽस्ति ।
ज्ञस्वाभाव्याज्जीवो मिथ्यादृष्टिर्न चाप्यज्ञोऽस्ति ॥ ४ ॥
इति नयवादाश्चित्राः क्वचिद् विरुद्धा इवाथ च विशुद्धाः ।
लौकिकविषयातीताः तत्त्वज्ञानार्थमधिगम्याः ॥ ५ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—जीव प्राणी जन्तु इत्यादि एकार्थ पदोंको और निरुक्तिसिद्ध अर्थपदोंको जानकर तथा नाम स्थापना आदिके द्वारा तत्त्वोंके भेदोंको जानकर एवं निर्देश स्वामित्व आदि तथा सत् संख्या आदि अधिगमोपायोंको भी समझकर नामादि निक्षेपोंके द्वारा तत्त्वोंका व्यवहार करना चाहिये और उपर्युक्त नयोंके द्वारा उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

१—जैसा कि कहा भी है कि " सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणतो भागो निच्चुग्घाडितओ । " (नन्दीसूत्र ४२) अर्थात् सभी जीवोके अक्षरके अनंतवें भाग प्रमाण ज्ञान तो कमसे कम नित्य उद्घाटित रहता है । यह ज्ञान निगोदियाके ही पाया जाता है । और इसको **पर्यायज्ञान** तथा लब्ध्यक्षर भी कहते हैं । क्योंकि लब्धि नाम ज्ञानावरणकर्मके क्षयोयशमसे प्राप्त विशुद्धिका है । और अक्षर नाम अविनश्वरका है । ज्ञानावरणकर्मका इतना क्षयोपशम तो रहता ही है । अतएव इसको लब्ध्यक्षर कहते हैं । ६५५३६ को पण्णट्ठी और इसके वर्गको वादाल तथा वादालके वर्गको एकट्ठी कहते हैं । केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंमें एक कम एकट्ठीका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उतने अविभागप्रतिच्छेदोंके समूहका नाम अक्षर है । इस अक्षर प्रमाणमें अनन्तका भाग देनेसे जितने अविभागप्रतिच्छेद लब्ध आवें, उतने ही अविभागप्रतिच्छेद पर्याय ज्ञानमें पाये जाते हैं । वे नित्योद्घाटी हैं । २—यह कथन शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे है । अतएव सर्वथा ऐसा ही नहीं समझना चाहिये । कर्मोपाधिरहित शुद्ध जीवका स्वरूप ऐसा है, यह अभिप्राय समझना चाहिये । किंतु लोकव्यवहार एक नयके द्वारा नहीं किंतु सम्पूर्ण नयोंके द्वारा साध्य है ।

३—" न चाप्यज्ञ. " इति क्वचित् पाठ ।

आदिके तीन नय—नैगम संग्रह और व्यवहार सभी सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानोंको विषय किया करते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टिके ज्ञानको ज्ञान—सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको उससे विपरीत—मिथ्याज्ञान कहते हैं॥ २॥

ऋजुसूत्र नय छह ज्ञानोंका ही आश्रय लिया करता है—मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय नहीं लिया करता। क्योंकि मतिज्ञान श्रुतज्ञानका उपकार करता है, और इसी लिये मति और श्रुतमें कथंचित् अभेद भी है। जब श्रुतज्ञानका आश्रय ले लिया, तब मतिज्ञानकी आवश्यकता भी क्या है? शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञानका ही आश्रय लिया करता है, औरोंका नहीं। क्योंकि अन्य ज्ञान श्रुतज्ञानमें ही बलाधान किया करते है, वे स्वयं अपने विषयका दूसरेको बोध नहीं करा सकते॥ ३॥

शब्दनय मिथ्यादर्शन और अज्ञानका भी आश्रय नहीं लिया करता, क्योंकि इस नयकी अपेक्षासे कोई भी प्राणी अज्ञ नहीं है। क्योंकि सभी जीव ज्ञस्वभावके धारण करनेवाले हैं, इसीलिये इस नयकी दृष्टिसे कोई भी जीव मिथ्यादृष्टि भी नहीं है॥ ४॥

इस तरह नयोंका विचार अनेक प्रकारका है, यद्यपि ये नय कहीं कहीं पर किसी किसी विषयमें प्रवृत्त होनेपर विरुद्ध सरीखे दीखा करते हैं, परन्तु अच्छी तरह पर्यालोचन करनेपर वे विशुद्ध—निर्दोष—अविरुद्ध ही प्रतीत हुआ करते हैं। वैशेषिक आदि अन्य—जैनेतर लौकिक मतोंके शास्त्रोंमें ये नय नहीं हैं। उन्होंने इन नयोंके द्वारा वस्तुस्वरूपका पर्यालोचन किया भी नहीं है। परन्तु इनके विना वस्तुस्वरूपका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव तत्त्वज्ञानको सिद्ध करनेके लिये इनका स्वरूप अवश्य ही जानना चाहिये॥ ५॥

इति प्रथमोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता जीवादीनि तत्त्वानीति। तत्र को जीवः कथंलक्षणो वेति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—पहले जीवादिक सात तत्त्वोंका आपने नामनिर्देश किया है । उनमेंसे अभीतक किसीका भी स्वरूप नहीं बताया, और न उनका लक्षण विधान ही किया । अतएव सबसे पहले क्रमानुसार जीवतत्त्वका ही स्वरूप कहिये कि वह क्या है, और उसका लक्षण किस प्रकार करना चाहिये कि जिससे उसकी पहचान हो सके ? अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

भाष्यम्—औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक औदयिकः पारिणामिक इत्येते पञ्च भावा जीवस्य स्वतत्त्वं भवन्ति ।

अर्थः—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीवके स्वतत्त्व हैं ।

भावार्थ—जो कर्मोंके उपशमसे होनेवाले हैं, उनको **औपशमिक** और क्षयसे होनेवालोंको **क्षायिक** तथा क्षयोपशमसे होनेवालोंको **क्षायोपशमिक** एवं उदयसे होनेवाले भावोंको **औदयिक** कहते हैं । परन्तु जिसके होनेमें कर्मकी अपेक्षा ही नहीं है—जो स्वतःही प्रकट रहा करते हैं, उनको **पारिणामिकभाव** कहते हैं ।

यद्यपि इनके सिवाय अस्तित्व वस्तुत्व आदि और भी अनेक स्वभाव ऐसे हैं, जोकि जीवके स्वतत्त्व कहे जा सकते है, परन्तु उनको इस सूत्रमें न बतानेका कारण यह है, कि वे जीवके असाधारण भाव नहीं हैं । क्योंकि वे जीव और अजीव दोनों ही द्रव्योंमें पाये जाते हैं । किंतु ये पाँच भाव ऐसे हैं, जोकि जीवके सिवाय अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसी लिये इनको जीवका स्वतत्त्व—निज तत्त्व कहा गया है ।

यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय आयुकर्मकी अपेक्षासे जीवन पर्यायके धारण करनेवाला ऐसा नहीं है । क्योंकि ऐसा होनेसे सिद्धोंमें जो क्षायिक तथा पारिणामिक भाव रहा करते हैं, सो नहीं वन सकेंगे । अतएव यहाँपर जीवसे अभिप्राय जीवत्व गुणके धारण करनेवालेका है । जो जीता है—प्राणोंको धारण करता है, उसको जीव कहते हैं । प्राण दो प्रकारके बताये हैं—एक द्रव्यप्राण[1] दूसरे भावप्राण । सिद्ध जीवोंमें यद्यपि

१—इनका खुलासा पृष्ठ ७० की टिप्पणी नं० २ में किया जा चुका है ।

द्रव्यप्राण नहीं रहते, क्योंकि वे कर्मोंकी अपेक्षासे होनेवाले हैं, परन्तु भावप्राण रहते ही हैं। क्योंकि उनमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं है।—वे शास्वतिक हैं।

जीव दो प्रकारके हुआ करते हैं, एक भव्य दूसरे अभव्य। इनमेंसे औपशमिक और क्षायिक ये दो स्वतत्त्व भव्यके ही पाये जाते हैं, और बाकीके तीन स्वतत्त्व भव्य अभव्य दोनोंके ही रहा करते हैं। औपशमिक और क्षायिक इन दोनों भावोंकी निर्मलता एकसी हुआ करती है, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है, कि औपशमिकमें तो प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहा करती है, किंतु क्षायिकमें बिलकुल भी उसकी सत्ता नहीं पाई जाती। जैसे कि सपंकजलमें यदि निर्मली आदि डाल दी जाय, तो उससे पंकका भाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर जल निर्मल हो जाता है, ऐसे ही औपशमिक भावकी अवस्था समझनी चाहिये। यदि उसी निर्मल जलको किसी दूसरे वर्तनमें नितार लिया जाय, तो उसके मूलमें पंककी सत्ता भी नहीं पाई जाती, इसी तरह क्षायिककी अवस्था समझनी चाहिये। क्षायोपशमिकमें यह विशेषता है, कि प्रतिपक्षी कर्मकी देशघाती प्रकृतिका फलोदय भी पाया जाता है। जैसे कि सपंक जलमें निर्मली आदि डालनेसे पंकका कुछ भाग नीचे बैठ जाय और कुछ भाग जलमें मिला रहे। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भावमें कर्मकी भी क्षीणाक्षीण अवस्था हुआ करती है। गति आदिक भाव जोकि आगे चलकर बताये जायँगे, वे कर्मके उदयसे ही होनेवाले है, और पारिणामिक भावोंमें चाहे वे साधारण हों, चाहे असाधारण कर्मकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है—वे स्वतः सिद्ध भाव हैं।

ये पाँचों भाव अथवा इनमेंसे कुछ भाव जिसमें पाये जाय, उसको जीव[1] समझना चाहिये। यही जीवका स्वरूप[2] है। अब यहाँपर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका लक्षण[3] बताना चाहिये था, परन्तु वह आगे चलकर लिखा जायगा, अतएव उसको यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये यहाँपर इन पाँचों भावोंके उत्तरभेदोंको गिनाते है। उनमें सबसे पहले औपशमिकादिक भेदोंकी संख्या कितनी कितनी है, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते औपशमिकादयः पञ्च भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा भवन्ति। तद्यथा—औपशमिको द्विभेदः, क्षायिको नवभेदः, क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदः, औदयिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकस्त्रिभेद इति। यथाक्रममिति येन सूत्रक्रमेणात ऊर्ध्वं वक्ष्यामः॥

अर्थ—ये औपशमिक आदि पाँच भाव क्रमसे दो नौ अठारह इक्कीस और तीन भेदवाले हैं। अर्थात्—औपशमिकभावके दो भेद, क्षायिकके नौ भेद, क्षायोपशमिकके अठारह

१—क्योंकि यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय सामान्य जीव द्रव्यसे है, न कि आयु-प्राणसम्बन्धी जीवत पर्यायके धारण करनेवाले संसारी जीवसे। यहाँपर स्वतत्त्व शब्दमें स्वशब्दसे आत्मा और आत्मीय दोनोंका ही ग्रहण हो सकता है। २—क्योंकि इसी अध्यायकी आदिमें प्रश्न किये थे, कि जीव क्या है, और उसका लक्षण क्या है? स्वतत्त्वोंके निरूपणसे पहले प्रश्नका उत्तर तो हो चुका। ३—"उपयोगो लक्षणम्" अध्याय २ सूत्र ८ में लिखा है।

औदयिकके इक्कीस भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं। ये दो आदिक भेद कौन कौनसे है, सो आगे चलकर सूत्रक्रमके अनुसार बतावेंगे।

कोई कोई विद्वान् यहाँपर सिद्धजीवोंकी व्यावृत्तिके लिये "संसारस्थानाम्" अर्थात् ये भेद संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं" ऐसा वाक्यशेष भी जोड़कर बोलते है। परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि सभी जगह शब्दोंका अर्थ यथासंभव ही किया जाता है। सभी जीवोंमें सब भाव पाये जायँ ऐसा नियम नहीं है, और न बन ही सकता है। जैसे कि आदिके दो भाव सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव हैं, न कि मिथ्यादृष्टिके, उसी प्रकार सिद्धोंमें भी यथासम्भवही भाव समझ लेने चाहिये। उसके लिये "संसारस्थानाम्" ऐसा वाक्यशेष करनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्रमानुसार औपशमिकके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सम्यक्त्वं चारित्रं च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति।

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं।

भावार्थ—यद्यपि सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक और क्षायोपशमिक भी हुआ करता है परन्तु औपशमिकके ये दो ही भेद है। इनमें से सम्यक्त्वका लक्षण पहले अध्यायमें कहा जा चुका है, और चारित्रका लक्षण आगे चलकर नौवें अध्यायमें कहेंगे। जिसका सारांश यह है, कि सम्यग्दर्शनको घातनेवाले जो कर्म हैं, तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबंधी कषाय इन सातों प्रकृतियोंका उपशम हो जानेपर जो तत्त्वोंमें रुचि हुआ करती है, उसको औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। और शुभ तथा अशुभरूप क्रियाओंकी प्रवृत्तिकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं[2]। चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम हो जानेपर जो चारित्र गुण प्रकट होकर शुभाशुभ क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है, उसको औपशामिकचारित्र कहते है। यह चारित्र गुण ग्यारहवें गुणस्थानमें ही पूर्ण हुआ करता है। क्योंकि चारित्रमोहनीय की शेष २१ प्रकृतियोंका उपशम वहींपर होता है।

क्रमानुसार क्षायिकके नौ भेदोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

भाष्यम्—ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोग उपभोगो वीर्यमित्येतानि च सम्यक्त्वचारित्रे च नव क्षायिका भावा भवन्ति इति।

१—यह कथन सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे है, अनादि मिथ्यादृष्टि के मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके सिवाय पाँच प्रकृतियोंके उपशमसे ही सम्यक्त्व हुआ करता है। २—सम्यग्ज्ञानवत. कर्मादानहेतुक्रियोपरम. सम्यक् चारित्रम् ॥

द्रव्यप्राण नहीं रहते, क्योंकि वे कर्मोंकी अपेक्षासे होनेवाले हैं, परन्तु भावप्राण रहते ही हैं। क्योंकि उनमें कर्मोंकी अपेक्षा नही है।—वे शास्वतिक हैं।

जीव दो प्रकारके हुआ करते हैं, एक भव्य दूसरे अभव्य। इनमेंसे औपशमिक और क्षायिक ये दो स्वतत्त्व भव्यके ही पाये जाते हैं, और बाकीके तीन स्वतत्त्व भव्य अभव्य दोनोंके ही रहा करते हैं। औपशमिक और क्षायिक इन दोनों भावोंकी निर्मलता एकसी हुआ करती है, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है, कि औपशमिकमें तो प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहा करती है, किंतु क्षायिकमें बिलकुल भी उसकी सत्ता नहीं पाई जाती। जैसे कि सपंकजलमें यदि निर्मली आदि डाल दी जाय, तो उससे पंकका भाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर जल निर्मल हो जाता है, ऐसे ही औपशमिक भावकी अवस्था समझनी चाहिये। यदि उसी निर्मल जलको किसी दूसरे बर्तनमें नितार लिया जाय, तो उसके मूलमें पंककी सत्ता भी नहीं पाई जाती, इसी तरह क्षायिक की अवस्था समझनी चाहिये। क्षायोपशमिकमें यह विशेपता है, कि प्रतिपक्षी कर्मकी देशघाती प्रकृतियोंका फलोदय भी पाया जाता है। जैसे कि सपंक जलमें निर्मली आदि डालनेसे पंकका कुछ भाग नीचे बैठ जाय और कुछ भाग जलमें मिला रहे। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भावमें कर्मकी भी क्षीणाक्षीण अवस्था हुआ करती है। गति आदिक भाव जोकि आगे चलकर बताये जायँगे, वे कर्मके उदयसे ही होनेवाले हैं, और पारिणामिक भावोंमें चाहे वे साधारण हों, चाहे असाधारण कर्मकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है—वे स्वतः सिद्ध भाव हैं।

ये पाँचों भाव अथवा इनमेंसे कुछ भाव जिसमें पाये जायँ, उसको जीव समझना चाहिये। यही जीवका स्वरूप[1] है। अब यहाँपर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका लक्षण[2] बताना चाहिये था, परन्तु वह आगे चलकर[3] लिखा जायगा, अतएव उसको यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये यहाँपर इन पाँचों भावोंके उत्तरभेदोंको गिनाते हैं। उनमें सबसे पहले औपशमिकादिक भेदोंकी संख्या कितनी कितनी है, सो बतानेके लिये सूत्र कहते है।—

सूत्र—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते औपशमिकादयः पञ्च भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा भवन्ति। तद्यथा—औपशमिको द्विभेदः, क्षायिको नवभेद, क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदः, औदयिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकस्त्रिभेद इति। यथाक्रममिति येन सूत्रक्रमेणात ऊर्ध्वं वक्ष्यामः॥

अर्थ—ये औपशमिक आदि पाँच भाव क्रमसे दो नौ अठारह इक्कीस और तीन भेदवाले हैं। अर्थात्—औपशमिकभावके दो भेद, क्षायिकके नौ भेद, क्षायोपशमिकके अठारह

१—क्योंकि यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय सामान्य जीव द्रव्यसे है, न कि आयु प्राणसम्बन्धी जीवन पर्यायके धारण करनेवाले संसारी जीवसे। यहाँपर स्वतत्त्व शब्दमें स्वशब्दसे आत्मा और आत्मीय दोनोंका ही ग्रहण हो सकता है। २—क्योंकि इसी अध्यायकी आदिमें प्रश्न किये थे, कि जीव क्या है, और उसका लक्षण क्या है? स्वतत्त्वोंके निरूपणसे पहले प्रश्नका उत्तर तो हो चुका। ३—"उपयोगो लक्षणम्" अध्याय २ सूत्र ८ में लिखा है।

औदयिकके इक्कीस भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं। ये दो आदिक भेद कौन कौनसे है, सो आगे चलकर सूत्रक्रमके अनुसार बतावेंगे।

कोई कोई विद्वान् यहाँपर सिद्धजीवोंकी व्यावृत्तिके लिये "संसारस्थानाम्" अर्थात् ये भेद संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं" ऐसा वाक्यशेष भी जोड़कर बोलते हैं। परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि सभी जगह शब्दोंका अर्थ यथासंभव ही किया जाता है। सभी जीवोंमें सब भाव पाये जायँ ऐसा नियम नहीं है, और न बन ही सकता है। जैसे कि आदिके दो भाव सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव हैं, न कि मिथ्यादृष्टिके, उसी प्रकार सिद्धोंमें भी यथासम्भवही भाव समझ लेने चाहिये। उसके लिये "संसारस्थानाम्" ऐसा वाक्यशेष करनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्रमानुसार औपशमिकके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सम्यक्त्वं चारित्रं च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति।

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक भाव है।

भावार्थ—यद्यपि सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक और क्षायोपशमिक भी हुआ करता है परन्तु औपशमिकके ये दो ही भेद हैं। इनमें से सम्यक्त्वका लक्षण पहले अध्यायमें कहा जा चुका है, और चारित्रका लक्षण आगे चलकर नौवें अध्यायमें कहेंगे। जिसका सारांश यह है, कि सम्यग्दर्शनको घातनेवाले जो कर्म है, तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबंधी कषाय इन सातों प्रकृतियोंका उपशम हो जानेपर जो तत्त्वोंमें रुचि हुआ करती है[1], उसको औपशमिकसम्यक्त्व कहते है। और शुभ तथा अशुभरूप क्रियाओंकी प्रवृत्तिकी निवृत्तिको चारित्र कहते है[2]। चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम हो जानेपर जो चारित्र गुण प्रकट होकर शुभाशुभ क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है, उसको औपशमिकचारित्र कहते हैं। यह चारित्र गुण ग्यारहवें गुणस्थानमें ही पूर्ण हुआ करता है। क्योंकि चारित्रमोहनीय की शेष २१ प्रकृतियोंका उपशम वहींपर होता है।

क्रमानुसार क्षायिकके नौ भेदोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

भाष्यम्—ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोग उपभोगो वीर्यमित्येतानि च सम्यक्त्वचारित्रे च नव क्षायिका भावा भवन्ति इति।

१—यह कथन सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे है, अनादि मिथ्यादृष्टि के मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके सिवाय पाँच प्रकृतियोंके उपशमसे ही सम्यक्त्व हुआ करता है। २—सम्यग्ज्ञानवतः कर्मादानहेतुक्रियोपरमः सम्यक् चारित्रम्॥

भाष्यम्--गतिश्चतुर्भेदा नारकतैर्यग्योनमनुष्यदेवा इति । कषायश्चतुर्भेदः क्रोधी मानी मायी लोभीति । लिङ्गं त्रिभेदं स्त्रीपुमान्नपुंसकमिति । मिथ्यादर्शनमेकभेदं मिथ्यादृष्टिरिति । अज्ञानमेकभेदमज्ञानीति । असंयतत्त्वमेकभेदमसंयतोऽविरत इति । असिद्धत्वमेकभेदमासिद्ध इति । एकभेदमेकविधमिति । लेश्याः षड्भेदाः कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या । इत्येते एकविंशतिरौदयिकभावा भवन्ति ।

अर्थ---गतिके चार भेद हैं--नरकगति तिर्यचगति मनुष्यगति और देवगति । कषाय चार प्रकारका है--क्रोध मान माया और लेभ । लिंग तीन तरहका है--स्त्रीलिंग पुल्लिंग और नपुंसकलिंग । मिथ्यादर्शन एक भेदरूप ही है । इसी तरह अज्ञान असंयत और असिद्धत्व ये भी एक एक भेदरूप हीं है । एक भेद कहनेका मतलब यह है, कि ये एक एक प्रकारके हीं हैं--इनके अनेक भेद नहीं है । लेश्या छह प्रकारकी है--कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या और शुक्लेश्या । इस प्रकार ये सब मिलकर २१ औदयिकभाव होते हैं ।

भावार्थ---जो भाव कर्मके उदयसे होते हैं, उनको औदयिक कहते हैं । नरकगति नामकर्मके उदयसे नारकभाव हुआ करते हैं, इसलिये नरकगति औदयिकी है । इसी तरह तिर्यंचगति आदि सभी भावोंके विषयमें समझना चाहिये । ये सब भाव अपने अपने योग्य कर्मके उदयसे ही हुआ करते हैं, इसलिये सब औदयिक हैं । लेश्या नामका कोई भी कर्म नहीं है, अतएव लेश्यारूप भाव पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे अथवा पुद्गलविपाकी शरीरनाम कर्म और कषाय इन दोके उदयसे हुआ करते हैं । क्योंकि कषायके उदयसे अनुरंजित मन वचन और कायकी प्रवृत्ति को ही लेश्या[1] कहते हैं । असिद्धत्वभाव आठ कर्मोके उदयसे अथवा चार अघातीकर्मोंके उदयसे हुआ करता है ।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब कर्मके भेद १२२ है, अथवा १४८ है तो औदयिकभाव २१ ही कैसे कहे, जितने कर्मोके भेद हैं, उतने ही औदयिक भावोंके भी भेद क्यों नहीं कहे । परन्तु यह शंका ठीक नहीं हैं, क्योंकि इन २१ भेदोंमें सभी औदयिक-भावोंका अन्तर्भाव हो जाता है । जैसे कि आयु गोत्र और जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नाम कर्मप्रभृतिका एक गतिरूप औदयिकभावमें ही समावेश हो जाता है, तथा कषायमें हास्या-दिका निवेश हो जाता है, उसी प्रकार सबका समझना चाहिये ।

लेश्या दो प्रकारकी बताई हैं--द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । शरीरके वर्णको द्रव्य-लेश्या और अन्तरङ्ग परिणाम[2] विशेषोंको भावलेश्या कहते हैं । पुनरपि ये लेश्या दो प्रकारकी

१--"जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ।४८९।। गो० जी०" कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ।

२--जीव जिस लेश्याके योग्य कर्म द्रव्यका ग्रहण करता है उसके निमित्तसे उसी लेश्यारूप उसके परिणाम हो जाते हैं-यथा "जल्लेस्साइं दव्वाइं आदिअति तल्लेस्से परिणामे भवति ",(प्रज्ञा० लेश्यापदे०) ।

हैं, एक शुभ दूसरी अशुभ । कापोत नील और कृष्ण ये क्रमसे अशुभ अशुभतर और अशुभतम हैं । पीत पद्म और शुक्ल लेश्या क्रमसे शुभ शुभतर और शुभतम हैं । किस लेश्याके परिणाम कैसे होते है, इसके उदाहरण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, अतएव यहाँ नही लिखे हैं ।

पारिणामिक भावोंके तीन भेद जो बताये है, उनको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमित्येते त्रयः पारिणामिका भावा भवन्तीति । आदिग्रहणं किमर्थमिति ? अत्रोच्यते–अस्तित्वमन्यत्वं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं गुणवत्वमसर्वगतत्त्वमनादिकर्मसंतानबद्धत्वं प्रदेशत्वमरूपत्वं नित्यत्वमित्येवमादयोऽप्यनादिपारिणामिका जीवस्य भावा भवन्ति । धर्मादिभिस्तु समाना इत्यादिग्रहणेन सूचिताः । ये जीवस्यैव वैशेषिकास्ते स्वशब्देनोक्ता इति । एते पञ्च भावास्त्रिपञ्चाशद्भेदा जीवस्य स्वतत्त्वं भवन्ति । अस्तित्वादयश्च । किं चान्यत् ।

अर्थ—जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं । प्रश्न–इस सूत्रमें आदि शब्दके ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है ? उत्तर–अस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व गुणवत्व असर्वगतत्व अनादि कर्मसंतानबद्धत्व प्रदेशत्व अरूपत्व नित्यत्व इत्यादिक और भी अनेक जीवके अनादि पारिणामिक भाव होते हैं । परन्तु ये भाव जीवके असाधारण नहीं हैं । क्योंकि ये धर्मादिक द्रव्योंमें भी पाये जाते है, अतएव उनके समान होनेसे साधारण हैं, इसी लिये इनको आदि शब्दका ग्रहण करके साधारणतया सूचित किया है । जो जीवमें ही पाये जाते है, ऐसे विशेष–असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं, और इसीलिये उनका खास नाम लेकर उल्लेख किया है ।

इस प्रकार औपशमिकादिक पॉच भाव जो बताये हैं, वे जीवके स्वतत्व–निजस्वरूप है–जीवमें ही पाये जाते हैं, अन्यमें नहीं । इनके सिवाय जीवके साधारण स्वतत्व अस्तित्वादिक भी हैं । औपशमिक आदि पाँच भावोंके २+९+१८+२१+३ के मिलानेसे कुल ५३ भेद होते हैं ।

भावार्थ—असंख्यात प्रदेशी चेतनताको जीवत्व कहते हैं । भव्यत्व और अभव्यत्व गुणका लक्षण पहले बताया जा चुका है, कि जो सिद्ध–पदको प्राप्त करनेके योग्य है, उसको भव्य कहते हैं, और जो इसके विपरीत है, सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकता, उसको अभव्य कहते हैं । अस्तित्वादिक साधारण भावोंका अर्थ स्पष्ट है ।

इस प्रकार जीवके स्वतत्वोंका वर्णन किया । पहले दो प्रश्न जो किये थे, उनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवके स्वतत्वोंका निरूपण करके उसका स्वरूप बताया । परन्तु दूसरे

१—गोम्मटसार जीवकाण्ड, लेश्याधिकार, गाथा ५०६ से ५१६ तक ।

प्रश्नका उत्तर अभीतक नहीं हुआ है, जिसके कि विषयमें यह कहा गया था, कि जीवका लक्षण आगे चलकर करेंगे। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ये पाँच भाव व्यापक नहीं हैं। अतएव जो जीवमात्रमें व्यापकरूपसे पाया जा सके, ऐसे त्रिकालविषयक और सर्वथा अव्यभिचारी जीवके लक्षणको बतानेकी आवश्यकता है। अतएव ग्रंथकार दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका संतोषकर लक्षण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—उपयोगो लक्षणं जीवस्य भवति ॥

अर्थ—जीवका लक्षण उपयोग है।

भावार्थ—ज्ञानदर्शनकी प्रवृत्तिको उपयोग कहते है। अनेक वस्तुओंमें मिली हुई किसी भी वस्तुको जिसके द्वारा पृथक् किया जा सके, उसको लक्षण[1] कहते हैं। इसके दो भेद हैं–आत्मभूत और अनात्मभूत। जो लक्ष्यमें अनुप्रविष्ट होकर रहता है, उसको आत्मभूत कहते हैं, और जो लक्ष्यमें अनुप्रविष्ट न रहकर भी उसका अनुगमक होता है, उसको अनात्मभूत कहते है। जीवका उपयोग आत्मभूत लक्षण है। यह लक्षण त्रिकालाबाधित और अव्याप्ति अति-व्याप्ति असंभव इन तीन दोषोंसे[2] सर्वथा रहित है। क्योंकि कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञान और दर्शन न पाया जाय, कमसे कम अक्षरके अनंतवें भागप्रमाण तो ज्ञान जीवमें रहता[3] ही है। तथा और कोई ऐसा पदार्थ भी नहीं है, कि उसमें भी ज्ञान और दर्शन पाया जा सके, एवं दृष्ट और अदृष्ट प्रमाणोंसे उपयोग लक्षणवाला जीव द्रव्य सिद्ध है, अतएव उसमें असंभव दोष भी असंभव ही है।

इस लक्षणके उत्तर भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स उपयोगो द्विविधः साकारोऽनाकारश्च ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेत्यर्थः। स पुनर्यथासंख्यमष्टचतुर्भेदो भवति। ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः। तद्यथा। मतिज्ञानोपयोगः श्रुतज्ञानोपयोगः, अवधिज्ञानोपयोगः, मनःपर्यायज्ञानोपयोगः, केवलज्ञानोपयोग इति, मत्यज्ञानोपयोगः, श्रुताज्ञानोपयोगः, विभङ्गज्ञानोपयोग इति। दर्शनोपयोगश्चतुर्भेदः, तद्यथा—चक्षुर्दर्शनोपयोगः, अचक्षुर्दर्शनोपयोगः, अवधिदर्शनोपयोगः, केवलदर्शनोपयोग इति।

१—" व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।" २—लक्ष्यके एकदेशमें रहनेको **अव्याप्ति**, लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहनेको **अतिव्याप्ति** और लक्ष्यमात्रमें लक्षणके न रहनेको **असंभव** दोष कहते हैं। ३—यह बात पहले अध्यायके अंतमें (टिप्पणीमें) बताई जा चुकी है।

अर्थ—जीवका लक्षणरूप उपयोग दो प्रकारका है, एक साकार दूसरा अनाकार। ज्ञानोपयोगको साकार और दर्शनोपयोगको अनाकार कहते हैं। इनके भी क्रमसे आठ और चार भेद है। ज्ञानोपयोगके आठ भेद इस प्रकार हैः—मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्यायज्ञानोपयोग, और केवलज्ञानोपयोग, तथा मत्यज्ञानोपयोग, श्रुताज्ञानोपयोग, विभङ्गज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोगके चार भेद इस प्रकार हैं—चक्षुर्दर्शनोपयोग, अचक्षुर्दर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, और केवलदर्शनोपयोग।

भावार्थ—यद्यपि इस सूत्रके विषयमें किसी किसीका ऐसा कहना है कि यहाँपर तत् (स) शब्दका पाठ नहीं करना चाहिये, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्तर विषयका ही सम्बन्ध दिखानेके लिये उसके ग्रहण करनेकी आवश्यकता है, जैसे कि "स आस्रवः"[1] इत्यादि सूत्रोंमें किया गया है।

सविकल्प परिणतिको ज्ञान और निर्विकल्प परिणतिको दर्शन कहते हैं। इनकी प्रवृत्ति क्रमसे इस प्रकार होती है, कि पहले दर्शनोपयोग और पीछे ज्ञानोपयोग। इस क्रमके कारण यद्यपि पहले दर्शनोपयोगका और पीछे ज्ञानोपयोगका पाठ करना चाहिये; परन्तु दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान अभ्यर्हित—पूज्य है, और उसका वक्तव्य विषय भी अत्यधिक है, तथा उसके ही भेदभी अधिक हैं, अतएव ज्ञानोपयोगका ही पूर्वमें पाठ करना उचित है।

किसी किसीका ऐसा भी कहना है, कि ज्ञान और दर्शनसे भिन्न भी उपयोग होता है, जो कि विग्रहगतिमें जीवोंके पाया जाता है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं हैं; क्योंकि इसमें युक्ति और आगम दोनोंसे ही बाधा आती है। ज्ञानदर्शनसे भिन्न उपयोग पदार्थ किसी भी युक्ति अथवा प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। आगममें भी उपयोगके ज्ञान और दर्शन ऐसे दो ही भेद गिनाये हैं—इन दोनोंसे रहित कोई भी अवस्था उपयोगकी नहीं बताई।[2] तथा विग्रहगतिमें भी ज्ञान पाया जाता है, यह बात भी आगम—वाक्योंसे सिद्ध होती है। तथा विग्रहगतिमें लब्धिरूप इन्द्रियाँ भी रहती ही[3] हैं। अतएव ज्ञान दर्शन रहित उपयोगकी अवस्था नहीं रहती यह बात सिद्ध है।

१—अध्याय ६ सूत्र २। २—" जस्स दवियाता तस्स उवयोगाता णियमा अत्थि जस्स उवयोगाता तस्स नाणाया वा दंसणाया वा णिमया अत्थि," (भगवत्यां श० १२ उ० १० सूत्र ४६७)। "अपज्जत्तगाणं भते ? जीवा किं नाणी अण्णाणी ? तिन्नि गोयमा ! नाणा तिन्नि अण्णाणाए।" (भगवत्यां श० ८ उ० २ सूत्र ३१९) तथा—"जाइस्सरो उ भगव अप्पडिवडिएहिं तिहिं उ नाणेहिं।" (आवश्यक निर्युक्ति ऋषभजन्माधिकारे)। ३—" जीवेणं भंते ! गब्भाओ गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए. वक्कमइ अणिंदिए वक्कमइ ? गोयमा ! सिय सइंदिए सिय अणिंदिए, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! दव्विन्दियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमति लद्धिन्दियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमति।" (भगवत्यां श० १ उ० ७ सूत्र ६१) अर्थात् जीव विग्रहगतिमें लब्धिरूप इन्द्रियोंकी अपेक्षासे इन्द्रिय सहित ही जाता है।

उपयोग यह जीवका सामान्य लक्षण है—वह जीवमात्रमें पाया जाता है। और वह दो भेद रूप है, यह बात तो बताई, परन्तु इस लक्षणसे युक्त जीव द्रव्यके कितने भेद हैं, सो अभीतक नहीं बताये, अतएव उनको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

भाष्यम्—ते जीवाः समासतो द्विविधा भवन्ति-संसारिणो मुक्ताश्च । किं चान्यत्—

अर्थ—जिनका कि उपयोग यह लक्षण ऊपर बताया जा चुका है, वे जीव संक्षेपमें दो प्रकारके है—एक संसारी और दूसरे मुक्त।

भावार्थ—संसरण नाम परिभ्रमणका है, वह जिनके पाया जाय-जो चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करनेवाले है, अथवा इस भ्रमणके कारणभूत कर्मोका जिनके सम्बन्ध पाया जाय, उनको संसारी कहते है। और जो उससे रहित हैं, उनको मुक्त कहते हैं।

यद्यपि जीवोंके इन दो भेदोंमें मुक्त जीव अभ्यर्हित हैं, इसलिये सूत्रमें पहले उनका ही उल्लेख करना चाहिये था। परन्तु अभिप्राय विशेष दिखानेके लिये सूत्रकारने पहले संसारी शब्दका ही पाठ किया है। वह अभिप्राय यह है, कि इससे इस बातका भी बोध हो जाय, कि संसारपूर्वक ही मोक्ष हुआ करती है। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि संसारी जीवोंका आगेके ही सूत्रोंमें वर्णन करना है, अतएव उसका पहले ही पाठ करना उचित है।

संसारी जीवोंके उत्तरभेद बतानेके लिये सूत्र करते है।—

सूत्र—समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—समासतस्ते एव जीवा द्विविधा भवन्ति-समनस्काश्च अमनस्काश्च। तान् पुरस्तात् वक्ष्यामः[1]॥

अर्थ—उपर्युक्त संसारी जीवोंके संक्षेपसे दो भेद हैं—एक समनस्क दूसरे अमनस्क। इन दोनोंका ही स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे।

भावार्थ—जो मन सहित हों उनको समनस्क कहते है, और जो मन रहित हों, उनको अमनस्क कहते है। नारक देव और गर्भज मनुष्य तिर्यंच ये सब समनस्क है, और इनके सिवाय जितने संसारी जीव हैं, वे सव अमनस्क है। जो शिक्षा क्रिया आलाप आदिको ग्रहण कर सकें, समझना चाहिये, कि ये मन सहित है। मन दो प्रकारका है—एक द्रव्यमन दूसरा भावमन। मनोवर्गणाओंके द्वारा अष्टदल कमलके आकारमें बने हुए अन्तःकरणको द्रव्यमन कहते है और जीवके उपयोगरूप परिणामको भावमन कहते हैं।

१—अध्याय २ सूत्र २५

संसारी जीवोंके और भी भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्ति–त्रसाः स्थावराश्च। तत्र—

अर्थ—फिर भी संसारी जीवोंके दो भेद हैं—एक त्रस दूसरे स्थावर।

भावार्थ—यहँसे चतुर्थ अध्यायके अंत तक संसारी जीवका ही अधिकार समझना चाहिये। मुक्त जीवोंका वर्णन दशवें अध्यायमें करेंगे। त्रस और स्थावर ये भी संसारी जीवोंके ही दो भेद हैं। त्रसनामकर्मके उदयसे जिनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट रहता है, उनको त्रस कहते हैं, और जिनके स्थावरनामकर्मके उदयसे उनका अनुभव स्पष्टतया नहीं होता, उनको स्थावर कहते हैं। कोई कोई इन शब्दोंका अर्थ निरुक्तिके अनुसार ऐसा करते हैं, कि जो चलता फिरता है, वह त्रस और जो एक जगहपर स्थिर रहे, वह स्थावर। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे वायुकायको भी त्रस मानना पड़ेगा, तथा बहुतसे द्वीन्द्रियादिक भी जीव ऐसे हैं, जो कि एक ही जगहपर रहते हैं, उनको स्थावर कहना पड़ेगा।

इन दो भेदोंमें परस्पर संक्रम भी पाया जाता है—त्रस मरकर स्थावर हो सकते हैं, और स्थावर मरकर त्रस हो सकते हैं। परन्तु इनमें त्रस पर्याय प्रधान है। क्योंकि उनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट होता है।

स्थावरोंके भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः[3] ॥ १३ ॥

भाष्यम्—पृथ्वीकायिकाः, अप्कायिकाः, वनस्पतिकायिकाः इत्येते त्रिविधाः स्थावरा जीवा भवन्ति। तत्र पृथ्वीकायिकोऽनेकविधः शुद्धपृथिवीशर्करावालुकादिः। अप्कायोऽनेकविधः हिमादिः। वनस्पतिकायोऽनेकविधः शैवलादिः।

१—"परिस्पष्टसुखदु खेच्छाद्वेषादिलिङ्गास्त्रसनामकर्मोदयात् त्रसाः। अपरिस्फुटसुखादिलिङ्गा स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावरा। " इति सिद्धसेनगणिटीकायाम्। २—त्रस्यन्तीति त्रसाः, स्थानशीलाः स्थावराः ॥ ३—यद्यपि आगे चलकर सूत्र १४ में अग्निकाय और वायुकायको त्रस लिखा है, परन्तु वहाँ केवल क्रियाकी अपेक्षासे वैसा लिखा है, वस्तुतः कर्मकी अपेक्षासे वे दोनों स्थावर हैं, यह बात भी ग्रंथकारको इष्ट है। इसी लिये श्रीसिद्धसेनगणीने अपनी टीकामें लिखा है, कि "अतः क्रियां प्राप्य तेजोवाय्वोस्त्रसत्वं,......लब्ध्या पृथिव्यप्तेजोवायु–वनस्पतयः सर्वे स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावरा एव।"

अर्थ—स्थावर जीव तीन प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक।[1] इनमेंसे पृथिवीकायिक जीव शुद्ध पृथिवी शर्करा बालुका मृत्तिका उपल आदिके भेदसे अनेक प्रकारके है। इसी प्रकार जलकायिक जीव भी हिम अवश्याय आदिके भेदसे अनेक प्रकारके है। तथा वनस्पतिकायिक भी शैवल मूलक आर्द्रक पणक वृक्ष गुच्छ गुल्म लता आदिके भेदसे अनेक प्रकारके है।

भावार्थ—स्थावर और त्रस शब्दोंका अर्थ दो प्रकारसे होता है—एक क्रियाकी अपेक्षासे और दूसरा कर्मके उदयकी अपेक्षासे। क्रियाकी अपेक्षासे जो स्थानशील हों—एक ही जगहपर रहें—चलते फिरते न हों, उनको स्थावर कहते है, और कर्मके उदयकी अपेक्षासे जिनके स्थावरनामकर्मका उदय हो, उनके स्थावर कहते है। यहाँपर ये स्थावरके तीन भेद क्रियाकी अपेक्षासे बताये है, न कि कर्मोदयकी अपेक्षासे। क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे अग्निकाय और वायुकाय भी स्थावर[2] ही है।

स्थावरोंके विषयमें यह शंका हो सकती है, कि क्या इनमें भी साकार और अनाकार उपयोग पाया जाता है? सो युक्ति और आगम दोनों ही प्रकारसे इनमें दोनों प्रकारके उपयोगका अस्तित्व सिद्ध है, ऐसा समझना चाहिये। आहारादि क्रिया विशेषके देखनेसे उनकी आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञाओंका बोध होता है, जिनसे कि उनके उपयोगकी अनुमानसे[3] सत्ता सिद्ध होती है। आगममें[4] भी इनके साकार और अनाकार ऐसे दोनों ही उपयोगोंका उल्लेख किया गया है।

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें सूत्रपाठ ऐसा है कि—" पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः " " तथा द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः "। अतएव स्थावर पाँच प्रकारके माने हैं—पृथिवीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय। तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इनको ही त्रस माना है, उन्होंने कर्मके उदयसे ही स्थावर और त्रस भेद किये हैं, क्रियाकी अपेक्षासे नहीं। जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणीने भी कर्मोदयकी अपेक्षा पृथिवीकायादि पाँचोंको स्थावर और द्वीन्द्रियादिकको ही त्रस बताया है। २—जैसा कि पहले श्रीसिद्धसेनगणीके वाक्योंको उद्धृत करके बताया जा चुका है। ३—एकेन्द्रिया उपयोगवन्त आहारादिषुविशिष्टप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः ॥ ४—" पुढविकाइयाणं भंते ! किं सागारोवओगोवउत्ता अणागारोवओगोवउत्ता ? गोयमा ! सागारोवओगोउत्ता वि अणागारोवओगोवउत्तावि। " (प्रज्ञा० सूत्र-३१२) अर्थात् हे भदन्त ! पृथिवीकायिक जीव साकारोपयोगयुक्त अथवा अनाकारोपयोगयुक्त हैं? उत्तर—हे गौतम, साकारोपयोगयुक्त भी हैं; और अनाकारोपयोगयुक्त भी हैं। इसी प्रकार अन्य स्थावरोंके विषयमे भी समझ लेना चाहिये।

पृथिवी आदिके भेद और भी तरहसे ग्रन्थान्तरोंमें बताये हैं, सो वे भी उन ग्रन्थोंसे जान लेने चाहिये[1] ।

त्रसोंके भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तेजःकायिका अङ्गारादयः, वायुकायिका उत्कलिकादयः, द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया इत्येते त्रसा भवन्ति । संसारिणस्त्रसाः स्थावरा इत्युक्ते एतदुक्तं भवति मुक्ता नैव त्रसा नैव स्थावरा इति ॥

अर्थ—अङ्गार किरण ज्वाला मुर्मुर शुद्धाग्नि आदिक अग्निकायिक जीवोके अनेक भेद हैं । घनवात तनुवात उत्कलिका मंडालि इत्यादि वायुकायिक जीवोंके भी अनेक भेद हैं । तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन सब जीवोंको त्रस कहते है ।

यहाँपर संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं, ऐसा कहनेसे अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा यह बात स्पष्ट सिद्ध होजाती है, कि मुक्तजीव न त्रस है और न स्थावर हैं। अर्थात् वे इन दोनो ही संसारकी अवस्थाओंसे सर्वथा रहित है ।

भावार्थ—जिस तरह पूर्व सूत्रमें स्थावरोंका उल्लेख क्रियाकी प्रधानतासे किया गया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें त्रसोंका भी विधान क्रियाकी ही प्रधानतासे समझना चाहिये । क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे द्वीन्द्रियादिकें ही त्रस हैं ।

पॉच स्थावरोंके समान द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके भी अनेक भेद है । यथा—शंख शुक्ति गिडोला कौढी चनूना आदि द्वीन्द्रिय जीव है । घुण मत्कुण (खटमल) जूं चींटी आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं । भ्रमर मक्खी मच्छर बर्रे पतंग तितली आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं । सर्प पक्षी मत्स्य आदिक और सम्पूर्ण मनुष्य और पशु पंचेन्द्रिय जीव हैं । पाँच स्थावर और त्रस जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार है—पृथिवीकायिक जीवोंके शरीरका आकार मसूरके समान है ।

१—पृथिवी पृथिवीकाय पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव । इस तरह पृथिवीके चार भेद हैं । इसी प्रकार जलादिक पाँचो ही स्थावरोके चार चार भेद समझ लेने चाहिये । काठिन्य गुणके धारण करनेवाली सामान्यसे चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकारकी पुद्गलकी स्वाभाविक पृथनक्रियायुक्त पर्यायविशेषको पृथिवी कहते हैं । इसके मृत्तिका वालुका आदि ३६ भेद श्रीअमृतचंद्रआचार्यने तत्त्वार्थसारमें गिनाये हैं । जिसके पृथिवीनामकर्मका उदय है, उस जीवके द्वारा ग्रहण करके पुन छोड़े हुए शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं। जिसके पृथिवीनामकर्मका उदय है, और जिसने पृथिवीको शरीररूपसे धारण भी कर रक्खा है, उसको पृथिवीकायिक कहते हैं । जो पृथिवीकायिक पर्यायको धारण करनेवाला है, परन्तु अभीतक जिसने शरीरको धारण नहीं किया है, किंतु जिसके पृथिवीनामकर्मका उदय हो आया है, ऐसे विग्रहगतिमें स्थित जीवको पृथिवीजीव कहते हैं । इसी तरह जल जलकाय जलकायिक जलजीव आदिके भेद भी समझ लेने चाहिये । जलकायिक आदि जीवोंके भी भेद श्रीअमृतचंद्र आचार्यने तत्त्वार्थसारमें दिखाये हैं ।
२—इसका कारण पहले लिखा जा चुका है ।

जलकायिक जीवोंके शरीरका आकार जलकी विन्दुके समान है। अग्निकायिक जीवोंके शरीरका आकार सूचीकलाप–सुइयोंके पुंजके समान है। वायुकायिक जीवोंके शरीरका आकार ध्वजाके समान है। वनस्पतिकायिक और त्रस जीवोंके शरीरका आकार नानाप्रकारका है–किसी भी एक प्रकारका निश्चित नहीं है[1]।

पहले अध्यायमें " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " इत्यादि सूत्रोंमें तथा " द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः " इत्यादि स्थलोंमें इन्द्रियोंका उल्लेख किया है, परन्तु उनके विषयमें अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि उनकी संख्याका अवसान कहाँपर होता है–उनकी संख्या कितनी है, अतएव उनकी संख्याकी इयत्ता बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

भाष्यम्—पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति। आरम्भो नियमार्थः, षडादिप्रतिषेधार्थश्च। " इन्द्रियं इन्द्रलिङ्गमिन्द्रदिष्टमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।"[2] इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येष्वैश्वर्ययोगात् विषयेषु वा परमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्, लिङ्गनात् सूचनात् प्रदर्शनादुपष्टम्भनाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिंगमिन्द्रियम् ॥

अर्थ—इन्द्रियाँ पाँच है। इस सूत्रका आरम्भ नियमार्थक है। जिससे नियम रूप इस प्रकारका अर्थ सिद्ध होता है, कि इन्द्रियाँ पाँच ही हैं—अर्थात् न छह हैं, और न चार है। इसलिये छह आदिक संख्याका प्रतिषेध करना नियमका प्रयोजन सिद्ध होता है। इन्द्रके लिङ्गको इन्द्रिय कहते हैं। लिङ्ग शब्दसे पाँच अभिप्राय लिये जाते हैं—

१–इन्द्रका ज्ञापक–बोधक चिन्ह, २ इन्द्रके द्वारा अपने अपने कार्योंमें आज्ञप्त, ३ इन्द्रके द्वारा देखे गये, ४ इन्द्रके द्वारा उत्पन्न, और ५ इन्द्रके द्वारा सेवित–अर्थात् जिनके द्वारा इन्द्र शब्दादिक विषयोंका सेवन–ग्रहण करे। इन्द्र नाम जीवका है। क्योंकि जो ऐश्वर्यको धारण करनेवाला है, उसको इन्द्र कहते है, और सम्पूर्ण द्रव्योंमें जीवका ही ऐश्वर्य पाया जाता है, अथवा समस्त विषयोंमें इसके उत्कृष्ट ऐश्वर्यका सम्बन्ध है। अर्थात् जीव सब द्रव्योंका प्रभु–स्वामी है और समस्त विषयोंका उत्कृष्टतया भोक्ता है, अतएव वह इन्द्र है। और इसके लिङ्गको इन्द्रिय कहते है। इन्द्रियाँ जीवको सूचित करनेवाली है, जीवसे आज्ञप्त होकर अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति करनेवाली हैं, जीवको प्रदर्शित करनेवाली हैं, अथवा जीवके द्वारा स्वयं प्रदर्शित होती है, जीवके निमित्तसे ही इनकी उत्पत्ति होती है, और जीव इनके द्वारा इष्ट विषयोंका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, अतएव ये जीवकी लिङ्ग है।

१—मसूराम्बुपपृत्सूचीकलापध्वजसन्निभाः । धरातेजोमरुत्काया नानाकारास्तरुत्रसाः ॥ ५७ ॥ —श्रीअमृतचन्द्रसूरि–तत्त्वार्थसार। २—पाणिनीय अध्याय २ पाद ५ सूत्र ९३ । इन्द्रदिष्टमितिपाठः क्वचिन्नास्ति। टीकाकारैस्तु संगृहीतः।

भावार्थ—जीवकी चैतन्य शक्तिको ये इन्द्रियाँ ही सूचित करती हैं, इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको देखकर अनुमान होता है, कि इस शरीरमें जीव है । परन्तु सभी जीवोंके पाँचोही इन्द्रियाँ नहीं होतीं, किसीके एक किसीके दो किसीके तीन किसीके चार और किसीके पाँचो होती है । परन्तु ये एक दो आदि किन किनके होती हैं, सो सूत्रकार स्वयं ही आगे चलकर बतावेंगे । यहाँपर तो इन्द्रियोंकी संख्याकी इयत्ता ही बताई है कि इन्द्रियाँ पाँचही है । इस नियमसे जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय इस तरह दश भेद मानते हैं, उनका निराकरण होता है । इन पाँच इन्द्रियोंमेंसे रसनासे लेकर श्रोत्रपर्यन्त चार इन्द्रियोंका आकार नियत है, परन्तु स्पर्शनेन्द्रियका आकार अनियत है । इन इन्द्रियोंके उत्तर भेद और विषय विभागादिका आगे चलकर वर्णन करेंगे । किन्तु सबसे पहले इनके सामान्य भेदोको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विविधानि ॥ १६ ॥

भाष्यम्—द्विविधानीन्द्रियाणि भवन्ति । द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि च । तत्र—

अर्थ—इन्द्रियाँ दो प्रकारकीं हैं–एक द्रव्येन्द्रिय दूसरी भावेन्द्रिय । आत्माके असंख्यात प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनंत पुद्गल प्रदेशोंके द्वारा जो तत्तत् इन्द्रियोंका आकार विशेष बनता है, उसको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । और कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षासे आत्माकी जो परिणति विशेष होती है, उसको भावेन्द्रिय कहते हैं । इनमेंसे क्रमानुसार द्रव्येन्द्रियके आकार और भेदोंको बतानेके लिये सत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

भाष्यम्—निर्वृत्तीन्द्रियमुपकरणेन्द्रियं च द्विविधं द्रव्येन्द्रियम् । निर्वृत्तिरङ्गोपाङ्गनामनिर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि कर्मविशेषसंस्कृताः शरीरप्रदेशाः । निर्माणनामाङ्गोपाङ्गप्रत्यया मूलगुणनिर्वर्तनेत्यर्थः । उपकरणं बाह्यमभ्यन्तरं च । निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति॥

अर्थ—द्रव्येन्द्रियके दो भेद है–निर्वृत्तीन्द्रिय और उपकरणेन्द्रिय । निर्वृत्ति नाम रचनाका है । अर्थात् भावेन्द्रियके उन द्वारोंको जिनकी कि रचना अङ्गोपाङ्गनामकर्मके द्वारा हुई है, और जो कि कर्मविशेषके द्वारा संस्कृत शरीरके प्रदेशरूप है, उनको निर्वृत्तीन्द्रिय कहते है । अर्थात् निर्माणनामकर्म और अङ्गोपाङ्गनामकर्मके निमित्तसे जिसकी रचना होती है, उस मूलगुणनिर्वर्तनाका ही नाम निर्वृत्तीन्द्रिय है । जो उस रचनाका उपघात नहीं होने देता, तथा उसकी स्थिति आदिकमें जो सहायता करता है, इन दो प्रकारोंसे जो उस रचनाका उपकार करनेवाला है, उसको उपकरण कहते है । इस उपकरणके दो भेद है—एक बाह्य दूसरा अभ्यन्तर ।

भावार्थ—जो भावेन्द्रियकी सहायक हैं, उनको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। वह दो प्रकारकी है, निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति भी दो प्रकारकी होती है, आभ्यंतर और बाह्य। जो निर्वृत्तिका उपकारक है, उसको उपकरण कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आङ्गोपाङ्ग और निर्माणनामकर्मके उदयके निमित्तसे तत्तत् इन्द्रियोंका आकार बना करता है। तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे युक्त आत्माके असंख्यात प्रदेश उस उस इन्द्रियके आकारमे परिणत हुआ करते है। तथा उन्हीं आत्मप्रदेशोंके स्थानमें उस उस इन्द्रियके आकारमें जो पुद्गल द्रव्यकी रचना उक्त दोनों कर्मोके निमित्तसे होती है, उसको भी द्रव्येन्द्रिय कहते है। इनका स्वरूप चक्षुरिन्द्रियमें अच्छी तरह घटित होता है। और समझमें आता है, अतएव उसीमें घटित करके यहाँ बताते है।—चक्षुरिन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशयसे युक्त अङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेशोंका चक्षुरिन्द्रियके आकारमें बनना इसको आभ्यन्तरनिर्वृत्ति कहते है। और तद्योग्य पुद्गलस्कन्धोंका मसूरके आकारमें परिणत होना, इसको बाह्यनिर्वृत्ति कहते है। कृष्ण शुक्लवर्णका जो उसी इन्द्रियके आकारमे परिमण्डल दिखाई देता है, उसको आभ्यन्तर उपकरण कहते है। और पलक बिनोनी आदिको बाह्य उपकरण कहते है।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी यथायोग्य घटित करके समझ लेना चाहिये। इन्द्रियोंका आकार–स्पर्शनेन्द्रियके सिवाय चारका नियत है, और स्पर्शनेन्द्रियका अनियत है। श्रोत्रेन्द्रियका आकार यवनालीके सदृश, चक्षुरिन्द्रियका आकार मसूर अन्न विशेषके समान, घ्राणेन्द्रियका आकार अतिमुक्तक पुष्प विशेषके तुल्य और रसना इन्द्रियका आकार क्षुरप्र–खुरपा सरीखा हुआ करता है। स्पर्शनेन्द्रियका आकार शरीरके अनुसार नाना प्रकारका हुआ करता है।

बाह्य और अभ्यन्तर उपकरण निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रियका बाह्य वस्तुसे घात नहीं होने देते, और अपने कार्यकी प्रवृत्तिमें सहायता किया करते है। मूलगुण निर्वर्तना शब्द उत्तरगुणनिर्वर्तनाको भी सूचित करता है। अतएव जिन बाह्यपदार्थोसे उन इन्द्रियोंको सहायता मिला करती है, उनको उत्तरगुण निर्वर्तना कहते है। जैसे कि चक्षुके लिये अञ्जन आदिके द्वारा संस्कार करना।

भावेन्द्रिय के भेद और स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१—" चक्खू सोद घाणं जिब्भायारं मसूरजवणाली। अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसठाणं ॥ १७० " (गोम्मटसार जीवकाड)। तथा—" फासिंदिए णं भंते! किं संठिएपण्णते? गोयमा! णाणासठाणसठिए, जिब्भिदिएणं भंते! किं संठिएपण्गते? गोयमा! खुरप्प संठिए, घाणिंदिएण भंते! किंठिए पण्णत्ते? गोयमा! अतिमुत्तयचंदकसंठिए, चक्खुरिंदिएण भंते! कि सठिएपण्णत्ते? गोयमा! मसूरयचदसंठिएपण्णत्ते सोइंदिए णं भंते! किंसंठिए पण्गत्ते? गोयमा! कलंबुयापुप्फसंठिए पण्गत्ते " (प्रज्ञा० सूत्र १९१) २—श्रीसिद्धसेनगणीके कथनानुसार उपकरणके ये दो भेद आगममें नहीं बताये हैं। किसी तरहसे आचार्यकी सम्प्रदाय इनको कहनेकी प्रचलित है। यथा—" आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैवकुतोऽपि सम्प्रदाय इति "।

सूत्र—लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

भाष्यम्—लब्धिरुपयोगस्तु भावेन्द्रियं भवति । लब्धिर्नाम गतिजात्यादिनामकर्मजनिता तदावरणीयकर्म क्षयोपशमजनिता च । इन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्ता च जीवस्य भवति। सा पञ्चविधा, तद्यथा—स्पर्शनेन्द्रियलब्धिः, रसनेन्द्रियलब्धिः, घ्राणेन्द्रियलब्धिः, चक्षुरिन्द्रियलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियलब्धिरिति ॥

अर्थ—भावेन्द्रियके दो भेद है—लब्धि और उपयोग । गति जाति शरीर आदि[1] नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो उत्पन्न होती है, और जो तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है, उसको लब्धि कहते हैं । एवं च पूर्वोक्त इन्द्रियोंका तथा आङ्गोपाङ्ग और निर्माणनामकर्मका आश्रय लेकर जीवके ये लब्धिरूप इन्द्रियाँ निष्पन्न हुआ करती है । तथा अन्तरायकर्मके[2] क्षयोपशमकी अपेक्षा लेकर इन्द्रियोंके विषयका उपभोग–ग्रहण करनेके लिये जो ज्ञानशक्ति प्रकट होती है, उसको लब्धि कहते हैं । यह लब्धि इन्द्रियोंके भेदसे पॉच प्रकारकी है—स्पर्शनेन्द्रियलब्धि, रसनेन्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रिय लब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि, और श्रोत्रेन्द्रियलब्धि ।

भावार्थ—लब्धि नाम प्राप्तिका है। सो उपर्युक्त कर्मोदयादिके कारणको पाकर ततद् इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे उस जीवको उस उस इन्द्रियके विषयको ग्रहण करनेकी जो शक्ति प्रकट होती हैं, उस लाभको ही लब्धि कहते हैं। इसके होनेसे उस उस इन्द्रियके विषयको ग्रहण करनेकी जीवमें योग्यता प्राप्त होती है । अतएव इन्द्रिय भेदसे इस लब्धिके भी पॉच भेद है ।

उपयोगका स्वरूप यहॉपर नहीं बताया है। उपयोग शब्दसे मतिज्ञानादिक पॉचों प्रकारका सम्यग्ज्ञान अथवा तीन अज्ञान सहित आठों ही प्रकारका उपयोग लिया जा सकता है। परन्तु अवधि आदिक अतीन्द्रियज्ञान उपयोग शब्दसे अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वे इन्द्रियोंकी तथा उनके कारणोंकी अपेक्षासे उत्पन्न नहीं होते । अतएव यहॉपर उपयोग शब्दसे कौनसा उपयोग लेना चाहिये, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—उपयोगः स्पर्शादिषु[3] ॥ १९ ॥

भाष्यम्—स्पर्शादिषु मतिज्ञानोपयोगः इत्यर्थः। उक्तमेतदुपयोगो लक्षणम् ।” उपयोगः

१—आदि शब्दसे शरीरकर्म आदि जो जो सहायक है, उन सबका ग्रहण समझना चाहिये, आयुकर्मके विषयमे मतभेद है–किसीको उसका भी ग्रहण इष्ट है, किसीको वह इष्ट नहीं है । २–इस विषयमें भी मतभेद मालूम होता है जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणीके इन वाक्योंसे प्रकट होता है कि–“अन्ये पुनराहु –अन्तरायकर्मक्षयोपशमापेक्षा” इत्यादि। ३—किसीके मतमे यह सूत्र ही नहीं है । कोई कहते हैं, कि यह भाष्यका पाठ है, जो कि सूत्ररूपमें बोला जाने लगा है । किंतु श्रीसिद्धसेनगणीने सूत्र ही माना है ।

प्रणिधानम् । आयोगस्तद्भावः परिणाम,इत्यर्थः । एषां च सत्यां निर्वृत्तावुपकरणोपयोगौ भवतः। सत्यां च लब्धौ निर्वृत्त्युपकरणोपयोगा भवन्ति । निर्वृत्त्यादीनामेकतराभावेऽपि विषयालोचनं न भवति ।

अर्थ——मतिज्ञानके उस व्यापारको जो कि स्पर्शनादिक इन्द्रियोंके स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दरूप प्रतिनियत विषयोंको ग्रहण करनेवाला है, उपयोग कहते हैं। स्पर्शादि विषयका मतिज्ञान ही यहाँपर उपयोग शब्दसे लिया गया है, ऐसा कहनेसे अवधिज्ञानादिका भाष्यकारने निषेध व्यक्त किया है, परन्तु उपयोग शब्दका अर्थ किसी भी परिणतिमें उपयुक्त होना भी होता है। अतएव परमाणु अथवा स्कन्धरूप पुद्गल भी उपयोग शब्दके द्वारा कहे जा सकते है। क्योंकि वे भी द्व्यणुकादि स्कन्धरूप परिणतिमें उपयुक्त होते है। परन्तु उपयोग शब्दका यह अर्थ सर्वथा असंगत है, इस बातको बतानेके लिये ही आगे भाष्यकार कहते है— कि जीवका लक्षण उपयोग है, यह बात पहले कही जा चुकी है। अर्थात्—जब उपयोग जीवका ही लक्षण है। तब पुद्गलके विषयमें उसकी कल्पना करना सर्वथा विना सम्बन्धकी बात है— बिल्कुल अयुक्त है। क्योंकि उपयोगसे चैतन्यलक्षण ही लिया जाता है । द्रव्येन्द्रियादिककी अपेक्षा लेकर स्पर्शादिक विषयोंकी तरफ ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है, उसको अथवा स्पर्शनादिक इन्द्रियोंके द्वारा उद्भूत होनेवाले उस ज्ञानको जो कि विषयकी मर्यादापूर्वक स्पर्शादिके भेदको अवभासित करनेवाला है उपयोग कहते है। यह आत्माका ही परिणाम है, न कि अन्य द्रव्यका ।

इस इन्द्रियोंके प्रकरणमें निर्वृत्ति आदिक जो इन्द्रियोंके भेद गिनाये है, उनकी प्रवृत्तिका क्रम इस प्रकार है कि—निर्वृत्तिके होनेपर ही उपकरण और उपयोग हुआ करते है । तथा लब्धिके होनेपर ही निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग हुआ करते है। क्योंकि निर्वृत्तिके विना उपकरणकी रचना नहीं हो सकती और उपकरणके विना उपयोगकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार लब्धिके विना ये तीनों ही-निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग नहीं हो सकते। क्योंकि तत्तद् इन्द्रियावरणकर्मका क्षयोपशम हुए विना इन्द्रियोंके आकारकी रचना नहीं हो सकती, और उसके विना ज्ञानकी अपने अपने स्पर्शादिक विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव इन चारोंकी मिलकर ही इन्द्रिय संज्ञा हुआ करती है, न कि इनमेंसे अन्यतमकी। क्योंकि इन चारोंमेसे एकके भी विना विषयका ग्रहण नहीं हो सकता ।

भावार्थ—उपयोग शब्दसे इन्द्रियजन्य मतिज्ञान विशेष—चैतन्य परिणाम समझना चाहिये। यह उपयोग दो प्रकारका होता है—एक विज्ञानरूप दूसरा अनुभवरूप। घटादि पदार्थोकी उपलब्धिको विज्ञान और सुखदुःखादिके वेदनको अनुभव कहते है। यह उपयोग पाँचो इन्द्रियोंके द्वारा हुआ

करता है, परन्तु एक समय में एक ही इन्द्रियके द्वारा होता है। किसी किसी ने एक ही समयमें अनेक इन्द्रियोंके द्वारा भी उपयोगका होना माना है। परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपयोगकी गति अति सूक्ष्म होनेसे एक ही समयमें प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उनका समय भिन्न भिन्न ही है। जैसे कि छुरीसे सैकड़ों कमलपत्रोंको काटते समय वे एक ही समयमें कटते हुए प्रतीत होते हैं, किंतु वास्तवमें वैसा नहीं है। क्योंकि उनको काटते समय एक पत्रको काटकर जितनी देरमें दूसरे पत्र तक छुरी पहुँचती है, उतनी देरमें ही असंख्यात समय हो जाते हैं। इसी तरह प्रकृतमें भी समयकी सूक्ष्म गति समझनी चाहिये। अतएव एक समयमें एक ही इन्द्रिय अपने विषयकी तरफ उन्मुख होकर प्रवृत्त हुआ करती है। हाँ, एक इन्द्रिय जिस समयमें अपने विषयकी तरफ उन्मुख होकर प्रवृत्ति करती है, उसी समयमें द्वितीयादि इन्द्रियजन्यज्ञान भी रह सकता है। अन्यथा स्मृतिज्ञान जो देखनेमें आता है, सो नहीं बन सकेगा। इस अपेक्षासे अनेक इन्द्रियजन्य उपयोग भी एक समयमें माने जा सकते हैं। दूसरी बात यह भी है, कि कर्मविशेषके द्वारा अर्थान्तरके उपयोगके समय पहलेका उपयोग आवृत भी हो जाता है।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता पञ्चेन्द्रियाणि इति। तत् कानि तानि इन्द्रियाणि इति? उच्यतेः—

अर्थ—प्रश्न—आपने "पञ्चेन्द्रियाणि" इस सूत्रके द्वारा इन्द्रियाँ पाँच ही है, यह तो बताया, परन्तु वे कौनसी हैं, सो नहीं बताया। अतएव कहिये कि वे पाँच इन्द्रियाँ कौन कौनसी हैं-उनके नाम क्या हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें पाँचों इन्द्रियोंके नाम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥

भाष्यम्—स्पर्शनं, रसनं, घ्राणं, चक्षुः, श्रोत्रमित्येतानि पञ्चेन्द्रियाणि ॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। अर्थात् ये क्रमसे पाँच इन्द्रियोंके नाम हैं। ये नाम अन्वर्थ हैं, और इनमें अभेद तथा भेदकी विवक्षासे कर्तृसाधन[4] और करणसाधन[5] दोनों ही घटित होते हैं। अतएव इनका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि जो स्पर्श करे—स्पर्शगुणको विषय करे उसको स्पर्शन[2] कहते हैं। तथा जिसके द्वारा स्पर्श किया जाय—जिसके आश्रयसे शीत उष्ण आदि स्पर्शकी पर्याय जानी जाँय उसको स्पर्शन[3] कहते है।

इन इन्द्रियोंके स्वामीका उल्लेख ग्रन्थकार आगे चलकर करेंगे। यहाँपर इनके विषयको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

---

१ इस प्रकार माननेवालेका नाम श्रीसिद्धसेनगणीने आर्यलिङ्ग लिखा है और उनको निन्हव करके बताया है। यथा—"यत आर्यलिङ्गनिन्हवकैर्युगपत् क्रियाद्वयोपयोगः"। २—स्पृशति इति स्पर्शनम्, रसतीति रसनम्, जिघ्रतीति घ्राणम्, चष्टे इति चक्षुः, शृणोतीति श्रोत्रम्। ३—स्पृश्यते अनेन इति स्पर्शनम्, रस्यते अनेन इति रसनम्, जिघ्रित अनेन इति घ्राणम्, चेष्ट अनेन इति चक्षुः, श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम्। ४—। कर्तृसाधन ५—करणसाधन।

सूत्र—स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—एतेषामिन्द्रियाणामेते स्पर्शादयोऽर्था भवन्ति यथासंख्यम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त पाँच इन्द्रियोंके क्रमसे ये पाँच विषय हैं—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ।

भावार्थ—ये शब्द कर्मसाधन[1] हैं । अतएव इनका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि जो छूआ जाय उसको स्पर्श, जो चखा जाय उसको रस, जो सूंघा जाय उसको गंध, जो देखा जाय उसको वर्ण, और जो सुना जाय उसको शब्द कहते हैं । ये नियत इन्द्रियोंके सिवाय अन्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते । इन्द्रियोंका और उनके विषय ग्रहणका नियम दोनों ही तरफसे है । यथा—स्पर्श विषय स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ही जाना जा सकता है, न कि अन्य इन्द्रियके द्वारा, इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा स्पर्श ही जाना जा सकता है न कि रसादिक । इसी तरह रसना आदिक इन्द्रियों और उनके रसादिक विषयोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव पाँचो इन्द्रियोंके क्रमसे ये पाँच विषय बताये है— स्पर्शनेन्द्रियका विषय स्पर्श, रसनेन्द्रियका विषय रस, घ्राणेन्द्रियका विषय गंध, चक्षुरिन्द्रियका विषय वर्ण—रूप, और श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द ।

इन्द्रियाँ अपने अपने विषयका ग्रहण करनेमें दो प्रकारसे प्रवृत्त हुआ करती है । एक प्राप्तिरूपसे दूसरे अप्राप्ति रूपसे । चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्ति[2] रूपसे ही पदार्थको ग्रहण करती है, बाकी चारों इन्द्रियाँ प्राप्तिरूपसे ही विषयका ग्रहण[3] करती है । इन इन्द्रियोंके विषयभूत क्षेत्रादिका प्रमाण भी भिन्न भिन्न है । कौन कौनसी इन्द्रिय कितनी कितनी दूरके पदार्थको ग्रहण कर सकती है है यह नियम ग्रन्थान्तरसे जानना चाहिये । जैसे कि स्पर्शन रसना और घ्राण इन्द्रियका क्षेत्र नौ योजन प्रमाण है । इसका अर्थ यह है, कि इतनी दूरतकसे आया हुआ पुद्गल स्पष्ट होनेपर इन इन्द्रियोंके द्वारा जाना जा सकता[4] है ।

१—स्पृश्यते इति स्पर्शः, रस्यते इति रसः, इत्यादि । २—चक्षुकी अप्राप्यकारिताका समर्थन न्यायके प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थोंमें किया गया है । ३—पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं चेव पस्सदे रूवं । फासं रसं च गन्धं बद्धं पुट्ठं विजाणादि ॥ ४—श्रोत्रेन्द्रियका क्षेत्र बारह योजन और चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट क्षेत्र आत्माङ्गुलकी अपेक्षा एक लक्ष योजनसे कुछ अधिक है ।

दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार इन्द्रियोंका विषयभूत क्षेत्र इस प्रकार है—एकेन्द्रियके स्पर्शनका क्षेत्र चारसौ धनुष है, और वह असंज्ञी पंचेन्द्रियतक क्रमसे दूना दूना होता गया है, द्वीन्द्रियके रसनाका क्षेत्र ६४ धनुष और आगे दूना दूना है । त्रीन्द्रियके घ्राणका क्षेत्र १०० धनुष आगे दूना दूना है । चतुरिन्द्रियके चक्षुका क्षेत्र दो हजार नौ सौ चौअन योजन और असंज्ञीके दूना है । असंज्ञीके श्रोत्रका क्षेत्र आठ हजार धनुष है, संज्ञीके स्पर्शन रसना घ्राणका क्षेत्र नौ नौ योजन, श्रोत्रका १२ योजन, और चक्षुका सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठसे कुछ अधिक है । चक्षुके इस उत्कृष्ट विषयक्षेत्रको निकालनेकी उपपत्ति इस प्रकार है- " तिण्णिसयसट्ठिविरहिदलक्खं दसमूलताडिदे मूलम् । णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं ॥ १६९ ॥—गो० जीवकाण्ड ।

स्पर्श आठ प्रकारका है—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु, कठोर । रस पाँच प्रकारका है—मधुर आम्ल कटु कषाय और तिक्त । गंध दो प्रकारका है—सुगंध और दुर्गंध । वर्ण पाँच प्रकारका है—श्वेत नील पीत रक्त हरित । शब्द गर्जित आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है । अथवा अक्षर अनक्षर आदि भेदरूप है ।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियोंका विषय बताया, परन्तु मतिज्ञानमें इन्द्रियोंकी तरह अनिन्द्रियको भी निमित्त माना है । अतएव इन्द्रियोंकी तरह अनिन्द्रियका भी विषय बताना चाहिये । इसीलिये आगेका सूत्र कहते हैः—

सूत्र—श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

भाष्यम्—श्रुतज्ञानं द्विविधमनेकद्वादशविधं नोइन्द्रियस्यार्थः ।

अर्थ—श्रुतज्ञानके मूलमें दो भेद हैं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य । अङ्गप्रविष्टके आचाराङ्गादि १२ भेद और अङ्गबाह्यके अनेक भेद है । यह पहले कहा जा चुका है । इन सम्पूर्ण भेद रूप श्रुत अनिन्द्रिय—मनका विषय है ।

भावार्थ—यहाँपर मनका विषय जो श्रुत बताया है, उससे मतलब भावश्रुतका है, जो कि श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्रव्यश्रुतके अनुसार विचार रूपसे तत्त्वार्थका परिच्छेदक आत्मपरिणति विशेष ज्ञानरूप हुआ करता है । जैसे किसीने धर्म द्रव्यका उच्चारण किया, उसको सुनते ही पहले शास्त्रमें बाँचे हुए अथवा किसीके उपदेशसे जाने हुए गतिहेतुक धर्म द्रव्यका बोध हो जाता है, यही मनका विषय है । इसी प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वार्थ और द्वादशाङ्गके समस्त विषयोंका जो विचार होना या करना मनका कार्य है । अर्थात् किसी भी विषयका विचार करना ही इसका विषय है । अथवा अर्थावग्रहके अनन्तर जो मतिज्ञान होता है, उसको भी उपचारसे श्रुतज्ञान कहते है । क्योंकि वह मनके विना नहीं होता । अतएव वह भी मनका ही विषय है, परन्तु मुख्यतया द्वादशाङ्गग्रन्थ—द्रव्यश्रुतके अनुसार जो होता है, वही लिया गया है ।

मनको अनिन्द्रिय कहनेका अभिप्राय ईषत् इन्द्रिय बतानेका है, जैसे कि किसी कन्याको अनुदरा कह दिया जाता है । इन्द्रियोंकी तरह इसका विषय नियत नहीं है, और इसका स्थान भी इन्द्रियोंके समान दृष्टिगोचर नहीं होता, अतएव इसको अनिन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहते है ।

इस प्रकार इन्द्रियोंका स्वरूप विषय और भेद विधान बताया । किंतु किस किस जीवके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं, सो अभीतक नहीं बताया है । अतएव इस बातको बतानेके लिये आगेका प्रकरण उठाते हैः—

भाष्यम्—उक्तं भवता पृथिव्यब्वनस्पतितेजोवायवो द्वीन्द्रियादयश्च नव जीवनिकायाः । पंचेन्द्रियाणि चेति । तत्किं कस्येन्द्रियमिति । अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने नौ जीवनिकाय बताये हैं—पृथिवी जल वनस्पति अग्नि और वायु ये पाँच और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय ये चार, इस तरह कुल जीवनिकाय ९ हैं और " पंचेन्द्रियाणि " इस सूत्रके द्वारा इन्द्रियाँ पाँच ही बताई है । अतएव कहिये कि किस किस जीवनिकायके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—पृथिव्यादीनां वाय्वन्तानां जीवनिकायानामेकमेवेन्द्रियम् । सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमं स्पर्शनमेवेत्यर्थः ॥

अर्थ—पृथिवीसे लेकर वायुपर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक ही इन्द्रिय है, और वह सूत्रक्रमकी प्रमाणताके अनुसार पहली स्पर्शन इन्द्रिय ही है । क्योंकि यहाँपर एक शब्दसे अभिप्राय प्रथमका है ।

भावार्थ—यद्यपि द्वीन्द्रियादिक शब्दोंका उच्चारण करनेसे ही यह अर्थ अर्थापत्ति प्रमाणके अनुसार समझमें आ जाता है, कि जो इनसे पहले वायु पर्यन्त जीवनिकाय है, उनके एक ही इन्द्रिय होना चाहिये । परन्तु ऐसा होनेपर भी यह समझमें नहीं आ सकता, कि द्वीन्द्रियके कौनसी दो इन्द्रियाँ है, और त्रीन्द्रियके कौनसी तीन इन्द्रियाँ है । इत्यादि । इसी तरह वायुपर्यन्तके भी कौनसी एक इन्द्रिय समझना सो भी समझमें नहीं आ सकता । इसलिये इस सूत्रके कहने की आवश्यकता है ।

दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं सो बताते हैं—

सूत्र—कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२४॥

भाष्यम्—कृम्यादीनां पिपीलिकादीनां भ्रमरादीनां मनुष्यादीनां च यथासंख्यमेकैकवृद्धानीन्द्रियाणि भवन्ति । यथाक्रमं, तद्यथा—कृम्यादीनां अपादिकनूपुरक गण्डूपद शङ्ख शुक्तिका शम्बूका जलोका प्रभृतीनामेकेन्द्रियेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः एकेन वृद्धे स्पर्शनरसनेन्द्रिये भवतः । ततोऽप्येकेनवृद्धानि पिपीलिका रोहिणिका उपचिका कुन्थु तम्बुरुकत्रपुसबीज कर्पासास्थिका शतपद्युत्पतक तृणपत्र काष्ठहारकप्रभृतीनां त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणानि । ततोऽप्येकेनवृद्धानि भ्रमर वटर सारङ्गमक्षिकापुत्तिका दंश मशकवृश्चिकनन्द्यावर्तकीट पतङ्गादीनां चत्वारिस्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि । शेषाणां च तिर्यग्योनिजानां मत्स्योरगभुजंगपक्षि चतुष्पदानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानां पञ्चेन्द्रियाणीति ॥

अर्थ—इस सूत्रमें आदि शब्दका सम्बन्ध कृमिआदिक प्रत्येक शब्दके साथ करना चाहिये—कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, इत्यादि । इन जीवोंके क्रमसे एक एक इन्द्रिय अधिक अधिक होती गई है । अर्थात् वायु पर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय बताई है, उनकी अपेक्षा कृमि आदिक—कोड़ी लट नूपुरक केंचुआ शंख सीप घोंघा जोंक इत्यादि

जीवोंके एक इन्द्रिय अधिक है । इस तरहके जीवोंके पृथिवी आदिककी अपेक्षा एक अधिक स्पर्शन रसन ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । एक अधिकसे रसनेन्द्रिय ही क्यों अधिक होती है, तो इसके लिये सूत्रक्रम ही प्रमाण है । तथा यही बात त्रीन्द्रिय आदि जीवोंके विषयमें भी समझनी चाहिये । अर्थात् चींटी पई दीमक कुन्थुआ तम्बुरुक त्रपुसबीज कर्पासास्थिका शतपद्युत्पतक तृणपत्र काष्ठहारक–घुण इत्यादि जीवोंके कीड़ी आदिकी अपेक्षा एक इन्द्रिय अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं । भ्रमर वटर–वर्र सारङ्ग–ततैया मक्खी पुत्तिका डांस मच्छर विच्छू नन्द्यावर्त कीट पतङ्ग इत्यादि जीवोंके चींटी आदिकी अपेक्षा एक इंद्रिय अधिक है, अर्थात् इस तरहके जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । इनके सिवाय बाकीके तिर्यंच–मत्स्य दुमुही सर्व पक्षी चौपाये–गौ भैंस घोड़ा हाथी आदि जीवोंके एवं सभी नारकी मनुष्य और देवोंके भ्रमरादिकी अपेक्षा एक अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं ।

भावार्थ—कृमि आदिक पिपीलिका आदिक, इत्यादि शब्दोंमें आदि शब्दसे उन्हीं जीवोंका ग्रहण समझना चाहिये, जिनकी कि इन्द्रियाँ समान हैं । अर्थात् इन्द्रिय संख्याकी अपेक्षा समान जातिके ही जीवोंका आदि शब्दसे ग्रहण करना चाहिये । यद्यपि कोई कोई इस सूत्रमें मनुष्य शब्दका पाठ नहीं करते, परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है । मनुष्य शब्दका पाठ किये बिना भ्रमरादिका पाठ भी अयुक्त ही ठहरेगा, और ऐसा होनेसे किन किन इन्द्रियोंके कौन कौन स्वामी हैं, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता ।

भाष्यम्—अत्राह–उक्तं भवता द्विविधा जीवाः समनस्का अमनस्काश्चेति । तत्र के समनस्का इति ? । अत्रोच्यतेः—

अर्थ—प्रश्न–आपने पहले जीवोंके दो भेद बताये थे, एक समनस्क दूसरे अमनस्क । उनमेंसे समनस्क जीव कौनसे हैं ? अर्थात् इन्द्रिय और अनिन्द्रियमेंसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवोंका नियम तो बताया, परन्तु अनिन्द्रियकी अपेक्षा अभीतक जीवोंका कोई भी नियम नहीं बताया । अतएव उसके बतानेके अभिप्रायसे इस प्रश्नका आश्रय लेकर उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—संप्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्का भवन्ति । सर्वे नारकदेवा गर्भव्युत्क्रान्तयश्च मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाश्च केचित् ॥ ईहापोहयुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका

१—कोई कोई इस सूत्रके पहले " अतीन्द्रियाः केवलिनः " ऐसा एक सूत्र और भी पढ़ते हैं । परन्तु टीकाकारने उसका खण्डन किया है । आगममें हेतु काल आदि संज्ञाएं अनेक प्रकारकी बताई हैं, उनमेंसे भाष्यकारने यहाँपर संप्रधारण संज्ञाका ही व्याख्यान किया है ।

संप्रधारणसंज्ञा । तां प्रति सञ्ज्ञिनो विवक्षिताः । अन्यथा ह्याहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाभिः सर्व एव जीवाः संज्ञिन इति ॥

अर्थ—संप्रधारण संज्ञाकी अपेक्षासे जो जीव संज्ञाको धारण करनेवाले हैं, उनको समनस्क कहते हैं। सातों ही भूमियोंमें रहनेवाले समस्त नारकी तथा चारों निकायवाले सम्पूर्ण देव और गर्भसे जन्म धारण करनेवाले सभी मनुष्य एवं कोई कोई तिर्यंच जीव समनस्क समझने चाहिये। ईहा और अपोहसे युक्त गुण तथा दोषोंके विचारको सम्प्रधारण संज्ञा कहते हैं। इस तरहकी संज्ञाको जो धारण करते हैं, उनको ही प्रकृतमें संज्ञी शब्दसे लिया गया है। यदि यह अर्थ नहीं लिया जायगा, तो पृथिवीकायादिक सभी संसारी जीव जो कि आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंको धारण करनेवाले हैं, संज्ञी कहे जा सकेंगे।

भावार्थ—समनस्क और अमनस्कमें से समनस्क किसको समझना? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि जो संज्ञी है–संज्ञाके धारण करनेवाले है, उनको समनस्क समझना चाहिये। परन्तु संज्ञा शब्दसे अनेक अर्थोंका ग्रहण होता है। नाम इच्छा सम्यग्ज्ञान आदि भी संज्ञा शब्दसे कहे जा सकते हैं। अतएव उसका तात्पर्य स्पष्ट करते हैं, कि ईहा और अपोहरूपसे गुणदोषोंके विचार करनेकी शक्तिको यहाँ संज्ञा शब्दसे लेना चाहिये। इसीको संप्रधारण संज्ञा कहते है। यह शंखध्वनि है अथवा शृङ्गध्वनि है, इस तरहकी तर्करूप कल्पनाको ईहा कहते हैं, और मधुरता आदिके द्वारा यह शंखध्वनि ही है, न कि शृङ्गध्वनि इस तरहसे एक विषयको ग्रहण करते हुए शेषके परित्याग करने रूप विचारको अपोह कहते हैं। जिन कारणोंसे अभिप्रेत विषयकी सिद्धि हो, उनको गुण कहते हैं, और जिनसे उस सिद्धिमें बाधा हो, उनको दोष कहते हैं। इस प्रकार ईहा और अपोहके द्वारा गुण दोषोंका विचार कर उनमें ग्राह्य तथा त्याज्य बुद्धिके होनेको संज्ञा कहते है। यह संज्ञा मनसहित जीवोंके ही पाई जाती है, अन्यके नहीं। यद्यपि यह संज्ञा ज्ञानरूप ही है, परन्तु मन रहित केवल इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसलिये इसको संज्ञा कहते है। अतएव वह समनस्कताका बोधक है।

देव नारकी और मनुष्य सब समनस्क ही होते हैं। परन्तु तिर्यंचोंमें दो भेद है–समनस्क और अमनस्क। जो गर्भ जन्म धारण करनेवाले है, वे ही तिर्यंच समनस्क होते हैं; किन्तु वे सभी समनस्क नहीं हुआ करते[1]। समनस्कका अर्थ बतानेपर अमनस्कका अर्थ अर्थापत्तिसे ही ज्ञात हो जाता है, कि जो इनके सिवाय संसारी जीव हैं, वे सभी अमनस्क हैं।

इस तरह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके विषयका नियम बताया। इससे यह भी मालूम हो जाता है, कि मनोयोग किनके पाया जाता है। अब यह बताते है, कि जो जीव एक शरीरको छोड़कर शरीरान्तरको धारण करनेके लिये गमन करते हैं, उनके कौनसा योग पाया जाता है:—

१—भाष्यके " केचित् " शब्दसे टीकाकारने केवल सम्मूर्छन जन्मवालोंका ही परिहार किया है।

सूत्र—विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति । कर्मशरीरयोग इत्यर्थः । अन्यत्र तु यथोक्तः कायवाङ्मनोयोग इत्यर्थः ।

अर्थ—जिस क्रियाके द्वारा क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरकी प्राप्ति हो, उसको गति कहते हैं । और विग्रह नाम शरीरका है । अतएव शरीर धारण करनेके लिये जो गति होती है, उसको विग्रहगति कहते हैं । जो जीव इस अवस्थाको धारण करनेवाले हैं, उनके कर्मकृत ही योग पाया जाता है । कार्मणशरीरके द्वारा जो योग–प्रदेशपरिस्पन्दन होता है, उसको कर्मयोग कहते हैं । विग्रहगतिमें तो यही योग रहता है, परन्तु इसके सिवाय अन्य अवस्थावाले जीवोंके काययोग वचनयोग और मनोयोग ये तीनों योग रहा करते है ।

भावार्थ—यहाँपर संसारी जीवका अधिकार है । संसारीका अर्थ बता चुके हैं, कि जो संसरण करनेवाले हों । संसरण दो प्रकारसे हुआ करता है । एक देशान्तरप्राप्तिरूपसे दूसरा भवान्तरप्राप्तिरूपसे । एक शरीरको छोड़कर अन्य स्थानपर जाकर दूसरे शरीरको धारण करनेका नाम देशान्तरप्राप्ति और मरकर उसी छोड़े हुए शरीरमें उत्पन्न होनेका नाम भवान्तर-प्राप्ति है । यह दोनों ही प्रकारका संसरण चेष्टारूप योगके विना नहीं हो सकता । अत-एव त्यक्त और ग्राह्य शरीरोंके मध्यमें जीवकी गति हुआ करती है । इसीको विग्रहगति कहते हैं । यह दो प्रकारकी होती है–ऋज्वी और वक्रा । धनुषपरसे छूटे हुए बाणके समान जो सीधी गति होती है, उसको ऋज्वी कहते है, और जिसमें मोड़ा लेना पड़े, उसको वक्रा कहते हैं । ऋज्वीगतिमें समय नहीं लगता; क्योंकि यहाँपर पूर्व शरीरका त्याग और उत्तर शरीरका ग्रहण एक ही समयमें हो जाता है, अतएव उसमें भिन्न समय नहीं लगता । किंतु वक्रागतिमें मोड़ा लेना पड़ता है, इसलिये इसमें एकसे लेकर तीन समयतक लगते हैं । इसी लिये वक्रा-गतिके तीन भेद हैं–एकसमया द्विसमया और त्रिसमया ।

मन वचन और कायके द्वारा जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते हैं । इसके मूलभेद तीन है, मनोयोग वचनयोग और काययोग; किंतु उत्तरभेद पंद्रह है । चार प्रकारका मनोयोग–सत्य असत्य उभय और अनुभय[1] । इसी प्रकार वचनयोग भी चार प्रकारका है–सत्य असत्य उभय और अनुभय । काययोगके सात भेद हैं–औदारिक औदा-रिकमिश्र वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारक आहारकमिश्र और कार्मण । उपर्युक्त वक्रागतिके समय जीवके इनमें से एक कार्मणयोग ही हुआ करता है, अन्य समयमें अन्य योग भी हो सकते हैं,

---

१—अथवा इस तरहसे भी चार भेद हैं–सत्य असत्य सत्यासत्य असत्यामृषा । वचनयोगके भी इसी तरह चार भेद समझने चाहिये ।

और होते हैं। विग्रहगति और केवलसमुद्घातके सिवाय अन्य अवस्थामें कार्मणयोग नहीं होता, शेष योग ही होते है।

यहाँपर कोई कोई ऐसी शंका किया करते हैं, कि जब शरीरके पाँच मेद हैं, तो उनमेंसे एक तैजस शरीरके द्वारा भी योगका होना क्यों नहीं बताया? परन्तु इसका उत्तर भाष्यकार आगे चलकर स्वयं देंगे।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जीवोंकी यह भवान्तर–प्रापिणी–गति किसी तरह नियमबद्ध है, अथवा अनियत–चाहे जिस तरहसे भी हो सकती है, अतएव उसका भी नियम है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुश्रेणिगतिः[2] ॥ २७ ॥

भाष्यम्—सर्वा गतिर्जीवानां पुद्गलानां चाकाशप्रदेशानुश्रेणिभर्वति। विश्रेणिर्न भवतीति गतिनियम इति ॥

अर्थ—जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्योंकी समस्त गति आकाशप्रदेशके अनुसार ही हुआ करती है, उसके विरुद्ध गति नहीं होती, ऐसा गतिके विषयमें नियम है ॥

भावार्थ—यह गति सम्बन्धी नियम सम्पूर्ण जीव पुद्गल द्रव्योंके लिये है, परन्तु उनकी समस्त अवस्थाओंके लिये नहीं है, किंतु अवस्था विशेषके लिये है। भवान्तरको जाते समय जीवकी जो गति होती है, वह ऊर्ध्व अधः अथवा तिर्यक् किधरको भी हो आकाशप्रदेश-पंक्तिके अनुसार ही हुआ करती है। इसी प्रकार पुद्गलकी जो स्वाभाविकीगति होती है, वह श्रेणिके अनुसार ही होती है। जैसे कि एक पुद्गलका अणु विना किसी सहायकके चौदह राजू तक लोकके एक भागसे लेकर दूसरे भागतक एक समयमें गमन किया करता है, यह प्रवचनका वचन है, पुद्गलकी ऐसी स्वाभाविकीगति अनुश्रेणि ही होती है, विश्रेणि नहीं होती।

यद्यपि यहाँपर जीवद्रव्यका अधिकार है, इसलिये इस सूत्रके द्वारा जीवकी गतिका ही नियम होना चाहिये, ऐसी शंका हो सकती है, परन्तु आगेके सूत्रमें जीव शब्दका पाठ किया है, उसके सामर्थ्यसे इस सूत्रमें पुद्गल द्रव्यके भी ग्रहण करनेका अर्थ निकल आता है। क्योंकि आगेके सूत्रमें जीव द्रव्यका अर्थ अधिकारके ही अनुसार हो सकता है, अतएव जीव शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है, वह व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करना है, कि इस पूर्व सूत्रमें पुद्गलका भी ग्रहण है, जिसकी कि व्यावृत्तिके लिये जीव शब्दका पाठ करना आवश्यक है।

" विग्रहगतौ कर्मयोगः " इस सूत्रमें विग्रह शब्दसे दो अर्थ लिये हैं, एक शरीर दूसरा मोड़ा। इसी लिये शरीर धारण करनेको जो जीवकी मोड़ेवाली वक्रागति होती है,

---

१—" सर्वस्य " इस सूत्र (अ० २ सूत्र ४३) के व्याख्यानमें २—" अनुश्रेणिर्गतिः। " ऐसा भी कहीं कहीं पाठ है।

उसमें कर्मयोगका होना बताया है। परन्तु अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि संसारातीत सिद्ध जीव जो शरीरको छोड़कर ऊर्ध्वगमन करते हैं, उनकी गति किस प्रकार होती है। वह मोड़ा लेकर होती है, या विना मोड़ा लिये ही? अतएव उनकी गति-पंचमगतिका नियम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥

भाष्यम्—सिद्ध्यमानगतिर्जीवस्य नियतमविग्रहा भवतीति ॥

अर्थ—जीवोंकी सिद्ध्यमान गति अर्थात् शरीरको छोड़कर लोकान्तको जाते समय मुक्त जीवोंकी जो गति होती है, वह नियमसे मोड़ा रहित ही होती है।

भावार्थ—पहले सूत्रमें जीव और पुद्गल दोनोंकी अनुश्रेणिगति कही है। इससे दोनोंका ही यहाँपर भी बोध हो सकता था, परन्तु जीव शब्दके ग्रहणसे पुद्गलका निराकरण हो जाता है। तथा आगेके सूत्रमें संसारी शब्दका ग्रहण किया है, इससे यहाँपर जीव शब्दसे सिद्ध्यमान जीवका अभिप्राय है, यह बात सामर्थ्यसे ही लब्ध हो जाती है।

जो सिद्ध्यमान जीव नहीं हैं, उनकी गति ऋजु और वक्रा दो तरहकी होती है, यह तो ठीक, परन्तु उनकी वक्रागति किस प्रकार होती है—उसमें कितना काल लगता है, सो नहीं मालूम हुआ, अतएव उसका नियम बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—जात्यन्तर सक्रान्तौसंसारिणो जीवस्य विग्रहवती चाविग्रहा च गतिर्भवति उपपातक्षेत्रवशात् तिर्यगूर्ध्वमधश्च प्राक् चतुर्भ्य इति। येषां विग्रहवती तेषां विग्रहाः प्राक्चतुर्भ्यो भवन्ति। अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुःसमयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति। परतो न संभवन्ति, प्रतिघाताभावाद्विग्रहनिमित्ताभावाच्च। विग्रहो वक्रितं विग्रहोऽवग्रहः श्रेण्यन्तरसंक्रान्तिरित्यनर्थान्तरम्। पुद्गलानामप्येवमेव ॥ शरीरिणां च जीवानां विग्रहवती चाविग्रहवती च प्रयोगपरिणामवशात्। न तु तत्र विग्रहनियम इति ॥

अर्थ—संसारी जीव जब अपने किसी भी एक शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको धारण करनेके लिये अर्थात् भवान्तरके लिये गमन करता है, उस समय उसके विग्रहवती अथवा अविग्रहागति हुआ करती है। किंतु जैसा उपपात क्षेत्र—जन्मक्षेत्र मिलता है, वैसी गति होती है। यदि विग्रहवतीके योग्य क्षेत्र होता है, तो विग्रहवतीगति होती है, और यदि अविग्रहाके योग्य जन्मक्षेत्र होता है, तो अविग्रहा हुआ करती है। परन्तु यह गति तिर्यक् ऊर्ध्व और अधः ऐसे तीनों दिशाओंकी मिलाकर चार समयके पहले पहले ही हुआ करती है। क्योंकि जिन जीवोंकी विग्रहवतीगति होती है, उनके विग्रह चार समयके पहले

पहले ही हुआ करते हैं। इन गतियोंमें चार समय तक लगा करते हैं, अतएव, कालभेदकी अपेक्षासे इन गतियोंके चार भेद हैं—अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा। इससे अधिक भेद भी संभवें नहीं और समय भी नहीं लगता, क्योंकि इसके आगे जीवकी गतिका प्रतिघात नहीं होता, और न विग्रहके लिये कोई निमित्त ही है। विग्रह नाम मोडा—टेढ़ का है॥ विग्रह अवग्रह और श्रेण्यन्तर संक्रान्ति ये सब शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं। जिस प्रकार यहाँ जीवकी गतिके विषयमें नियम बताया है, उसी प्रकार पुद्गलके विषयमें भी समझना चाहिये॥

जो शरीरको छोड़कर गमन नहीं करते—शरीरके धारण करनेवाले हैं, उन जीवोंके गतिके लिये जैसा भी प्रयोग—परिणमन करनेवाला निमित्त मिल जाता है, उसीके अनुसार दोनोंमेंसे कैसी भी—विग्रहवती अथवा अविग्रहा गति हो जाती है। शरीरधारी जीवोंकी गतिके लिये विग्रहका कोई भी नियम नहीं है।

भाष्यम्—अथ विग्रहस्य किं परिमाणमिति। अत्रोच्यते।—क्षेत्रतो भाज्यम्, कालतस्तु—

अर्थ—भवान्तरके लिये जाते समय जीवको जो विग्रह धारण करना पड़ता है, उसका प्रमाण कितना है? उसमें कितना समय लगता है? उत्तर—क्षेत्रकी अपेक्षा तो यथायोग्य समझ लेना; परन्तु कालकी अपेक्षा—

सूत्र—एकसमयोऽविग्रहः॥ ३०॥

भाष्यम्—एकसमयोऽविग्रहो भवति। अविग्रहा गतिरालोकान्तादप्येकेन समयेन भवति। एकविग्रहा द्वाभ्याम्, द्विविग्रहा त्रिभिः, त्रिविग्रहा चतुर्भिरिति। अत्र भङ्गप्ररूपणा कार्येति॥

अर्थ—विग्रह रहित गति एक समयकी हुआ करती है। अर्थात् ऐसी गति जिसमें कि विग्रह नहीं पाया जाता यदि लोकान्तप्रापिणी हो, तो भी वह एक ही समयके द्वारा होती है, उसमें अधिक समय नहीं लगते[3]। अतएव जिसमें एक विग्रह पाया जाता है, वह दो

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार विग्रहगतिमें तीन समयसे अधिक नहीं लगते। २—आगममें सात श्रेणी बताई हैं—ऋज्वायता एकतोवक्रा द्विधावक्रा एकतःखा द्विधाखा चक्रवाला और अर्धचक्रवाला। इनमेंसे आदिकी तीन क्रमसे एक दो तीन समयके द्वारा हुआ करती हैं। इनके सिवाय चतुःसमया और पंचसमयागति भी संभव हैं, परन्तु उनमें यह विशेषता है, कि चतुःसमया गतिका तो सूत्र द्वारा उल्लेख पाया जाता है, किंतु पंचसमयाका सूत्रतः अथवा अर्थतः उल्लेख नहीं है। संसारी जीवोंके समान परमाणु आदि पुद्गलोंकी भी चार प्रकारकी गति हुआ करती है। तथा विग्रह और कालका नियम अन्तर्गतिमें समझना चाहिये। ३—विग्रहवतीगतिका एक समय उपलक्षण है, अतएव यह नियम नहीं है, कि एक समयप्रमाण कालमें विग्रह ही हो। ऋज्वीगतिमें विग्रह नहीं पाया जाता, फिर भी वह एकसमया है। लोकान्तप्रापिणी भी एकसमयमें होती है। जिस प्रकार कोई मनुष्य तो एक घंटेमें दो मील चलता है, और कोई मनुष्य एक ही घंटे आधा मील ही चल पाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

समयके द्वारा और जिसमें दो विग्रह पाये जाते हैं, वह तीन समयके द्वारा तथा जिसमें तीन विग्रह पाये जाते हैं, वह चार समयके द्वारा हुआ करती है। इस प्रकारसे इस विषयमें भङ्गप्ररूपणा लगा लेनी चाहिये।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि विग्रहगतिको धारण करनेवाले जीव आहारक होते हैं अथवा अनाहारक ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि अनाहारक ही होते हैं। क्योंकि वहाँपर कार्मण-योगके सिवाय और कोई भी योग नहीं पाया जाता। किंतु पुनः यह प्रश्न हो सकता है, कि यदि वे अनाहारक ही होते हैं, तो उनकी अनाहारकताका काल कितना है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकं द्वौ वाऽनाहारकः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिसमापन्नो जीव एकं वा समय द्वौ वा समयावनाहारको भवति। शेषं काल मनुसमयमाहारयति। कथमेकं द्वौ वाऽनाहारको न बहूनीत्यत्र भंगप्ररूपणा कार्या॥

अर्थ—उपर्युक्त विग्रहगतिको अच्छी तरहसे प्राप्त हुआ जीव एक समय मात्रके लिये अथवा दो समयके लिये अनाहारक हुआ करता है। किंतु शेष समयमें प्रतिक्षण आहारको ग्रहण किया करता है। वह एक समय तक अथवा दो ही समय तक अनाहारक क्यों रहता है ? अधिक समय तक भी अनाहारक क्यों नहीं रहता ? इसके लिये भङ्गप्ररूपणा कर लेनी चाहिये।

भावार्थ—आहार शब्दसे यहाँपर औदारिक वैक्रियिकशरीरके[1] पोषक पुद्गलोंके ग्रहणसे अभिप्राय है। इस आहारके ग्रहण न करनेवालेको अनाहारक कहते है। आहार तीन प्रकारका[2] है—ओजआहार लोमाहार और प्रक्षेपाहार। कार्मणशरीरके द्वारा यथायोग्य योनिमें प्राप्त होनेपर प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको ओजआहार कहते हैं। पर्याप्त अवस्था होनेपर प्रथम समयसे लेकर मरण समय-पर्यन्त त्वचाके द्वारा जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको लोमाहार कहते है, और खाने पीने आदिके द्वारा जो पुद्गल पिंड ग्रहण करनेमें आता है, उसको प्रक्षेपाहार कहते हैं। इनमेंसे विग्रहगतिमें एक या दो समयतक कोई भी आहार नहीं होता।

१—"परिपोषहेतुको य आहार औदारिक वैक्रियशरीरद्वयस्य स विवक्षितः प्रतिषेध्यत्वेन।"—श्रीसिद्धसेनगणी किंतु दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार इस सूत्रकी व्याख्यामें अनाहारकका अर्थ तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण न करना है। और अनाहारक अवस्था तीन समयतक मानी है। इस विषयमें श्रीसिद्धसेनगणीने कहा है कि "यदि पुनः पंचसमयायां गतौ वा शब्देन समयत्रयं समुच्चीयते ? उच्यते—अभिहितं प्राक् न तादृस्यांगत्यां कश्चिदुपपद्यते, अथास्ति संभव., न कश्चिद्दोषः।" २—दिगम्बर सिद्धान्तमें आहार छह प्रकारका माना है यथा—"णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो। ओजमणो वियकमसो आहारो छव्विहो णेयो॥

दो समयसे अधिक समय तक अनाहारक क्यों नहीं रहता, इसके लिये भंगप्ररूपणा बतानेका अभिप्राय यह है, कि जिस विग्रहगतिमें एक या दो समय तक अनाहारक रहना बताया है, उससे यहाँपर द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा गति ही ली गई है। पहला समय च्युतदेशका और चौथा समय जन्मदेशका होनेसे इनमें जीव आहारक माना गया है। अतएव द्विविग्रहामें एक समय और त्रिविग्रहामें दो समय अनाहारकके समझने चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह-एवमिदानीं भवक्षये जीवः अविग्रहया विग्रहवत्या वा गत्या गतः कथं पुनर्जायत इत्यत्रोच्यते,—उपपातक्षेत्रं स्वकर्मवशात् प्राप्तः शरीरार्थं पुद्गलग्रहणं करोति। "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते" इति, तथा "कायवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलनामुपकारः", "नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्" इतिवक्ष्यामः। तज्जन्म। तच्च त्रिविधम्। तद्यथा—

अर्थ—प्रश्न—आपने अभीतक के कथनसे यह बात तो बताई, कि भवक्षय होनेपर मृत्युको प्राप्त होकर जीव मार्गमें अविग्रहा अथवा विग्रहवती दोनोंमें से किसी भी गतिके द्वारा आकाश प्रदेश पंक्तिके अनुसार गमन किया करता है, परन्तु अभीतक यह नहीं बताया, कि इस तरहसे गमन करके उत्पन्न किस प्रकार हुआ करता है। अतएव कहिये कि उत्पन्न होनेके क्षेत्रपर किस तरह उत्पन्न होता है? उत्तर—अपने कर्मके अनुसार यह जीव उपपात-क्षेत्र—जहाँपर इसको उत्पन्न होना है, वहाँपर पहुँचकर शरीरके योग्य पुद्गल द्रव्य ग्रहण किया करता है। किंतु वे पुद्गल किस प्रकारसे ग्रहण करनेमें आते हैं, और आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, यह बात आगे चलकर "स कषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते" और "काय-वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानामुपकारः" तथा "नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्" इन सूत्रोंके द्वारा बतावेंगे। इस प्रकारसे पुद्गल ग्रहण करनेको ही जन्म कहते हैं और वह जन्म आश्रयभेदसे तीन प्रकारका है।

भावार्थ—मृत्युको प्राप्त हुआ जीव अविग्रहा या विग्रहवती गतिके द्वारा चलकर जन्मक्षेत्रको अपने कर्मके अनुसार पहुँचता है। इस कथनसे ग्रंथकारने ईश्वरके कर्त्तृत्व-वादका निराकरण किया है। क्योंकि बहुतसे लोगोंका यह अभिमत है, कि जीवका मरना और जीना—जन्म धारण करना ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टिका कर्ता हर्ता विधाता है, उसकी शक्तिके विना संसारका उत्पाद विनाश और संरक्षण नहीं हो सकता। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। सर्वथा वीतराग कृतकृत्य परमात्माकी कर्तृता युक्ति और अनुभवसे असिद्ध तथा बाधित है। अतएव जीवका मरना और जन्मान्तरको जाना कर्मके निमित्तसे ही

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार तीन निष्कुट क्षेत्रोंमें मोड़ा लेनेपर तीन समयतक भी अनाहारक रह सकता है। लोकनाडीमें ऐसे क्षेत्रमें भी उत्पत्ति हो सकती है, जहाँपर पहुँचनेमें तीन मोड़ाओंके लिये तीन समय-तक रुकना पड़ता है। २—अध्याय ८ सूत्र २। ३—अध्याय ५ सूत्र १९। ४—अध्याय ८ सूत्र २५।

समझना चाहिये । यह जीव अपने परिणामोंसे जैसे भी कर्मोंका संग्रह करके उनको आत्मसात् कर लेता है, वे कर्म यथा समय उदयमें आकर अपनी अपनी शक्तिके अनुसार फल दिया करते हैं, और वह फल उस जीवको भोगना पड़ता है । उस कर्मके निमित्तसे ही संसारी जीवका जन्म मरण हुआ करता है । सिद्धजीव कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं, अतएव उनका जन्म मरण नहीं हुआ करता । वे अवतार धारण आदि नहीं करते । संचित आयुकर्मके पूर्ण हो जानेको मरण और नवीन आयुकर्मके उदयमें आनेको ही जन्म कहते हैं । भवान्तरके लिये कब जाना कहाँ जाना कैसे जाना किस मार्गसे जाना इत्यादि सभी कार्य कर्मके निमित्तसे ही जीवके सिद्ध हुआ करते हैं । कर्मकी सामर्थ्य अचिन्त्य है । अतएव उसके ही अनुसार यथायोग्य जन्मक्षेत्रको प्राप्त हुआ जीव औदारिक या वैक्रियिक शरीरकी रचनाके योग्य पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया करता है, और कर्मके निमित्तसे ही उनकी शरीरादिरूप रचना हुआ करती है । शरीर योग्य पुद्गलके ग्रहणको ही जन्म कहते हैं । जन्मके हेतु आदिका वर्णन आगे चलकर बताया जायगा कि " यह जीव सकषाय होनेसे कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण किया करता है " तथा " मन वचन काय और श्वासोच्छ्वास ये सब पुद्गल द्रव्यके ही उपकार हैं " और " कर्मके निमित्तसे योगविशेषके द्वारा यह जीव स्वक्षेत्र और परक्षेत्रसे जिनका ग्रहण किया करता है, ऐसे अनन्तानन्त सूक्ष्म कर्म पुद्गल आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह करके स्थित हैं " ।

इस तरह तीन प्रकारकी उपपत्तियोंके द्वारा जिस जन्मका वर्णन किया जायगा, वह आश्रय भेदसे तीन प्रकारका है । वे तीन प्रकार कौनसे है ? इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—सम्मूर्छनं गर्भ उपपात इत्येतत्त्रिविधं जन्म ।

अर्थ—जन्मके तीन भेद हैं—सम्मूर्छन गर्भ और उपपात ।

भावार्थ—जिस स्थानपर प्राणीको उत्पन्न होना है, उस स्थानके पुद्गल द्रव्यका उस जीवके शरीरके रूपमें परिणमन करना इसको सम्मूर्छन कहते है । जैसे कि काठ आदिकमें घुण लग जाता है, फलादिकमें कीड़े पड़ जाते है, और शरदी गर्मी आदिका निमित्त पाकर शरीरमें या वस्त्रादिकमें जूं वगैरह पड़ जाते हैं, पानी आदिका निमित्त पाकर अन्नमें अंकुर और जमीनमें घास आदि उत्पन्न हो जाती है, इत्यादि शरीरोंकी उत्पत्तिको सम्मूर्छन जन्म कहते हैं । क्योंकि उस स्थानपर जीवके आते ही उसी स्थानके पुद्गल शरीर-रूप परिणत हो जाते हैं । इसीको संमूर्छन—जन्म कहते हैं । एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त सभी जीवोंका सम्मूर्छन ही जन्म हुआ करता है ।

माता पिताका संयोग होनेपर उनके रज वीर्यके संयोगसे जो शरीर बनता है, उसको गर्भ–जन्म कहते हैं। जैसे कि पशु पक्षियोंका या मनुष्योंका हुआ करता है। देव और नारकियोंके शरीर-परिणमनको उपपात–जन्म कहते हैं। सम्मूर्छन और उपपात–जन्ममें नियत और अनियत स्थानकी अपेक्षा अंतर समझना चाहिये। सम्मूर्छनजन्मका स्थान और आकार नियत नहीं हैं, किंतु देव नारकियोंके उपपातजन्मके स्थान और आकार नियत हैं। तथा सम्मूर्छन और गर्भ–जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ शरीर स्थूल हुआ करता है, किंतु उपपातजन्मके द्वारा प्राप्त हुआ शरीर सूक्ष्म होता है।

उपर्युक्त तीन प्रकारके जन्मोंमेंसे सम्मूर्छनजन्मके द्वारा प्राप्त शरीर स्थूल भी होता है, और उसके स्वामी भी सबसे अधिक हैं, अतएव सूत्रकारने पहले सम्मूर्छन शब्दका ही पाठ किया है। उसके बाद गर्भ शब्दका पाठ इसलिये किया है, कि इसकी भी स्थूलता सम्मूर्छनके ही समान है। उपपात–जन्मका स्वभाव इसके प्रतिकूल–सूक्ष्म है, अतएव उसका अन्तमें ग्रहण किया है। तथा औदारिकशरीरके स्वामी मनुष्य और तिर्यंचोंकी अपेक्षा उपपातजन्मके स्वामी देव नारकियोंका स्वभाव भी विरुद्ध है।

इस प्रकार तीन जन्मोंका स्वरूप तो बताया, परन्तु अभीतक इनके स्थानका निर्देश नहीं किया, कि ये कहाँ होते हैं। अतएव कहाँपर तो जीव सम्मूर्छनजन्मको और कहाँपर गर्भजन्मको तथा कहाँपर रहनेवाले या उत्पन्न होकर उपपात–जन्मको धारण करते हैं, यह बतानेके लिये ही सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३३॥

भाष्यम्—संसारे जीवानामस्य त्रिविधस्य जन्मन एताः सचित्तादयः सप्रतिपक्षा मिश्राश्चैकशो योनयो भवन्ति। तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा, शीतोष्णा, संवृता, विवृता, संवृतविवृता, इति। तत्र नारकदेवानामचित्ता योनिः गर्भजन्मनां मिश्रा। त्रिविधाऽन्येषाम्। गर्भजन्मनां देवानां च शीतोष्णा। तेजः कायस्योष्णा। त्रिविधाऽन्येषाम्। नारकैकेन्द्रियदेवानां संवृता। गर्भजन्मनां मिश्रा। विवृताऽन्येषामिति।

अर्थ—अष्टविध कर्मरूप संसारके बंधनमें पड़े हुए जीवोंके जन्म ऊपर तीन प्रकारके बताये हैं–सम्मूर्छन गर्भ और उपपात। इनकी योनि–आधार स्थान सचित्तादिक तीन और इनके प्रतिपक्षी–उल्टे अचित्तादिक तीन तथा एक एकके मिश्ररूप तीन इस तरह कुल नौ हैं।

१—"अपरे वर्णयन्ति–सम्मूर्छनमेवैकं सामान्यतो जन्म, तद्धि गर्भोपपाताभ्यां विशिष्यत इति" अर्थात् किसी किसीका कहना है, कि सामान्यतया एक सम्मूर्छन ही जन्म है, उसीके गर्भ और उपपात ये दो विशेषण हैं। परन्तु ग्रन्थकारको यह बात इष्ट नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे जन्मोंकी त्रिविधता नष्ट हो जाती है। और कीट पतङ्ग वृक्षादिके शरीरको भी गर्भजन्म या उपपातजन्म ही कहना पड़ेगा।

उनके नाम क्रमसे इस प्रकार हैं—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा, शीतोष्णा; संवृता, विवृता, संवृतविवृता ।

इन नौ प्रकारकी योनिओंमेंसे देवगति तथा नरकगतिमें जन्म धारण करनेवाले जीवोंकी योनि सचित्त अचित्त और उसके मिश्रके त्रिकमेंसे अचित्त ही होती है । गर्भ-जन्मवालोंकी मिश्र—सचित्ताचित्त होती है । तथा बाकीके जीवोंकी तीनों ही प्रकारकी—सचित्ता, अचित्ता, और सचिताचित्ता होती है । शीत उष्ण और उसके मिश्ररूप योनित्रय में से गर्भ—जन्मवाले तथा देवगतिके जीवोंके मिश्ररूप—शीतोष्णा योनि होती है, और तेजःकायवाले जीवोंके उष्ण योनि होती है, किन्तु बाकीके जीवोंके तीनों ही प्रकारकी योनि हुआ करती है । संवृत विवृत और उसके मिश्ररूप इन तीनमेंसे नरकगतिके तथा एकेन्द्रिय जीवोंके और देवोंके संवृत योनि ही हुआ करती है । गर्भ—जन्मवालोंके मिश्र—संवृतविवृत, किंतु बाकीके जीवोंके तीनों ही—संवृत विवृत और संवृतविवृत योनि हुआ करती हैं ।

भावार्थ—संसारी जीव पूर्व शरीरका नाश होनेपर उत्तर शरीरके योग्य पुद्गल द्रव्यको जिस स्थानपर पहुँचकर ग्रहण कर कार्मणशरीरके साथ मिश्रित करता है, उस स्थानको योनि कहते हैं । वह मूलमें सचित्तादिकके भेदसे नौ प्रकारका है, किंतु उसके उत्तर भेद ८४ लाख हैं । जोकि इस प्रकार हैं—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय इन छहमेंसे प्रत्येकका सात सात लाख, वनस्पतिकायके १० लाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय इनमें प्रत्येकके दो दो लाख, शेष तिर्यञ्च देव और नारकी इनमें प्रत्येक के चार चार लाख, तथा मनुष्योंके १४ लाख[1] ।

नौ प्रकारकी योनियोंमेंसे किस किस जन्मवालेके कौन कौनसी योनि होती है, सो ऊपर बताया जा चुका है । जो जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो उसको सचित्त और जो जीवके प्रदेशोंसे रहित हो, उसको अचित्त तथा जिसका कुछ भाग जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो और कुछ भाग उनसे रहित हो, उसको मिश्र—सचित्ताचित्त योनि कहते हैं । शीत उष्ण और उसके मिश्रका अर्थ स्पष्ट है । संवृत शब्दका अर्थ प्रच्छन्न—अप्रकट है, इससे विपरीत—प्रकट योनिको विवृत कहते हैं । तथा जिसका कुछ भाग प्रकट और कुछ भाग अप्रकट हो उसको मिश्र—संवृतविवृत समझना चाहिये ।

ऊपर गर्भ—जन्मवालोंकी सचित्ताचित्तरूप मिश्र योनि बताई है, वह इस प्रकार है, कि जो पुद्गल योनिसे सम्बद्ध हैं, वे सचित्त हैं और जो तत्स्वरूप परिणत नहीं हुए हैं, वे अचित्त[2] है । ये

१—णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव । सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥ ८९ ॥ —गो० जी० । २—इस विषयमें किसी किसीका कहना है, कि माताका रज सचित्त है, और पिताका वीर्य अचित्त, अतएव दोनोंके संयोगसे गर्भ—जन्म वालोंकी मिश्र—सचित्ताचित्त योनि होती है । तथा किसी किसीका कहना है, कि शुक्रशोणित दोनों ही अचित्त हैं, किन्तु योनिके प्रदेश सचित्त हैं, अतएव उनके संयोगसे मिश्र योनि हुआ करती है ।

दोनों ही पुद्गल गर्भ—जन्मके आधार हैं, अतएव उसकी मिश्र योनि कही जाती है। इसी प्रकार अन्य योनियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। जिस कायकी जातिके जितने भेद हैं, उतने ही उसकी योनिके भेद होते हैं, जैसे कि पृथिवीकायके सात लाख। इसी तरह अपनी अपनी जातिके भेदसे अन्य योनियोंके भेद समझने चाहिये। किंतु वे भेद अपने मूलभेदको छोड़कर नहीं रहा करते, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

ऊपर जन्मके तीन भेद बताये हैं। उनके आधाररूप योनियोंके भेद प्रभेद गिनाये, किंतु अभीतक यह नहीं बताया, कि किस किस जीवके कौन कौनसा जन्म होता है—उन जन्मोंके स्वामी कौन हैं? अतएव इस बातको बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—जरायुजानां मनुष्यगोमहिषाजाविकाश्वखरोष्ट्रमृगचमरवराहगवयसिंहव्याघ्रर्क्षद्वीपिश्वशृगालमार्जारादीनाम्। अण्डजानां सर्पगोधाकृकलाशगृहकोकिलिकामत्स्यकूर्मनक्रशिशुमारादीनां पक्षिणां च लोमपक्षाणां हंसचाषशुकगृध्रश्येनपारावतकाकमयूरमद्गुवकबलाकादीनां। पोतजानां शल्लकहस्तिश्वाविल्लापकशशशारिकानकुलमूषिकादीनां पक्षिणां च चर्मपक्षाणां जलूकावल्गुलिभारण्डपक्षिविरालादीनां गर्भो जन्मेति।

अर्थ—मनुष्य गौ बैल भैंस बकरी भेड़ घोड़ा गधा ऊंट हिरण चमरी गौ शूकर नीलगाय सिंह व्याघ्र भालू गेंडा कुत्ता शृगाल बिल्ली आदिक जीव जरायुज हैं। सर्प गोह गिरगिट या छिपकली तथा गृहकोकिलिका मछली कछुआ मगर घडियाल आदि जीव अण्डज हैं। एवं लोमपक्षवाले पक्षियोंमें हंस नीलकण्ठ तोता गीध बाज कबूतर कौआ मोर टिट्टिभ बक बलाका आदि जीव भी अण्डज ही हैं। और सेही हस्ती श्वाविल्लापक (चरक) खरगोश शारिका नकुल मूषक आदि जीव तथा पक्षियोंमें चर्मपक्षवाले जीव और जलूका वल्गुली भारण्डपक्षी विड़ाल आदि जीव पोतज[1] हैं। इन तीनों ही प्रकारके जीवोंका गर्भ—जन्म हुआ करता है।

भावार्थ—जरायुज अण्डज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोंका उपर्युक्त तीन तरहके जन्मोंमेंसे गर्भ—जन्म हुआ करता है। यह सूत्र दोनों ही प्रकारके नियमोंको दिखाता है, अर्थात् इन तीन तरहके जीवोंका गर्भ—जन्म ही होता है, एक तो यह, दूसरा यह कि इन तीन तरहके जीवोंका ही गर्भजन्म हुआ करता है।

जरायु नाम जेरका है, जो कि गर्भमें जीवके शरीरके चारों तरफ जालकी तरह लिपटा रहता है। माता पिताका रज वीर्य नखकी त्वचाके समान कठिनताको धारण करके उस गर्भस्थ जीवके शरीरके चारों तरफ जो गोल आवरण बन जाता है, उसको अण्ड कहते हैं। शरीरके अवयवोंके पूर्ण होनेपर जिसमें चलने फिरनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, उसको पोत कहते हैं।

१—दिगम्बर सिद्धान्तमे पोतजकी जगह पोत शब्दका ही पाठ माना है।

इन तीन प्रकारके जीवोंमेसे जो जरायुज हैं, वे अभ्यर्हित हैं, उनमें क्रिया और आरम्भक शक्ति अधिक पाई जाती है, तथा उनमेंसे किसी किसीमें महान् प्रभाव और मोक्षमार्गका फल भी पाया जाता है, अतएव उसका सबसे पहले ग्रहण किया है । जरायुजके अनन्तर अण्डज-का ग्रहण इसलिये किया है, कि वह पोतकी अपेक्षा अभ्यर्हित होता है ।

क्रमानुसार उपपादजन्मके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—नारकदेवानामुपपातः ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां चोपपातो जन्मेति ।

अर्थ—नरकगति और देवगतिवाले जीवोंका उपपात जन्म होता है ।

भावार्थ—उपपात शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है । इस उपपातजन्मके स्वामी दो गतिवाले जीव—नारक और देव है । इस सूत्रका अभिप्राय भी दुतरफा नियम करनेका ही समझना चाहिये । अर्थात् एक तो यह कि—नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है, और दूसरा यह कि नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है ।

क्रमानुसार सम्मूर्छन-जन्मके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—जराय्वण्डपोतजनारकदेवेभ्यः शेषाणां सम्मूर्छनं जन्म । उभयावधारणं चात्र भवति ।—जरायुजादीनामेव गर्भः, गर्भ एव जरायुजादीनाम् । नारकदेवानामेवोपपातः, उपपात एव नारकदेवानाम् । शेषाणामेव सम्मूर्छनम्, सम्मूर्छनमेव शेषाणाम् ॥

अर्थ—जरायुज अण्डज पोतज नारक और देव इतने जीवोंको छोड़कर बाकीके जीवोंके सम्मूर्छन—जन्म होता है । यहाँपर जन्मके स्वामियोंको बतानेका जो प्रकरण उपस्थित है, उसमें दोनों ही तरफसे नियम समझना चाहिये ।—जरायुजादिकके ही गर्भ—जन्म होता है, और जरायुजादिकके गर्भ—जन्म ही होता है । इसी तरह नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है, और नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है । तथा बाकीके जीवोंके ही सम्मूर्छन—जन्म होता है, और बाकीके जीवोंके सम्मूर्छन—जन्म ही होता है ।

भावार्थ—ऊपर गर्भ और उपपातजन्मके जो स्वामी बताये हैं, उनके सिवाय समस्त संसारी जीवोंके सम्मूर्छन—जन्म ही होता है, तथा सम्मूर्छन—जन्म इन शेष संसारी जीवोंके ही हुआ करता है । ऐसा दुतरफा नियम समझना चाहिये । तीन प्रकारके जन्मोंके

१—दिगम्बर सिद्धान्तमें अभ्यर्हित और अल्पाच्तर होनेसे नारक शब्दके पहले देव शब्दका पाठ माना है । किंतु श्रीसिद्धसेनगणी कहते हैं, कि ऐसा न करके नारक शब्दके पहले पाठ करनेसे जन्म दुःखका कारण है, और वह नारकोंमें प्रकृष्टरूपसे है, इस अर्थके ज्ञापन करानेका अभिप्राय है ।

स्वामियोंको वतानेके लिये ऊपर जो तीन सूत्र किये है, उनका अर्थ अवधारणरूप ही होना चाहिये और इकतरफा अवधारण करनेसे व्यभिचार उपस्थित होता है, अतएव यहाँपर उभयतः अवधारण–नियम वताया गया है।

पूर्वोक्त योनियोंमें उपर्युक्त जन्मोंके धारण करनेवाले जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं और उनके क्या क्या लक्षण है, इस वातको वतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—औदारिकं वैक्रियं आहारकं तैजसं कार्मणमित्येतानि पञ्च शरीराणि संसारिणां जीवानां भवन्ति ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर संसारी जीवोंके हुआ करते हैं।

भावार्थ—यह सूत्र ऐसा नियम वताता है, कि संसारी जीवोंके ये पॉच ही शरीर हुआ करते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह न समझना चाहिये, कि जो संसारातीत है उनके पाँचसे अधिक भी होते हैं। क्योंकि यह संसारी जीवोंका ही प्रकरण है, अतएव शरीरका सम्बन्ध संसारी जीवोंके ही होता है। जो संसारातीत-मुक्त है, वे शरीर और कर्म दोनोंसे ही सर्वथा रहित है, अतएव उनके विषयमें शरीरका विचार करना ही निरर्थक है।

संसारी जीवोंके भी शरीर पॉच ही है, न कि कम ज्यादह। यद्यपि इस सूत्रमें शरीर शब्दकी जगह काय शब्दका पाठ करनेसे लाघव हो सकता था, परन्तु वैसा नहीं किया है, इससे आचार्यका अभिप्राय अर्थ विशेषको व्यक्त करनेका प्रकट होता है। वह यह कि–यहॉपर शरीर शब्दको अन्वर्थ समझना चाहिये, केवल काय शब्दके अर्थका वोधक ही नहीं। जो विशरणशील है–जीर्ण होकर विखर जाता है, उसको शरीर कहते हैं। औदारिकादिक पॉचो ही में यह स्वभाव पाया जाता है, अतएव इनको शरीर कहते हैं। यथायोग्य समय पाकर ये आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर पौद्गलिक वर्गणारूपमें इतस्ततः विखर जाते है।

इन शरीरोंकी रचना अन्तरङ्गमें पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयकी अपेक्षासे हुआ करती है। इसके पाँच भेद है–औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कार्मण। औदारिक शरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो उदार स्थूल और असार पुद्गल द्रव्यके द्वारा वनता है, उसको औदारिक कहते है। वैक्रियशरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो विक्रिया–विविधकर-

१—किसी किसीने इन सूत्रका योग विभाग कर दिया है। वे इस सूत्रके "शरीराणि" इस वाक्यको पृथक् सूत्र मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है, कि इस विषयमें आगे विशेष वर्णन करना है, अतएव यह अधिकार सूत्र पृथक् ही है। किंतु सिद्धसेनगणी आदिको यह अभिप्राय इष्ट नहीं है।

णता-बहुरूपता-अनेकस्वरूपकरणता और अणिमादिक अष्ट ऋद्धि तथा गुणोंसे युक्त पुद्गल-द्रव्यवर्गणाओंके द्वारा बनता है, उसको वैक्रिय कहते हैं । आहारकशरीरनामकर्मका उदय होनेपर विशिष्ट प्रयोजनके सिद्ध करनेमें समर्थ शुभतर विशुद्ध पुद्गलद्रव्य वर्गणाओंके द्वारा जो बनता है, और जिसकी कि स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है, उसको आहारक कहते है । तेजस् शब्दका अर्थ अग्नि है । तैजसशरीरनामकर्मका उदय होनेपर तेजो गुणयुक्त पुद्गल द्रव्य-वर्गणाओंके द्वारा जो बनता है, उसको तैजसशरीर कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है-लब्धिरूप और अलब्धिरूप । लब्धिरूप तैजस भी दो प्रकारका होता है-शुभ और अशुभ । गोशालकके समान जिसको तैजस लब्धि प्राप्त है, वह रोष-क्रोध आदिके वशीभूत होकर अपने शरीरके बाहर तैजस पुतला निकालता है, जो कि उष्ण गुणयुक्त होनेसे दूसरेका दाह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको अशुभ तैजस कहते हैं, जो कि शाप देने आदि अशुभ क्रिया करनेमें समर्थ होता है । प्रसन्न होनेपर वही तैजस शरीरका पुतला शीत गुणयुक्त निकला करता है । जो कि दूसरेका अनुग्रह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको शुभ तैजस कहते हैं । अलब्धिरूप तैजस शरीर पाचनशक्ति युक्त होता है । वह उपभुक्त आहारके पचानेमें समर्थ होता है । अष्टविध कर्मोंके समूहको कार्मणशरीर[1] कहते है ।

इन पाँच शरीरोंकी परस्परमें विशेषता अनेक कारणोंसे बताई है, जो कि ग्रन्थान्तरोंमें[2] देखनी चाहिये । यहाँपर औदारिकशरीरको स्थूल बताया है, इससे शेष शरीर सूक्ष्म हैं यह बात सिद्ध होती है । परन्तु वह सूक्ष्मता कैसी है, शेष चारों ही शरीरोंकी सूक्ष्मता सदृश है, अथवा विसदृश इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—तेषां[3] परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—तेषामौदारिकादिशरीराणां परं परं सूक्ष्मं वेदितव्यम् । तद्यथा-औदारिकाद्वैक्रियं सूक्ष्मम् । वैक्रियादाहारकम् । आहारकात्तैजसम् । तैजसात्कार्मणमिति ॥

अर्थ—उपर्युक्त औदारिकादिक पाँच शरीरोंमेंसे पूर्व पूर्व शरीरकी अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीरोंको सूक्ष्म सूक्ष्म समझना चाहिये । अर्थात् औदारिक शरीरसे वैक्रियशरीर सूक्ष्म होता है,

---

१—कोई कोई आठ कर्मोंसे भिन्न ही कार्मणशरीरको मानते है । परन्तु यह बात नहीं है इसकी निरुक्ति इसी प्रकारसे है कि " कर्मभिर्निष्पन्नं कर्मसुभवं कर्मैव वा कार्मणमिति । " २—जैसे कि राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ४९ की वार्तिकमें कहा है कि-" संज्ञास्वालक्षण्यस्वकारणस्वामित्वसामर्थ्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरसंख्याप्रदेशभावाल्प-बहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेयः" अर्थात् संज्ञा लक्षण कारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर संख्या प्रदेश भाव और अल्प बहुत्व इन १४ हेतुओंसे और इनके सिवाय अन्य भी हेतुओसे जैसे कि प्रयोजन अथवा पूज्यत्व अपूज्यत्व आदिकी अपेक्षासे भी इन शरीरोंकी परस्परकी विशेषता समझ लेनी चाहिये । इन चौदह बातोंका खुलासा राजवार्तिकमे ही देखना चाहिये, जिनकें कि द्वारा उक्त और अनुक्त अर्थका बोध होता है । ३—तेषामिति क्वचिन्नास्ति ।

वैक्रियसे आहारक सूक्ष्म होता है, आहारकसे भी तैजस सूक्ष्म होता है, और तैजससे भी कार्मणशरीर सूक्ष्म होता है।

भावार्थ—यहाँपर सूक्ष्म शब्दसे आपेक्षिकी सूक्ष्मता ग्रहण करनी चाहिये, न कि सूक्ष्म-नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्मता। जो चर्म चक्षुओंके द्वारा देखी न जा सके, अथवा जो दूसरेसे न रुके और न दूसरेको रोके ऐसी चक्षुरिन्द्रियागोचर पुद्गलद्रव्यकी पर्यायको सूक्ष्म कहते हैं। मनुष्य और तिर्यचोंका शरीर स्वभावसे ही देखनेमें आता है, अतएव वह सबसे अधिक स्थूल है। किंतु वैक्रिय शरीर दिखानेपर विक्रिया द्वारा देखनेमें आ सकता है, स्वभावसे ही देखनेमें नहीं आता, अतएव वह औदारिककी अपेक्षा सूक्ष्म है, किंतु आहारककी अपेक्षा स्थूल है। इसी लिये इसकी सूक्ष्मता आपेक्षिकी सूक्ष्मता कही जाती है। इसी तरह वैक्रियसे आहारक, आहार-कसे तैजस और तैजससे कार्मणशरीर सूक्ष्म है। कार्मणशरीरमें अन्त्य—सबसे अधिक सूक्ष्मता है। क्योंकि जिन पुद्गलवर्गणाओंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना होती है, उनका प्रचय उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म और घनरूप है, किंतु कार्मणशरीरका प्रचय सबसे अधिक सूक्ष्म घनरूप है।

इन शरीरोंमें जब उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो इनके प्रदेशोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर कम कम होगी, ऐसी आशङ्का हो सकती है। अतएव इस शंकाकी निवृत्तिके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—तेषां शरीराणां परं परमेव प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं भवति प्राक् तैजसात्। औदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशा असङ्ख्येयगुणाः वैक्रियशरीरप्रदेशेभ्य आहारक-शरीरप्रदेशा असङ्ख्येयगुणा इति।

अर्थ—यद्यपि उक्त शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, परन्तु उत्तरोत्तर ही इन शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे असंख्यागुणे हैं। किंतु यह असंख्यातका गुणाकार तैजसशरीरसे पहले पहले ही समझना चाहिये। अर्थात् औदारिकशरीरके जितने प्रदेश हैं, उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियशरीरके प्रदेश होते हैं, और जितने वैक्रियशरीरके प्रदेश है, उनसे असंख्यातगुणे आहारकशरीरके प्रदेश होते है।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि औदारिकशरीरका उत्कृष्ट प्रमाण एक हजार योजन है, और वैक्रियशरीरका प्रमाण एक लक्ष योजन। इसलिये औदारिकसे वैक्रियके प्रदेश असंख्यातगुणे होंगे। परन्तु यह बात नहीं है, शरीरकी अवगाहनासे उसके

१—यहाँपर प्रदेशसे अभिप्राय परमाणुओंका नहीं है, स्कन्धोंका है, जो कि असंख्यात अनन्त परमाणुओंसे प्रचित होते हैं। किंतु दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार प्रदेशका लक्षण इस प्रकार है—जावदियं आयासं अविभागी-पुग्गलाणुवट्टद्धं। तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ २५ ॥ (द्रव्यसंग्रह) अतएव प्रदेशसे परमाणुओंको ही लिया है। यथा—" प्रदेशाः परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणं ", (—श्रीविद्यानन्दिस्वामी—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक।)

प्रदेशोंकी संख्याका कोई नियम नहीं है । क्योंकि औदारिककी उत्कृष्ट अवगाहनाके शरीरमें जितने प्रदेश हैं, उनसे भी वैक्रियकी जघन्य अवगाहनाके शरीरके प्रदेश असंख्यातगुणे है । तथा उत्कृष्ट अवगाहनावाले वैक्रियशरीरके प्रदेशोंसे आहारकशरीरके प्रदेश असंख्यातगुणे हैं । आहारकशरीरका प्रमाण एक हस्तमात्र ही होता है । जिस प्रकार समान परिमाणवाले रुई काष्ठ पत्थर और लोहेके गोलेके प्रदेशोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिकता है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अन्तर इतना ही है, कि इन शरीरोंके प्रदेश उत्तरोत्तर सूक्ष्म भी हैं । सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होकर भी इनके प्रदेश अधिकाधिक हैं, यही इनकी विशेषता है ।

तैजसशरीरके पहले शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे हैं, यह बात मालूम हुई, परन्तु तैजस और कार्मणशरीरके प्रदेशोंमें क्या विशेषता है, सो नहीं मालूम हुई । अतएव उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शरीरे तैजसकार्मणे पूर्वतः पूर्वतः प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणे भवतः । आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणं, तैजसात्कार्मणमनन्तगुणमिति ।

अर्थ—अन्तके तैजस और कार्मण ये दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षासे आगे आगेके पहले पहलेसे अनन्तगुणे अनन्तगुणे हैं । अर्थात् आहारशरीरके जितने प्रदेश हैं, उनसे तैजसशरीरके प्रदेश अनन्तगुणे हैं, और जितने तैजसशरीरके प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुणे कार्मण-शरीरके प्रदेश हैं ।

भावार्थ—तैजस और कार्मणशरीरके प्रदेशोंका प्रमाण निकालनेके लिये अनन्तका गुणाकार है । आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मणके प्रदेश अनन्तगुणे हैं, किंतु फिर भी ये दोनों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर है ।

इसके सिवाय अन्तके इन दो शरीरोंमें और भी जो विशेषता है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—एते द्वे शरीरे तैजसकार्मणे अन्यत्र लोकान्तात्सर्वत्राप्रतिघाते भवतः ।

अर्थः—उपर्युक्त विशेषताके सिवाय तैजस और कार्मण इन दो शरीरोंमें एक और भी विशेषता है । वह यह कि—ये दोनों ही शरीर अप्रतिघात है—ये न तो किसीको रोकते ही हैं, और न किसीसे रुकते ही हैं—वज्रपटलके द्वारा भी इनकी गति प्रतिहत नहीं हो सकती । किंतु उनका यह अप्रतिघात सम्पूर्ण लोकके भीतर ही है । लोकके अन्तमें ये प्रतिहत हो जाते है । क्योंकि जीव और पुद्गल द्रव्यकी गति तथा स्थितिको कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, जोकि

सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं। लोकके अन्तमें उनका अभाव है। अतएव सहकारी निमित्तके न रहनेसे लोकके अन्तमें तैजस और कार्मणकी भी गति नहीं हो सकती।

औदारिक आदि तीन शरीरोंका सम्बन्ध कभी पाया जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या ? इस शंकाको दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—ताभ्यां तैजसकार्मणाभ्यामनादिसम्बन्धो जीवस्येत्यनादिसम्बन्ध इति।

अर्थ—उक्त तैजस और कार्मण इन दो शरीरोंके साथ जीवका अनादिकालसे सम्बन्ध है। अतएव इन दो शरीरोंको अनादिसम्बन्ध कहा जाता है।

भावार्थ—जबतक संसार है, तबतक जीवके साथ इन दो शरीरोंका सम्बन्ध रहता ही है। संसारी जीव अनादिसे ही संसारी है, अतएव तैजस और कार्मणशरीरका सम्बन्ध भी अनादि है। यह अनादिता द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे समझनी चाहिये न कि पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे। क्योंकि प्रवाहरूपसे इन दोनों ही शरीरोंके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु पर्यायास्तिकनयसे इनका सम्बन्ध सादि है। क्योंकि मिथ्यादर्शनादिक कारणोंके द्वारा प्रतिक्षण इनका बन्ध हुआ करता है, और इनकी स्थिति आदिक भी निश्चित हैं–नियत हैं[1]। परन्तु इनके बन्धका प्रारम्भ अमुक समयसे हुआ है, यह बात नहीं है। जैसे खानके भीतर सुवर्ण पाषाणका मलके साथ स्वतः स्वभावसे ही सम्बन्ध है और वह अनादि है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना[2] चाहिये। अतएव तैजस और कार्मणका जीवके साथ अनादिसम्बन्ध भी है, और सादिसम्बन्ध भी है, इस बातको दिखानेके लिये ही सूत्रमें च शब्दका पाठ किया है।

यद्यपि इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं या किसी किसी के ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—सर्वस्य ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—सर्वस्य चैते तैजसकार्मणे शरीरे संसारिणो जीवस्य भवतः। एके त्वाचार्या नयवादापेक्षं व्याचक्षते। कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम्। तेनैवैकेन जीवस्यानादिः सम्बन्धो भवतीति। तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य, कस्यचिदेव भवति। क्रोध[3]प्रसादनिमित्तौ शापानुग्रहौ प्रति तेजोनिसर्गशीतरश्मिनिसर्गकरं तथा भ्राजिष्णुप्रभासमुदयच्छायानिर्वर्तकं[4] तैजसं शरीरेषु मणिज्वलनज्योतिष्कविमानवदिति।

१—औदारिकशरीरकी उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्य, वैक्रियिकशरीरकी ३३ तेतीस सागर, आहारककी अन्तर्मुहूर्त, तैजसकी छयासठ सागर, कार्मणशरीरकी सामान्यसे ७० कोडाकोडी सागर प्रमाण है। इसका विशेष वर्णन गोम्मटसार जीवकांडमें देखना चाहिये। २—"पयडी सील सहावो जीवगाणं अणाइसम्बन्धो। कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयंसिद्धं ॥ २॥ (गो० कर्मकाड.) ३—कहीं कहींपर क्रोध शब्दकी जगह कोप शब्दका पाठ है। परन्तु टीकाकारने क्रोध शब्द ही रक्खा है। ४—निर्वर्तकं सशरीरेषु इत्येव पाठोऽन्यत्र।

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवोंके रहा करते हैं। परन्तु कोई कोई आचार्य इस सूत्रको नयवादापेक्ष—नयवादकी अपेक्षासे कहा गया बताते है। उनका कहना है, कि एक कार्मणशरीर ही अनादिसम्बन्ध है। केवल उसीके साथ जीवका अनादिसे सम्बन्ध है, न कि तैजसशरीरके साथ। तैजसशरीर तो लब्धिकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ कतरा है, और वह तैजसलब्धि भी सभी जीवोंके नहीं हुआ करती, किंतु किसी किसीके ही होती है। जैसा कि ऊपर शुभ और अशुभ तैजसके विषयमें लिखा गया है। शरीरके वाहर तैजस पुतला जिसके निमित्तसे निकला करता है, वही तैजसलब्धि है। कोपके आवेशासे शाप देनेके लिये उष्ण प्रभावाला अग्निपुञ्जके समान स्फुलिङ्गोंसे युक्त जो पुतला निकलता है, वह अशुभ है, जैसा कि **गोशालके** निकला था। यह पुतला जिसके ऊपर छोड़ा जाता है, उसको तत्काल भस्म कर देता है। दूसरा शुभ तैजस है, जो कि किसीपर अनुकम्पा करनेके लिये मनकी प्रसन्नताके आवेशसे निकला करता है। इसकी किरणें शीतल हुआ करती हैं। जैसे कि मणिओंकी अथवा अन्धकारके दूर करनेवाले ज्वलन—तेजोविशेष की यद्वा चन्द्रमा आदिक ज्योतिष्क देवोंके विमानकी हुआ करती हैं। यह दैदीप्यमान प्रभासमूहकी छायाका उत्पादक है। यह पुतला जिसपर अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे निकलता है, उसको इसके निमित्तसे संताप दूर होकर अत्यन्त सुखका अनुभव हुआ करता है। जैसे कि **भगवान् महावीरने** इस शीत तेजो निसर्गके द्वारा उसी गोशालकपर जिसका कि शरीर उष्ण लेश्याके द्वारा व्याप्त हो रहा था, अनुग्रह किया था।

इस तरह कोई कोई तैजस शरीरको लब्धिप्रत्यय ही मानते है, और इसी लिये उसको नित्यसम्बन्ध नहीं मानते। इस विषयमें भी दो अभिप्राय प्रकट समझने चाहिये,—एक तो यह कि ऐसा आचार्योंका अभिप्राय नहीं है, क्योंकि यह बात दूसरेका अभिप्राय करके उपस्थित की गई है। दूसरा किसी किसीका यह कहना है, कि यह आचार्योंका ही अभिमत है।

भावार्थ—इस विषयमें किसी किसीका तो कहना है, कि तैजसशरीर नित्यसम्बन्ध नहीं है, वह लब्धिप्रत्यय होनेसे किसी किसीके ही होता है, सबके नहीं होता। उपभुक्तआहारको पचानेकी शक्ति कार्मणशरीरमे है, और उसीके द्वारा वह कार्य हो जाता है। किन्तु अन्य आचार्योंका कहना है, कि ग्रन्थकारका यह आशय नहीं है। कार्मणकी तरह तैजस भी नित्यसम्बन्ध है, और वह भी सभीके रहता है, भाष्यकारको भी यही बात इष्ट है।

इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी जीवोंके युगपत् पाया जाता है। इसी तरह अन्य शरीर भी एक जीवके एक ही कालमें पाये जाते हैं या नहीं? यदि पाये जाते हैं, तो उक्त पाँच शरीरोंमेंसे कितने शरीर युगपत् एक जीवके रह सकते है? इसी बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—ते आदिनी एषामिति तदादीनि । तैजसकार्मणे यावत्संसारभाविनी आदिं कृत्वा शेषाणि युगपदेकस्य जीवस्य भाज्यान्या चतुर्भ्यः । तद्यथा–तैजसकार्मणे वा स्याताम्, तैजसकार्मणौदारिकाणि वा स्युः, तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः । कार्मणमेव वा स्यात्, कार्मणौदारिके वा स्याताम्, कार्मणवैक्रिये वा स्याताम्, कार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कार्मणौदारिकाहारकाणि वा स्युः, कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कार्मणतैजसौदारिकाहारकाणि वा स्युः न तु कदाचित् युगपत् पञ्च भवन्ति, नापि वैक्रियाहारके युगपद्भवतः स्वामिविशेषादिति वक्ष्यते।

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दो शरीर सम्पूर्ण संसारमें रहनेवाले हैं । अतएव इन दोनोंको आदि लेकर–ये दोनों हैं, आदिमें जिनके ऐसे शेष औदारिक आदि शरीर एक जीवके एक कालमें चार तक हो सकते है ।

भावार्थ—" तदादीनि " इस शब्दका दो प्रकारसे विग्रह हो सकता है, एक तो " ते आदिनी एषाम् " यह, जैसा कि यहाँपर भाष्यकारने किया है; दूसरा " तत्–कार्मणम् आदि येषाम् " यह, क्योंकि तैजसके विषयमें प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान ये दो पक्ष हैं । भाष्यकारने जो विग्रह किया है, उसके " ते आदिनी " इस द्विवचनान्त पदसे तैजस और कार्मण ये दोनों उनको विवक्षित हैं, यह बात स्पष्ट होती है । इसी लिये उन्होंने इन दोनोंको ही मेढीभूत करके " तैजसकार्मणे यावत्संसारभाविनी " इस वाक्यके द्वारा अपना अभिप्राय खुलासा कर दिया है । अतएव आचार्यको तैजसशरीरका अप्रत्याख्यान पक्ष ही इष्ट है, ऐसा प्रकट होता है । इस अप्रत्याख्यान पक्षमें पाँच शरीरोंमेंसे दोसे चार तक एक समयमें एक जीवके होनेवाले शरीरोंके पाँच विकल्प होते है। किंतु प्रत्याख्यान पक्षमें सात विकल्प होते है । क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीरका अभाव मानकर भी लब्धिकी अपेक्षा सद्भाव भी माना है । अप्रत्याख्यान पक्षमें यह बात नहीं है, क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीर सभी जीवोंके और सभी समयमें प्रायः पाया ही जाता है । प्रायः इसलिये कि विग्रहगतिमें आचार्यको भी वह लब्धिनिमित्तक ही इष्ट है। विग्रहगतिके सिवाय अन्य सम्पूर्ण अवस्थाओंमें वह विना लब्धिके ही सर्वत्र सर्वदा अभीष्ट है । अतएव विकल्पोंके प्रयोग यहाँपर भाष्यकारने प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान दोनों ही पक्षोंको लेकर दिखाये हैं । उनमेंसे पहले अप्रत्याख्यान पक्षके पाँच विकल्पोंको यहाँ पर दिखाते हैं—

१—यदि किसी जीवके एक साथ दो शरीर होंगे, तो तैजस और कार्मण ये ही दो होंगे । २–यदि तीन शरीर किसी जीवके एक साथ पाये जाँयगे, तो या तो तैजस कार्मण

१—आदिनौ इति पाठान्तरम् । २—भाविनौ इति क्वचित पाठः । जिनके मतमें तैजसशरीर नहीं माना है वे " तत् आदि येषां " ऐसी निरुक्ति करते हैं।

औदारिक ये तीन पाये जाँयगे । ३—अथवा तैजस कार्मण वैक्रिय ये तीन पाये जाँयगे । ४—यदि चार शरीर एक साथ किसी जीवके पाये जाँयगे, तो या तो तैजस कार्मण औदारिक वैक्रिय पाये जाँयगे ५—अथवा तैजस कार्मण औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे ।

तैजसशरीरके प्रत्याख्यान पक्षमें भी पाँच विकल्प होते हैं; परन्तु इस पक्षमें लब्धिकी अपेक्षासे तैजसशरीरको माना भी है । इसलिये इस पक्षमें दो किकल्प बढ़ जाते हैं । अतएव कुल मिलकर इस पक्षमें सात विकल्प होते हैं । उन्हींको यहाँपर क्रमसे दिखाते हैं—

१—या तो किसी जीवके एक समयमें एक कार्मण ही पाया जायगा । २—यदि दो शरीर एक साथ होंगे, तो या तो कार्मण औदारिक होंगे । ३—अथवा कार्मण वैक्रिय ये दो होंगे । ४—यदि किसी जीवके एक साथ तीन शरीर होंगे, तो या तो कार्मण औदारिक वैक्रिय होंगे । ५—अथवा कार्मण औदारिक आहारक ये तीन होंगे[1] । ६—लब्धिप्रत्यय तैजसशरीरकी अपेक्षासे किसी जीवके एकसाथ यदि शरीर पाये जाँयगे तो या तो कर्मण तैजस औदारिक वैक्रिय ये चार पाये जाँयगे । ७—अथवा कार्मण तैजस औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे[2] ।

कहनेका तात्पर्य यही है, कि किसी भी एक जीवके एक कालमें कभी भी पाँचो शरीर एक साथ नहीं पाये जा सकते, और न वैक्रिय तथा आहारक ये दो शरीर युगपत् किसी जीवके पाये जा सकते है । ये दोनों शरीर साथ साथ सम्भव क्यों नहीं है, इसका कारण इनके स्वामिओंकी विशेषता है । इस विशेषताका स्वरूप आगे चलकर बताया जायगा[3] ।

इस प्रकार औदारिक आदि पाँचो शरीरोंका स्वरूप और उनमेंसे युगपत् एक जीवके कितने शरीरोंकी सम्भवता है, इस बातका वर्णन किया । परन्तु इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है, सो नहीं मालूम हुआ । अतएव इस बातको बतानेके लिये अन्तिम शरीरके विषयमें कहते हैं कि:—

सूत्र—निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—अन्त्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्कार्मणमाह । तन्निरुपभोगम् । न सुखदुःखे तेनोपभुज्येते न तेन कर्म बध्यते न वेद्यते नापि निर्जीर्यत इत्यर्थः । शेषाणि तु सोपभोगानि । यस्मात् सुखदुःखे तैरुपभुज्येते कर्म बध्यते वेद्यते निर्जीर्यते च तस्मात्सोपभोगानीति ॥

अर्थ—अन्त्य शब्दसे कार्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि "औदारिक वैक्रियाहारक" इत्यादि सूत्रमें पाँच शरीरोंका जो पाठ किया है, वहाँपर सबके अन्तमें कार्मण शरीरका ही पाठ है । यह कार्मणशरीर उपभोग रहित होता है । क्योंकि इसके द्वारा सुख

१—उस चतुर्दश पूर्वके धारकके यह पाया जाता है, जिसके कि तैजसलब्धि उत्पन्न नहीं हुई है । २—क्योंकि आहारकलब्धि और वैक्रियलब्धिकी उत्पत्ति परस्परमें विरुद्ध होनेसे युगपत् नहीं हो सकती । ३—अध्याय २ सूत्र ४८ और ४९ ॥ लब्धिप्रत्यय वैक्रिय तो मनुष्य और तिर्यञ्च दोनोंके होता है, और आहारक चतुर्दश पूर्वधर संयत अप्रमत्तके होता है, इत्यादि विशेषताका वर्णन करेंगे ।

दुःखका उपभोग नहीं हुआ करता, न कर्मका बन्ध होता है, न कर्मफलका अनुभवन होता है, और न निर्जरा ही हुआ करती है। अतएव इसको निरुपभोग कहते हैं। इसके सिवाय बाकीके औदारिकादि चारों शरीर उपभोग सहित हैं। क्योंकि उनके द्वारा सुख दुःखका उपभोग होता है, कर्मोंका बन्ध होता है, उनके फलका अनुभवन होता है, और उनकी निर्जरा भी हुआ करती है। अतएव औदारिकादि चारों शरीरोंको सोपभोग समझना चाहिये।

भावार्थ—यहाँपर कार्मणशरीरके द्वारा उपभोगका जो निषेध किया है, सो उपभोग सामान्यका नहीं, किंतु उपभोग विशेषका किया है। उपभोगके साधन हाथ पैर इन्द्रियाँ आदि हैं सो वे कार्मणशरीरमें नहीं पाये जाते। जिस प्रकार औदारिकशरीरके द्वारा जीव मनोयोगके द्वारा विचारपूर्वक हिंसादि अशुभ और प्राणिरक्षणादिक शुभकर्म कर सकता है, या किया करता है, अथवा गमनागमनादि क्रिया किया करता है, यद्वा श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिकको सुन सकता है, तथा और भी इष्ट या अनिष्ट विषयोंका सेवन कर सकता है, उस प्रकारका कोई भी कार्य कार्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैक्रिय आहारक और तैजसशरीरके विषयमें समझना चाहिये। क्योंकि औदारिकके समान ये भी तीनों सोपभोग ही हैं। वैक्रियशरीरके द्वारा भी आङ्गोपाङ्ग तथा निर्वृत्ति और उपकरणरूप इन्द्रियोंके स्फुट रहनेसे इष्टानिष्ट विषयोंका सेवन होता ही है, और आहारकशरीरके द्वारा भी अप्रमत्त मुनिका प्रयोजन सिद्ध होता ही है, तथा तैजसशरीरके द्वारा भी निग्रहानुग्रह यद्वा उपभुक्त आहारका पचन और उसके द्वारा सुखादिका अनुभव होता ही है, इसी प्रकार बुद्धिपूर्वक किये गये कार्योंके द्वारा जैसा कर्मका बन्ध तथा आङ्गोपाङ्ग और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा कर्मके फलका अनुभवन एवं तपस्या आदिके द्वारा जिस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा औदारिकादि शरीरोंसे हुआ करती है, उस प्रकारके ये कोई भी कार्य कार्मणशरीरसे नहीं हो सकते। इसी लिये इसको निरुपभोग कहा है। अन्यथा विग्रहगतिमें कर्मयोग और उसके द्वारा कर्मबन्धका होना भी मानी ही है। तात्पर्य इतना ही है, कि कार्मणशरीरको निरुपभोग कहनेका अभिप्राय उपभोग सामान्यके निषेध करनेका नहीं उपभोग विशेषके निषेध करनेका ही है। अभिव्यक्त सुख दुःख और कर्मानुबन्ध अनुभव तथा निर्जरा कार्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकते, यही उसकी निरुपभोगता है।

इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कार्मणशरीर कर्मोंके समूहरूप है, अतएव वह उपभोग्य तो हो सकता है, परन्तु उपभोजक नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि छद्मस्थ जीवोंका उपभोग असंख्यात समयसे कममें नहीं हो सकता, परन्तु कार्मणशरीरका योग जहाँ-

---

१–किन्तु कर्मबन्धको उपभोग नहीं कहते। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके अनुभव करनेको ही उपभोग माना है। यथा–इन्द्रियनिमित्ता हि शब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ॥ —श्रीविद्यानन्दि–श्लोकवार्तिक।

पर पाया जाता है, उस विग्रहगतिका काल चार समय तकका ही है । इत्यादि कारणोंसे ही कार्मणशरीरको निरुपभोग कहा है ।

आहारकशरीर अप्रमत्तके होता है, अतएव उसके द्वारा उपभोग नही हो सकता, यदि इस प्रकारकी कोई शंका करे, तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि उपभोगका और प्रमादका सहचर नियम—व्याप्ति नहीं है । उपभोगके होते हुए भी प्रमादका अभाव पाया जा सकता है । तत्त्व-स्वरूपका वेत्ता विद्वान् शब्दादिक विषयोंको विना प्रमादके—उनमें मूर्छित हुए विना—राग द्वेष रहित उपेक्षा भावसे ही जान ले यह बात असंभव नहीं है । अतएव अप्रमत्त मुनि भी आहारकशरीरके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियोंके अभिव्यक्त हो जानेपर उसी प्रकारसे शब्दादिकका ग्रहणरूप उपभोग किया करता है ।

भाष्यम्—अत्राह एषां पञ्चानामपि शरीराणां सम्मूर्च्छनादिषु त्रिषु जन्मसु किं क्व जायत इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—ऊपर औदारिकादि पाँच प्रकारके शरीर और सम्मूर्छनादि तीन प्रकारके जन्मोंका वर्णन किया है । अतएव यह प्रश्न होता है, कि उन शरीरोंमें से कौनसा शरीर किस जन्मसे हुआ करता ? अर्थात किस किस जन्मके द्वारा कौन कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

भाष्यम्ः—आद्यमितिसूत्रक्रमप्रामाण्यादौदारिकमाह । तद्गर्भे सम्मूर्छने वा जायते ।

अर्थ—आचार्योंने पाँच शरीरोंका पाठ सूत्र द्वारा जिस क्रमसे बताया है, उसमें सबसे पहले औदारिकका पाठ किया है । अतएव यहाँपर आद्य शब्दसे औदारिकका ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् औदारिकशरीर गर्भ अथवा सम्मूर्छनमें उत्पन्न हुआ करता है ।

भावार्थ—औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्छन जन्ममें हुआ करता है, इतना अर्थ बतानेके लिये ही यह सूत्र है । किंतु इस सूत्रका अर्थ अवधारणरूप[1] नहीं है, कि औदारिकशरीर ही गर्भ और सम्मूर्छनसे उत्पन्न होता है । क्योंकि तैजस और कार्मण भी उससे उत्पन्न होते हैं, तथा गर्भसे उत्पन्न होनेपर उत्तर कालमें लब्धिप्रत्यय वैक्रिय-शरीर और आहारकशरीर भी उत्पन्न होते हैं ।

क्रमानुसार औदारिकके अनंतर वैक्रियशरीरके जन्मको बताते हैंः—

सूत्र—वैक्रियमौपपातिकम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—वैक्रियशरीरमौपपातिकं भवति । नारकाणां देवानां चेति ।

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार अवधारण ही है । अन्यथा प्रयोग व्यर्थ ठहरता है । इस पक्षमें ऐसा ही अर्थ होता है, कि जो औदारिक है, वह गर्भ सम्मूर्छनसे ही उत्पन्न होता है, अथवा जो गर्भ सम्मूर्छनसे होता है, वह औदारिक ही है । अन्य शरीर गर्भ सम्मूर्छनसे उत्पन्न नहीं होते ।

अर्थ—वैक्रियशरीर उपपातजन्ममें हुआ करता है। अतएव वह देव और नारकियोंके ही हुआ करता है। न कि अन्य जीवोंके[1]।

भावार्थः—उपपातजन्मके द्वारा प्राप्त होनेवाला वैक्रियशरीर दो प्रकारका हुआ करता है–एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय। दोनों शरीरोंका जघन्य प्रमाण अङ्गुलके असंख्यातवें भागमात्र है, परन्तु उत्कृष्ट प्रमाण भवधारकका पाँचसौ धनुष और उत्तरवैक्रियका एक लक्ष योजन प्रमाण है।

वैक्रियशरीर औपपातिकके सिवाय अन्य प्रकारका भी हुआ करता है, इस विशेष बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—लब्धिप्रत्ययशरीरं च वैक्रियं भवति; तिर्यग्योनीनां मनुष्याणां चेति।

अर्थ—वैक्रियशरीर लब्धिप्रत्यय भी हुआ करता है, और इस प्रकारका शरीर तिर्यंचोंके अथवा मनुष्योंके हुआ करता है।

भावार्थ—यहाँपर च शब्दसे भाष्यकारने उत्कृष्ट वैक्रियका अभिप्राय दिखाया है। प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है। अतएव इसको लब्धिकारणक कहनेका अभिप्राय यह है, कि औदारिकशरीरवालोंके जो वैक्रियशरीर पाया जाता है, वह जन्मजन्य नहीं होता लब्धिकारणक होता है। इसीलिये उसके विशिष्ट स्वामियोंका उल्लेख किया है कि, वह तिर्यंचे[2] और मनुष्योंके[3] हुआ करता है।

क्रमानुसार आहारकशरीरका लक्षण और उसके स्वामीको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव[4] ॥४९॥

भाष्यम्—शुभमिति शुभद्रव्योपचितं शुभपरिणामं चेत्यर्थः। विशुद्धमिति विशुद्धद्रव्योपचितमसावद्यं चेत्यर्थः। अव्याघातीति आहारकं शरीरं न व्याहन्ति न व्याहन्यते चेत्यर्थः। तच्चतुर्दशपूर्वधर एव कस्मिंश्चिदर्थे कृच्छ्रेऽत्यन्तसूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्चयाधिग-

---

१—मनुष्य और तिर्यंचोंके भी वैक्रियशरीर होता है, परन्तु वह लब्धि प्रत्यय होता है, औदारिकशरीरमें ही तप आदिके निमित्तसे शक्ति विशेष उत्पन्न हो जाती है। औपपातिक वैक्रिय वक्रिय वर्गणाओंसे बनता है। वह देव नारकोंके ही होता है। २—" वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव, शेषतिर्यग्योनिजानांमध्ये, नान्यस्येति "। टीकाकारके इन वाक्योंसे मालूम होता है, कि तिर्यंचोंमें केवल वायुकायके ही वैक्रियशरीर होता है। किंतु दिगम्वर सिद्धान्तमें तैजस काय आदिके भी माना है। (देखो गोम्मठसार जीवकाण्ड, गाथा २३२) ३—भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवालेंके भी विक्रिया होती है, और कर्मभूमिमें चक्रवर्ती आदि गृहस्थोंके भी होती है, जिससे कि एक कम ९६ हजार पुतले निकला करते हैं। क्वचित् विष्णुकुमार सरीखे मुनियोंके भी हुआ करती है। ४—चतुर्दशपूर्वधर एवेति क्वचित्पाठः। केचित्तु " अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमतः इति अधिकं पठन्ति तत्तु न टीकाकाराभिमतम्। दिगम्वरमते तु प्रमत्तसंयतस्यैवेति पाठः।

मार्थे क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽर्हतः पादमूलमौदारिकेण शरीरेणाशक्यगमनं मत्वा लब्धिप्रत्यय-मेवोत्पादयति दृष्ट्वा[1] भगवन्तं छिन्नसंशयः पुनरागत्य व्युत्सृजत्यन्तर्मुहूर्तस्य ।

तैजसमपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति ।

कार्मणमेषां निबन्धनमाश्रयो भवति । तत्कर्मत एव भवतीति[2] बन्धे पुरस्तात् वक्ष्यति । कर्म हि कार्मणस्य कारणमन्येषां च शरीराणामादित्यप्रकाशवत् । यथादित्यः स्वमात्मानं प्रकाशयति अन्यानि च शरीराणि न चास्यान्यः प्रकाशकः । एवं कार्मणमात्मनश्च कारणम-न्येषां च शरीराणामिति ।

अत्राह–औदारिकमित्येतदादीनां शरीरसंज्ञानां कः पदार्थः ? इति । अत्रोच्यते–उद्गता-रमुदारम्, उत्कटारमुदारम्, उद्गम एव वोदारम्, उपादानात् प्रभृति अनुसमयमुद्गच्छति वर्धते जीर्यते शीर्यते परिणमतीत्युदारम्, उदारमेवौदारिकम् । नैवमन्यानि । उदारमिति स्थूलनाम । स्थूलमुद्गतं पुष्टं बृहन्महदिति, उदारमेवौदारिकम् । नैवं शेषाणि तेषां हि परं परं सूक्ष्ममित्युक्तम् ॥

वैक्रियमिति––विक्रिया विकारो विकृतिर्विकरणमित्यनर्थान्तरम् । विविधं क्रियते ।–एकं भूत्वानेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकं भवति, अणुभूत्वा महद्भवति महच्च भूत्वाणु भवति, एकाकृति भूत्वानेकाकृति भवति, अनेकाकृति भूत्वा एकाकृति भवति, दृश्यं भूत्वादृश्यं भवति, अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, भूमिचरं भूत्वा खेचरं भवति खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, प्रतिघाति भूत्वाऽप्रतिघाति भवति, अप्रतिघाति भूत्वा प्रतिघाति भवति । युगपच्चैतान् भावाननुभवति । नैवं शेषाणीति । विक्रियायां भवति विक्रियायां जायते विक्रियायां निर्वर्त्यते विक्रियैव वा वैक्रियम् ॥

आहारकम्—आह्रियते इति आहार्यम् । आहारकमन्तर्मुहूर्तस्थिति । नैवं शेषाणि ।

तेजसो विकारस्तैजसम् तेजोमयं तेजःस्वतत्त्वं शापानुग्रहप्रयोजनम् । नैवं शेषाणि ।

कर्मणो विकारःकर्मात्मकं कर्ममयमिति कार्मणम् । नैवं शेषाणि ।

एभ्य एवचार्थविशेषभ्यः शरीराणां नानात्वं सिद्धम् । किंचान्यत् ।–कारणतो विषयतः स्वामितः प्रयोजनतः प्रमाणतः प्रदेशसंख्यातोऽवगाहनतः स्थितितोऽल्पबहुत्वत इत्येतेभ्यश्च नवभ्यो विशेषेभ्यः शरीराणां नानात्वं सिद्धमिति ।

अर्थ—आहारकशरीर शुभ है, क्योंकि उसकी रचना जिसके वर्ण गन्ध रस स्पर्श इष्टरूप हैं, ऐसे द्रव्योंसे हुआ करती है । तथा उसका परिणाम—आकृति—संस्थान भी शुभ—चतुरस्र हुआ करता है, और वह विशुद्ध[3] भी होता है; क्योंकि उसकी रचना विशुद्ध द्रव्यके द्वारा हुआ करती है । जिन पुद्गलवर्गणाओके द्वारा वह बनता है, वे स्फटिक खण्डके समान स्वच्छ होती हैं, उसमें हरएक वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है । तथा इस शरीरके द्वारा हिंसा आदिक कोई भी पापरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती और न वह इस तरहकी किसी भी पापमय प्रवृत्तिके द्वारा उत्पन्न ही होता है, अतएव इस

१—" पृष्ट्वाथ " इति क्वचित्पाठः । २—अष्टमोऽध्याये बन्धाधिकारे । परस्तात् इति वा पाठः ।
३—कोई कोई विशुद्ध शब्दका अर्थ शुक्लवर्णका ऐसा करते हैं ।

शरीरको असावद्य कहते हैं। इसके सिवाय यह शरीर अव्याघाती होता है। इससे किसी भी पदार्थका व्याघात—विनाश नहीं होता, और न किसी अन्य पदार्थके द्वारा इसका ही व्याघात हो सकता है।

यह शरीर चौदह पूर्वके धारण करनेवाले मुनियोंके ही हुआ करता है। जिनकी पहले रचना हुई है, उनको पूर्व कहते हैं। उनके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। जो धारणाज्ञानके द्वारा इन चौदह पूर्वोंका आलम्बन लिया करते है, उनको चतुर्दश पूर्वधर कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक भिन्नाक्षर दूसरा अभिन्नाक्षर। भिन्नाक्षरको ही श्रुतकेवली कहते हैं। इनके श्रुतज्ञानमें संशय नहीं हुआ करता, और इसी लिये इनको कोई प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता, तथा इसी लिये—आलम्बनके न रहनेसे इनके आहारकशरीरका निर्वर्तन भी नहीं होता। जो अभिन्नाक्षर है, उन्हींके संशय और प्रश्नका आलम्बन पाकर आहारकशरीर निर्वृत्त हुआ करता है। क्योंकि उनका श्रुतज्ञान परिपूर्ण नहीं हुआ करता।

यह आहारकशरीर लब्धिप्रत्यय ही हुआ करता है। तपोविशेपता आदि पूर्वोक्त कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करता है। श्रुतज्ञानके किसी भी अत्यंत सूक्ष्म और अतिगहन विषयमें जब उस पूर्वधरको किसी भी प्रकारका संदेह होता है, तब उस विषयका निश्चय करनेके लिये वह भगवान् अरहंतदेवके पादमूलमें जाना चाहता है। किंतु उस समय वे भगवान् यदि उस क्षेत्रमें उपस्थित न हों, किसी ऐसे अन्य विदेहादिक क्षेत्रमें हों, कि जहाँपर वह पूर्वधर औदारिकशरीरके द्वारा पहुँच नहीं सकता, तो अपनी अशक्यताके कारण वह इस लब्धिप्रत्ययशरीरको ही उज्जीवित किया करता है, और जिन्होंने लोक अलोकका प्रत्यक्ष अवलोकन कर लिया है, ऐसे भगवान् अरहंतदेवके निकट उसी शरीरके द्वारा जाकर और उनका दर्शन अभिवादन करके प्रश्न करता है, तथा पूछकर संशयकी निवृत्ति हो जानेपर पापपंकका पराभव कर पुनः उसी स्थानपर लौटकर आ जाता है, जहाँसे कि उस शरीरको तयार करके निकला था। वापिस आकर औदारिकशरीरमें ही वह प्रविष्ट हो जाता है। निकलनेसे लेकर औदारिकशरीरमें प्रवेश करनेतक आहारकशरीरको अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल लगता है। इस शरीरकी जघन्य अवगाहना एक हाथसे कुछ कम और उत्कृष्ट अवगाहना पूर्ण एक हाथ प्रमाण हुआ करती है।

आहारकके अनंतर तैजसशरीरका पाठ है। यह भी लब्धिप्रत्यय हुआ करता है। इसका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है। जो तेजका विकार—अवस्था विशेषरूप है, उसको

१—व्याघातका अभिप्राय रोकना या रुकना है, आहारकशरीर सूक्ष्म होनेसे न किसीको रोकता न किसीसे रुकता है। किंतु टीकाकारने व्याघातका अर्थ विनाश ही किया है। २—" अतएव केचिदपरितुष्यन्तः सूत्रमाचार्यकृतन्यासादाधिकमधीयते " अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमत. " इति। "

तैजसशरीर कहते हैं । उपभुक्तआहारका पचन कराना और निग्रहानुग्रह करना इसका कार्य है ।

पाँचवाँ कार्मणशरीर है, जोकि कर्मोके विकार अथवा समूहरूप है । यह उपर्युक्त सभी शरीरोंका बीज और आधार है । क्योंकि यह सम्पूर्ण शक्तियोंको धारण करनेवाला है । समस्त संसारके प्रपंचको यदि अंकुरके समान समझा जाय, तो इस शरीरको उसका मूल बीजरूप समझना चाहिये, क्योंकि इसके आमूल नष्ट हो जानेपर जिनको मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है, उनके पुनः संसारका अंकुर उत्पन्न नहीं होता । यह शरीर सभी जीवोंके रहा करता है, यह बात पहले बता चुके हैं । इसकी उत्पत्ति कर्मसे ही हुआ करती है, जिस प्रकार बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, परन्तु उस बीजकी उत्पत्ति भी पूर्व वृक्षसे ही हुआ करती है । उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । फिर भी यह संतानपरम्परा अनन्त ही न समझनी चाहिये, किसी किसीके निमित्त पाकर इसका अन्त भी हो सकता है । जैसे कि उस बीजके अग्निमें भुन जानेपर उसकी परम्परा भविष्यके लिये नष्ट हो जाती है । ज्ञानावरणादिक कर्म जो इसके बन्धमें कारण है, उनके मूल और उत्तर भेदोंका वर्णन आगे चलकर आठवें अध्यायमें किया जायगा । जिस प्रकार सूर्य स्वपरप्रकाशी है—वह अपने स्वरूपको और उसके सिवाय अन्य द्रव्योंको भी प्रकाशित किया करता है, उसी प्रकार कर्म भी कार्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें कारण हैं, तथा उसके सिवाय अन्य औदारिक आदि शरीरोंके भी उत्पन्न होनेमें कारण हैं । जिस प्रकार सूर्यको प्रकाशित करनेवाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार कार्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें भी कर्मके सिवाय और कोई कारण नहीं है ।

उपर्युक्त तैजसशरीर और इस कार्मणशरीरका साधारणतया जघन्य प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग मात्र और उत्कृष्ट प्रमाण औदारिकशरीरकी बराबर ही समझना चाहिये । परन्तु विशेष अवस्थामें—समुद्घातके समय इनका प्रमाण अधिक हो जाया करता है । केवली भगवान्के समुद्घातके समय लोककी बराबर इनका प्रमाण हो जाता है, और मारणान्तिक

---

१ दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार तैजसशरीर दो प्रकारका होता है, एक साधारण दूसरा लब्धिप्रत्यय । साधारण तैजस सभी संसारी जीवोंके रहा करता है, किन्तु लब्धिप्रत्यय किसी किसीके ही होता है । अतिशयित तपके द्वारा जो ऋद्धि विशेष प्राप्त होती है, उसको लब्धि कहते हैं । लब्धिप्रत्यय तैजस भी दो प्रकारका है—एक निःसरणरूप, दूसरा अनिःसरणरूप । निःसरणरूप तैजस दो प्रकारका होता है, एक प्रशस्त दूसरा अप्रशस्त । प्रशस्ततैजस शरीरके दक्षिण भुजाके भागसे और अप्रशस्त वाम भुजाके भागसे निकलता है । जैसे कि आहारकशरीर उत्तमाङ्ग—शिरसे निकलता है, अप्रशस्त तैजस अशुभ कषायसे प्रेरित होनेपर और प्रशस्त तैजस शुभ कषायसे प्रेरित होनेपर निकलता है । परन्तु जिस प्रकार अप्रशस्त तैजस अपना कार्य करके लौटकर योगीको भस्म कर देता है, जैसे कि **द्वीपायनमुनिको** (इनकी कथा हरिवंशपुराणमें है ।) किया था, उस प्रकार शुभ तैजस नहीं करता । वह वापिस आकर शरीरमें प्रवेश कर जाता है । किंतु वह भी शुभकषायसे ही होता है । अतएव क्षीणकषाय **महावीर भगवान्** और **गोशालकके** सम्बन्धकी इस विषयकी कथा भी नहीं मानी है ।

समुद्घातके समय इनकी लम्बाई लोकके अन्ततक की हो सकती है। अन्य समुद्घातोंके समयका प्रमाण जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाणके मध्यका समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त शरीरोंके वाचक औदारिक वैक्रिय आदि पदोंको कैसा समझना चाहिये ? अर्थात् ये पद अन्वर्थ हैं—अर्थके अनुसार प्रयुक्त है, अथवा यादृच्छिक हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य—भाष्यकार ये शब्द यादृच्छिक नहीं हैं, किंतु अन्वर्थ हैं, इस आशयको प्रकट करनेके लिये क्रमसे उनकी अर्थवत्ताको दिखाते है।

औदारिक शब्दके अनेक अर्थ है। उदार शब्दसे औदारिक बनता है, उद्गत—उत्कृष्ट है, आरा—छाया जिसकी और जो शरीरोंमें उदार—प्रधान है, उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि तीर्थंकर और गणधरादि महान् आत्माओंने इसीको धारण किया है, और इसीके द्वारा जगत्का उद्धार किया है। तीन लोकमें तीर्थंकरोंके शरीरसे अधिक उत्कृष्ट शरीर और किसीका भी नहीं होता। अथवा उत्कट—उत्कृष्ट है, आरा—मर्यादा—प्रमाण जिसका उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि औदारिकशरीरका अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी कुछ अधिक माना गया है। इससे अधिक अवस्थित प्रमाण और किसी भी शरीरका नहीं होता। वैक्रियशरीरका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण पाँचसौ धनुषका ही है। यद्वा उदार शब्दका अर्थ उद्गम—प्रादुर्भाव—उत्पत्ति भी होता है। जिस समय जीव अपने इस औदारिकशरीरके उपादान कारणरूप शुक्र शोणितका ग्रहण करता है, उसी समयसे प्रतिक्षण वह अपने स्वरूपको न छोड़कर अपनी पर्याप्तिकी अपेक्षा रखनेवाली उत्तरोत्तर व्यवस्थाको प्राप्त हुआ करता है, ऐसा एक भी क्षण वह नहीं छोड़ता, जिसमें कि वह अवस्थान्तरको धारण न करता हो। वयः-परिणामके अनुसार उसकी मूर्ति प्रतिसमय बढ़ती हुई नजर आती है। इसमें जरा—वृद्धावस्था—वयोहानिकृत अवस्था विशेष और शीर्णता—सन्धि बन्धनादिकका शिथिल होना चर्ममें वलि—सरवटोंका पड़ जाना और शिथिल होकर लटकने लगना आदि अवस्था पाई जाती है, और यह शरीर ऐसे परिणामको भी प्राप्त हुआ करता है, जिसमें कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने अपने विषयको ग्रहण करनेकी शक्तिसे शून्य हो जाया करती हैं। इसी तरहके और भी अनेक परिणमन हुआ करते हैं। इस तरहसे इसमें बार बार और अनेक उदार —उद्गम पाये जाते है, अतएव इसको औदारिक कहते हैं, ये सब बातें अन्य किसी भी शरीरमें नहीं पाई जातीं। अथवा उदार से जो हो उसको औदारिक कहते हैं।

१—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—" ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतत् भाष्यं युक्तं स्यात्, इह तु प्रकरणान्ताभिधानेन किञ्चित् प्रयोजनं वैशेषिकमस्तीति।—उच्यते—तदेवमयं मन्यते, तदेवेदमादिसूत्रमाप्रकरणपरिसमाप्तेः प्रपञ्च्यते। अथवा प्रकरणान्ताभिधाने सत्यमेव न किञ्चित् फलमस्त्यसूत्रार्थत्वात् अतः क्षम्यतामेकमाचार्यस्येति।
२—उदारमेव औदारिकम्, इस निरुक्तिके अनुसार स्वार्थमें ठञ् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है।

जिस प्रकार ग्राह्य आदि सम्पूर्ण धर्म औदारिकके भेदोंमें पाये जाते हैं, वैसी कोई भी विशेषता वैक्रियादि किसी भी अन्य शरीरमें नहीं पाई जाती । औदारिकशरीरमें मांस अस्थि स्नायु आदि भी पाये जाते हैं, जोकि अन्यत्र कहीं भी नहीं रहते । औदारिकशरीर हाथोंसे पकड़कर स्थानान्तरको ले जाया जा सकता है, या अन्यत्र जानेसे वहीं रोका जा सकता है, इन्द्रियोंके द्वारा भी वह ग्रहण करनेमें आता है । फरशा आदिके द्वारा उसका छेदन और करोंत आदिके द्वारा भेदन तथा अग्नि आदिके द्वारा दहन हो सकता है । इसी प्रकार वायु वेगका निमित्त पाकर वह उड़ सकता है । इत्यादि अनेक प्रकारके उदारण--विदारण अन्य शरीरोंमें नहीं पाये जाते, इसलिये भी इसको औदारिक कहते हैं । क्योंकि वैक्रिय आदि शरीरोंमें मांस अस्थि तथा ग्राह्य आदि विशेष नहीं पाये जाते । अथवा[1] यह शरीर स्थूल होता है । क्योंकि उदार यह नाम स्थूलका भी है । स्थूल उद्गत पुष्ट बृहत् और महत् ये शब्द उदारके ही पर्यायवाचक हैं । जो उदार है, उसीको[2] औदारिक कहते हैं । फलतः--इसमें प्रदेश अल्प होते हैं, इसका प्रमाण अधिक माना है, शुक्र शोणित आदि वस्तुओंके द्वारा इसकी रचना हुआ करती है, तथा इसमें प्रति क्षण वृद्धिका होना पाया जाता है, और इसका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी अधिक है; इत्यादि कारणोंसे ही इसको औदारिक कहते हैं । ये सब धर्म अन्य वैक्रिय आदि शरीरोंमें नहीं पाये जाते । क्योंकि औदारिकके अनन्तर वैक्रिय आदि सभी शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं यह बात पहले बताई जा चुकी है ।

औदारिकके अनन्तर वैक्रियशरीरका स्वरूप बताते हैं ।---विक्रिया विकार विकृति और विकरण ये शब्द एक ही अर्थके बोधक--पर्यायवाचक हैं । विशिष्ट क्रियाको विक्रिया, प्रकृत स्वरूपसे अन्य स्वरूप होनेको विकार, विचित्र कृतिको विकृति और विविध रूप अथवा चेष्टाओंके करनेको विकरण कहते हैं । इस प्रकार यद्यपि ये शब्द भिन्न भिन्न अर्थके बोधक है, फिर भी पर्यायवाचक इस लिये हैं, कि इन सभी शब्दोंका अर्थ वैक्रियशरीरमें घटित होता है । इसी बातको दिखानेके लिये भाष्यकार आगे स्फुट व्याख्या करते हैं ।---यह शरीर इसलिये वैक्रिय है, कि इसमें विविध क्रियाएं पाई जाती है, यह एक होकर अनेकरूप हो जाता है, और अनेक होकर पुनः एकरूप हो जाता है, अणुरूप होकर महान् बन जाता है, और महान् बनकर पुनः अणुरूप बन जाता है, एक आकृतिको धारण करके अनेक आकृतियोंको धारण करनेवाला बन जाता है, और अनेकाकृति बनकर एक आकृतिके धारण करनेवाला भी बन जाता है, इसी प्रकार दृश्यसे अदृश्य बन जाता है, और अदृश्यसे दृश्य बन जाता है, भूमिचरसे[3] खेचर[4] बन जाता है, और खेचरसे भूमिचर बन जाता है, प्रतिघातिसे

१---च शब्द अथवा अर्थमें आया है । २---उदारमेव औदारिकम् स्वार्थे ठञ्प्रत्ययविधानात् ॥
३--भूमिपर चलनेवाले मनुष्य तिर्यंच । ४--आकाशमें उड़नेवाले पक्षी आदि ।

अप्रतिघाति हो जाता है और अप्रतिघातिसे प्रतिघाति हो जाता है। ये सभी भाव वैक्रियशरीरमें युगपत् पाये जा सकते हैं, यह उसकी विशेषता है। यह बात अन्य शरीरोंमें नहीं पाई जा सकती। जो विक्रियामें रहे अथवा विक्रियामें उत्पन्न हो, यद्वा विक्रियामें सिद्ध किया जाय, उसको वैक्रिय कहते है। अथवा विक्रियाको ही वैक्रिय कहते हैं। ये सब वैक्रिय शब्दके निरुक्ति सिद्ध अर्थ है। फिर भी ये औदारिक आदिसे विशिष्टता दिखानेवाले लक्षणरूप अर्थ समझने चाहिये। क्योंकि शास्त्रोंमें वैक्रियशरीरका विशेष स्वरूप दिखानेके लिये इन्हीं भावोंका अधिक खुलासा करके बताया गया है।

आहारक—संशयका दूर करना या अर्थविशेषका ग्रहण करना, अथवा ऋद्धिका देखना इत्यादि विशिष्ट प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये जिसका ग्रहण किया जाय, और कार्यके परा हो जानेपर जो छूट जाय, उस शरीर विशेषको आहारक कहते हैं। आहारकको ही आहार्य भी कहते हैं[3]। इस शरीरकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी ही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीके यहाँसे कोई चीज माँगकर लावे, तो वह चीज काम निकलते ही वापिस कर दी जाती है। उसी प्रकार इस शरीरके विषयमें भी समझना चाहिये। आहारकशरीरके प्रकट होनेके समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही कार्य समाप्त हो जाता है, और उसके पूर्ण होते ही वह शरीर वापिस आकर औदारिकशरीरमें प्रवेश कर विघटित हो जाता है। जो कार्य इस शरीरका है, वह अन्य किसी भी शरीरके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव यह कार्यविशेषता ही उसका लक्षण समझना चाहिये।

तैजस—इसके विषयमें पहले भी कहा जा चुका है। उष्णता है लक्षण जिसका, और जो उपभुक्त आहारको पकानेवाला है, वह प्राणिमात्रमें रहनेवाला तेज प्रसिद्ध है। इस तेजके विकार—अवस्था विशेषको ही तैजस कहते है। अथवा वह तेजोमय है। उस तेजका स्वभाव अथवा स्वरूप यही है, कि उससे शापानुग्रहरूप प्रयोजनकी सिद्धि हुआ करती है। इसके कार्यको भी अन्य शरीर नहीं कर सकते। अतएव यह सबसे विलक्षण है।

कार्मण—ज्ञानावरणादिक अष्टविध कर्मके विकार—अवस्था विशेप—एकलोली भावके होनेको कार्मणशरीर कहते है। वह कर्म स्वरूप अथवा कर्ममय ही है। इसके कार्य आदिका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है। वह कार्य भी अन्य शरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसलिये इसको भी सबसे विशिष्ट समझना चाहिये।

ऊपर औदारिक आदि शब्दोंको अन्वर्थ बताकर उनका भिन्न भिन्न अर्थ दिखाया, जिससे

१—विक्रिया एव वैक्रियम्, अथवा विक्रियायां भवम् वैक्रियम्। २—देखो भगवतीसूत्र, तृतीय शतक, ५ उद्देश, सूत्र १६१, अथवा १४ शतक, ८ वाँ उद्देश, सूत्र ५२१, तथा १८ शतक, ७ वाँ उद्देश, सूत्र ६२५।३—कृत्यल्युटोबहुलवचनात्।

कि पाँचो ही शरीरोंकी विशेषताका बोध होता है। इन उदार विकरण आहरण आदि विशिष्ट अर्थोके होनेसे ही उक्त शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि घट पटादिकके समान सभी पदार्थोंके स्वरूपोंमें भिन्नताका रहना ही तो नानात्वका कारण हुआ करता है। स्वरूप-भेदको ही लक्षणभेद भी कह सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि लक्षणभेदके द्वारा शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो चुका है, फिर भी शिष्यको विशिष्टरूपसे ज्ञान करानेके लिये भाष्यकार नौ प्रकारसे उन शरीरोंका नानात्व और भी सिद्ध करके बताते है। वे नौ प्रकार ये हैं—कारण विषय स्वामी प्रयोजन प्रमाण प्रदेशसंख्या अवगाहन स्थिति और अल्पबहुत्व। क्रमसे इन्हीं विशेषोंके द्वारा शरीरोंके नानात्वको सिद्ध करते हैं।

कारण—जिन उपादान कारणरूप पुद्गलवर्गणाओंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना हुआ करती है, वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। औदारिकशरीरके कारणरूप पुद्गल सबसे अधिक स्थूल हैं। वैक्रियशरीरके उससे सूक्ष्म हैं और उनमें विविधकरणशक्ति भी पाई जाती है। इसी प्रकार आहारक आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। यही कारणकृत विशेषता है।

विषय—विषयनाम क्षेत्रका है। अतएव कौनसा शरीर कितने क्षेत्रतक गमन कर सकता है, इस प्रकारकी विभिन्न शक्तिके प्रतिपादनको ही विषयभेद कहते हैं। यथा—औदारिकशरीरके धारण करनेवालेमें जो विद्याधर हैं, वे अपने औदारिकशरीरके द्वारा नन्दीश्वर[1] द्वीप पर्यन्त जा सकते है। परन्तु जो जङ्घाचारण ऋद्धिके धारण करनेवाले है, वे रुचक पर्वत पर्यन्त गमन कर सकते है। यह तिर्यक् क्षेत्रकी अपेक्षा विषय भेद है। ऊर्ध्व दिशामें औदारिकशरीरके द्वारा पाण्डुकवन-पर्यन्त गमन हो सकता है। वैक्रियशरीर असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त जा सकता है, और आहारकशरीर केवल महाविदेहक्षेत्र तक ही गमन किया करता है। तैजस कार्मणशरीरका क्षेत्र सम्पूर्ण लोकमात्र है। ये दोनों लोकके भीतर चाहे जहाँ गमन कर सकते है।

स्वामी—ये शरीर किसके हुआ करते हैं, इसके निरूपणको ही स्वामिभेद कहते है। यथा—औदारिकशरीर संसारी प्राणियोंमेंसे मनुष्य और तिर्यंचोंके ही हुआ करता है। वैक्रिय-शरीर देव और नारकोंके ही होता है, परन्तु किसी किसी मनुष्य और तिर्यंचके भी हो सकता है, जिसको कि वैक्रियलब्धि प्राप्त हो जाया करती है। आहारकशरीर चतुर्दशपूर्वके धारण करने-वाले संयमी मनुष्यके ही हुआ करता है। तैजस और कार्मण संसारी जीवमात्रके हुआ करते है।

प्रयोजन—जिसका जो असाधारण कार्य है, वही उसका प्रयोजन कहा जाता है। जैसे कि औदारिकशरीरका प्रयोजन धर्माधर्मका साधन अथवा केवलज्ञानादिकी प्राप्ति होना है।

१—जम्बूद्वीपसे लेकर स्वयम्भूरमणतक असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमेंसे आठवें द्वीपका नाम नन्दीश्वर है। इसकी रचना और विस्तार राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें देखनी चाहिये।

यह कार्य अन्य शरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैक्रियशरीरका प्रयोजन स्थूल-सूक्ष्म अथवा एक अनेक आदि रूप धारण करना पृथ्वी जल और आकाशमें गमन करना तथा अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंकी प्राप्ति होना इत्यादि विभूति–ऐश्वर्यका लाभ होना ही वैक्रियशरीरका असाधारण कार्य---प्रयोजन है। इसी प्रकार आहारकशरीरका प्रयोजन है, कि सूक्ष्म व्यवहित और दुरवगाह पदार्थोंके विषयमें उत्पन्न हुई शंकाओंका दूर होना। अथवा असंयमका परिहाण होना आदि। आहारका पाक होना तथा शाप देने और अनुग्रह करनेकी शक्तिका प्रकट होना, तैजसशरीरका प्रयोजन है। कार्मणका प्रयोजन भवान्तर को जाना आदि है।

प्रमाण---औदारिकशरीरका प्रमाण एक हजार योजनसे कुछ अधिक है। वैक्रियशरीरका प्रमाण एक[1] लक्ष योजन है। आहारकशरीरका प्रमाण रत्नि[2]--बद्धमुष्टि प्रमाण है। तैजस और कार्मणशरीरका प्रमाण लोकमात्र है।

प्रदेशसंख्या---इसके विषयमें पहले कहा जा चुका है, कि तैजसशरीरके पहलेके शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे हैं, और अन्तिम दो शरीरोंके प्रदेश अनन्तगुणे[3]। अर्थात् औदारिकसे वैक्रियके और वैक्रियसे आहारकके प्रदेश तो असंख्यातगुणे हैं, परन्तु आहारकसे तैजसके और तैजससे कार्मणके प्रदेश अनन्तगुणे है।

अवगाहना–इस अपेक्षासे पाँचों शरीरोंमें जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त प्रमाणसे ही समझ लेनी चाहिये। जैसे कि औदारिककी अवगाहना एक हजार योजनसे कुछ अधिक, इत्यादि।

स्थिति–समय प्रमाणको ही स्थिति कहते है। औदारिककी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्यकी है। वैक्रियशरीरकी जघन्य स्थिति[4] अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागर प्रमाण है। आहारकशरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। तैजस कार्मणकी स्थिति अभव्योंकी अपेक्षा अनाद्यनन्त और भव्योंकी अपेक्षा अनादिसान्त[5] है।

अल्प बहुत्व–हीनाधिकताको अल्प बहुत्व कहते हैं। पाँच शरीरोंमेंसे किस शरीरके धारण करनेवाले कम है, और किस शरीरके धारण करनेवाले अधिक है, इसके जाननेको ही अल्प बहुत्व कहते है। सबसे कम संख्या आहारकशरीरवालोंकी है। यह शरीर कभी होता है, कभी नहीं भी होता। क्योंकि इसका एक समयसे लेकर छह महीना तकका अन्तरकाल माना गया है। आहारकसे वैक्रियशरीरवालोंका प्रमाण असंख्यातगुणा

१–यह प्रमाण विक्रियाकी अपेक्षासे है, मूल शरीरकी अपेक्षासे नहीं। २–एक हाथसे कुछ कम, इसको अरत्नि भी कहते है। ३–अध्याय २ सूत्र ३९–४०। ४—यहाँपर भी आयुकी अपेक्षा न लेकर विक्रियाकी अपेक्षा समझना चाहिये। ५—यह संतानक्रमके अनुरोधमे और भव्यताकी अपेक्षासे है। अन्यथा अनन्त भव्य भी ऐसे हैं, जो कि अनन्तकालमे भी मुक्त न होगे।

है। वैक्रियसे औदारिकवालोंका प्रमाण असंख्यातगुणा है। औदारिकसे तैजस कार्मणका प्रमाण अनन्तगुणा है।

भाष्यम्—अत्राह—आसु चतसृषु संसारगतिषु को लिङ्गनियम इति। अत्रोच्यते।—जीवस्यौदयिकेषु भावेषु व्याख्यायमानेषूक्तम्, त्रिविधमेव लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं पुंलिङ्गं नपुंसकलिङ्गमिति। तथा चारित्रमोहे नोकषायवेदनीये त्रिविध एव वेदो वक्ष्यते, स्त्रीवेदः पुंवेदः नपुंसकवेद इति। तस्मात्त्रिविधमेव लिङ्गमिति। तत्र—

अर्थ—प्रश्न—संसारी जीवोंके शरीरोंका लक्षण और नानात्व बताया, परन्तु संसारमें चार प्रकार जो गति बताई है—नारक तिर्यक् मानुष और देव, उनमें लिङ्गका नियम कैसा है, सो अभीतक मालूम नहीं हुआ, कि किस किस गतिमें कौन कौनसा लिंग पाया जाता है। अतएव अब इसी विषयको कहिये, कि इन गतियोंमें लिंगका नियम किस प्रकारका है? उत्तर—जीवके औदयिकभावोंका व्याख्यान करते हुए यह बात पहले ही कही जा चुकी है, कि लिङ्ग तीन ही प्रकारका है—स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग नपुंसकलिङ्ग। इसी प्रकार चारित्रमोहनीयके भेद नोकषायवेदनीयके उदयसे तीन ही प्रकारका वेद हुआ करता है, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ऐसा भी आगे चलकर कहेंगे। अतएव यह सिद्ध है, कि लिंग तीन ही प्रकारके हैं।

भावार्थ—पहले भी लिङ्गके तीन भेद बता चुके हैं, और आगे भी बतावेंगे, कि मोहनीयके दो भेद है—दर्शनमोह और चारित्रमोह। चारित्रमोहके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। नोकषायवेदनीय हास्यादिकके भेदसे नौ प्रकारका है। इन्हीं नौ भेदोंमें तीन वेदोंका वर्णन भी किया जायगा। जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको स्त्रीवेद कहते हैं। जिसके उदयसे स्त्रीके साथ संभोग करनेकी अभिलाषा हो, उसको पुरुषवेद कहते है। जिसके उदयसे दोनों ही प्रकारकी अभिलाषाएं हों, उसको नपुंसकवेद कहते है। इस प्रकार तीन वेदोंका स्वरूप प्रसिद्ध है। अतएव गतिभेदके अनुसार इन लिंगोंकी इयत्ताका निर्णय बताना आवश्यक है। इसीलिये प्रश्नकर्त्ताने भी यह न पूछ करके कि लिंग किसको कहते है, यही पूछा है, कि किस किस गतिमें कौन कौनसा लिङ्ग पाया जाता है? तदनुसार ही उत्तर देनेके लिये आचार्य भी सूत्र करते है, और बताते है कि इन तीन प्रकारके लिङ्गोंमेंसे—

सूत्र—नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नारकाश्च सर्वे सम्मूर्छिनश्च नपुंसकान्येव भवन्ति—न स्त्रियो न पुमान्सः। तेषां हि चारित्रमोहनीयनोकषायवेदनीयाश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुंसकवेदनीयमेवैकमशुभगतिनामापेक्षं पूर्वबद्धनिकाचितमुदयप्राप्तं भवति, नेतरे इति।

अर्थ—नरकगतिवाले सम्पूर्ण जीव और सभी सम्मूर्छन जन्म—धारण करनेवाले नपुंसक ही हुआ करते है। वे न तो स्त्री ही होते हैं, और न पुरुष ही होते हैं[1]। उनके

१—न स्त्री न पुमान् इति नपुंसकम्।

चारित्रमोहनीयके भेद नोकषायवेदनीय सम्बन्धी तीन वेदोंमेंसे एक नपुंसकवेदनीयकर्मका ही उदय हुआ करता है, जो कि अपने उदयमें अशुभ गति नाम अशुभ गोत्र अशुभ आयुके उदयकी भी अपेक्षा रखता है, और जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निकाचितबन्ध हो जाता है।

भावार्थ—जो ग्रहण करते ही आत्माके साथ इस तरह मिल जाता है, जैसे कि दूध पानी आपसमें एक होजाते हैं, ऐसे अध्यवसाय विशेषके द्वारा अविभागिरूपसे आत्मप्रदेशोंके साथ सम्बद्ध कर्मविशेषको ही निकाचितबन्ध[1] कहते हैं। नरकगति और सम्मूर्छन–जन्म धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वजन्ममें ही नपुंसकवेदका निकाचितबन्ध होजाता है। इसका उदय अशुभ गति आदि कर्मोके उदयके विना नहीं हुआ करता। नारक और सम्मूर्छित जीवोंके यह निमित्त भी है, अतएव उनके नपुंसकवेदका ही उदय हुआ करता है।

जिन जीवोंमें नपुंसकलिङ्गका सर्वथा अभाव पाया जाता है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न देवाः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया अपि नपुंसकानि न भवन्ति। स्त्रियः पुमांसश्च भवन्ति। तेषां हि शुभगतिनामापेक्षे स्त्रीपुंवेदनीये पूर्वबद्धनिकाचिते उदयप्राप्ते द्वे एव भवतः नेतरत्। पारिशेष्याच्च गम्यते जरारवण्डपोतजास्त्रिविधा भवन्ति–स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानीति।

अर्थ—चारों ही निकायके देव नपुंसक नहीं हुआ करते। वे स्त्रीवेदी या पुरुषवेदी ही हुआ करते हैं, क्योंकि उनके शुभ गति नामकर्म शुभ गोत्र शुभ आयु और शुभ वेदनीय-कर्मके उदयकी अपेक्षासे स्त्रीवेद और पुंवेदका ही उदय हुआ करता है, जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निकाचितबन्ध होजाता है। देवगतिमें नपुंसकवेदका उदय नही होता। क्योंकि उसका पूर्वजन्ममें बन्ध नहीं हुआ है, और वहाँ उसके उदयके योग्य सहकारी कारण जो अपेक्षित हैं, वे भी नहीं हैं। इस प्रकार जब नरकगति और सम्मूर्छनजन्मवाले तथा देवगतिवाले जीवोंके लिङ्गका नियम बता दिया गया, तब इनसे जो शेष बचे उन जीवोंके कौन कौनसा लिङ्ग होता है, यह बात अर्थादापन्न हो जाती है। अर्थात् जरायुज अंडज और पोतज इन शेष जीवोंके स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग ये तीनों ही प्रकारके वेद पाये जाते हैं, यह पारिशेष्यसे ही समझमें आ जाता है। अतएव इनके लिङ्गका नियम बतानेके लिये सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है।

भाष्यम्—अत्राह—चतुर्गतावपि संसारे किं व्यवस्थिता स्थितिरायुषः उताकालमृत्यु-रप्यस्तीति। अत्रोच्यते–द्विविधान्यायूंषि अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च। अनपवर्तनी-यानि पुनर्द्विविधानि सोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च। अपवर्तनीयानि तु नियतं सोप-क्रमाणीति। तत्र—

१—जिसका फल अवश्य भोगना पड़े, उसको निकाचित कहते हैं। अथवा जिसकी उदीरणा संक्रमण उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारो ही अवस्थाएं न हो सकें, उसको निकाचितबंध कहते हैं। देखो गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४४०.

अर्थ—प्रश्न—चतुर्गतिरूप संसारमें आयुके विषयमें क्या नियम है ? चारों ही गतिमें उसकी स्थिति व्यवस्थित है, अथवा अकालमृत्यु भी हुआ करती है ? अर्थात् पूर्वजन्ममें आयु-कर्मकी जितनी स्थिति बाँधी थी, उसका उदयकाल आनेपर उस स्थितिका पूर्णरूपमें उदय हो जानेपर ही जीवका मरण होता है, अथवा उस स्थितिके पूर्ण न होनेपर भी होता है ? उत्तर—आयुकर्म दो प्रकारके हुआ करते है—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । अनपवर्तनीयके भी दो भेद है—एक सोपक्रम दूसरा निरुपक्रम । अपवर्तनीय आयुकर्म नियमसे सोपक्रम ही हुआ करते हैं ।

भावार्थ—इस प्रश्नके करनेका कारण यह है, कि इस विषयमें लोकमें दोनों ही प्रकारके प्रवाद सुननेमें आते हैं, कोई कहता है, कि आयुकर्मकी जितनी स्थिति पूर्वजन्ममें बाँधी है, उतनी पूर्ण भोग चुकनेपर ही मरण हुआ करता है, और कोई कहता है, कि अस्त्र शस्त्रके घात आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहले भी मरण हो जाता है । अतएव संशयमें पड़कर शिष्यने यह प्रश्न किया है, कि इस विषयमें कैसा नियम समझना चाहिये ? इसके उत्तरमें अकालमृत्युका होना भी संभव है, यह बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं, कि चतुर्गतिरूप संसारमें आयुकर्म दोनों ही प्रकारके पाये जाते हैं—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । जिसकी स्थिति पूर्ण होनेके पहले ही समाप्ति हो जाती है, उसको अपवर्तनीय कहते हैं, और जिसकी स्थिति पूर्ण होनेपर ही समाप्ति हो, उसको अनपवर्तनीय कहते हैं । अपवर्तनीय आयुका उदय होनेपर अकाल-मरण भी हो सकता है ।

जिन अध्ययसानादिक कारण विशेषोंके द्वारा आयुकर्मकी अतिदीर्घ कालकी भी स्थिति घटकर अल्पकालकी हो सकती है, उन कारणकलापोंको ही उपक्रम कहते है । ऐसे कारण-कलाप जिस आयुके साथ लगे हुए हों, उसको सोपक्रम और जिसके साथ वे न पाये जाँय उसको निरुपक्रम कहते है । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि अनपवर्तनीय और सोपक्रम ये दोनो ही बातें परस्पर विरुद्ध हैं । क्योंकि जो आयु अनपवर्त्य है, वही सोपक्रम कैसे हो सकती है ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि उस आयुके साथ वैसे कारणकलाप तो लगे रहते हैं, परन्तु फिर भी उसका अपवर्तन नहीं हुआ करता । क्योंकि चरम देह तथा उत्तम पुरुषोंकी आयुका बन्धन इतना गाढ़ हुआ करता है, कि वे कारण मिलकर भी उसको शिथिल नहीं बना सकते ।

यहाँपर किसीको यह भी शंका हो सकती है, कि जिस प्रकार कारणविशेषके द्वारा आयुकी दीर्घस्थिति अल्प बनाई जा सकती या हो सकती है, उसी प्रकार किसी कारणविशेपके द्वारा उसकी अल्प स्थिति दीर्घ भी की जा सकती है । परन्तु यह बात नहीं है । जिस प्रकार किसी वस्त्रको घड़ी करके छोटा बनाया जा सकता है, परन्तु उसके प्रमाणसे बड़ा किसी भी तरह

नहीं वनाया जा सकता; अथवा जिस प्रकार किसी आम्र आदिके पकनेकी स्थिति पाल आदिमें देनेसे घट सकती है, परन्तु उसकी नियत स्थिति किसी भी कारणसे वढ़ नहीं सकती। उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अतएव जो यह समझते हैं, कि योग आदिके निमित्तसे अथवा किसी रसायनके सेवन करनेसे आयु वढ़ भी जाती है, यह वात मिथ्या है। क्योंकि भुज्यमान आयुका बंध पूर्वजन्ममें ही होता है, उसी समय उसकी स्थितिका भी बंध हो जाता है। अतएव उदयकाल आनेपर उसमें वृद्धिकी संभावना कैसे हो सकती है; हाँ, यह हो सकता है, कि वंधे हुए कर्म निमित्त पाकर आत्मासे जल्दी सम्वन्ध छोड़ दें। इसलिये यह निश्चित है, कि चाहे अमृतका ही सेवन क्यों न किया जाय, परन्तु भुज्यमान आयुकी स्थिति वढ़ नहीं सकती। इसी लिये इस प्रकारके प्रवादोंको भी सर्वथा मिथ्या समझना चाहिये, कि अमुक व्यक्ति अनन्तकालके लिये सशरीर अमर हो गया है।

इस प्रकार अनपवर्तनीय आयुके सोपक्रम और निरुपक्रम ये दो भेद समझने चाहिये। किंतु अपवर्तनीय आयु नियमसे सोपक्रम ही हुआ करती है। इस उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनका सारांश केवल इतना कह देनेसे ही समझमें आसकता है, कि अमुक अमुक जीवोंकी आयु अनपवर्त्य हुआ करती है। क्योंकि शेष जीवोंके दूसरा भेद—अपवर्त्य पारिशेष्यसे ही समझमें आसकता है। अतएव आचार्य इसी बातको सूत्रद्वारा बताते हैं:—

सूत्र—औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ५२

भाष्यम्—औपपातिकाश्चरमदेहा उत्तमपुरुषाः असंख्येयवर्षायुष इत्येतेऽनपवर्त्यायुषो भवन्ति। तत्रौपपातिका नारकदेवाश्चेत्युक्तम्। चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति नान्ये। चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थः। ये तेनैव शरीरेण सिध्यन्ति। उत्तमपुरुषास्तीर्थकरचक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिनः। असंख्येयवर्षायुषो मनुष्याः तिर्यग्योनिजाश्च भवन्ति। सदेवकुरूत्तरकुरुषु सान्तर द्वीपकास्वकर्मभूमिषु कर्मभूमिषु च सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुःषमायामित्यसंख्येयवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति। अत्रैव बाह्येषु द्वीपेषु समुद्रेषु तिर्यग्योनिजा असंख्येयवर्षायुषो भवन्ति। औपपातिकाश्चासंख्येयवर्षायुषश्च निरुपक्रमाः। चरमदेहाः सोपक्रमाः निरुपक्रमाश्चेति। एभ्य औपपातिकचरमदेहासंख्येयवर्षायुर्भ्यः शेषाः मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। तत्रयेऽपवर्त्यायुषस्तेषां विषशस्त्रकण्टकाग्न्युदकाह्यशिताजीर्णाशनिप्रपातोद्बन्धनश्वापदवज्रनिर्घातादिभिः क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमैरायुरपवर्त्यते। अपवर्त्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोगः। उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्।

अर्थ—उपपातजन्मवाले तथा चरमशरीरके धारक और उत्तम पुरुष एवं असंख्यात वर्षकी जिनकी आयु हुआ करती है, इतने जीवोंकी आयु अनपवर्त्य समझनी चाहिये। नारक और देव उपपातजन्मवाले है, यह वात पहले वताई जा चुकी है। चरमशरीरके धारक

१—जैसा कि किसी किसी धर्मवालोंने कृप परशुराम वलि व्यास और अश्वत्थामा आदिको अमर माना है।

मनुष्य ही हुआ करते हैं, और कोई भी नहीं होते। जो उसी शरीरसे सिद्धि प्राप्त किया करते हैं—जिनको और कोई भी शरीर—धारण करना बाकी नहीं रहा है, उस अन्तिम शरीरके धारण करनेवालोंको चरमदेह कहते हैं। तीर्थंकर चक्रवर्ती और अर्धचक्री इनको उत्तम पुरुष माना है। असंख्यात वर्षकी आयुके धारक मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही हुआ करते हैं। परन्तु इनमें से असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य देवकुरु[1] उत्तरकुरु और अन्तरद्वीपोंकी[2] अकर्मभूमियोंमें तथा कर्मभूमियोंमें भी आदिके तीन कालोंमें—सुषमसुषमा सुषमा और सुषमदुषमामें ही हुआ करते हैं। तथा हैमवत हरिवर्ष रम्यक और हैरण्यवत इन क्षेत्रोंमें भी असंख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्य हुआ करते[3] हैं। क्योंकि ये भी अकर्मभूमि ही हैं। तथा असंख्यातवर्षकी आयुके धारक तिर्यंच इन क्षेत्रोंमें भी हुआ करते है और इनके बाहर—मनुष्यक्षेत्रके बाहर जितने द्वीप समुद्र हैं, उनमें भी हुआ करते हैं। इनमेंसे औपपातिक और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयु निरुपक्रम ही हुआ करती है। जिन वेदनारूप कारणकलापोंसे आयुका भेदन हो जाता है, उनसे इन जीवोंकी आयु रहित हुआ करती है। चरमदेहके धारक जीवोंकी आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों ही तरहकी होती है। इनके सिवाय अर्थात् औपपातिक और असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य तिर्यंच तथा चरमशरीरियोंको छोड़कर बाकी जितने जीव हैं, उनकी आयु अपवर्त्य भी हुआ करती है, और अनपवर्त्य भी हुआ करती है। तथा वे सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों ही तरहकी हुआ करती है। जिनकी अपवर्त्य आयु हुआ करती है। उनकी आयुका विष शस्त्र कंटक अग्नि जल सर्प भोजन अजीर्ण वज्रपात बंधनविशेष—गलेमें फांसी लगा लेना आदि सिंहादिक हिंसक जीव वज्रघात आदि कारणोंसे तथा क्षुधा पिपासा शीत उष्ण आयुका तीव्र उपद्रव आजाने आदि कारणोसे भी अपवर्तन हो जाता है। अधिक स्थितिवाली आदिका शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्तके पहले ही फलोपभोग हो जाना इसको अपवर्तन कहते है। और जो इस अपवर्तनके निमित्त हैं, उनको उपक्रम कहते हैं।

इस प्रकार आयुके अपवर्तनका स्वरूप बताया। इस विषयमें कोई कोई अपवर्तनका वास्तविक अर्थ न समझकर तीन दोष उपस्थित किया करते है—कृतनाश अकृतागम और निष्फ-

---

१—सुमेरु और निषधके दक्षिणोत्तर तथा सौमनस विद्युत्प्रभके मध्यका क्षेत्र देवकुरु कहाता है। सुमेरु और नीलके उत्तर दक्षिण तथा गंधमादन और माल्यवान्‌के मध्य भागका क्षेत्र उत्तरकुरु कहाता है। २—हिमवान् पर्वतके पूर्व पश्चिम और विदिशाओंमें तथा समुद्रके भीतर अन्तरद्वीप हैं। जिनमें कि अनेक आकृतियोंके धारक मनुष्य हुआ करते हैं। इन क्षेत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण टीकासे जानना चाहिये। ३-४—इन क्षेत्रोंका विशेष खुलासा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति त्रिलोकप्रज्ञप्ति या त्रिलोकसार आदि ग्रंथोंसे जानना चाहिये। संक्षिप्त वर्णन आगे तीसरे अध्यायमें करेंगे। ५-यहाँपर आयुकर्मके ही विषयमे अपवर्तनका उल्लेख किया है। परन्तु आयुके समान अन्य कर्मोंका भी अपवर्तन हुआ करता है, ऐसा टीकाकर्त्ताका अभिप्राय है।

लता । अतएव उनकी तरफसे शंका उठाकर इनका निराकरण करनेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—अत्राह-यद्यपवर्तते कर्म तस्मात्कृतनाशः प्रसज्यते यस्मान्न वेद्यते। अथास्त्यायुष्कं कर्म म्रियते च, तस्मादकृताभ्यागमः प्रसज्यते। येन सत्यायुष्के म्रियते च ततश्चायुष्कस्य कर्मण आफल्यं प्रसज्यते । अनिष्टं चैतत् । एकभवस्थिति चायुष्कं कर्म न जात्यन्तरानुबन्धि तस्मान्नापवर्तनमायुषोऽस्तीति । अत्रोच्यते-कृतनाशाकृताभ्यागमाफल्यानि कर्मणो न विद्यन्ते। नाप्यायुष्कस्य जात्यन्तरानुबन्धः। किंतु यथोक्तैरुपक्रमैरभिहतस्य सर्वसन्दोहेनोदयप्राप्तमायुष्कं कर्म शीघ्रं पच्यते तदपवर्तनमित्युच्यते । संहतशुष्कतृणराशिदहनवत् । यथाहि-संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति तद्वत् । यथावा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति। किंचान्यत्-यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते तस्मिन्प्रभूतस्नेहापगमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः तद्वद्यथोक्तनिमित्तापवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं फलोपभोगो भवति। नच कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ——प्रश्न—इस प्रकारसे यदि कर्मका अपवर्तन भी हो जाता है, तो कृतनाशका प्रसङ्ग आवेगा। क्योंकि उस कर्मका फल भोग करनेमें नहीं आ सका, और यदि अपवर्तनसे यह मतलब लिया जाय, कि आयुकर्म सत्तामें तो रहता है, परन्तु फिर भी जीवका मरण हो जाता है, तो अकृताभ्यागमका प्रसङ्ग आता है। क्योंकि आयुके रहते हुए ही और अन्तरालमें ही मरण हो जाता है, और इसी लिये आयुकर्मकी निष्फलताका भी प्रसङ्ग आता है। क्योंकि जब आयुकर्मके रहते हुए भी मरण होजाता है, तो फिर उससे क्या प्रयोजन। किंतु जैन सिद्धान्तके अनुसार ये तीनों ही बातें अनिष्ट हैं। जिस कर्मका बन्ध हुआ है, वह विना फल दिये ही नष्ट हो जाय, या जिसका बन्ध नहीं किया है, उसका उदय हो यद्वा कर्म निःप्रयोजनीभूत वस्तु ही ठहर जाय, यह बात जैनसिद्धान्त स्वीकार नहीं करता। इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि आयुकर्म एकभवस्थिति है, उसके फलका उपभोग एक ही भवमें हुआ करता है, न कि अनेक भवोंमें, और आप कहते हैं, कि आयुके रहते हुए भी मरण होजाता है, इससे यह बात सिद्ध होती है, कि आयुकर्म जात्यन्तरानुबन्धि है—पर्यायान्तरमें भी उसके फलका भोग हो सकता है। किन्तु यह भी अपसिद्धान्त है। इसप्रकार आयुका

अपवर्तन माननेमें चार दोष उपस्थित होते हैं, अतएव यही कहना चाहिये कि उसका अपवर्तन नहीं होता। फिर आप किस तरह कहते है, कि आयुका अपवर्तन होता है ?

उत्तर—कृतनाश अकृतागम और निष्फलता ये तीन दोष जो कर्मके विषयमें दिये हैं, वे ठीक नहीं हैं। इसी प्रकार चौथा दोष जो यह दिया है, कि आयुकर्म जात्यन्तरानुबन्धि-ठहरेगा, सो भी उचित नहीं है। जैनसिद्धान्तमें अपवर्तनका जो स्वरूप माना है, उसके न समझनेके कारण ही ये दोष प्रतीत होते है। पूर्वोक्त उपक्रमों–विष शस्त्रादिक कारणविशेषोंसे अभिहत–ताडित–उपद्रुत होकर आयुकर्म सर्वात्मना उदयको प्राप्त होकर शीघ्र ही पक जाता–अपने फलका अनुभव करा देता है, इसीको अपवर्तन कहते हैं। जिस प्रकार शुष्क भी तृणराशि–ईन्धन यदि संहत हो, आपसमें दृढ़ सम्बद्ध हो, और क्रमसे उनका एक एक अवयव जलाया जाय, तो चिरकालमें उसका दाह हो पाता है, परन्तु यदि उसका बन्धन शिथिल हो और उस सबको अलग अलग करके एक साथ जलाया जाय, तथा वायुरूपी उपक्रमसे वह अभिहत हो, तो फिर उसके जलनेमें देर नहीं लगती–शीघ्र ही वह जलकर भस्म होजाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अथवा जिस प्रकार कोई गणित-शास्त्रका विद्वान् आचार्य सुगमतासे और जल्दी हिसाब निकल आवे, इसके लिये गुणा-कार भागहारके द्वारा राशिका छेद करके अपवर्तन कर देता है, तो उससे संख्येय अर्थका अभाव नहीं हो जाता, इसी प्रकार यहाँपर भी समझना चाहिये। उपक्रमोंसे अभिहत हुआ और मरणसमुद्घातके दुःखोंसे पीड़ित हुआ प्राणी कर्म है, कारण जिसका ऐसे अपवर्तन नामक करणविशेषको अनाभोग–अत्यन्त अपरिज्ञानरूप–जो अनुभवमें न आ सके, ऐसे योग–चेष्टाविशेषपूर्वक उत्पन्न करके शीघ्रतासे फलोपभोग होजानेके लिये कर्मका अपवर्तन किया करता है, इससे उसके फलका अभाव सिद्ध नहीं होता। अर्थात्—मरणके समय कुछ पूर्व जो समुद्घात होता है, उसको मरणसमुद्घात कहते हैं, उस समय शरीरसे आत्मप्रदेशों-का जो अपकर्ष होता है, वह चैतन्य रहित–मूर्च्छित होता है, अतएव वह प्राणी बाह्य चेष्टाओंसे शून्य और अव्यक्त बोधको धारण करनेवाला हुआ करता है। इस तरहकी ज्ञान रहित अवस्थामें ही वह कर्मका अपवर्तन किया करता है। अपवर्तन भी जान पूछकर नहीं करता, किंतु जिस प्रकार उपयुक्त आहारके रसादिक परिणमन निमित्तानुसार स्वतः ही हो जाया करते है, उसी प्रकार अपवर्तनके विषयमें भी समझना चाहिये। इस अपवर्तनके होनेसे आयुकर्मके फलका अभाव नहीं समझना चाहिये। अनपवर्तित और अपवर्तितमें अन्तर इतना ही है, कि पहलेमें तो पूर्ण स्थितितक उसका क्रमसे परिभोग होता है, अतएव उसका काल अधिक है, किन्तु दूसरेमें संकुचित होकर चारों–तरफसे एक साथ भोगनेमें आजाता है, इसलिये उसका काल थोड़ा है।

अपवर्तनका अर्थ अभुक्तकर्म नहीं है। इसी बातको और भी दृष्टान्त देकर भाष्यकार स्पष्ट करते हैं:—

जिस प्रकार किसी वस्त्रको जलसे धोया जाय, और उससे भीगा हुआ ही घरी करके रख दिया जाय, तो वह चिरकालमें सूख पाता है। परन्तु उसीको यदि फैला दिया जाय, तो सूर्यकी किरणोंसे और वायुसे ताडित होकर शीघ्र ही वह सूख जाता है। उस घरी किये हुए वस्त्रमें कोई ऐसा नवीन स्नेह—जल आ नहीं गया है, जो कि पहले उसमें न हो, इसी तरह न फैलाये हुए वस्त्रमें पूर्ण शोष नहीं हुआ हो यही बात है। किंतु दोनो ही अवस्थाओंमें जलके अवयवोंका प्रमाण बराबर ही है। अन्तर इतना ही है, कि एकका शोष अधिक कालमें होता है, और दूसरेका उपक्रमवश शीघ्र ही—अल्पकालमें ही हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। पूर्वोक्त अपवर्तनके निमित्तोंसे कर्मका फलोपभोग शीघ्र ही होजाता है, यही अपवर्तनका स्वरूप है। इसमें कृतनाश अकृतागम और निष्फलताका प्रसङ्ग आता है यह बात नहीं है।

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसङ्ग्रहे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥
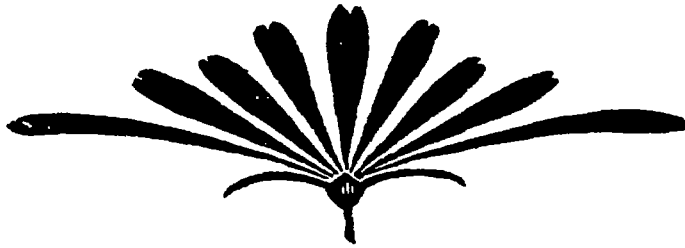
तृतीयोऽध्यायः ।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता नारका इति गतिं प्रतीत्य जीवस्यौदयिको भावः । तथा जन्मसु नारकदेवानामुपपातः । वक्ष्यति च स्थितौ नारकाणां च द्वितीयादिषु । आस्रवेषु बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः इति । तत्र के नारका नाम क्व चेति । अत्रोच्यते-नरकेषु भवा नारकाः । तत्र नरकप्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यतेः—

अर्थ—**प्रश्न**—आपने नारक शब्दका अनेक वार उल्लेख किया है । जीवके औदयिक-भावोंको गिनाते हुए गतिके भेदोंमें नारकगतिका नाम गिनाया है । तथा जन्मोंका वर्णन करते हुए कहा है कि "नारक और देवोंका उपपातजन्म होता है ।" इसी तरह आगे चलकर भी इन शब्दोंका उल्लेख किया है । यथा स्थितिका वर्णन करते हुए "नारकाणां च द्वितीयादिषु" इस सूत्रमें और आस्रवोंको बताते हुए 'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः" इस सूत्रमें । सो अभीतक यह नहीं मालूम हुआ कि वे नारक कौन हैं ? और कहाँपर रहते है । अर्थात् पहले और आगे चलकर नारक शब्दका तो अनेक सूत्रोंमें उल्लेख किया, परन्तु किसी भी सूत्रमें उसकी ऐसी व्याख्या करके नहीं बताई, जिससे यह मालूम हो सके, कि नारक अमुकको कहते है, और न अभीतक यही बताया गया, कि उनका निवासस्थान कहॉपर है । अतएव कृपाकर कहिये कि नारक कौन हैं, और कहाँपर रहते हैं ? **उत्तर**—जो नरकोंमें उत्पन्न हों या रहें उनको नारक कहते है । इस प्रकार "नारक कौन हैं ?" इसका उत्तर नारक शब्दकी निरुक्तिके द्वारा ही समझमें आजाता है । परन्तु वे नरक कहॉ हैं, और कैसे हैं इत्यादि बातें इससे समझमें नहीं आतीं, अतएव उनको समझानेके लिये ही आगे सूत्र कहते हैं—

१—कोई कोई, इस सूत्रकी उत्थानिकाके लिये कहते हैं, कि गत अध्यायोंमें जीवका सामान्य स्वरूप तो कहा गया और वह समझमें आया, परन्तु उसके नारक आदि विशेष भेदोंका स्वरूप अभीतक नहीं कहा गया । नारक शब्दका अर्थ नरकेषु भवा नारकाः इस निरुक्तिके अनुसार जिस तरह समझमे आ सकता है, उसी प्रकार नरक शब्दका अर्थ भी "नरान् कायन्ति—आह्वयन्ति इति नरकाः" इस निरुक्तिके अनुसार समझमें आ सकता है । परन्तु यह निरुक्ति केवल व्युत्पत्तिके लिये ही है, इससे कोई अर्थक्रिया—प्रयोजनवत्ता सिद्ध नहीं होती । क्योंकि नरक यह रूढिसंज्ञा है । अतएव वे नरक कहाँ हैं, कितने हैं, कैसे हैं, आदि बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

इसके सिवाय कोई कोई इसकी उत्थानिका इस प्रकार भी करते हैं, कि आगे चलकर नौवें अध्यायमे सूत्र ३७ के द्वारा संस्थानविचय नामक धर्मध्यानका उल्लेख किया गया है । संस्थानविचयका विषय लोकके स्वरूपका विचार करना है । यथा—लोकस्याधस्तिर्यग् विचिन्तयेदूर्ध्वमपि च बाहुल्यम् । सर्वत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगांश्च ॥ (प्रशमरति श्लोक १६०) । लोक तीन भागोंमें विभक्त है, और वहीं जीवोके रहनेका अधिकरण है । अतएव उसका वर्णन करनेमें ऊर्ध्वलोक और मध्यलोकके पहले अधोलोकका वर्णन क्रमप्राप्त है, इसी लिये अधोलोकका स्वरूप बतानेके लिये यहाँ सूत्र करते हैं । इसके अनंतर इसी अध्यायमें तिर्यग्लोक—मध्यलोक और चतुर्थ अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका वर्णन करेंगे ।

सूत्र—रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥ १ ॥

भाष्यम्—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इत्येता भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा भवन्त्येकैकशः सप्त अधोऽधः । रत्नप्रभाया अधः शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभाया अधो वालुकाप्रभा, इत्येवं शेषाः । अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते यथा प्रतीयते घनमेवाम्बु अधः पृथिव्याः । वातास्तुघनास्तनवश्चेति । तदेवं खरपृथिवी पङ्कप्रतिष्ठा, पङ्को घनोदधिवलयप्रतिष्ठो घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठं ततो महातमोभूतमाकाशम् । सर्वं चैतत्पृथिव्यादि तनुवातवलयान्तमाकाशप्रतिष्ठम् । आकाशं त्वात्मप्रतिष्ठं । उक्तमवगाहनमाकाशस्येति । तदनेन क्रमेण लोकानुभावसंनिविष्टा असंख्येययोजनकोटीकोट्यो विस्तृताः सप्तभूमयो रत्नप्रभाद्याः॥

अर्थ—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात अधोलोककी भूमियाँ हैं, और ये सात ही है न कि कम ज्यादह, तथा इनका प्रतिष्ठान एकके नीचे दूसरीका और दूसरीके नीचे तीसरीका इस क्रमसे है। प्रत्येक पृथिवी तीन तीन वातवलयोंके आधारपर ठहरी हुई है—घनोदधिवलय घनवातवलय और तनुवातवलय। ये वातवलय आकाशके आधारपर हैं, और आकाश आत्मप्रतिष्ठ है—अपने ही आधारपर है। क्योंकि वह अनंत है, परन्तु प्रत्येक पृथिवीके नीचे अन्तरालमें जो आकाश है वह अनन्त नहीं है, असंख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है। रत्नप्रभाके नीचे और शर्कराप्रभाके ऊपर इसी तरह बालुकाप्रभाके ऊपर और शर्कराप्रभाके नीचे[1] असंख्येय कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है। इसी प्रकार सातों पृथिवियोंके नीचे समझना चाहिये। लोकके अन्तमें और वातवलयोंके भी अनन्तर जो आकाश है वह अनन्त है।

प्रश्न—इस सूत्रमें घन शब्दके ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि अम्बु वाताकाशप्रतिष्ठाः इतना कहनेसे ही कार्य सिद्ध हो सकता है। उत्तर—ठीक है, परन्तु घन शब्दके ग्रहण करनेका एक खास प्रयोजन है। वह यह कि अम्बु शब्दका अर्थ जल है, सो केवल अम्बु शब्द रहनेसे कोई यह समझ सकता है, कि प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह द्रवरूप है। किंतु यह बात नहीं है। अतएव प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह घनरूप ही है, ऐसा समझानेके लिये ही घनशब्दका ग्रहण किया गया है। सूत्रमें वात शब्दका प्रयोग जो किया है, उससे घनवात और तनुवात दोनों ही समझने चाहिये। इस प्रकार पहली पृथ्वीका खरभाग पंकभागके ऊपर और पंकभाग घनोदधिवलयके ऊपर तथा घनोदधिवलय घनवातवलयके ऊपर एवं घनवातवलय तनुवातवलयके ऊपर प्रतिष्ठित है। इसके अनंतर महातमोभूत आकाश है। ये पृथिवीसे लेकर तनुवातवलय पर्यंत सभी उस आकाशपर

१—पृथिवियोंके नीचे वातवलय और उनके नीचे आकाश है।

ठहरे हुए हैं, और आकाशका आधार आकाश ही है। आकाशका उपकार—कार्य ही यह है, कि वह सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाहन देता है। यह बात आगे[1] चलकर द्रव्योंके उपकार प्रकरणमें बताई है। जिस प्रकार यहाँ पहली रत्नप्रभा पृथिवीके लिये क्रम और विस्तार बताया है, उसी क्रमसे सातों ही पृथिवियोंका संनिवेश लोकस्थितिके अनुसार समझ लेना चाहिये। इन सभी पृथिवियोंका तिर्यक् विस्तार असंख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है।

भावार्थ—अधोलोकमें रत्नप्रभा आदिक सात पृथिवी हैं, पृथिवियोके ये नाम प्रभाकी अपेक्षासे अन्वर्थ हैं।[2] जिसमें रत्नोंकी प्रभा पाई जाय उसको रत्नप्रभा कहते है। पहली पृथिवीमें रत्न वज्र वैडूर्य लोहित मसारगल्ल आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभा पाई जाती है।[3] दूसरी पृथ्वीकी प्रभा शर्कराकीसी है और तीसरी पृथ्वीकी बालूकीसी है। इसी प्रकार शेष पृथिवियोंकी समझनी चाहिये। पहली पृथिवीके तीन काण्डक—भाग है—खरभाग पंकभाग और अब्बहुलभाग[4]। खरभाग सोलह हजार योजनका पंकभाग चौरासी हजार योजनका और अब्बहुलभाग अस्सी हजार योजनका है। इस तरह कुल मिलाकर पहली पृथ्वीका प्रमाण एक लाख अस्सी हजार योजनका होता[5] है। यह पहली पृथिवी अथवा उसका अब्बहुलभाग जिसपर ठहरा हुआ है, वह घनोदधिवलय बीस हजार योजनका है, और घनोदधिवलय जिसपर ठहरा हुआ है, वह घनवातवलय असंख्यात हजार योजनका है, तथा जिसपर घनवातवलय ठहरा हुआ है, वह तनुवातवलय भी असंख्यात हजार योजनका है। इसके नीचे असंख्यात कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है। जिसप्रकार चन्द्र सूर्य आदिके विमान निरालम्ब आकाशमें ठहरे हुए है, उसी प्रकार ये पृथिवी और वातवलय भी निराधार आकाशमें ही ठहरे हुए है, उसके लिये आधारान्तरकी आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार पहली पृथिवीके लिये निरूपण किया गया है, उसी प्रकार शेष पृथिवियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। यह लोकका संनिवेश अनादि अकृत्रिम है—ईश्वर आदिका किया हुआ नहीं है, और यह लोकस्थिति आगममें आठ प्रकारकी बताई[6] है। यथा—आकाश

१—अध्याय ५ सूत्र १८। २ सातो पृथिवियोंके रूढिनाम क्रमसे इस प्रकार हैं—घम्मा वंशा शैला (मेघा) अजनारिष्टा (अरिष्टा) माघव्या (मघवी) माघवी। ३—किंतु यह प्रभा पहले काण्डकमे ही है शेप दो काण्डक एकाकार ही हैं। ४—भाष्यकारने खरभाग और पंकभागका ही उल्लेख किया है, अब्बहुलभागका नहीं। परन्तु घनोदधि शब्द-के ग्रहणसे दोनोंका ही ग्रहण होजाता है। जैसा कि टीकाकारने भी कहा है, कि "अत्र चाचार्येणाब्बहुल काण्डं नोपात्तं पृथक्, घनोदधिवलयग्रहणेनैव लब्धत्वात्, घनोदधिश्च घनोदाधिवलयं चेत्येकदेशानिर्देशात्।" ५—इसी तरह द्वितीयादिक पृथिवियोंका प्रमाण भी क्रमसे इस प्रकार समझना चाहिये।—एक लाख बतीस हजार, एक लाख अट्ठाईस हजार, एक लाख वीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, एक लाख आठ हजार। ६—"कतिविहा णं भते ! लोकट्ठिती पण्णता ? गोयमा ! अट्ठविहा लोगट्ठिई पण्णता, तंजहा आगासपतिट्ठिए वाए १ वातपतिट्ठिए उदही २ उदधिपइट्ठिया पुढवी ३ पुढवी पतिट्ठिता तसथावरा पाणा ४ अजीवा जीवपतिट्ठिया ५ जीवा कम्मपइट्ठिया ६ अजीवा जीवसंगहिता ७ जीवा कम्मसंगहिता ८॥ इत्यादि भग० शतक १ उ० ६ सूत्र ५४॥

प्रतिष्ठित वात १ वातप्रतिष्ठित उदधि २ उदधिप्रतिष्ठित पृथिवी ३ पृथिवी प्रतिष्ठित त्रसस्थावर प्राण ४ जीवप्रतिष्ठित अजीव ५ कर्मप्रतिष्ठित जीव ६ जीवसंग्रहीत अजीव ७ कर्मसंग्रहीत जीव ८ ।

इन सातों पृथिवियोंका संनिवेश कोई तिरछा आदि न समझ ले, इसके लिये अधोऽधः शब्द दिया है । तथा सात पृथिवी बतानेका अभिप्राय यह है, कि अधोलोकमें सात ही पृथिवियाँ हैं, सम्पूर्ण लोकमें सात ही हैं, ऐसा अभिप्राय नहीं है । क्योंकि ईषत् प्राग्भार नामकी आठवीं पृथिवी भी मानी है[1] । इसी अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिये भाष्यकार कहते है—

भाष्यम्—सप्तग्रहणं नियमार्थं रत्नप्रभाद्या माभूवन्नेकशो ह्यनियतसंख्या इति । किंचान्यत्-अधः सप्तैवेत्यवधार्यते, ऊर्ध्वंत्वेकैवेति वक्ष्यते । अपि च तन्त्रान्तरीया असंख्येयेषु लोक धातुष्वसंख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः । तत्प्रतिषेधार्थं च सप्तग्रहणमिति ।

सर्वाश्चैता अधोऽधः पृथुतराः छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः । घर्मावंशा शैलाञ्जनारिष्टा माघव्यामाघवीति चासां नामधेयानि यथासंख्यमेवं भवन्ति । रत्नप्रभा घनभावेनाशीतं योजनशतसहस्रं शेषा द्वात्रिंशदष्टाविंशतिविंशत्यष्टादशषोडशाष्टाधिकमिति । सर्वे घनोदधयो विंशतियोजनसहस्राणि । घनवाततनुवातास्त्वसंख्येयानि अधोऽधस्तु घनतराविशेषेणेति ॥

अर्थ—सूत्रमें सप्त शब्दका जो ग्रहण किया है, वह नियमार्थक है, जिससे रत्नप्रभा आदिक प्रत्येक पृथिवी अनियत संख्यावाली मालूम न हो, क्योंकि पहली पृथिवीके तीन काण्डक हैं, और उनमें भी पहला काण्डक सोलह प्रकारका है, इन सभी भेदोंको एक एक पृथिवी समझनेसे पृथिवियोंकी कोई नियत संख्या मालूम नहीं हो सकती । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि इस शब्दसे यह अवधारण– नियम किया जाता है, कि अधोलोकमें पृथिवियाँ सात ही है । ऊर्ध्वलोकमें एक ही पृथिवी है, ऐसा आगे चलकर कहेंगे, और एक बात यह भी है, कि जो जिनेन्द्र भगवान्के प्रवचनके बाह्य है—मिथ्या आगमके माननेवाले है, उनका कहना है कि "लोक धातु असंख्यात है, और उनमें पृथिवियोंका प्रस्तार भी असंख्यातप्रमाण है[2] ।" इस मिथ्या आगमका प्रतिषेध करनेके लिये ही सप्त शब्दका ग्रहण किया है ।

ये सभी पृथिवियाँ नीचे नीचेकी तरफ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत है । जो रत्नप्रभाका विष्कम्भ और आयाम है, उसकी अपेक्षा शर्कराप्रभाका विष्कम्भ और आयाम अधिक[3] है । इसी तरह वालुकाप्रभा आदिके विषयमें समझना चाहिये । इन सातों पृथिवियोंका आकार छत्राति-

---

१—यह पृथिवी सम्पूर्ण कल्पविभागोंके ऊपर है, और ढाई द्वीपकी बराबर लम्बी चौड़ी है, इसका आकार उत्तान छत्रके समान है । इसका विशेष वर्णन आगे चलकर "तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा" इत्यादि कारिकाओंके द्वारा किया जायगा । २—" तदागमश्चायं–" यथा हि वर्षति देवे प्रततधारं नास्ति वीचिका वा अन्तरिका वा एवमेव पूर्वायां दिशि लोकधातवो नैरन्तर्येण व्यवस्थितास्तथाऽन्यास्वपि दिक्ष्विति " । ३—विष्कम्भ और आयामकी अपेक्षा रत्नप्रभा एक रज्जुप्रमाण, शर्कराप्रभा ढाई रज्जुप्रमाण, वालुकाप्रभा चार रज्जुप्रमाण, पंकप्रभा पाँच रज्जुप्रमाण, धूमप्रभा छह रज्जुप्रमाण, तमःप्रभा साढ़े छह रज्जुप्रमाण, और महातमःप्रभा सात रज्जुप्रमाण है ।

छत्रके समान है। जिस प्रकार एकके नीचे दूसरा और दूसरेके नीचे तीसरा इसी तरह सात छत्र ऊपर नीचे-तर ऊपर लगानेसे जो आकार हो, वैसा ही आकार सातों पृथिवियोंका समझना चाहिये। तथा इन पृथिवियोंके क्रमसे घर्मा वंशा शैला अञ्जना अरिष्टा माघव्या और माघवी ये नाम है। पहली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। बाकी द्वितीयादिक पृथिवी क्रमसे एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अट्ठाईस हजार, एक लाख बीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, और एक लाख आठ हजार योजनकी मोटी हैं। सभी घनोदधि बीस हजार योजन मोटे हैं। तथा घनवातवलय और तनुवातवलय भी असंख्यात हजार योजन मोटे हैं, परन्तु सभीकी मोटाई नीचे नीचेके भागमें अधिकाधिक है।

भावार्थ—अधोलोकवर्ती इन सात पृथिवियोंकी और उसके आधारभूत वातवलयोंकी संज्ञा संख्या परिणाम-संस्थान प्रभा आदिक सभी अनादि है। यहाँपर जो कुछ वर्णन किया है, वह सामान्य है, जिनको इनका विशेष स्वरूप देखना हो, उन्हे लोक-स्वरूपके प्रतिपादक ग्रंथोंको देखना चाहिये। यहाँपर जो प्रश्न किया था, वह नरकोंके विषयमें ही था, अतएव उसीके सम्बन्धमें अधोलोकका यह संक्षिप्त वर्णन किया है। अब यह बताना चाहते है, कि वे नरक कहाँपर है, कि जिनमें नारक-जीवोंका निवास पाया जाता है। इसीके लिये आगे सूत्र कहते हैंः—

सूत्र—तासु नरकाः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तासु रत्नप्रभाद्यासु भूंमूर्ध्वमधश्चैकशो योजनसहस्रमेकैकं वर्जयित्वा मध्ये नरका भवन्ति। तद्यथा-उष्ट्रिकापिष्ट पचनीलोहीकरकेन्द्रजानुकाजन्तोकायस्कुम्भायः कोष्ठादिसंस्थाना वज्रतलाः सीमन्तकोपक्रान्ता रौरवोऽच्युतो रौद्रो हाहारवोघातनः शोचनस्तापनः क्रन्दनोविलपनश्छेदनोभेदनः खटाखटः कालपिञ्जर इत्येवमाद्या अशुभनामानः कालमहाकालरौरवमहारौरवाप्रतिष्ठानपर्यन्ताः। रत्नप्रभायां नरकाणां प्रस्तारास्त्रयोदश। द्विद्व्यूनाः शेषासु। रत्नप्रभायां नरकवासानां त्रिंशच्छतसहस्राणि। शेषासु पञ्चविंशतिः पञ्चदश दश त्रीण्येकं पञ्चोनं नरक शतसहस्रमित्याषष्ठ्याः। सप्तम्यां तु पञ्चैव महानरका इति॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदिक उपर्युक्त पृथिवियोंमें ही नरकोंके आवास है। परन्तु वे आवास उन प्रत्येक पृथिवियोंके ऊपर और नीचेके एक एक हजार योजनका भाग छोड़कर मध्यके भागमें[2] हैं। उष्ट्रिका पिष्टपचनी लोही करका इन्द्रजानुका जन्तोक आयकुम्भ

१—भूमिषु इत्यपि पाठ। २—एक एक हजार योजन ऊपर नीचे छोड़नेके लिये जो कहा है, सो पहली पृथिवीसे लेकर छट्ठी तकके लिये ही समझना चाहिये। सातवीं पृथिवीका प्रमाण एक लाख आठ हजार योजनका है; उसमेंसे ५२५०० ऊपर और उतने ही योजन नीचेका भाग छोड़कर मध्यका भाग ३ हजार योजनका बचता है, उसीमें नरक हैं। भाष्यकारने एक सातवीं पृथिवीके नरकस्थानको बतानेकी अपेक्षा नहीं रक्खी हैं, क्योंकि वह बाहुल्य नहीं रखता।

अयःकोष्ठ आदि पकानेके वर्तन प्रसिद्ध हैं, उनका जैसा आकार है, वैसा ही आकार इन नरकोंका होता है। इन भाण्ड विशेषोंमें पकनेवाले अन्नके समान नारक जीव जो इन नरकोंमें रहते हैं, उन्हें क्षणभरके लिये भी स्थिरता या सुखका अनुभव नहीं होता। इन नरकोंके नीचेका तल भाग वज्रमय है, और इन सभी नरकोंके मध्यमें एक इन्द्रक नरक होता है, जिनमेंसे सबसे पहले इन्द्रकका नाम सीमन्तक है। पहली रत्नप्रभा भूमिके तेरह पटल हैं। उनमेंसे पहले पटलमें दिशाओंकी तरफ ४९-४९ और विदिशाओंकी तरफ ४८-४८ नरक हैं, मध्यमें एक सीमन्तक नामका इन्द्रक नरक है। इनकी संख्या सप्तम भूमितक क्रमसे एक एक कम होती गई है। दिशा और विदिशाओंके सिवाय कुछ प्रकीर्णक नरक भी होते हैं। रौरव अच्युत रौद्र हाहारव घातन शोचन तापन क्रन्दन विलपन छेदन भेदन खटाखट कालपिञ्जर इत्यादिक उन नरकोंके नाम हैं, जो कि कर्णकटु होनेके सिवाय स्वभावसे ही महा अशुभ हैं। सातवीं भूमिमें केवल पाँच ही नरक हैं। क्योंकि उसमें विदिशाओंमें कोई नरक नहीं है। चार दिशाओंमें चार और एक इन्द्रक इस तरह कुल पाँच है, जिनके कि क्रमसे ये नाम हैं—काल महाकाल रौरव व महारौरव और अप्रतिष्ठान। अप्रतिष्ठान यह सातवीं भूमिके अन्तिम इन्द्रक नरकका नाम है। अप्रतिष्ठान नरकसे पूर्वमें काल पश्चिममें महाकाल दक्षिणमें रौरव और उत्तरमें महारौरव है।

रत्नप्रभा भूमिके नरकोंके तेरह पटल बताये हैं। इनकी रचना इस तरह समझनी चाहिये, जैसे कि किसी एक मकानमें अनेक माले होते है। द्वितीयादि भूमियोंके पटलोंकी संख्या क्रमसे दो दो हीन है। अर्थात् शर्कराप्रभाके ग्यारह बालुकाप्रभाके नौ पंकप्रभाके सात धूमप्रभाके पाँच तमःप्रभाके तीन और महातमःप्रभाका एक ही पटल है। इन पटलोंमें नरक कितने कितने हैं, सो इस प्रकार समझने चाहिये।—रत्नप्रभामें तीस लाख, शर्कराप्रभामे पचीस लाख, बालुकाप्रभामें पंद्रह लाख, पंकप्रभामें दस लाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पॉच कम एकलाख, और महातमःप्रभामें केवल पाँच नरक है। सातों भूमियोंके सब पटलोंके दिशा विदिशा प्रकीर्णक और इन्द्रकोको मिलाकर कुल चौरासी लाख नरक है। इनमेंसे सातवीं भमिके अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक नरकका प्रमाण जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजनका है, और बाकी नरकोंमें कोई संख्यात हजार और कोई असंख्यात हजार योजनके प्रमाणवाले है। महान् पापके उदयसे जीव इन नरकोंमें जाकर उत्पन्न होते है। ये नित्य ही अन्धकारसे व्याप्त दुर्गन्धमय और दुःखोंके स्थान है। इनका आकार गोल तिकोना चतुष्कोण आदि अनेक प्रकारका होता है।

इन नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले और रहनेवाले नारकजीवोंका विशेष स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैः—

सूत्र—नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते नरका भूमिक्रमेणाधोऽधो निर्माणतोऽशुभतराः । अशुभाः रत्नप्रभायां ततोऽशुभतराः शर्कराप्रभायां ततोऽप्यशुभतरा वालुकाप्रभायाम् । इत्येवमासप्तम्याः ।

नित्यग्रहणं गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गकर्मनियमादेते लेश्यादयो भावा नरकगतौ नरकपञ्चेन्द्रियजातौ च नैरन्तर्येणाभवक्षयोद्वर्तनाद्भवन्ति न कदाचिदक्षनिमेषमात्रमपि न भवन्ति शुभा वा भवन्त्यतो नित्या इत्युच्यन्ते ॥

अर्थ—भूमिक्रमके अनुसार नीचे नीचेके नरकोंका निर्माणक्रमसे अधिक अधिक अशुभ होता गया है । रत्नप्रभा भूमिके नरकोंका निर्माण अशुभ है, परन्तु शर्कराप्रभाके नरकोंका निर्माण उससे कहीं अधिक अशुभ है, तथा वालुकाप्रभाके नरकोका निर्माण उससे भी अधिक अशुभ है, और उससे भी अधिक पंकप्रभाके नरकोका एवं उससे भी अधिक धूमप्रभाके नरकोंका तथा उससे भी अधिक तमःप्रभाके नरकोंका निर्माण है । महातमः प्रभाके नरकोंका निर्माण सबसे अधिक अशुभ है ।

भावार्थ—प्रथमादिक भूमियोंके पटलोंमें जितने सीमन्तकसे लेकर अप्रतिष्ठान पर्यन्त नरक है, उनका संस्थान—आकृति—रचना उत्तरोत्तर अधिकाधिक अशुभ है—भयानक है। यद्यपि यहाँपर सूत्रमें अशुभतर शब्दका ही पाठ है, अशुभ शब्दका पाठ नहीं है, परन्तु फिर भी एक शेषकी अपेक्षासे उसका भी पाठ समझ लेना चाहिये । इसी तरह इस सूत्रमें नरक और नारक दोनोंका ही ग्रहण है । क्योंकि नरकोंका तो प्रकरण ही है, और सूत्रमें लेश्या आदिका ग्रहण किया है जोकि नारक जीवोंके ही संभव हैं । अतएव भाष्यकारने सूत्रमें संस्थान शब्दका उल्लेख न रहते हुए भी उसकी अशुभ अशुभतरताका वर्णन किया है ।

सूत्रमें नित्य शब्द जो आया है, वह आभीक्ष्ण्यवाची है—निरंतर अर्थको दिखाता है । जिस तरह किसीके लिये यह कहना कि, यह मनुष्य नित्य—हमेशा हँसता ही रहता है, अथवा केवल जल पीकर ही रहता है । यहाँपर वह हँसनेके सिवाय और भी काम करता है, अथवा जलके सिवाय और चीज भी खाता पीता है, परन्तु उसकी अपेक्षा नहीं है[२] । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । नारकजीवोंकी अशुभतर लेश्या आदिक अपरिणामी नहीं है । फिर भी इस नित्य शब्दके ग्रहणसे यही अर्थ समझना चाहिये, कि गति जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नामकर्मोका जो यहाँपर उदय होता है, उसके नियमानुसार नरकगति और नरकजातिमें जो नारकजीवोंके लेश्या परिणाम आदि होते है, वे नियमसे निरन्तर

१—पुस्तकान्तरे " तेषु नारका " इत्यप्यधिकः पाठ. । २—जिस समय तीर्थंकर जन्म लेते हैं, उस समय कुछ क्षणके लिये—अन्तर्मुहूर्तके लिये नारकजीवोंका भी दुःख छूट जाता है, और उन्हें सुखका अनुभव होता है, ऐसा आगमका कथन है । सो नित्य शब्दके आमीक्ष्ण्यवाची रहनेसे घटित होता है । अथवा टीकाकारके ही कथनानुसार " तद्भावाव्ययं नित्यं इस सूत्रका सम्बन्ध भी किया जा सकता है ।

रहते हैं—जबतक उन जीवोंका वह भव पूर्ण नहीं होता, तबतक वे रहते ही है। आँखका पलक मारनेमें जितना समय लगता है, उतनी देरके लिये भी वे शुभरूप परिणमन नहीं करते और न उन कर्मोंके उदयका अभाव ही होता है। अतएव इनको नित्य शब्दसे कहा है।

लेश्या आदिक अशुभ अशुभतर किस प्रकार हैं ? इस बातको दिखानेके लिये भाष्यकार स्पष्ट करते हैं:—

भाष्यम्—अशुभतरलेश्याः।—कापोतलेश्या रत्नप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोता शर्कराप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कापोतनीला वालुकाप्रभायाम्। ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना नीला पंकप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना नीलकृष्णा धूमप्रभायाम्। ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णा तमःप्रभायाम्। ततस्तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना कृष्णैव महातमःप्रभायामिति।

अशुभतरपरिणामः।—बन्धनगतिसंस्थानभेदवर्णगंधरसस्पर्शागुरुलघुशब्दाख्यो दशविधोऽशुभः पुद्गलपरिणामो नरकेषु। अशुभतरश्चाधोऽधः। तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतोऽनन्तेन भयानकेन नित्योत्तमकेन तमसा नित्यान्धकाराः श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतोमल रुधिरवसामेदपूयानुलेपनतलाः स्मशानमिव पूतिमांसकेशास्थिचर्मदन्तरवास्तीर्णभूमयः। श्वशृगालमार्जारनकुलसर्पमूषकहस्त्यश्वगोमानुषशवकोष्ठाशुभतरगंधाः। हा मातर्धिगहो कष्टं बत मुञ्च तावद्धावत प्रसीदभर्तर्मा वधीः कृपणकमित्यनुबद्धरुदितैस्तीव्रकरुणैर्दीनविक्लवैर्विलापैरार्तस्वरैर्निनादैर्दीनकृपण करुणैर्याचितैर्वाष्पसंनिरुद्धैर्निस्तनितैर्गाढवेदनैः कूजितैः सन्तापोष्णैश्चनिश्वासैरनुपरतभयस्वनाः॥

अर्थ—उपर्युक्त नरकोंमें रहनेवाले जीवोंकी लेश्याएं हमेशा अशुभ ही रहती हैं। और नीचे नीचेके नरकोंकी लेश्याएं क्रमसे और भी अधिकाधिक अशुभतर अशुभतर हैं। अर्थात्—पहली रत्नप्रभा भूमिके नरकोंमें—जीवोंके कापोतलेश्या है। दूसरी भूमि शर्कराप्रभामें भी कापोतलेश्या ही है, परन्तु रत्नप्रभाकी कापोतलेश्याके अध्यवसान जैसे संक्लेशरूप होते हैं, उससे दूसरी भूमिकी कापोतलेश्याके अध्यवसान अधिक संक्लेशरूप है। इसी तरह तीसरी आदि भूमियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात् वालुकाप्रभामें कापोत और नीललेश्या है, उनके अध्यवसानोंकी संक्लेशता शर्कराप्रभासे अधिक तीव्र है। पङ्कप्रभामें नीललेश्या है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान वालुकाप्रभाकी नीललेश्याके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र हैं। धूमप्रभामें नील और कृष्ण लेश्या है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान पंकप्रभाकी नीललेश्याके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र है। तमःप्रभामें कृष्णलेश्या है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान धूमप्रभाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र हैं, और महातमःप्रभामें केवल कृष्णलेश्या ही है, उसके संक्लेशरूप अध्यवसान तमःप्रभाके अध्यवसानोंसे भी अधिक तीव्र हैं।

भावार्थ—नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ लेश्याएं होती गई हैं। यही बात परिणामादिकके विषयमें भी समझनी चाहिये, यथा—

अशुभतर परिणाम—नरकोंमें पुद्गल द्रव्यके जो परिणमन होते हैं, वे उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होते है । अपने अपने ऊपरके नरकोंसे नीचे नीचेके नरकोंमें पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें अशुभ अशुभतर होती गई हैं । नरकोंमें होनेवाला पुद्गल द्रव्यका यह अशुभ परिणाम दश प्रकारका माना है—बंधन गति संस्थान भेद वर्ण गंध रस स्पर्श अगुरुलघु और शब्द । इन नरकोंकी भूमियाँ तिरछी ऊपर और नीचे सभी दिशाओंमें सब तरफ अनन्त[1] भयानक, नित्य—कभी नष्ट न होनेवाले और उत्तम—प्रथमश्रेणीके अन्धकारसे सदा तमोमय बनी रहती हैं । तथा श्लेष्म—कफ मूत्र और विष्टाका जिनमें प्रवाह हो रहा है, ऐसे अनेक मैल तथा रुधिर, वसा—चर्वी, मेदा और पूय—पीवसे इनका तल भाग लिप्त रहा करता है । तथा स्मशानभूमिकी तरह सड़े हुए दुर्गन्धयुक्त मांस और केश, हड्डी, चर्म, दाँत तथा नखोंसे व्याप्त बनी रहती हैं । कुत्ते, गीदड़, बिल्ली, नेवला, सर्प, चूहे, हाथी, घोड़े, गौ, और मनुष्योंके शवोंसे पूर्ण एवं उनकी अशुभतर गंधसे सदा दुर्गन्धित रहती है । उन भूमियोंमें निरंतर सब तरफ ऐसे ही शब्द सुनाई पड़ते है कि, हा मातः ! धिक्कार हो, हाय अत्यंत कष्ट और खेद है, दौड़ो और मेरे ऊपर प्रसन्न होकर—कृपा करके मुझको शीघ्र ही इन दुःखोंसे छुड़ाओ, हे स्वामिन् ! मैं आपका सेवक हूँ, मुझ दीनको न मारो । इसी प्रकार निरंतर अनेक रोनेके और तीव्र करुणा उत्पन्न करनेवाले, दीनता और आकुलताके भावोंसे युक्त, महान् विलापरूप, पीड़ाको प्रकट करनेवाले शब्दोंसे तथा जिनमें दीनता हीनता और कृपणताका भाव भरा हुआ है, ऐसी याचनाओंसे, जिनमें गला रुक गया है, ऐसी अश्रुधारासे युक्त गर्जनाओंसे, गाढ़ वेदनाके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शब्दोसे तथा अन्तरङ्गके संतापका अनुभव करानेवाले उष्ण उच्छ्वासोंसे वे भूमियाँ अतिशय भयानकतासे भरी रहती हैं ।

भाष्यम्—अशुभतरदेहाः । देहाः शरीराणि, अशुभनामप्रत्ययादशुभान्यङ्गोपाङ्गनिर्माणसंस्थानस्पर्शरसगन्धवर्णस्वराणि । हुण्डानि, निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरुणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि दुःखभाञ्ज्यशुचीनि च तेषु शरीराणि भवन्ति । अतोऽशुभतराणि चाधोऽधः । सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलमिति शरीरोच्छ्रायो नारकाणां रत्नप्रभायां, द्विर्द्विः शेषासु । स्थितिवच्चोत्कृष्टजघन्यता[2] वेदितव्या ॥

अर्थ—नारकियोंके शरीर भी अशुभ अशुभतर ही होते गये हैं, उनके अशुभनामकर्मके उदयका निमित्त है, अतएव उनके शरीरके आङ्गोपाङ्ग और उनका निर्माण—संस्थान—आकार स्पर्श रस गंध वर्ण तथा स्वर अशुभ ही हुआ करते हैं । हुंडकनामकर्मके उदयसे उनके शरीरोका आकार अनियत और अव्यवस्थित बनता है । जिसके पंख उखाड़कर दूर कर दिये गये हैं, ऐसे पक्षीके शरीरके समान उनके शरीरकी आकृति अतिशय

१—अथवा स्रोतोमल शब्दका अर्थ कोई भी बहनेवाला मल ऐसा भी हो सकता है ।

२—" जघन्यतो वेदितव्या । " ऐसा भी पाठ है ।

बीभत्स-ग्लानिकर हुआ करती है। नारकिमात्रके शरीर क्रूर करुणापूर्ण बीभत्स और देखनेमें भयानक हुआ करते हैं। तथा अतिशयित दुःखोंके आयतन एवं अशुचि—अपवित्र होते हैं, और उनकी यह अशुभता नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है।

नारकियोंके शरीरकी उँचाई इस प्रकार है—पहली रत्नप्रभामें नारकियोंके शरीरकी उँचाई सात धनुष[1] तीन हाथ और छह अंगुल। उससे आगेकी शर्कराप्रभा आदिक पृथिवियोंमें क्रमसे उसका प्रमाण दूना दूना समझना चाहिये। इसके उत्कृष्ट और जघन्यका प्रमाण स्थितिकी तरह समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार स्थितिके विषयमें यह कहा गया है, कि पहली पहली पृथिवीके नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति नीचे नीचेके नारकियोंकी जघन्य स्थिति हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। इस नियमके अनुसार पहले नरकके जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका जो प्रमाण बताया है, वही दूसरे नरकके जीवोंके शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण होता है। इसी प्रकार आगे आगेका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये[3]। यहाँपर यह जाननेकी इच्छा हो सकती है, कि जब पहले पहले प्रतरों या भूमियोंके नारकियोंका उत्कृष्ट अवगाहन आगे आगे जघन्य हो जाता है, तो पहली भूमिके नारकियोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है? उत्तर—वह प्रमाण अङ्गुलके असंख्यातवें भाग समझना चाहिये। उत्तरवैक्रियका जघन्य प्रमाण अङ्गुलके संख्यातवें भाग है। तथा उत्कृष्ट प्रमाण १९ धनुष ३॥ अरत्नि है। यह भी दूना दूनाके क्रमसे सातवें नरकमें एक हजार धनुष हो जाता है।

भाष्यम्—अशुभतरवेदनाः[4]—अशुभतराश्च वेदना भवन्ति नरकेष्वधोऽधः। तद्यथा—उष्णवेदनास्तीव्रास्तीव्रतरास्तीव्रतमाश्चातृतीयाः[5]। उष्णशीते चतुर्थ्याम् शीतोष्णे पञ्चम्याम्। परयोःशीताः[6] शीततराश्चेति। तद्यथा—। प्रथमशरत्काले चरमनिदाघे वा पित्तव्याधिप्रकोपाभिभूतशरीरस्य सर्वतो दीप्ताग्निराशिपरिवृतस्य व्यभ्रे नभसिमध्यान्हे निवातेऽतिरस्कृतातपस्य यादृगुष्णजं दुःखं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टमुष्णवेदनेषु[7] नरकेषु भवति। पौषमाघयोश्च तुषारलिप्तगात्रस्य रात्रौ हृदयकरचरणाधरौष्ठदशनायासिनि प्रतिसमयप्रवृद्धे शीतमारुते निरग्न्याश्रय प्रावरणस्य यादृक्शीतसमुद्भवं दुःख-

१—नारकियोंके शरीर दो प्रकारके माने हैं—एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय। जो मूलमें धारण किया जाय, उसको भवधारक और जो विक्रियासे उत्पन्न हो, उसको उत्तरवैक्रिय कहते है। यहाँपर भवधारककी उँचाई बताई है। २—यह उँचाई उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे है। आठ जौका १ अंगुल, २४ अंगुलका १ हाथ, और ४ हाथका १ धनुष होता है। ३—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—"उक्तमिदमतिदेशता भाष्यकारेणास्ति चैतत्, न तु मया क्वचिदागमे दृष्टं प्रतराविभेदेन नारकाणा शरीरावगाहनमिति।" परन्तु इसपर अन्य विद्वानोंका लिखना है कि—आगमशब्देनात्र मूलागमः, तेन वृत्त्यादिषु एतत्सत्त्वेऽपि न क्षतिः। उत्तरं तु पृथिवीवत् द्विगुणमिति स्पष्टमेव। ४—एष पाठ क्वचिन्नास्ति। ५—प्रथमायामुष्णवेदनाः द्वितीयायामुष्णवेदनाश्च तीव्रतरास्तीव्रतमास्चातृतीयायामिति पाठोऽन्यत्र। ६—शीततराः शीततमाश्चेति एवं वा पाठः। ७—उष्णमिति च पाठः। ८—भिन्न इति व पाठः।

मशुभं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टं शीतवेदनेषु नरकेषु भवति। यदि किलोष्णवेदनान्नरकादुत्क्षिप्य नारकः सुमहत्यङ्गारराशावुद्दीप्ते प्रक्षिप्येत स किल सुशीतां मृदुमारुतं शीतलां छायामिव प्राप्तः सुखमनुपमं विन्द्यान्निद्रां चोपलभेत एवं कष्टतरं नारकमुष्णमाचक्षते। तथा किल यदि शीतवेदनान्नरकादुत्क्षिप्य नारकः कश्चिदाकाशे माघमासे निशिप्रवाते महति तुषारराशौ प्रक्षिप्येत स दन्तशब्दोत्तमकरप्रकम्पयासकरेऽपि तत्र सुखं विन्द्यादनुपमां निद्रां चोपलभेत एवं कष्टतरं नारकं शीतदुःखमाचक्षत इति ।

अर्थ—नारकियोंकी अशुभतर वेदना ।–यह वेदना भी उक्त नरकोंमें जन्मधारण करनेवाले नारकियोंकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है । यह अशुभ वेदना पहलेसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें तथा इसी तरह आगेके भी नरकोंमें अधिक अधिक ही बढ़ती गई है। यह वेदना दो प्रकारकी है, एक उष्ण दूसरी शीत । तीसरी भूमि तक उष्ण वेदना ही है, और वह भी क्रमसे तीव्रतर और तीव्रतम होती गई है । चौथी पृथिवीमें उष्ण और शीत दोनों ही प्रकारकी वेदना है । पाँचवीं भूमिमें शीत और उष्ण वेदना है । अन्तकी दो भूमियों—छट्टी और सातवींमें क्रमसे शीत और शीततर वेदना है । अर्थात्–तीसरी भमितक सब नारकी उष्ण वेदनावाले ही हैं, किंतु चौथी भूमिमें उष्ण वेदनावाले अधिक हैं, और थोड़ेसे शीत वेदनावाले भी है। पाँचवीं पृथिवीमें शीत वेदनावाले अधिक और उष्ण वेदनावाले अल्प हैं । तथा अन्तकी दोनों भूमियोंमें शीत वेदनावाले ही हैं। इन भूमियोंमें जो उष्ण वेदना और शीत वेदना होती है, उसका स्वरूप और प्रमाण बतानेके लिये कल्पना करके समझाते हैं ।—

प्रथम शरत्कालमें अथवा अन्तके निदाघ—ग्रीष्म कालमें जिसका कि शरीर पित्त व्याधिके प्रकोपसे आक्रान्त हो गया हो, और चारों तरफ जलती हुई अग्नि राशिसे घिरा हुआ हो, एवं मेघ शून्य आकाशमें मध्यान्हके समय जब कि वायुका चलना बिल्कुल बंद हो, कड़ी धूपसे संतप्त हो रहा हो, उस जीवको उष्णताजन्य जैसा कुछ दुःख हो सकता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कष्ट उष्ण वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । इसी प्रकार शीत वेदनाके विषयमें समझ लेना चाहिये ।—पौष अथवा माघ महीनेमें जिसके कि शरीरसे तुषार—बर्फ चारों तरफ लिपटा हुआ हो, रात्रिके समय जब कि प्रति समय बढ़ती हुई ऐसी ठंडी हवा चल रही हो, जिसके कि लगते ही हृदय हाथ पैर नीचे ऊपरके ओष्ठ और दाँत सब कँपने लगते हैं, एवं अग्नि मकान और वस्त्रसे रहित मनुष्यके जैसा कुछ शीत वेदना सम्बन्धी अशुभ दुःख हो सकता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कष्ट शीत वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । यदि कदाचित उष्ण वेदनावाले नरकसे किसी नारकीको उठा कर अच्छी तरह जलती हुई, जिसकी कि ज्वालाएं चारों तरफको निकल रही हों, ऐसी महान् अङ्गार—राशिमें पटक दिया जाय, तो वह नारकी ऐसा समझेगा कि, मैं एक शीतल छायामें आकर प्राप्त हो गया हूँ, अग्निकी ज्वालाओंको वह अत्यन्त ठंडी हवाके मंद मंद झकोरे समझेगा, और ऐसे अनुपम सुखका अनुभव करने लगेगा, कि उसे उसीमें

निद्रा आ जायगी। इस कल्पना द्वारा नारकियोंकी अति महान् उष्ण वेदनाका प्रमाण दिखाया है, जिससे यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि वहाँपर नारकियोंको उष्ण वेदनाका कष्ट कितना अधिक हुआ करता है। इसी प्रकार शीत वेदनाका प्रमाण भी कल्पनासे समझ लेना चाहिये।—यदि कदाचित् किसी नारकीको शीत वेदनावाले नरकसे निकालकर माघ-महीनेमें रात्रिके समय जब कि ठंडी हवा चल रही हो, और महान् तुषार पड़ रहा हो, आकाशमें—आवरण रहित स्थानमें पटक दिया जाय, तो यद्यपि वह प्रसङ्ग ऐसा है, कि जब बत्तीसीका कटकट शब्द होने लगता है, और अच्छी तरहसे हाथ पैरोंके काँपनेका दुःख होने लगता है, परन्तु वह नारकी उस प्रसङ्गमें भी महान् सुखका अनुभव करने लगेगा, यहाँतक कि उसे उसमें भी गाढ़ निद्रा आ जायगी। इस तरहसे शीत वेदनाजन्य नरकोंका जो महान् दुःख बताया है, सो इस कल्पनासे समझमें आ सकता है।

भाष्यम्—अशुभतरविक्रियाः। अशुभतराश्च विक्रिया नरकेषु नारकाणां भवन्ति। शुभं करिष्याम इत्यशुभतरमेव विकुर्वते। दुःखाभिभूतमनसश्च दुःखप्रतीकारं चिकीर्षवः गरीयस एव ते दुःखहेतून् विकुर्वत इति॥

अर्थ—नारकियोंकी विक्रिया भी अशुभतर ही होती गई है। अर्थात् उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव अपने शरीरको नाना आकारोंमें जो विपरिणत करते हैं, सो यह विक्रिया-विपरिणमन भी उनका उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होता गया है। वे चाहते हैं, कि हम शुभ परिणमन करें—अपने शरीरको सुखद या शान्तिकर बना लें, परन्तु वह वैसा न बनकर अशुभरूप ही बन जाता है। जब उनका चित्त दुःखोंसे ग्रस्त होता है, तब वे उन दुःखोंके प्रतीकार करनेकी इच्छा करते हैं, परन्तु वैसा होता नहीं, वे उल्टे उन महान् दुःखोंके कारणोंको ही और उत्पन्न कर लेते हैं।

भावार्थ—नारकियोंका भवधारक शरीर तो हुंडक संस्थानादिके कारण अशुभ होता ही है, परन्तु विक्रियाके द्वारा होनेवाला उत्तरवैक्रियशरीर भी अशुभतर ही हुआ करता है। क्योंकि उनके वैसे ही नामकर्मका उदय पाया जाता है, और वहाँके क्षेत्रका माहात्म्य भी इसी प्रकारका है।

उक्त प्रकारके दुःखोंके सिवाय और भी दुःख नारकोंको हुआ करते है। उनमेंसे पारस्परिक दुःखको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—परस्परोदीरितदुःखाः॥ ४॥

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्ति। क्षेत्रस्वभावजनिताच्चाशुभात्पुद्गलपरिणामादित्यर्थः।

अर्थ—उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके आपसमें उदीरित दुःख भी हुआ करते हैं। वे नारकी आपसमें एक दूसरेको देखकर विभंगज्ञानके निमित्तसे विरुद्ध परिणामोंको

धारण करके क्रोध करते हैं, और एक दूसरेको मारण ताड़न अभिघातादिके द्वारा दुःख दिया करते हैं। इसके सिवाय उस क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर जो पुद्गलका परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है, सो उसके द्वारा भी उन नारकियोंको दुःख हुआ करता है।

भावार्थ—नरकोंमें दो प्रकारके जीव पाये जाते हैं, एक मिथ्यादृष्टि जिनकी कि संख्या बहुत अधिक है, और दूसरे सम्यगदृष्टि जिनकी कि संख्या अत्यल्प है। मिथ्यादृष्टियोंके भव-प्रत्ययविभंग पाया जाता है, और सम्यग्दृष्टियोंके अवधिज्ञान रहा करता है। विभंगके निमित्तसे विपरीत भाव उत्पन्न हुआ करते है। अतएव इस प्रकारके नारकी एक दूसरेपर क्रोधादि भाव धारण करके प्रहारादि करनेके लिये प्रयत्न किया करते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दूसरे-पर क्रोध नहीं करते, और न दूसरोंके लिये दुःखोंकी उदीरणा ही करते हैं। किंतु वे दूसरोंके उदीरित दुःखोंको सहते हुए अपनी आयुकी पूर्णताकी अपेक्षा किया करते हैं, और अपने पूर्वजन्मके आचरणका विचार भी किया करते हैं।

इस परस्परकी उदीरणाजन्य दुःखके सिवाय उनके क्षेत्रस्वभावकृत भी दुःख होता है, इस बातको बतानेके लिये ही कहा है, कि वहाँके क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर पुद्गल द्रव्यका जो कुछ भी परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है। यद्यपि उपपातादि-कृत सुख भी वहाँपर माना है, किन्तु बहुतर दुःखके सामने वह इतना अल्प है, कि उसको नहीं सरीखा ही कहना चाहिये। दुःखकी विपुलताको देखकर यही कहना पड़ता है, कि नरकोंमें सुख रंचमात्र भी नहीं है। अतएव वे नारकी क्षेत्र—स्वभावकृत दुःखको भी भोगते है। वह दुःख किस प्रकारका है, सो आगे बताते हैं:—

भाष्यम्—तत्र क्षेत्रस्वभावजनितपुद्गलपरिणामः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिः। शीतोष्णे व्याख्याते, क्षुत्पिपासे वक्ष्यामः। अनुपरतशुष्केन्धनोपादानेनेवाग्निना तीक्ष्णेन प्रततेन[1] क्षुदग्निना दंदह्यमानशरीरा अनुसमयमाहरयन्ति ते सर्वे[2] पुद्गलानप्यद्युस्तीव्रया च नित्यानु-षक्तया पिपासया शुष्ककण्ठौष्ठतालुजिह्वाः सर्वोदधीनपि पिबेयुर्न च तृप्तिं समाप्नुयुर्[3]वर्धेयाता-मेव चैषां क्षुत्तृष्णे इत्येवमादीनि क्षेत्रप्रत्ययानि॥

अर्थ—उक्त नरकोंमें क्षेत्र—स्वभावसे जो पुद्गलका परिणमन उत्पन्न होता है, वह शीत उष्णरूप अथवा क्षुधा पिपासा आदि रूप ही समझना चाहिये। इनमें से शीत और उष्ण परिणमनका स्वरूप ऊपर बता चुके हैं, क्षुधा और पिपासाका स्वरूप यहाँपर बताते हैः—

निरन्तर—व्यवधान रहित शुष्क ईंधन जिसमें पड़ रहा हो, ऐसी अग्निके समान अति महान् और प्रचण्ड क्षुधारूप अग्निसे जिनका शरीर अतिशयरूपसे जल रहा है, ऐसे वे

१—प्रततक्षुदग्निना इति च पाठ, क्वचित्तु तीक्ष्णोदराग्निना इति पाठः। २—सर्वपुद्गलानिति वा पाठः। ३—समाप्नुयुस्ते इत्यपि पाठः।

नारकी प्रतिक्षण भूखकी बाधासे पीड़ित बने रहते हैं । उनकी भूख इतनी तीव्र हुआ करती है, कि वे सबके सब पुद्गल द्रव्यको भी खा जाँय तो भी क्षुधा शांत न हो। इसी प्रकार निरन्तर बढ़ती हुई तीव्र पिपासाके द्वारा जिनका कण्ठ ओष्ठ तालु और जिह्वा सब सूख गये हैं, ऐसे वे नारकी अपनी उस तीव्र प्यासकी वेदनाके वश इतने व्यथित होते है, कि यदि उन्हें मिल जाँय, तो सबके सब समुद्रोंको भी पी जाँय, और फिर भी तृप्ति न हो। उल्टी उनकी क्षुधा और पिपासा बढ़ती ही जाय। इसी तरह और भी क्षेत्ररूप कारणोंको समझ लेना चाहिये, जिनसे कि अशुभ परिणमन--भूमिकी रूक्षता दुर्गन्धि आदि हुआ करते है ।

क्षेत्रकृत दुःखको दिखाकर अब सूत्रके अर्थको स्पष्ट करते है—

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि च। अपि चोक्तम् भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति। तत्रा-रकेष्ववधिज्ञानमशुभभवहेतुकं मिथ्यादर्शनयोगाच्च विभङ्गज्ञानं भवति । भावदोषोपघातात्तु तेषां दुःखकारणमेव भवति। तेन हि ते सर्वतः तिर्यगूर्ध्वमधश्च दूरत एवाजस्रं दुःखहेतूनप-श्यन्ति। यथा च काकोलूकमहिनकुलं चोत्पत्त्यैव बद्धवैरं तथा परस्परं प्रति नारकाः। यथा वाऽपूर्वान् शुनो दृष्ट्वा श्वानो निर्दयं क्रुध्यन्त्यन्योन्यं प्रहरन्ति च तथा तेषां नारकाणामवधि-विषयेण दूरत एवान्योन्यमालोक्य क्रोधस्तीव्रानुशयो जायते दुरन्तो भवहेतुकः। ततः प्रागेव दुःखसमुद्घातार्त्ताः क्रोधाग्न्यादीपितमनसोऽतर्किता इव श्वानः समुद्धता वैक्रियं भयानकं रूपमास्थाय तत्रैव पृथिवीपरिणामजानि क्षेत्रानुभावजनितानि चायःशूलशिलामुसलमुद्गर-कुन्ततोमरासिपट्टिशशक्त्ययोघनखड्गयष्टिपरशुभिण्डिपालादीन्यायुधान्यादाय करचरणदश-नैश्चान्योन्यमभिघ्नन्ति। ततः परस्पराभिहता विकृताङ्गा निस्तनन्तो गाढवेदनाः शूनाघातनप्र-विष्टा इव महिषसूकरोरभ्राः स्फुरन्तो रुधिरकर्दमे चेष्टन्ते। इत्येवमादीनि परस्परोदीरितानि-नरकेषु नारकाणां दुःखानि भवन्तीति ॥

अर्थ—नारक जीव परस्परमें उदीरित दुःखोंको भोगते हैं, यह बात ऊपर कही है। परन्तु इसका कारण क्या है, सो बताते है। पहले यह बात बता चुके हैं कि—"भवप्रत्ययो ऽवधिर्नारकदेवानाम्।" अर्थात् देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। किन्तु इनमेंसे नारकियोंके जो अवधिज्ञान होता है, वह अशुभ भवहेतुक ही हुआ करता है। क्योंकि नारक भव अशुभ है और उसी निमित्तसे उसकी उत्पत्ति हुआ करती है। तथा मिथ्यादर्शनका साहचर्य रहनेसे उसको अवधिज्ञान न कहकर विभङ्ग कहते हैं। एवं भावरूप दोषोंके उपघातसे वह विभङ्ग उन नारकियोंके लिये दुःख-का ही कारण हुआ करता है। इस विभंगके द्वारा वे नारकी सब तरफ तिर्यक्—चारों दिशा-ओंमें और ऊर्ध्व तथा अधः दूरसे ही निरंतर दुःखोंके कारणोंको ही देखा करते हैं। जिस प्रकार काक और उलूक—उल्लूमें जन्मसे ही वैर हुआ करता है, अथवा जिस तरह सर्प और न्योला जातिस्वभावसे ही आपसमें बद्धवैर हुआ करते हैं, उसी प्रकार नारकियोंको भी आप-समें समझना चाहिये। यद्वा जिस प्रकार कुत्ते दूसरे नये कुत्तोंको देखकर निर्दयताके साथ

आपसमें क्रोध करते और एक दूसरेके ऊपर प्रहार भी किया करते हैं, उसी प्रकार उन नारकियोंके भी अवधिज्ञान–विभंगके द्वारा दूर ही से आपसको देखकर तीव्र परिणामरूप क्रोध उत्पन्न हुआ करता है, जो कि भवके निमित्तसे ही जन्य है, और जिसका कि फल अतिशय दुःखरूप है। उनके वह क्रोध उत्पन्न होता है, कि उसके पहले ही दुःखोंके समुद्घातसे पीडित हुए वे अन्य नारकी जिनका कि मन क्रोधरूप अग्निसे प्रज्वलित हो रहा है, अतर्कित रूपसे–अकस्मात् कुत्तोंकी तरह आ टूटते हैं, और अत्यन्त उद्धत हुए भयानक वैक्रिय-रूपको धारण करके वहींपर पृथिवी परिणामसे जन्य–पृथिवीरूप और क्षेत्रके माहात्म्यसे ही उत्पन्न हुए लोहमय शूल शिला मुशल मुद्गर वर्छी तोमर तलवार ढाल शक्ति लोहघन खड्ग–दुधारा लाठी फरशा तथा भिण्डिपाल–गोफ अथवा बन्दूक आदि आयुधोंको लेकर अथवा हाथ पैर और दाँतोंसे आपसमें एक दूसरेके ऊपर आक्रमण करते हैं, और एक दूसरेका हनन करते हैं। तदनन्तर इस परस्परके घातसे छिन्न भिन्न शरीर होकर महा पीड़ासे चिल्लाते हुए रुधिरकी कीचड़में लोटने आदिकी ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसी कि कसाईखाने–वधस्थानमें प्रविष्ट भैंसा सूकर या मेढ़ आदि पशु किया करते हैं। इसी प्रकार और भी अनेक तरहके परस्परोदीरित दुःख नरकोंमें नारकियोंके हुआ करते हैं।

भावार्थ—विभङ्गके निमित्तसे जो दुःख होता है, वह मिथ्यादृष्टियोंको ही होता है, न कि सम्यग्दृष्टियोंको। क्योंकि उनका जो ज्ञान होता है, वह समीचीन होता है। अतएव वे उन वस्तुओंमें विरुद्धप्रत्यय करके दुःखका अनुभव नहीं किया करते।

इस प्रकार परस्परके उदीरित दुःखोंको दिखाकर नारकियोंके एक विशेष प्रकारका और भी जो दुःख होता है उसको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च नारका भवन्ति। तिसृषु भूमिषु प्राक् चतुर्थ्याः। तद्यथा—अम्बाम्बरीषश्यामशबलरुद्रोपरुद्रकालमहाकालास्यासिपत्रवनकुम्भीवालुकावैतरणीखरस्वरमहाघोषाः पञ्चदश परमाधार्मिका मिथ्यादृष्टयः पूर्वजन्मसु संक्लिष्टकर्माणः पापाभिरतय आसुरीं गतिमनुप्राप्ताः कर्मक्लेशजा एते ताच्छील्यान्नारकाणां वेदनाः समुदीरयन्ति चित्राभिरुपपत्तिभिः। तद्यथा—तप्तायोरसपायननिष्टप्तायःस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यग्रारोपणावतरणायोघनाभिघातवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचनायःकुम्भपाकाम्बरीषतर्जनयन्त्रपीडनायःशूलशलाकाभेदनक्रकचपाटनाङ्गारदहनवाहनासूचीशाड्वलापकर्षणैः तथा सिंहव्याघ्रद्वीपिश्वशृगालवृककोकमार्जारनकुलसर्पवायसगृध्रकाकोलूकश्येनादिखादनैः तथा तप्तवालुकावतरणासिपत्रवनप्रवेशनवैतरण्यवतारणपरस्परयोधनादिभिरिति॥

अर्थ—चौथी भूमिके पहले–अर्थात् पहली दूसरी और तीसरी भूमिके नारकियोंके असुरोदीरित भी दुःख हुआ करता है। पूर्वजन्ममें जिन्होंने अति संक्लेशरूप कर्म किये है,

और जिनकी पापकर्मके करनेमें अत्यंत अभिरुचि रही है, ऐसे जीव मरकर असुरगतिको प्राप्त होते हैं। ये मिथ्यादृष्टि और परम अधार्मिक हुआ करते हैं। इनके पंद्रह भेद हैं—अम्ब अम्बरीष श्याम शबल रुद्र उपरुद्र काल महाकाल असि असिपत्रवन कुम्भी वालुका वैतरणी खरस्वर और महाघोष। कर्म क्लेशसे उत्पन्न होनेवाले इन अम्बाम्बरीषादिक देवोंका स्वभाव भी संक्लेशरूप ही हुआ करता है। दूसरोंको दुःखी देखकर प्रसन्न हुआ करते है, और इसी लिये उन नारकियोंके भी वेदनाओंकी अच्छी तरहसे उदीरणा करते और कराया करते हैं—आपसमें उनको भिड़ाते है, और दुःखोंकी याद दिलाया करते हैं। इनकी उदीरणा करानेकी उपपत्ति नाना प्रकारकी हुआ करती हैं। यथा—तपा हुआ लोहेका रस पिलाना, संतप्त लोहेके स्तम्भोंसे आलिङ्गन कराना, मायामय—वैक्रियिक शाल्मली वृक्षके ऊपर चढ़ाना, लोहमय घनोंकी चोटसे कूटना, वसूलेसे छीलना, रन्दा फेरकर क्षत करना, क्षार जल अथवा गरम तैलसे अभिषेक करना, अथवा उन घावोंके ऊपर क्षारजल या गरम तैल छिड़कना, लोहेके कुम्भमें डालकर पकाना, भाड़में या बालू आदिमें भूँजना, कोल्हू आदिमें पेलना, लोहेके शूल अथवा शलाका शरीरमें छेद देना, और उन शूलादिके द्वारा शरीरका भेदन करना, आरोंसे चीरना, जलती हुई अग्निमें अथवा अंगारोंमें जलाना, सवारीमें जोतकर चलना—हाँकना तीक्ष्ण नुकीली घासके ऊपरसे घसीटना, इसी प्रकार सिंह व्याघ्र गेंड़ा कुत्ता शृगाल भेड़िया कोक मार्जार नकुल सर्प कौआ तथा भेरुण्ड पक्षी गीध काक उल्लू बाज आदि हिंस्र जीवोंके द्वारा भक्षण कराना, एवं संतप्त बालूमें चलाना, जिनके पत्ते तलवारके समान तीक्ष्ण है, ऐसे वृक्षोंके वनोंमें प्रवेश कराना, वैतरणी—खून पीव मल मूत्रादिकी नदीमें तैराना, और उन नारकियोंको आपसमें लड़ाना, इत्यादि अनेक प्रकारके उपायोके द्वारा ये असुरकुमार तीसरी पृथिवीतकके नारकियोंको उदीरणा करके दुःखोंको भुगाया करते हैं।

भावार्थ—तीसरी भूमितकके नारकियोंको परस्परोदीरित दुःखके सिवाय असुरोदीरित दुःख भी भोगना पड़ता है। चौथी आदि भूमिके नारकियोंको वह नहीं भोगना पड़ता, इसलिये वहाँपर पहली तीन भूमियोंके दुःखोंसे कुछ कम दुःख हो गया, ऐसा नहीं समझना चाहिये। वहाँपर अन्य दुःख इतने अधिक है, कि जिनके सामने ऊपरकी पृथिवियोंके दुःख अति अल्प मालूम पड़ते है। चौथी आदि भूमिमे असुरोदीरित दुःख क्यों नहीं है? तो इसका कारण यही है, कि वे तीसरी पृथिवीसे आगे गमन नहीं कर सकते—आगे जानेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यानमें रख लेनी चाहिये, कि सभी असुरकुमार वहाँ जाकर दुःखोंकी उदीरणा नहीं कराया करते, किन्तु जिनके मानसिक परिणाम संक्लेशयुक्त रहा करते हैं, ऐसे उपर्युक्त अंब अंबरीष आदि पंद्रह जातिके ही असुरकुमार वैसा किया करते हैं। वे ऐसा क्यों करते है? इस बातको आगे स्पष्ट करते हैं:—

१ भवनवासी देवोंका एक भेद है, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

भाष्यम्—स्यादेतत्किमर्थं त एवं कुर्वन्तीति; अत्रोच्यतेः—पापकर्माभिरतय इत्युक्तम्। तद्यथा—गोवृषभमहिषवराहमेषकुक्कुटवार्तकालावकान्मुष्टिमल्लांश्च युध्यमानान् परस्परं चाभिघ्नत· पश्यतां रागद्वेषाभिभूतानामकुशलानुबन्धिपुण्यानां नराणां परा प्रीतिरुत्पद्यते। तथा तेषामसुराणां नारकांस्तथा तानि कारयतामन्योन्यं घ्नतश्च पश्यतां परा प्रीतिरुत्पद्यते। ते हि दुष्टकन्दर्पास्तथाभूतान् दृष्ट्वाट्टहासं मुञ्चन्ति चेलोत्क्षेपान्क्ष्वेडितास्फोटितावल्गिते तलतालनिपातनांश्च कुर्वन्ति महतश्च सिंहनादान्नदन्ति। तच्च तेषां सत्यपि देवत्वे सत्सु च कामिकेष्वन्येषु प्रीतिकारणेषु मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायोपहतस्यानालोचितभावदोषस्याप्रत्यवमर्षस्याकुशलानुबन्धि पुण्यकर्मणो बालतपसश्च भावदोषानुकर्षिणः फलं यत्सत्स्वप्यन्येषु प्रीतिहेतुष्वशुभा एव प्रीतिहेतवः समुत्पद्यन्ते ॥

अर्थ—असुरोदीरित दुःखके विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि वे ऐसा क्यों करते हैं ? नारकियोंके भिड़ानेमें और उनके दुःखकी उदीरणा करानेमें असुरकुमार देवोंका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है, कि जिसके लिये वे अपने स्थानको छोड़कर नरक–भूमियोंमें जाते है, और वहाँ जाकर उक्त प्रकारके कार्य करते हैं ? उत्तर–यह बात ऊपर ही कही जा चुकी है, कि इन देवोंकी रुचि पापकर्ममें ही हुआ करती है । हॉं ! यह रुचि किस प्रकारसे होती है, सो बताते हैः—लोकमें देखा जाता है, कि गौ बैल भैसा शूकर मेंढ़ा मुर्गा बतक तीतर आदि जानवरोंको अथवा मुष्टिमल्ल–आपसमें घूँसा मार मारकर लड़नेवाले योद्धाओंको परस्परमें लड़ता हुआ और एकके ऊपर दूसरेको प्रहार करता हुआ देखकर, जो राग द्वेषके वशीभूत है, और अकुशलानुबंधि पुण्यके धारण करनेवाले हैं, उन मनुष्योंको बड़ा आनन्द आता है । इसी प्रकार असुरकुमारोंके विषयमें समझना चाहिये । उनको भी नारकियोंको वैसा करते हुए देखकर अथवा नारकियोंसे वैसा करानेमें और आपसमें उनको लड़ता तथा प्रहार करता हुआ देखकर अत्यन्त खुशी होती है । संक्लेशरूप परिणामोंको अथवा दुष्ट भावोंको धारण करनेवाले वे असुरकुमार उन नारकियोंको वैसा करता हुआ देखकर खुशीके मारे अट्टहास करते हैं, कपड़े उड़ाते हैं—कपड़े हट जानेसे नग्न हो जाते हैं, लोटपोट हो जाते है, और तालियॉं बजाते हैं, तथा बड़े जोर जोरसे सिंहनाद भी किया करते है ।

ये असुरकुमार यद्यपि गतिकी अपेक्षा देव है, और इसीलिये इनके अन्य देवोंके समान मनोज्ञ विषय भी मौजूद है । जैसे कि दूसरे देवोंके मनको हरण करनेवाले भोग और उपभोग रहा करतें है, वैसे ही इनके भी रहते है । परन्तु फिर भी इनको उन विषयोंमें इतनी अभिरुचि नही हुआ करती, जितनी कि उक्त अशुभ कार्योंको देखकर हुआ करती है । इसके अनेक कारण हैं—सबसे पहली बात तो यह है, कि इनके माया मिथ्या और निदान ये तीनों ही शल्य पाये जाते है । तथा शल्योंके साथ साथ तीव्र कषायका उदय भी रहा करता है । दूसरी बात यह है, कि इनके जो भावोंमें दोष लगते है, उनकी आलोचना नही करते, और न इन्होंने पूर्वजन्ममें वैसा किया है । पहले भवमें जो आसुरी–गतिका बन्ध किया है, वह आलोचना

रहित भाव–दोषोंके कारण ही किया है। तीसरी बात यह है, कि ये विचारशील नहीं होते, इनको इतना विवेक नही होता, कि यह अशुभ कार्य है, इसमें सहयोग देना या इसमें प्रसन्नता प्रकट करना अथवा इनको देखकर हर्षित होना भी अशुभ ही है। वे इस बातपर कभी विचार ही नहीं करते। चौथी बात यह है, कि जिस पुण्य–कर्मका इन्होंने पर्वजन्ममें बन्ध किया है, वह अकुशलतानुबन्धी है। वह पुण्यरूपमें अपना फल नहीं दिया करता। उसके उदयसे ऐसा ही फल प्राप्त होता है, कि जो जीवको अशुभताकी ही तरफ ले जाय। पाँचवीं बात यह है, कि जिसके प्रसादसे इन्होंने आसुरीगतिको प्राप्त किया है, वह भाव–दोषोंका अनुकर्षण करनेवाला बालतप था, जिसमें कि भावदोषोंका संभव रहा करता है, ऐसा मिथ्यादृष्टियोंका तप कुशलानुबन्धी नहीं हो सकता। उससे ऐसे विशिष्ट पुण्य-का बन्ध नहीं हो सकता, जोकि उदयको प्राप्त होकर जीवको अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त और शुभ क्रियाओंकी तरफ प्रवृत्त करानेवाले शुभ–मार्गमें लगा दे। ये ही सब कारण हैं, कि जिनके फलस्वरूप प्रीतिके लिये अन्य मनोज्ञ विषय सामग्रीके रहते हुए भी अशुभ विषय ही प्रीतिके कारण हुआ करते हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त पंद्रह प्रकारके असुरकुमार नारकियोंको दुःखोंकी उदीरणा क्यों कराते हैं? इसके उत्तरमें पाँच कारणोंका ऊपर निर्देश किया गया है। इससे यह बात मालूम हो जाती है, कि उनका पूर्वबद्ध कर्म और तदनुसार उनका स्वभाव ही ऐसा होता है, कि जिससे दूसरोंको लड़ता हुआ या मरता पिटता दुःखी होता हुआ देखकर उन्हें आनन्द आता है। यह बात असुरोदीरित दुःखके सम्बन्धको लेकर कही गई है। किंतु नारकियोंके उपर्युक्त दुःखोंकी भयंकरतापर विचार करनेसे यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि इतने अधिक दुःखोंको वे सहन कैसे कर सकते हैं? यन्त्रपीडनादि सरीखे दुःखोंसे उनका शीर विशीर्ण क्यों नहीं हो जाता? और यदि हो जाता है, तो शरीरके विशीर्ण होनेपर उनकी मृत्यु क्यों नहीं हो जाती? इत्यादि। इसका उत्तर स्पष्ट करनेके लिये आगे भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—इत्येवमप्रीतिकरं निरन्तरं सुतीव्रं दुःखमनुभवतां मरणमेव काङ्क्षतां तेषां न विपत्तिरकाले विद्यते कर्मभिर्धारितायुषाम्। उक्तं हि–"औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" इति। नैव तत्र शरणं विद्यते नाप्यपक्रमणम्। ततः कर्मवशादेव दग्धपाटितभिन्नच्छिन्नक्षतानि च तेषां सद्य एव संरोहन्ति शरीराणि दण्डराजिरिवाम्भसि इति॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार अनेक प्रकारके अति तीव्र अमनोज्ञ दुःखोंको निरंतर भोगते हुए भी उन नारकियोंका असमयमें मरण नहीं हुआ करता। वे इन दुःखोंसे घबड़ाकर मरना चाहते है, फिर भी उन्होंने जो आयुकर्म बाँधा है, उसकी स्थिति जबतक पूर्ण नहीं होती, तबतक उनका मरण नहीं हो सकता, यह बात पहले भी कह चुके हैं, कि–"औपपा-

१– अध्याय २ सूत्र ५३।

तिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ” अर्थात् औपपातिकजन्मवाले–देव और नारकी चरमशरीरी उत्तम देहके धारक तथा असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयुका अपवर्तन नहीं हुआ करता । उन नारकियोंके लिये नरकोंमें कोई भी शरण नहीं होता, और न उनकी आयुका अपक्रम ही हो सकता है । अतएव आयुपर्यन्त उनको उक्त दुःखोंको निरन्तर भोगना ही पड़ता है । अवश्यभोग्य–कर्मके वशमें पड़कर वे उक्त दुःखोंको भोगते हैं, और उस कर्मके ही निमित्तसे उनका शरीर यन्त्र पीडनादि दुःखों या उपघातोंसे विशीर्ण होकर भी–जलाया गया उपाटा गया विदीर्ण किया गया, छेदा गया और क्षत विक्षत किया गया, भी तत्काल फिर जैसेका तैसा हो जाता है । जैसे कि जलमें लकड़ीसे यदि लकीर की जाय, तो जल छिन्न होकर भी तत्काल ज्योंका त्यों मिल जाता है, उसी प्रकार नारकियोंका शरीर समझना चाहिये । वह भी छिन्न भिन्न होकर तत्काल अपने आप जुड़ जाता है ।

भाष्यम्—एवमेतानि त्रिविधानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्तीति ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार नरकोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले नारकियोंको उपर्युक्त तीन प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं ।–परस्परोदीरित, क्षेत्रस्वभावोत्पन्न और असुरोदीरित ।

भावार्थ—यहाँपर नारकियोंके तीन दुःख जो बताये हैं, सो सामान्य अपेक्षासे हैं । अतएव उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही घटित कर लेना चाहिये, कि इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे दो प्रकारके दुःख तो सभी नारकियोंके हुआ करते हैं, किन्तु असुरोदीरित दुःख पहली दूसरी और तीसरी पृथिवीके ही नारकियोंके हुआ करते हैं ।

ऊपर यह बात लिखी जा चुकी है, कि नारक अनपवर्त्यायुष्क हैं, अतएव दुःखोंसे आक्रान्त होकर असमयमें मरनेकी इच्छा रखते हुए भी जबतक आयु पूर्ण न हो, मर नहीं सकते । इसपरसे नारकियोंके आयु–प्रमाणको जाननेकी इच्छा हो सकती है । अतएव ग्रन्थकार सातों ही नरकोंके नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैः—

सूत्रम्—तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परास्थितिः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तेषु नरकेषु नारकाणां पराः स्थितयो भवन्ति । तद्यथा–रत्नप्रभायामेकं सागरोपमम् । एवं त्रिसागरोपमा सप्तसागरोपमा दशसागरोपमा सप्तदशसागरोपमा द्वाविंशतिसागरोपमा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा । जघन्या तु पुरस्ताद्वक्ष्यते ।–“ नारकाणां च द्वितीयादिषु । ”–“ दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामिति[2] । ”

अर्थ—उक्त सात नरकोंमें रहनेवाले अथवा जन्म–धारण करनेवाले नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिये ।–पहली रत्नप्रभा भूमिमें एक

१—दिगम्बर सम्प्रदायमे छह प्रकारके प्रसिद्ध हैं । २—अध्याय–४ सूत्र ४३–४४ की व्याख्यामे ।

सागर, दूसरी शर्कराप्रभामें तीन सागर, तीसरी वालुकाप्रभामें सात सागर, चौथी पंकप्रभामें दश सागर, पाँचवीं धूमप्रभामें सत्रह सागर, छट्ठी तमःप्रभामें बाईस सागर, और सातवीं महातमःप्रभामें तेतीस सागर। इन नारकियोंकी आयुका जघन्य प्रमाण आगे चलकर लिखेंगे, कि " नारकाणां च द्वितीयादिषु " और " दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम। " अर्थात् नारकियोंकी जघन्य आयुका प्रमाण पहले पहले नरकोंकी उत्कृष्ट आयुकी बराबर समझना चाहिये। पहले नरककी आयुका जो उत्कृष्ट प्रमाण है, वह दूसरे नरकमें जघन्य हो जाता है, और दूसरेका जो उत्कृष्ट है, वह तीसरेमें जघन्य हो जाता है। इसी तरह सातवें तक क्रमसे समझ लेना चाहिये। यह क्रम दूसरेसे लेकर सातवें तक हो सकता है, अतएव पहले नरककी आयुका जघन्य प्रमाण दश हजार वर्ष मात्र है। इसका खुलासा आगे चलकर और भी करेंगे।

यह नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी आयुका प्रमाण बताया, किंतु इतनी इतनी आयु लेकर उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेकी योग्यता रखनेवाले जीव कौन कौनसे है—अर्थात् किस किस जातिके जीव ज्याद:से ज्याद: किस किस नरक तक जा सकते हैं, यह बताना भी आवश्यक है, अतएव भाष्यकार इसको स्पष्ट करते हैं:—

भाष्यम्—तत्रास्रवैर्यथोक्तैर्नारकसंवर्तनीयैः कर्मभिरसंज्ञिनः प्रथमायामुत्पद्यन्ते। सरीसृपा द्वयोरादितः प्रथमद्वितीययोः। एवं पक्षिणस्तिसृषु। सिंहाश्चतसृषु। उरगाः पञ्चसु। स्त्रियः षट्सु। मत्स्यमनुष्याः सप्तस्विति। न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति। नहि तेषां बह्वारम्भपरिग्रहादयो नरकगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति। नाप्युद्वर्त्य नारका देवेषूत्पद्यन्ते। न ह्येषां सरागसंयमादयो देवगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति। उद्वर्तितास्तु तिर्यग्योनौ मनुष्येषु वोत्पद्यन्ते। मानुषत्वं प्राप्य केचित् तीर्थकरत्वमपि प्राप्नुयुरादितस्तिसृभ्यः निर्वाणं चतसृभ्यः संयमं पञ्चभ्यः संयमासंयमं षड्भ्यः सम्यग्दर्शनं सप्तभ्योऽपीति॥

अर्थ—कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते है। कर्मभेदके अनुसार आस्रव भी भिन्न भिन्न ही हैं। क्योंकि जहाँ कार्यभेद है वहाँ कारणभेद भी होना ही चाहिये। किन किन आस्रवोंसे कौन कौनसे कर्मका बन्ध होता है, यह बात शास्त्रोंमें बताई है। उनमेंसे जिनके द्वारा नारकपर्यायको उत्पन्न करनेवाले कर्मका बन्ध हुआ करता है, ऐसे आगमोक्त आस्रवोंके निमित्तसे बन्धे हुए कर्मोंके द्वारा जीव नरक—पर्यायको धारण किया करता है। किन्तु सब जीवोंमें एकसी योग्यता शक्ति नहीं हुआ करती। फलतः योग्यताकी तरतमताके अनुसार जीवोंके आस्रव परिणाम और उससे होनेवाले कर्मबन्ध भी तरतमरूपसे भिन्न भिन्न ही हुआ करते है। अतएव किस किस प्रकारके जीवमें कहाँ कहाँ तक—कौनसे कौनसे नरक तक लेजानेवाले कर्मको बाँधनेकी योग्यता है, यह जान लेना भी जरूरी है। वह इस प्रकार है कि—जो असंज्ञी—मन रहित पंचेन्द्रिय जीव है, वे पहली पृथिवी तक ही जा सकते है। इसी प्रकार सरीसृप—सर्पविशेष पहली और दूसरी भूमि तक जा सकते हैं। इसी तरह आगेके लिये

१—अध्याय ४ सूत्र ४३-४४ की व्याख्यामें। २—तत्रास्रवेषु इति वा पाठः।

समझना चाहिये । अर्थात्–पक्षी आदिकी तीन भूमियों तक, सिंह आदिकी चार भूमियों तक, विषधर सर्प आदिकी पाँच भूमियोंमें, स्त्रियाँ आदिकी छह भूमियोंमें, और मनुष्य तथा मत्स्य सातों ही भूमियोंमें जा सकते हैं । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कोई भी देव अथवा नारकी मरकर नरकमें जन्म–धारण नहीं कर सकता । यद्यपि उनके आरम्भ और परिग्रहकी विपुलता अति तीव्र पाई जाती है, फिर भी वह ऐसी नहीं हुआ करती, कि जो नरकगतिको निष्पन्न कर सके । इसी तरह कोई भी नारकी मरकर देवपर्यायमें भी जन्म–धारण नही कर सकता । क्योंकि जो देवगतिको निष्पन्न कर सकते हैं, वे सराग संयमादिक हेतु नारक–जीवोंके नहीं रहा करते । नारक–जीव मरनेके अनन्तर नरकसे निकलकर तिर्यग्योनि अथवा मनुष्य गतिमें ही जन्म ग्रहण कर सकता है, अन्यमें नही । नरकसे निकलकर जो जीव मनुष्य पर्यायको धारण किया करते हैं, उनमेंसे कोई कोई जीव तीर्थंकर भी हो सकते है । परन्तु आदिकी तीन भूमियोंसे निकले हुए ही जीव तीर्थंकर हो सकते हैं । आदिकी चार भूमियोंसे निकले हुए जीव मनुष्य होकर मोक्षको भी जा सकते है । आदिकी पाँच भूमियोके जीव मरनेके अनन्तर मनुष्य होकर संयमको धारण कर सकते हैं । छह भूमियोंके निकले हुए मनुष्य होकर संयमासंयम–देशव्रतको धारण कर सकते हैं, और सातवीं भूमि तकके निकले हुए जीव सम्यग्दर्शनको धारण कर सकते है ।

इस प्रकार नरककी गति आगतिकी विशेषता बताई है । इसके सिवाय नरक पृथियोंके सन्निवेश–रचना आदिमें भी जो विशेषता है, वह इस प्रकार है कि—

भाष्यम्—द्वीपसमुद्रपर्वतह्रदतडागसरांसि ग्रामनगरपत्तनादयो विनिवेशा वादरो वनस्पतिकायो वृक्षतृणगुल्मादिः द्वीन्द्रियादयस्तिर्यग्योनिजा मनुष्या देवाश्चतुर्निकाया अपि न सन्ति, अन्यत्र समुद्घातोपपातविक्रियासाङ्गतिकनरकपालेभ्यः । उपपाततस्तु देवा रत्नप्रभायामेव सन्ति नान्यासु, गतिस्तृतीयां यावत् ॥

अर्थ—द्वीप समुद्र पर्वत बड़े बड़े ह्रद तड़ाग और छोटे छोटे सरोवर इन सबकी रचना नरक-भूमियोंमें नहीं है । इसी प्रकार वहाँपर बादर वनस्पतिकाय और वृक्ष तृण–घास आदि और गुल्म–छोटे छोटे पौधे द्वीन्द्रिय आदिक तिर्यग्जीव और मनुष्य तथा चारों ही निकायके देव भी नहीं रहा करते । किन्तु समुद्घात उपपात विक्रिया साङ्गतिक और नरकपालोंके लिये यह निषेध नहीं है । उपपातकी अपेक्षासे देव रत्नप्रभामें ही रहा करते है, और भूमियोंमें नहीं । देवोंकी गति तीसरी भूमितक हुआ करती है ।

भावार्थ—देवोंका उपपात–जन्म पहली भूमि रत्नप्रभामें ही होता है, अन्य भूमियोंमें नहीं, अतएव उपपातकी अपेक्षासे देव पहली भूमिमें ही रहा करते है, अन्य भूमियोंमे नहीं रहते । द्वीप समुद्र आदिका जो निषेध है, सो भी दूसरी आदि पृथिवियोंके विषयमे ही समझना न कि पहली पृथिवीके विषयमें । क्योंकि रत्नप्रभाके ऊपर इन सबका सन्निवेश पाया जाता है ।

साधारण नियमके अनुसार कोई भी मनुष्य नरकभूमियोंमें नहीं जा सकता, और न पाया जा सकता है। किन्तु समुद्घातकी अवस्थामें मनुष्यका अस्तित्व वहाँपर कहा जा सकता है। समुद्घातगतसे मतलब केवलियोंका है। इसी प्रकार उपपात–नारकी और विक्रियालब्धिसे युक्त जीव तथा साङ्गतिक–पूर्वजन्मके स्नेही मित्र आदि एवं नरकपाल–महान् अधार्मिक–उपर्युक्त असुरकुमार इतने जीव कचित् कदाचित् नरकभूमियोंमें सम्भव माने जा सकते हैं।

प्रसङ्गानुसार लोकके विषयमें कुछ उल्लेख करते है–

भाष्यम्–यच्च वायव आपो धारयन्ति नच विश्वग्गच्छन्त्यापश्च पृथिवीं धारयन्ति न च प्रस्पन्दन्ते पृथिव्यश्चाप्सु विलयं न गच्छन्ति तत्तस्यानादिपारिणामिकस्य नित्यसन्ततेर्लोकविनिवेशस्य लोकस्थितिरेव हेतुर्भवति ॥

अर्थ—वायुने जलको धारण कर रक्खा है, जिससे कि वह जल कहीं भी इधर उधरको गमन नहीं करता, जलने पृथिवीको धारण कर रक्खा है, जिससे वह जल भी स्पन्दन नहीं करता–किधरको भी बहता नहीं है, और न वह पृथिवी ही उस जलमें गलती है। यह लोक-विनिवेशका अनादि पारिणामिक स्वभाव ही है, कि नित्यरूपसे इसकी ऐसी ही सन्तति चली आ रही है। ऐसा होनेमें भी लोककी स्थिति–अवस्थान ही कारण है और दूसरा कुछ नहीं।

भावार्थ—लोकका विनिवेश इस प्रकार है–पृथिवीको कठिनीभूत जलने धारण कर रक्खा है, जलको घनवातवलयने और घनवातवलयको तनुवातवलयने धारण कर रक्खा है। तनुवातवलयके लिये कोई आधार नहीं है, वह आत्मप्रतिष्ठ है–अपने ही आधार पर है, केवल आकाशमें ठहरा हुआ है। इस विषयमें यह बात विशेष है, कि इनकी रचना अथवा आधाराधेय भाव इस प्रकारसे परस्परमें सन्निविष्ट है, कि जलके ऊपर हमेशा रहकर भी पृथिवी गलती नहीं है, और न वह जल ही इधर उधरको बहता है। इसी प्रकार जिस वायुने जलको धारण कर रक्खा है, वह वायु भी किधरको ही नहीं बहती, और न वह जल ही बहता है। यह लोकका सन्निवेश अनादि है। और यह अनादिता द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे

१–' इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता असासता ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया। से केणट्ठेणं भते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ? दव्वट्ठयाए सासया, वणपज्जवेहिं गन्धपज्जवेहिं, रसपज्जवेहिं, फासपज्जवेहिं, असासया, से एतेणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ '।

छाया—इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथ्वी किं शाश्वती अशाश्वती ? गौतम ! स्यात् शाश्वती स्यात् अशाश्वती। तत् केनार्थेन भदन्त एवमुच्यते ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वती वर्णपर्यवैर्गन्धपर्यवै रसपर्यवैः स्पर्शपर्यवैरशाश्वती, तदेतेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते ॥

अर्थ—हे भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी शाश्वती–नित्य है अथवा अशाश्वती–अनित्य ? गौतम ! कथंचित् नित्य है, और कथंचित् अनित्य। हे भदन्त ! ऐसा किस अपेक्षासे कहा जाता है ? गौतम ! द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा–वर्णपर्याय गन्धपर्याय रसपर्याय और स्पर्शपर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। अतएव उसको नित्य और अनित्य दोनों प्रकारका कहा जाता है।

है । क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे लोक सादि भी है । अतएव आगममें इसको कथंचित् अनादि और कथंचित् सादि ही बताया है । तथा ऐसा सन्निवेश होनेमें सिवाय स्वभावके और कोई कारण नहीं है ।

भाष्यम्--अत्राह,—उक्तं भवता "लोकाकाशेऽवगाहः", "तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्" इति । तत्र लोकः कः कतिविधो वा किं संस्थितो वेति ? अत्रोच्यते:—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा है कि "लोकाकाशेऽवगाहः[1]" अर्थात् जीवाजीवादिक जो द्रव्य हैं, उन सबका लोकाकाशमें ही अवगाह है, और यह भी कहा है कि "तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्[2] ।" अर्थात् सम्पूर्ण कर्म और शरीरसे छूटनेपर यह जीव लोकके अन्ततक ऊर्ध्व-गमन करता है । इस तरह आपने लोक शब्दका कई बार उल्लेख किया है । अतएव इस विषयमें यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि वह लोक क्या है ? और वह कितने प्रकारका है ? तथा किस प्रकारसे स्थित है ? उत्तर ।—

भाष्यम्--पञ्चास्तिकाय समुदायो लोकः । ते चास्तिकायाः स्वतत्त्वतो विधानतो लक्षणतश्चोक्ता वक्ष्यन्ते च । स लोकः क्षेत्रविभागेन त्रिविधोऽधस्तिर्यगूर्ध्वं चेति । धर्माधर्मास्तिकायौ लोकव्यवस्थाहेतू[3] । तयोरवगाहविशेषाल्लोकानुभावनियमात् सुप्रतिष्ठक वज्राकृतिर्लोकः । अधोलोको गोकन्धराधरार्धाकृतिः[4] । उक्तं ह्येतत्--भूमयः सप्ताधोऽधः पृथुतराच्छत्रातिच्छत्रसंस्थिता इति । ता यथोक्ताः । तिर्यग्लोको झल्लर्याकृतिः, ऊर्ध्वलोको मृदङ्गाकृतिरिति । तत्र तिर्यग्लोकप्रसिद्ध्यर्थमिदमाकृतिमात्रमुच्यते ॥

अर्थ—पाँच अस्तिकायके समूहको लोक कहते हैं । जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय[5] हैं । इनका कुछ वर्णन तो स्वतत्त्वकी अपेक्षासे तथा विधान और लक्षणकी अपेक्षासे पहले[6] भी कर चुके हैं, बाकी और वर्णन आगे[7] चलकर भी करेंगे ।

क्षेत्र-विभागकी अपेक्षा लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक । लोककी व्यवस्थाके कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय हैं । इन दोनोंके अवगाह विशेषसे लोककी व्यवस्था बनी हुई है । क्योंकि जितने आकाशमें ये दोनों द्रव्य अवगाढ़रूपसे जिस तरह अवस्थित हैं, उसी प्रकारसे उस अवगाहनके अनुसार ही लोकका भी सन्निवेश बना हुआ है । अथवा लोकानुभावके अनुसार सुसिद्ध नियमोंसे ही उसका वैसा वैसा सन्निवेश बना हुआ है ।

अर्थात्—लोकसन्निवेशकी मर्यादा धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके निमित्तसे है । यदि ये दोनों द्रव्य न हों, तो चाहे जौनसा द्रव्य चाहे जहाँतक जा सकता और चाहे जहाँ ठहर सकता

१—अध्याय ५ सूत्र १२ । २—अध्याय १० सूत्र ५ । ३—लोकहेतू इति च पाठ. । ४—गोकन्धराधीकृतिः, गोकन्धराकृतिरित्यपि पाठान्तरे । ५—दिगम्बर सम्प्रदायमे कालको भी मुख्य द्रव्य माना है, और इसी लिये उन्होंने छह द्रव्योंके समूहको लोक माना है । ६—औपशमिकादि स्वतत्त्वोंके वर्णनमें, तथा संसारी मुक्त आदि भेद बताते समय और "उपयोगो लक्षणम्" की व्याख्यामें । ७—पाँचवें अध्यायमें ।

है। क्योंकि गमन करनेमें कारण धर्म द्रव्य और स्थितिमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है। जब ये दोनों कारण ही न रहेंगे, तो द्रव्योंके गमन और अवस्थानकी मर्यादा भी कैसे रह सकती है, कि अमुक स्थान तक ही द्रव्योंका गमन और अवस्थान हो सकता है आगे नहीं। अतएव जब कि लोककी मर्यादा सिद्ध है, तो उसका कारण भी प्रसिद्ध होना चाहिये, इसी लिये यहाँपर उस मर्यादाका कारण धर्म और अधर्म द्रव्यको बताया है कि जहाँतक ये द्रव्य है, वहाँतक अन्य द्रव्योंका गमन और अवस्थान हो सकता है और इसीसे लोकसन्निवेशकी मर्यादा भी बनी हुई है। परन्तु लोकका सन्निवेश ऐसा क्यों है ? इसका उत्तर तो स्वभाव ही हो सकता है। अनादि पारिणामिक स्वभाव ही ऐसा है, कि जिसके निमित्तसे लोकका आकार सुप्रतिष्ठक[1] अथवा वज्रके[2] आकारमें बना हुआ है[3]। और उसीसे वह प्रदेशोंकी हानि वृद्धिरूप कहीं महान् है और कहीं पतला है। क्योंकि यह पारिणामिक स्वभाव अनेक विचित्र शक्तियोंको धारण करनेवाला है।

क्षेत्र—विभागसे लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक यह बात ऊपर लिख चुके है। इनमेंसे अधोलोकका आकार आधी गोकन्धराके समान है। नीचेकी तरफ विशाल—चौड़ी और ऊपरकी तरफ क्रमसे संक्षिप्त। इसी बातको पहले भी बता चुके हैं, कि नीचे नीचे जो सात भूमियाँ अवस्थित है, उनका आकार नीचे नीचेकी तरफको अधिकाधिक चौड़ा छत्रातिच्छत्रकी तरह होता गया है। अधोलोकका अथवा नीचेकी सातों भूमियोंका यह आकार है। तिर्यग्लोक—मध्यलोकका आकार झालरके समान है, और ऊर्ध्वलोककी आकृति मृदङ्गके समान है। यह तीनों विभागोंका भिन्न भिन्न आकार है। सम्पूर्ण लोकका आकार वज्रके समान अथवा दोनों पैरोंको चौड़ाकर और कमरपर दोनों हाथोंको रखकर खड़े हुए पुरुषके समान है।

लोकके तीन भागोंमेंसे अधोलोकका वर्णन इसी अध्यायके प्रारम्भमें किया जा चुका है। ऊर्ध्वलोकका वर्णन आगे चौथे अध्यायमें करेंगे। यहाँ क्रमानुसार तिर्यग्लोकका स्वरूप बतानेके लिये संक्षेपमें वर्णन करते हैं।—

सूत्र—जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जम्बूद्वीपादयोद्वीपा लवणादयश्च समुद्राः शुभनामान इति। यावन्ति लोके शुभानि नामानि तन्नामान इत्यर्थः। शुभान्येव वा नामान्येषामिति ते शुभनामानः। द्वीपाद-

---

१—एक यन्त्रविशेष होता है। २—इन्द्रके हाथमे रहनेवाले उसके आयुधका नाम है। ३—इन्हीं आचार्योंने लोकका आकार प्रशम० गा० २१०—२११ में इस प्रकार लिखा है—जीवाजीवौ द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्। वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः ॥ तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम्। स्थालमिव तिर्यग्लोकम् ऊर्ध्वमथमल्लकसमुद्गम् ॥ ४—जिनको विस्तारसे जानना हो, उन्हें द्वीपसागरप्रज्ञप्ति अथवा त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि देखना चाहिये।

नन्तरः समुद्रः समुद्रादनन्तरो द्वीपो यथासंख्यम् । तद्यथा-जम्बूद्वीपो द्वीपः लवणोदः समुद्रः धातकीखण्डो द्वीपः कालोदः समुद्रः पुष्करवरो द्वीपः पुष्करोदः समुद्रः वरुणवरो द्वीपो वरुणोदः समुद्रः क्षीरवरो द्वीपः क्षीरोदः समुद्रो घृतवरो द्वीपो घृतोदः समुद्रः इक्षुवरो द्वीप इक्षुवरोदः समुद्रः नन्दीश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरवरोदः समुद्रः अरुणवरो द्वीपः अरुणवरोदः समुद्र इत्येवमसंख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता वेदितव्या इति ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप आदिक द्वीप और लवणसमुद्र आदिक समुद्र तिर्यग्लोकमें असंख्यात है । इन सबके नाम अति शुभ हैं । लोकमें जितने भी शुभ नाम है, वे सब इन द्वीप और समुद्रोंके पाये जाते हैं । अथवा इनके जो नाम है, वे सब शुभ ही हैं, इनमेंसे अशुभ नाम किसीका भी है ही नहीं । इन द्वीप समुद्रोंका सन्निवेश किस प्रकारका है ? विमानोंकी तरह प्रकीर्णकरूप है, अथवा अधः अधः अवस्थित हैं, या अन्य ही तरहसे हैं ? उत्तर—न प्रकीर्णक है और न अधः अधः अवस्थित है । किन्तु इनका सन्निवेश इस प्रकार है, कि द्वीपके अनन्तर समुद्र और समुद्रके अनन्तर द्वीप । इसी क्रमसे अन्तके स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त पहलेको दूसरा वेढ़े हुए अवस्थित है । जैसे कि—सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, उसके अनन्तर जम्बूद्वीपको चारों तरफसे घेरे हुए लवणसमुद्र है। इसी क्रमसे आगे आगे भी द्वीप समुद्रोंको अन्तके समुद्र तक समझना चाहिये। अर्थात् लवणसमुद्रके अनन्तर धातकीखण्ड द्वीप है, उसके अनन्तर कालोदसमुद्र है, उसके बाद पुष्करवर द्वीप है, उसके बाद पुष्करवरसमुद्र है, उसके बाद वरुणवरद्वीप है, उसके बाद वरुणोदसमुद्र है, उसके बाद क्षीरवरद्वीप है, उसके बाद क्षीरोदसमुद्र है उसके बाद घृतवरद्वीप है, उसके बाद घृतोदसमुद्र है, उसके बाद इक्षुवरद्वीप है, उसके बाद इक्षुवरोदसमुद्र है, उसके बाद नन्दीश्वरद्वीप है, उसके बाद नन्दीश्वरोदसमुद्र है । उसके बाद अरुणवरद्वीप है, उसके बाद अरुणवरोदसमुद्र है । इसी प्रकार स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप और असंख्यात ही समुद्र अवस्थित हैं ।

भावार्थ—असंख्यातके असंख्यात भेद हो सकते हैं, अतः उनमेंसे कितने असंख्यात प्रमाण द्वीप समुद्र समझना ? तो ढाई सागरके जितने समय हों, उतने ही कुल द्वीप और समुद्र समझना चाहिये । इनमें सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, और सबसे अन्तिम स्वयम्भूरमणसमुद्र है[2]। उनमेंसे ही कुछका यहाँपर नामोल्लेख करके बताया है । इनके समान और भी जितने द्वीप और समुद्र है, उन सबके वाचक शब्द शुभ है । ये सब रत्नप्रभा भूमिके ऊपर अवस्थित हैं । इन्हींके समूहको तिर्यग्लोक अथवा मध्यलोक कहते है ।

१—संख्याके भेदोंमें उपमामानका एक भेद है। इसका प्रमाण देखना हो, तो गोम्मटसार कर्मकाण्डकी भूमिकामें अथवा त्रिलोकसार आदिमें देखो। २—सबसे अंतिम स्वयंभूरमणसमुद्र ही [illegible] है, इससे कोई यह न समझे कि स्वयम्भूरमणसमुद्रके अनन्तर वातवलय ही है और कुछ नहीं। किंतु स्वयंभूरमणसमुद्रके अनन्तर चार कोनोंमें पृथिवीका भाग भी है, उसके बाद वातवलय है। परन्तु [illegible]

इस सूत्रमें जिनका निर्देश किया गया है, वे द्वीप और समुद्र किस प्रकारसे अवस्थित है, और उनका प्रमाण कितना कितना है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्रम्—द्विर्द्विर्विष्कम्भाःपूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः॥ ८॥

भाष्यम्—सर्वे चैते द्वीपसमुद्रा यथाक्रममादितो द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः प्रत्येतव्याः। तद्यथा—

अर्थ—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका विष्कम्भ—चौड़ाईका प्रमाण प्रथमसे लेकर अन्त तक—जम्बूद्वीपसे स्वयम्भूरमण पर्यन्त दूना दूना समझना चाहिये। और ये सभी—द्वीप अथवा समुद्र अपने अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रको घेरे हुए हैं। जैसे कि जम्बूद्वीपको लवण-समुद्र और लवणसमुद्रको धातकीखंडद्वीप तथा धातकीखण्डद्वीपको कालोदसमुद्र और कालोद-समुद्रको पुष्करवरद्वीप घेरे हुए हैं। इसी तरह अंत तक समझ लेना चाहिये। अतएव इनका आकार कंकणके समान गोल है।

दूना दूना प्रमाण जो बताया है, वह तबतक समझमें नही आ सकता, जबतक कि पहले द्वीपका प्रमाण मालूम न हो जाय। अतएव उसको बताते हुए उनके सन्निवेशको भी स्फुट करते है—

भाष्यम्—योजनशतसहस्रं[1] विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य वक्ष्यते। तद्द्विगुणो लवणजलस-मुद्रस्य। लवणजलसमुद्रविष्कम्भाद्द्विगुणो धातकीखण्डद्वीपस्य। इत्येवमास्वयम्भूरमण-समुद्रादिति॥

पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः—सर्वे पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः प्रत्येतव्याः। जम्बूद्वीपो लवणसमुद्रेण परिक्षिप्तः, लवणजलसमुद्रो धातकीखण्डेन परिक्षिप्तः, धातकीखण्ड द्वीपः कालोदसमुद्रेण परिक्षिप्तः, कालोदसमुद्रः पुष्करवरद्वीपार्धेन परिक्षिप्तः, पुष्करद्वीपार्धं मानुषोत्तरेण पर्वतेन परिक्षिप्तम्, पुष्करवरद्वीपः पुष्करवरोदेन समुद्रेण परिक्षिप्तः, एवमास्वयम्भूरमणात्समुद्रादिति॥

वलयाकृतयः।—सर्वे च ते वलयाकृतयः सह मानुषोत्तरेणेति॥

अर्थ—पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, उसका विष्कम्भ—विस्तार एक लाख योजनका है, ऐसा आगे चलकर सूत्र द्वारा बतावेंगे। इससे दूना विस्तार लवणोदसमुद्रका है। लवणोद-समुद्रके विस्तारसे दूना विस्तार धातकीखण्ड द्वीपका है। इसी तरह स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त द्वीपसे समुद्रका और समुद्रसे द्वीपका विस्तार दूना दूना समझना चाहिये। अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रका जितना विस्तार हो, उससे दूना अगले द्वीप या समुद्रका विस्तार समझ लेना चाहिये।

पूर्वपूर्वका परिक्षेपण—ये सभी द्वीप और समुद्र पूर्वपूर्व परिक्षेपी हैं। द्वीपने अपनेसे पहले समुद्रको और समुद्रने अपनेसे पहले द्वीपको चारों तरफसे घेर रक्खा है। जैसे कि जम्बू-द्वीप लवणसमुद्रसे घिरा हुआ है, और लवणसमुद्र धातकीखण्ड द्वीपसे घिरा हुआ है, धातकी

1—योजनसहस्रविष्कम्भो इत्यपि पाठान्तरम्।

खण्ड द्वीप कालोदसमुद्रसे और कालोदसमुद्र आधे पुष्करवरद्वीपसे घिरा हुआ है । आधा पुष्करवरद्वीप मानुषोत्तरपर्वतसे और मानुषोत्तरसे परेका आधा पुष्करवर द्वीप पुष्करवरोद समुद्रसे घिरा हुआ है । इसी तरह स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त समझ लेना चाहिये । अर्थात् ये सभी द्वीप समुद्र परस्परमें एक दूसरेसे परिवेष्टित–घिरे हुए हैं ।

वलयाकृति—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका आकार तथा इनके साथ साथ मानुषोत्तर पर्वतकी भी आकृति कंकणके समान गोल समझनी चाहिये ।

भावार्थ—यद्यपि पहले जम्बूद्वीपमें लवणसमुद्रादिके समान कंकणकीसी गोलाई प्रतीत नहीं होती । क्योंकि उसने किसीको घेर नहीं रक्खा है । तो भी जम्बूद्वीपके अंतकी परिधिको यदि देखा जाय, तो वैसी आकृति उसकी भी दीखती ही है । अथवा जम्बूद्वीपका आकार थालीके समान गोल समझ लेना चाहिये । यद्वा जम्बूद्वीपसे आगेके समुद्र और द्वीपोंका आकार तो कंकणके समान गोल और जम्बूद्वीपका आकार गोल मणिबन्ध–पहुँचेके समान समझ लेना चाहिये । अथवा इस सूत्रमें वलय–कंकणके समान जो आकृति कही है, सो लवणोदादिकी ही समझनी चाहिये, न कि जम्बूद्वीपकी । जम्बूद्वीपका आकार और उसके विष्कम्भ-विस्तारका प्रमाण बतानेके लिये आगे सत्र कहते हैंः—

सूत्र—तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भोजम्बूद्वीपः ९

भाष्यम्—तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्ये तन्मध्ये । मेरुनाभिः ।—मेरुरस्य नाभ्यामिति मेरुर्वास्य नाभिरिति मेरुनाभिः । मेरुरस्य मध्य इत्यर्थः । सर्वद्वीपसमुद्राभ्यन्तरो वृत्तः कुलालचक्राकृतिर्योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । वृत्तग्रहणं नियमार्थम् । लवणादयो वलयवृत्ता जम्बूद्वीपस्तु प्रतरवृत्त इति । यथा गम्येत वलयाकृतिभिश्चतुरस्रत्र्यस्रयोरपि परिक्षेपो विद्यते तथा च माभूदिति ॥

अर्थः—उन उपर्युक्त असंख्यात द्वीप और समुद्रोंके मध्यमें पहला जम्बूद्वीप है । वह मेरुनाभि है । अर्थात् मेरु इसका नाभिस्थानमें है, ऐसा कहिये, अथवा यों कहिये कि मेरु इसका नाभिस्थान है । तात्पर्य यही है, कि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें मेरु है[1] । यह सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रोंके अभ्यन्तर ठहरा हुआ है और वृत्त-गोल है । इसका आकार कुम्भारके चक्रके समान है, और उसका विस्तार एक लाख योजनका है ।

सूत्रमें वृत्त शब्द न दिया जाता, तो भी चल सकता था, फिर उसका जो ग्रहण किया है, सो विशेष नियमको बतानेके लिये है । वह यह कि लवणोदादिक असंख्यात द्वीप समुद्र तो

१–मेरु पाँच हैं—सुदर्शन विद्युन्माली विजय अचल और मन्दर । इनमेंसे पहला सुदर्शनमेरु जम्बूद्वीपके मध्यमें हैं और वह शेष चारोंसे बड़ा है । बाकी चारोंका प्रमाण बराबर है । चारमेंसे दो धातकी खण्ड और दो पुष्करवर द्वीपके दोनों तरफके भागोंमें अवस्थित हैं । २–योजन ४ कोशका होता है । परन्तु यहाँपर जो प्रमाण बताया है, वह प्रमाणाङ्गुलकी अपेक्षासे है । उत्सेधाङ्गुलसे प्रमाणाङ्गुल पाँचसौ गुणा होता है । अतएव प्रकृतमें एक योजन दो हजार कोशके बराबर समझना चाहिये ।

वलयवृत्त हैं, किन्तु जम्बूद्वीप प्रतरवृत्त है। यदि वृत्त शब्द न दिया जाता, तो विपरीत अर्थका भी कोई ग्रहण कर सकता था। क्योंकि गोल पदार्थके द्वारा जो घिरी हुई हो, वह भी गोल ही हो ऐसा नियम नहीं हो सकता। चौकोण अथवा त्रिकोण आदि वस्तुभी गोल पदार्थके द्वारा घिरी हुई हो सकती है। अतएव वृत्त शब्दके न रहनेपर लवणोदादिकको गोल समझकर भी जम्बूद्वीपको कोई चौकोण आदि समझ सकता था। सो ऐसा विपरीत अर्थ कोई न समझ ले इसी लिये सूत्रमें वृत्त शब्दका पाठ किया है। अर्थात् जम्बूद्वीपका आकार प्रतरवृत्त है।

भाष्यम्—मेरुरपि काञ्चनस्थालनाभिरिव वृत्तो योजनसहस्रमधोधरणितलमवगाढो नवनवत्युच्छ्रितो दशाधो विस्तृतः सहस्रमुपरीति। त्रिकाण्डस्त्रिलोकप्रविभक्तमूर्तिश्चतुर्भिर्वनैर्भद्रशालनन्दनसौमनसपाण्डकैः परिवृतः। तत्र शुद्धपृथिव्युपलवज्रशर्करावहुलं योजनसहस्रमेकं प्रथमं काण्डम्। द्वितीयं त्रिषष्टिसहस्राणि रजतजातरूपाङ्क स्फटिक बहुलम् तृतीयं षट्त्रिंशत्सहस्राणि जाम्बूनदबहुलम्। वैडूर्यबहुला चास्य चूलिका चत्वारिंशद्योजनान्युच्छ्रायेण मूले द्वादश विष्कम्भेण मध्येऽष्टावुपरि चत्वारीति। मूले वलयपरिक्षेपि भद्रशालवनम्। भद्रशालवनात्पञ्च योजनशतान्यारुह्य तावत्प्रतिक्रान्तिविस्तृतं नन्दनम्। ततोर्धत्रिषष्टिसहस्राण्यारुह्य पञ्चयोजनशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतमेव सौमनसम्। ततोऽपि षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य चतुर्नवतिचतुःशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतं पाण्डकवनमिति। नन्दनसौमनसाभ्यामेकादशैकादशसहस्राण्यारुह्य प्रदेशपरिहाणिर्विष्कम्भस्येति।

अर्थ—मेरु भी सुवर्णके थालके मध्यकी तरह गोल है[1]। इसकी उँचाई एक लाख योजनकी है। जिसमेंसे एक हजार योजन पृथिवीके नीचे प्रविष्ट है। बाकी ९९ हजार पृथिवीके ऊपर है। इस ऊपरके भागको दृश्य भाग और पृथिवीके भीतर प्रविष्ट एक हजारके भागको अदृश्य भाग समझना चाहिये। अदृश्य भागकी चौड़ाई दश हजार योजनकी है, और उँचाई एक हजार योजन है। मेरुके ऊपर दृश्य भागमें तीन काण्डक—मेखला—कटिनी है। यह मेरु पर्वत मानों तीनों लोकोंका विभाग करनेके लिये माप करनेकी मूर्ति ही है। क्योंकि मेरुके नीचे अधोलोक और ऊपर ऊर्ध्वलोक तथा मेरुकी बराबर तिर्यग्लोक—मध्यलोकका प्रमाण है[2]। भद्रशाल नन्दन सौमनस और पाण्डक इन चार वनोंसे चारों तरफ—सब तरफसे घिरा हुआ है। तीन काण्डकोंमेंसे पहला काण्डक एक हजार योजन ऊँचा है, जोकि पृथिवीके भीतर अदृश्य भाग है। इस काण्डकमे शुद्ध पृथिवी पत्थर हीरा और शर्करा ही प्रायः पाई जाती है। दूसरा और तीसरा काण्डक पृथिवीके ऊपरके दृश्य भागमें है। दूसरा काण्डक पृथिवीतलसे लेकर त्रेसठ हजार योजनकी उँचाई तक है। इस काण्डकमें प्रायः करके चाँदी सुवर्ण अङ्क—रत्नविशेष और स्फटिक ही पाया जाता है। दूसरे काण्डकके ऊपर छत्तीस हजार योजनकी उँचाईवाला तीसरा काण्डक है। इस काण्डकमें प्रायः सुवर्ण ही है।

१—मूलमें जो वाक्य है, उसका अर्थ ऐसा भी हो सकता है, कि यह मेरुपर्वत सुवर्णमय तथा थालीके मध्यके समान गोल है। २—" मेरुस्स हिट्ठभाए सत्तवि रज्जू हवे अहोलोओ। उड्ढम्हि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥ १२०॥ —स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा।

इस मेरुपर्वतके ऊपर एक चूलिका–शिखर, है जो कि चालीस योजन ऊँची है। इसकी चौड़ाई मूलमें बारह योजन मध्यमें आठ योजन और अन्तमें चार योजन है। चूलिकाके भागमें प्रायः करके वैडूर्यमणि ही पाई जाती है।

मेरुके मूलमें पृथिवीके ऊपर भद्रशालवन है, जो कि गोल और चारों तरफसे मेरुको घेरे हुए है। भद्रशालवनसे पाँचसौ योजन ऊपर चलकर उतनी ही प्रतिक्रान्तिके विस्तारसे युक्त नन्दनवन है। नन्दनवनसे साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर चलकर सौमनसवन है। इसकी चौड़ाई पाँचसौ योजनकी है। सौमनसवनसे छत्तीस हजार योजन ऊपर चलकर चौथा पाण्डकवन है। इसकी चौड़ाई चारसौ चौरानवे योजनकी है।

मेरुका विष्कम्भ सर्वत्र एकसा नहीं है, और न कहीं कुछ कहीं कुछ ऐसा अव्यवस्थित है। किन्तु उसके विष्कम्भके प्रदेश क्रमसे घटते गये हैं। इस हानिका प्रमाण इस प्रकार है, कि नन्दनवन और सौमनसवनसे लेकर ग्यारह ग्यारह हजार प्रदेशोंके ऊपर चलकर विष्कम्भके एक एक हजार प्रदेश घटते गये हैं[1]।

इस प्रकार जम्बूद्वीपका विस्तार और आकार आदि बताया। इसमें एक विशेष बात और भी है, वह यह कि यह सात क्षेत्रोंसे विभक्त है। अर्थात् इस जम्बूद्वीपके सात भाग हैं, जिनको कि सात क्षेत्र कहते है। वे सात क्षेत्र कौनसे हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं–

सूत्र—तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

भाष्यम्—तत्र जम्बूद्वीपे भरतहैमवतं हरयो विदेहा रम्यकं हैरण्यवतमैरावतमितिसप्त वंशाः क्षेत्राणि भवन्ति। भरतस्योत्तरतः हैमवतम्, हैमवतस्योत्तरतः हरयः, इत्येवं शेषाः। वंशा वर्षा वास्या इति चैषां गुणतः पर्यायनामानि भवन्ति। सर्वेषां चैषां व्यवहारनयापेक्षादादित्य-कृताद्दिग्नियमादुत्तरतो मेरुर्भवति, लोकमध्यावस्थितं चाष्टप्रदेशं रुचकं दिग्नियमहेतुं प्रतीत्य यथासम्भवं भवतीति॥

अर्थ—जिसका कि प्रमाण और आकार ऊपर बताया जा चुका है, उस जम्बूद्वीपमें ही भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। भरतसे उत्तरकी तरफ हैमवतक क्षेत्र है, और हैमवतकसे उत्तरकी तरफ हरि क्षेत्र है। इसी तरह दूसरे क्षेत्रोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात हरिसे उत्तरमें विदेह, विदेहसे उत्तरमें रम्यक, रम्यकसे उत्तरमें हैरण्यवत और हैरण्यवतसे उत्तरमें ऐरावत क्षेत्र है। वंश वर्ष और वास्य ये इन क्षेत्रोंके पर्यायवाचक नाम हैं, और ये नाम अन्वर्थ–गुणकी अपेक्षासे हैं। क्योंकि वंश

१–इस विषयमे टीकाकारने लिखा है कि " एषा च परिहाणिराचार्योक्ता न मनागपि गणितप्रक्रियया सङ्गच्छते। " और इस बातको हेतुपूर्वक गणित करके बताया भी है, विशेष बात जाननेके लिये वहींपर खुलासा देखना चाहिये।

पर्वयुक्त हुआ करते हैं, ये भरतादिक भी वंशादिककी तरहसे विभागोंको करनेवाले अथवा धारण करनेवाले हैं । अतएव इनको वंश–क्षेत्र कह सकते है । इसी तरह वर्ष और वास्य शब्दका अर्थ भी समझ लेना चाहिये । क्योंकि इनको वर्षके सन्निधानसे वर्ष और इनमें मनुष्यादिका वास होनेसे वास्य कहते हैं ।

दिशाओंका नियम व्यवहारनयकी अपेक्षासे तो सूर्यकी गतिके हिसाबसे ही माना गया है । इस हिसाबसे मेरु सभी क्षेत्रोंसे उत्तर दिशाकी तरफ पड़ता है । क्योंकि लोकमें ऐसा व्यवहार है, कि जिधरको सूर्यका उदय होता है, वह पूर्व दिशा है, उसके ठीक उल्टी तरफ–जिधर सूर्यका अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा है । जिधरकी तरफ कर्कसे लेकर धन तककी छह राशियाँ व्यवस्थित हों, उसको दक्षिण, और मकरसे लेकर मिथुन तककी छह राशियाँ जिधरको व्यवस्थित हों, उसको उत्तर दिशा कहते हैं । इस व्यवहारके अनुसार सभी क्षेत्रवालोंके लिये मेरु उत्तरकी तरफ पड़ता है । किन्तु यह वास्तविक कथन नहीं है, केवल व्यवहारमात्र है । क्योंकि सूर्यके उदय अस्तके हिसाबसे ही पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंका यदि नियम माना जायगा, तो एक यह बड़ा विरोध आकर उपस्थित होगा, कि सब जगह सभी दिशाओंका सद्भाव मानना पड़ेगा, और उससे व्यवहारका लोप होगा । क्योंकि जिधर सूर्यका उदय हो, उधर पूर्व और जिधर अस्त हो उधर पश्चिम, ऐसा नियम माननेपर हमारे लिये जिधर पूर्व है, उधरको ही पूर्वविदेह-वालोंके लिये पश्चिम है । अतएव व्यवहार विरुद्ध हो जाता है, और इसी लिये इस नियमको केवल व्यवहाररूप ही समझना चाहिये, न कि निश्चयरूप । निश्चयनयकी अपेक्षासे दिशाओंका नियम किस प्रकार है सो बताते हैं—

लोकके ठीक मध्य भागमें रुचकके आकार–चौकोण आठ प्रदेश अवस्थित हैं, निश्चय नयसे उन्हींको दिशाओंके नियमका कारण समझना चाहिये । इन आठ प्रदेशोंसे ही चार दिशा और चार विदिशाओंका नियम बनता है । किन्तु इस नियमके अनुसार मेरु उत्तरमें ही हो यह बात नहीं ठहरती; किन्तु यथासम्भव दिशाओंमें माना जा सकता है । अतएव निश्चय-नयसे मेरु भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें रहनेवालोंके लिये भिन्न भिन्न दिशाओंमें समझना चाहिये ।

जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र हैं, ऐसा ऊपर लिख चुके है, किन्तु ये विभाग तबतक नहीं हो सकते, जबतक कि इन विभागोंको करनेवाला कोई न हो । अतः इनके विभाजक कुलाचलोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—तेषां वर्षाणां विभक्तारः हिमवान् महाहिमवान् निषधो नीलो रुक्मी शिखरीत्येते षड् वर्षधराः पर्वताः । भरतस्य हैमवतस्य च विभक्ता हिमवान्, हैमवतस्य हरिवर्षस्य

च विभक्ता महाहिमवान्, इत्येवं शेषाः। तत्र पञ्च योजनशतानि षड्विंशानि षट्चैकोनविंशतिभागा (५२६ $\frac{६}{१९}$) भरतविष्कम्भः स द्विर्द्विर्हिमवद्धैमवतादीनामाविदेहेभ्यः। परतो विदेहेभ्योऽर्धार्धहीनाः॥

अर्थ—उपर्युक्त सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले ये छह पर्वत हैं। हिमवान् महाहिमवान् निषध नील रुक्मी और शिखरी। इनको वर्षधरपर्वत कहते हैं। क्योंकि ये पर्वत बीचमें पड़कर क्षेत्रोंको विभक्त कर देते हैं, और ऐसा करके उस विभागको तथा क्षेत्रोंको धारण करते हैं। किस किस क्षेत्रका विभाग करनेवाला कौन कौनसा पर्वत है? तो इसके लिये यथाक्रमसे ही घटित करके समझ लेना चाहिये। अतएव जिस प्रकार भरत और हैमवतकका विभाग करनेवाला हिमवान्पर्वत है, और हैमवतक तथा हरिवर्षका विभाजक महाहिमवान् है, उसी प्रकार शेष क्षेत्र और पर्वतोंके विषयमें क्रमसे घटित कर लेना चाहिये, अर्थात् हरिवर्ष और विदेहका विभाजक निषधपर्वत है। विदेह और रम्यकका विभक्ता नील है। रम्यक और हैरण्यवतका भेदक रुक्मीपर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावतका व्यवस्थाकारी शिखरीपर्वत है।

छह कुलाचलोंके द्वारा विभक्त इन सात क्षेत्रोंका प्रमाण इस प्रकार है।—पहले भरत क्षेत्रका प्रमाण पाँचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग है। अर्थात् ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन प्रमाण भरतक्षेत्रका विष्कम्भ है। भरतसे आगे हिमवान्पर्वत और हैमवत आदि क्षेत्रोंका विष्कम्भ दूना दूना समझना चाहिये। किन्तु यह द्विगुणता विदेहपर्यन्त ही है आगे नहीं। विदेहसे आगे पर्वत और क्षेत्रोंका विष्कम्भ क्रमसे आधा आधा होता गया है।

भावार्थ—मेरुसे उत्तर और दक्षिणके क्षेत्र तथा कुलाचल आदिका प्रमाण समान है। जैसा कि "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" इस कथनसे स्पष्ट है। अतएव भरतक्षेत्रसे विदेह पर्यन्त क्षेत्र पर्वत ह्रद आदिका जो प्रमाण है, उसी प्रकार विदेहसे ऐरावत पर्यन्त समझना चाहिये। इसी लिये यहाँपर ऐसा कहा गया है, कि भरतसे विदेह तक दूना दूना और विदेहसे ऐरावत तक आधा आधा प्रमाण है। अर्थात् भरतक्षेत्रका प्रमाण ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन है, इतना ही प्रमाण ऐरावतक्षेत्रका है। हिमवान् शिखरी आदिका भी इसी क्रमसे समान प्रमाण समझ लेना चाहिये। यथा—हिमवान् और शिखरीका प्रमाण १०५२ $\frac{१२}{१९}$ योजन, हैमवत हैरण्यवतका प्रमाण २१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन, महाहिमवान् और रुक्मीका प्रमाण ४२१० $\frac{१०}{१९}$ योजन, हरि और रम्यकका प्रमाण ८४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन, निषध और नीलका प्रमाण १६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन, विदेहका प्रमाण ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ योजन है।

अब इन पर्वतोंका अवगाह तथा उँचाई आदिका एवं जीवा धनुष आदिका विशेष प्रमाण बतानेके लिये वर्णन करते हैं—

भाष्यम्—पञ्चविंशतियोजनान्यवगाढो योजनशतोच्छ्रायो हिमवान्। तद्द्विर्महाहिमवान्। तद्द्विर्निषध इति॥

भरतवर्षस्य योजनानां चतुर्दशसहस्राणि चत्वारि शतान्येकसप्ततीनि षट् च भागा विशेषतो ज्या। इषुर्यथोक्तो विष्कम्भः। धनुकाष्ठं चतुर्दश सहस्राणि शतानि पञ्चाष्टविंशान्येकादश च भागाः साधिकाः ॥

भरतक्षेत्रमध्ये पूर्वापरायत उभयतः समुद्रमवगाढो वैताढ्यपर्वतः षड् योजनानि सक्रोशानि धरणिमवगाढः पञ्चाशद्विस्तरतः पञ्चविंशत्युच्छ्रितः ॥

अर्थः—उपर्युक्त छह कुलाचलोंमेंसे हिमवान्पर्वतका अवगाह पच्चीस योजन और ऊँचाई एक सौ योजनकी है। इससे दूना अर्थात् ५० योजन अवगाह और दो सौ योजन ऊँचाई महाहिमवान्की है। इससे भी दूना प्रमाण अर्थात् १०० योजन अवगाह और चार सौ योजन ऊँचाई निषधकी है। निषधके समान नीलका, महाहिमवान्के समान रुक्मीका, और हिमवान्के समान शिखरीका प्रमाण समझना चाहिये।

भरतक्षेत्रका प्रमाण तीन तरहसे जानना चाहिये—ज्या इषु और धनुकाष्ठ। हिमवान् पर्वतसे लगी हुई धनुष्की डोरीके समान जो रेखा है, उसको ज्या कहते है। उसका प्रमाण चौदह हजार चारसौ योजन और एक योजनके ७१ भागमेंसे ६ भाग (१४४०० $\frac{६}{७१}$ योजन) है। धनुषपर बाण रखनेकी जगहके समान भरतक्षेत्रकी उत्तर दक्षिण मध्यवर्ती जो रेखा है, उसको इषु कहते हैं, उसका प्रमाण ऊपर लिखे अनुसार ही समझना चाहिये, अर्थात् ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन। धनुषकी लकड़ीके समान समुद्रके निकटवर्ती परिधिरूप जो रेखा है, उसको धनुकाष्ठ कहते हैं। उसका प्रमाण चौदह हजार पाँचसौ योजन और एक योजनके २८ भागोंमेंसे ११ भाग (१४५०० $\frac{११}{२८}$ योजन) से कुछ अधिक है।

भरतक्षेत्रके मध्य भागमें एक वैताढ्य नामका पर्वत है, जिसको कि विजयार्ध आदि नामोंसे भी कहते हैं, वह पूर्व पश्चिम लम्बा है, और इन दोनों ही भागोंमें समुद्रका स्पर्श कर रहा है—इसका पूर्व भाग पूर्वसमुद्रमें और पश्चिम भाग पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हो गया है। सवा छह योजन पृथ्वीके भीतर है, तथा पचास योजन उत्तर दक्षिण चौड़ा एवं पच्चीस योजन ऊँचा है।

भाष्यम्—विदेहेषु निषधस्योत्तरतो मन्दरस्य दक्षिणतः काञ्चनपर्वतशतेन चित्रकूटेन विचित्रकूटेन चोपशोभिता देवकुरवो विष्कम्भेणैकादशयोजनसहस्राण्यष्टौ च शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ च भागौ, एवमेवोत्तरेणोत्तराः कुरवश्चित्रकूट विचित्रकूटहीना द्वाभ्यां च काञ्चनाभ्यामेव यमकपर्वताभ्यां विराजिता ॥

विदेहा मन्दरदेवकुरूत्तरकुरुभिर्विभक्ता क्षेत्रान्तरवद्भवन्ति। पूर्वे चापरे च। पूर्वेषु षोडश चक्रवर्तिविजया नदीपर्वतविभक्ताः परस्परागमाः अपरेऽप्येवंलक्षणाः षोडशैव ॥

तुल्यायामविष्कम्भावगाहोच्छ्रायौ दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ तथा हिमवच्छिखरिणौ महाहिमवद्रुक्मिणौ निषधनीलौ चेति ॥

१—भरत क्षेत्रके छह खड हैं। तीन भाग विजयार्धके उत्तरमें और तीन भाग दक्षिणमें हैं। चक्रवर्ती छहों खण्डको जीतता है, विजयार्ध तक उसकी आधी विजय हो जाती है, इसी लिये इसको विजयार्ध कहते हैं। जो अर्धचक्री—नारायण होते हैं, वे वहीं तक विजय प्राप्त करते है। विजयार्ध उत्तर भागमें सम्मिलित है

अर्थ—विदेहक्षेत्रमें देवकुरु और उत्तरकुरु नामके दो क्षेत्र हैं, जहाँपर सदा भोगभूमि ही रहा करती है। निषधपर्वतसे उत्तरकी तरफ और मेरुसे दक्षिणकी तरफ जो क्षेत्र है। उसको देवकुरु कहते हैं। यह क्षेत्र अनेक पर्वतोंसे शोभायमान है। इसमें पाँच सरोवरोंके दोनों बाजुओंमें अवस्थित दश दश सुवर्णगिरि हैं, और सीतोदानदीके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दो पर्वत है। ये दोनों एक हजार योजन ऊँचे हैं, पृथ्वीपर इनकी चौड़ाई एक हजार योजन और ऊपर चलकर पाँच सौ योजन है। देवकुरुकी चौड़ाई ग्यारह हजार आठ सौ योजन और एक योजनके ब्यालीस भागोंमेंसे दो भाग ११८००$\frac{२}{४२}$ योजन है।

इसी प्रकार मेरुसे उत्तरमें और नीलपर्वतसे दक्षिणकी तरफ उत्तरकुरु भोगभूमि है। इसमें यह विशेषता है, कि चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दोनों पर्वत नहीं हैं। इनकी जगहपर इस क्षेत्रमें सीतानदीके किनारेपर दो सुवर्णमय यमक पर्वत हैं, जिनका कि प्रमाण चित्रकूट और विचित्रकूटके समान ही है। इसका विस्तार भी देवकुरुके समान है, और इसमें काञ्चनगिरि-पर्वत भी देवकुरुके समान ही अवस्थित है।

यद्यपि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें और निषध नील पर्वतके अन्तरालमें सामान्यसे विदेह-क्षेत्र एक ही है, तो भी मेरुपर्वत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुसे विभक्त होकर क्षेत्रान्तरके समान उसके जुदे जुदे विभाग हो गये हैं। विदेहके मूल विभाग दो है—पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह। मेरुके पूर्व भागको पूर्व विदेह और पश्चिम भागको पश्चिम विदेह कहते है। इनमें भी प्रत्येकके सोलह सोलह भाग हैं, और सोलहमेंसे भी प्रत्येकके छह छह खण्ड है, जिनकी कि चक्रवर्त्ती विजय किया करता है। ये खण्ड नदी और पर्वतोंसे विभक्त होकर हुए हैं। इनके निवासियोंका परस्परमें गमनागमन नहीं हुआ करता। पूर्व विदेह और पश्चिम विदेहके विभाग और उनका प्रमाण आदि तुल्य है।

भावार्थ—मेरुके पूर्व और पश्चिमके दोनों भागोंको चार चार वक्षारगिरि और तीन तीन विभंगा नदियोंके मध्यमें एक तरफ सीता और दूसरी तरफ सीतोदानदीके पड़ जानेसे सोलह सोलह भाग हो गये है। इन्हींको जम्बूद्वीप सम्बन्धी ३२ विदेह कहते है। प्रत्येक भागके भी भरत-क्षेत्रके समान छह छह खण्ड है। क्योंकि भरतके समान इन प्रत्येक भागोंमें भी एक एक विजयार्ध और गंगा सिंधु नामकी दो दो नदियाँ हैं। भरतके समान यहाँके छह छह खंडोंका विजेता भी एक एक चक्रवर्त्ती हुआ करता है। आपसमें इन क्षेत्रोंके निवासियोंका गमनागमन नहीं हुआ करता। विदेहमें एक समयमें ज्याद:से ज्याद: ३२ चक्रवर्त्ती अथवा तीर्थंकर हो सकते है। तीर्थंकर कमसे कम ४ भी हो सकते हैं। पाँचों मेरुसम्बन्धी तीर्थंकर कमसे कम २० हो सकते है, क्योंकि एक एक मेरु के चार चार विदेह है।

दक्षिण और उत्तरमें जो वैताढ्यपर्वत है, उन दोनोंकी लम्बाई चौडाई जमीनके

भीतरकी गहराई और जमीनसे ऊपरकी ऊँचाई समान है। जितनी दक्षिणके वैताढ्यकी लंबाई आदिक है, उतनी ही उत्तरके वैताढ्यकी है। इसी तरह हिमवान् और शिखरीपर्वतकी लम्बाई आदिक परस्परमें समान है। जितनी हिमवान्की है, उतनी ही शिखरीकी हैं। महाहिमवान् और रुक्मीकी समान है। तथा निषध और नीलकी समान हैं।

भावार्थ—विदेहसे उत्तरकी तरफ जो पर्वत है, उनकी लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण उत्तरके पर्वतोंके समान समझना चाहिये। जिस तरह भरत ऐरावत आदि क्षेत्रोंका प्रमाण परस्परमें समान है, उसी प्रकार दक्षिण उत्तरके वैताढ्य आदि पर्वतोंका आयाम विष्कम्भ अवगाह और उच्छ्राय परस्परमें एक सरीखा समझना चाहिये।

इस प्रकार जम्बूद्वीपके क्षेत्र पर्वतोंका प्रमाण बताकर एक विशेष बातका उल्लेख करते है। ऊपर विदेहक्षेत्रके मध्यमें मेरुका वर्णन किया है। इसी तरह—जम्बद्वीपके समान धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीपके विदेहोंमें भी मेरु हैं। किन्तु जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड और पुष्करार्धका प्रमाण दूना है। अतएव इन दोनों द्वीपोंमें विदेहक्षेत्र दो दो है। और इसी लिये इन चार विदेहोंके मेरु भी चार हैं। किन्तु इन चारोंका प्रमाण जम्बूद्वीपके मेरुके समान नहीं है, कम है। कितना प्रमाण है सो बताते हैं—

भाष्यम्—क्षुद्रमन्दरास्तु चत्वारोऽपि धातकीखण्डकपुष्करार्धका महामन्दरात्पञ्चदशभिर्योजनसहस्रैर्हीनोच्छ्रायाः। षड्भिर्योजनशतैर्धरणितले हीनविष्कम्भाः। तेषां प्रथमं काण्डम् महामन्दरतुल्यम्। द्वितीयं सप्तभिर्हीनं, तृतीयमष्टाभिः। भद्रशालनन्दनवने महामन्दरवत्। ततो अर्धषट् पञ्चाशद्योजनसहस्राणि सौमनसं पञ्चशतं विस्तृतम्। ततोऽष्टाविंशतिसहस्राणि चतुर्नवतिचतुःशतविस्तृतमेव पाण्डकं भवति। उपरि चाधश्च विष्कम्भोऽवगाहश्च तुल्यो महामन्दरेण, चूलिका चेति॥

विष्कम्भकृतेर्दशगुणाया मूलं वृत्तपरिक्षेपः। स विष्कम्भपादाभ्यस्तो गणितम्। इच्छावगाहोनावगाहाभ्यस्तस्य चतुर्गुणस्य मूलं ज्या। ज्याविष्कम्भयोर्वर्गविशेषमूलं विष्कम्भाच्छोध्यं शेषार्धमिषुः। इषुवर्गस्य षड्गुणस्य ज्यावर्गयुतस्य कृतस्य मूलं धनुःकाष्ठम्। ज्यावर्गचतुर्भागयुक्तमिषुवर्गमिषुविभक्तं तत्प्रकृतिवृत्तविष्कम्भः। उदग्धनुःकाष्ठाद्दक्षिणं शोध्यं शेषार्धं बाहुरिति॥ अनेन करणाभ्युपायेन सर्वक्षेत्राणां सर्वपर्वतानामायामविष्कम्भज्येषुधनुःकाष्ठपरिमाणानि ज्ञातव्यानि॥

अर्थ—धातकीखण्ड और पुष्करार्धसम्बन्धी चारों क्षुद्र मेरुओंकी उँचाईका प्रमाण महामेरुसे पंद्रह हजार योजन कम है। पृथिवीके भीतरका विष्कम्भ छह सौ योजन कम है। चारों मेरुओंका पहला काण्ड महामेरुके प्रथम काण्डके समान है। दूसरा काण्ड सात हजार योजन कम है। तीसरा काण्ड आठ हजार योजन कम है। भद्रशालवन और नन्दनवन महामेरुके समान हैं। नन्दनवनसे साढ़े पचपन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनसवन है, इसकी भी चौड़ाई पाँच सौ योजनकी ही है। सौमनससे अट्ठाईस हजार योजन ऊपर

चलकर पाण्डकवन है । इसकी भी चौड़ाई चार सौ चौरानवे योजनकी ही है । ऊपर और नीचेका विष्कम्भ तथा अवगाह महामेरुके समान है । चारोंकी चूलिकाका प्रमाण भी महामेरुकी चूलिकाके समान ही समझना चाहिये ।

भावार्थ—धातकी खण्डमें दो और पुष्करार्धमें दो इस तरह चार जो मेरु हैं, वे क्षुद्र-मेरु कहे जाते हैं । क्योंकि इनका प्रमाण महामेरु—जम्बूद्वीपके मध्यवर्त्ती सुदर्शनमेरुसे कम है । किन्तु चारोंका प्रमाण परस्परमें समान है । महामेरुसे इनके किस किस भागका प्रमाण कितना कितना कम है, अथवा समान है, सो ऊपर बताया है । अर्थात् इनकी ऊँचाई ८४ हजार योजन है । पृथिवीतलका विष्कम्भ ९४०० योजन है । चारों मेरुओंके पृथ्वीके भीतरका अवगाह महामेरुके समान एक हजार योजन है[1] । दूसरा काण्डक ५६ हजार योजनका है । तीसरा काण्डक २८ हजार योजनका है । भद्रशालवन और नन्दनवन महामेरुके समान हैं । इन चारों क्षुद्र-मेरुओंके नीचे चारों तरफ पृथ्वीपर महामेरुके समान भद्रशालवन है । उससे पाँचसौ योजन ऊपर चलकर नन्दनवन है । उससे साढ़े छप्पन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनस वन है । उससे २८ हजार योजन ऊपर चलकर पाण्डुकवन है । सौमनसका विस्तार ५०० योजन और पाण्डुकवनका विस्तार ४९४ योजनका है । इसके सिवाय ऊपर नीचे तथा चूलिकाका प्रमाण महामेरुके समान ही समझना चाहिये ।

इस प्रकार क्षुद्र मेरुओंका स्वरूप बताकर अब कुछ गणितके नियमोंका उल्लेख करते हैं जिससे कि द्वीप समुद्रादिककी परिधि जीवा आदिका स्वरूप सुगमतासे और अच्छी तरह समझमें आजाय—

विष्कम्भके वर्गको दशगुणा करके वर्गमूल निकालनेपर गोल क्षेत्रकी परिधिका प्रमाण निकलता है । परिधिका विष्कम्भके चौथाई भागसे गुणा करनेपर गणितपद निकलता है । इस नियमके अनुसार जम्बूद्वीपकी परिधिका प्रमाण और जम्बूद्वीपमें एक एक योजनके चौकोर खण्ड कितने हो सकते है, सो समझमें आसकता है ।

इच्छित अवगाहका जितना प्रमाण हो, उसको विष्कम्भमेंसे घटानेपर पुनः अवगाह प्रमाणसे गुणा करके चौगुणा करना चाहिये, ऐसा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो-उसका वर्गमूल निकालना चाहिये । इससे गोल क्षेत्रकी जीवाका प्रमाण निकलता है । अतएव इस विधिके अनुसार जम्बूद्वीपके मध्यवर्त्ती भरतादिक क्षेत्रोंकी जीवाका प्रमाण कितना है, सो समझमें आ सकता है ।

जीवाका वर्ग और विष्कम्भका वर्ग करके दोनोंकी बाकी निकालनी चाहिये । पुनः बाकीका वर्गमूल निकालकर विष्कम्भके प्रमाणसे शोधन करना चाहिये । जो शेष रहे उसका

१—यही पहला काण्डक है ।

आधा इषुका प्रमाण समझना चाहिये। इस नियमके अनुसार भरतादिक क्षेत्रोंके इषुका प्रमाण निकाल लेना चाहिये।

इषुके वर्गको छहसे गुणा करके ज्याके वर्गमें मिलाना चाहिये, पुनः उसका वर्गमूल निकालनेसे धनुःकाष्ठका प्रमाण निकलता है।

जीवाके वर्गमें चारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उसको इषुके वर्गमें मिलाना चाहिये। पुनः उसमें इषुका भाग देना चाहिये। लब्ध–राशिको वृत्तक्षेत्रका विष्कम्भ समझना चाहिये।

उत्तरके घनुःकाष्ठका जो प्रमाण हो, उसमेंसे दक्षिणके धनुःकाष्ठके प्रमाणको घटा देना चाहिये। जो बाकी रहे उसका आधा बाहुका प्रमाण समझना चाहिये।

इन करण–सूत्रोंके अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्रोंके तथा वैताढ्य आदि समस्त पर्वतोंके आयाम विष्कम्भ इषु ज्या धनुःकाष्ठके प्रमाणको समझ लेना चाहिये[1]।

इस प्रकार जम्बूद्वीपके विषयका वर्णन करके द्वीपान्तरोंका भी वर्णन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विर्धातकी खण्डे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—एते[2] मन्दरवंश[3]वर्षधरा जम्बूद्वीपेऽभिहिता एते द्विगुणाधातकीखण्डे द्वाभ्यामिष्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां विभक्ताः। एभिरेव नामभिर्जम्बूद्वीपकसमसंख्याः पूर्वार्धे चापरार्धे च चक्रार[4]कसंस्थिता निषधसमोच्छ्रायाः कालोदलवणजलस्पर्शिनो वंशधराः सेष्वाकाराः। अरविवरसंस्थिता वंशा इति॥

अर्थ—जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वत क्षेत्र आदिका जो वर्णन किया है, उससे दूना प्रमाण धातकीखण्डमें उन सबका समझना चाहिये। क्योंकि यहाँपर दो इष्वाकार[5]पर्वत पड़े हुए हैं, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे हैं, और जिनके कि निमित्तसे इस धातकीखण्डके दो भाग हो जाते है—पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध। दोनों ही भागोंमें जम्बूद्वीपके समान मेरु[6] आदिक अवस्थित है। जम्बद्वीपमें जो पर्वत और क्षेत्रों आदिके नाम हैं, वे ही नाम यहाँपर भी है। पर्वत और क्षेत्रोंकी संख्या पूर्वार्ध और पश्चिमार्धमेंसे प्रत्येकमें जम्बूद्वीपके समान है।

१—आचार्यने इन करण–सूत्रोंका वर्णन संक्षेपमें ही किया है। क्योकि विस्तारसे लिखनेमें ग्रन्थगौरवका भय है। कुछ विद्वानोंने इस विषयको विस्तृत वनानेके लिये और भी अनेक सूत्रोकी रचना की है। किन्तु उसको शास्त्रनिपुणजन प्राचीन नहीं हैं ऐसा कहते हैं। २–ये एते इति क्वचित्पाठः। ३–मन्दरवर्षवंशधरा इति च पाठः। ४–चक्रारसंस्थिता इति च पाठान्तरम्। ५–इषु–वाणके समान इनका आकार है, इसी लिये इनको इष्वाकार कहते हैं। ६–समानसे मतलब पर्वत क्षेत्र ह्रद नदी आदिकी संज्ञासे है, न कि प्रमाण और संख्या आदिसे। क्योंकि पर्वतादिकोंकी जो संज्ञाएं जम्बूद्वीपमें हैं, वे ही धातकीखण्ड और पुष्करार्धमें हैं। संख्या जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड और पुष्करार्धमें दूनी है। जम्बूद्वीपमें एक भरत है, तो यहाँपर दो दो हैं। इनका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा कई गुणा है। क्योंकि जम्बूद्वीपका विष्कम्भ एक लाख योजन तथा धातकीखडका ४ लाख योजन और सूची १३ लाख योजन है।

धातकीखण्डमें जो पर्वत हैं, वे तो पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दोनों ही भागोंमें गाड़ीके पहियेके अरोंकी तरह अवस्थित हैं। और अरोंकी मध्यवर्त्ती जगहकी तरह क्षेत्र अवस्थित हैं। पर्वतोंकी ऊँचाई निषधगिरिके समान समझनी चाहिये। ये पर्वत एक बाजूमें तो कालोदधि-समुद्रके जलका और दूसरी बाजूमें लवण समुद्रके जलका स्पर्श करनेवाले हैं। क्योंकि धातकी-खण्डके दोनों भागोंमें ये दो समुद्र अवस्थित हैं। तथा इन पर्वतोंके साथ साथ पाँच सौ योजन ऊँचे इष्वाकारपर्वत भी अवस्थित हैं।

भावार्थ—जम्बूद्वीपको घेरे हुए लवण समुद्र है, और लवण समुद्रको घेरे हुए धातकीखण्ड नामका दूसरा द्वीप है। उक्त प्रमाणके अनुसार धातकीखण्डका विष्कम्भ ४ लाख योजनका है। जिस प्रकार जम्बू वृक्षके निमित्तसे पहले द्वीपकी जम्बूद्वीप संज्ञा है, उसी प्रकार धातकी वृक्षके[1] निमित्तसे इस द्वीपकी धातकीखण्ड संज्ञा है। यहाँपर भरतादि क्षेत्रोंकी और हिमव-दादि पर्वतों तथा नदी सरोवरादिकी संख्या जम्बूद्वीपसे दूनी है। जम्बूद्वीपमें एक भरत है, यहाँपर दो हैं, इत्यादि सभी क्षेत्र और पर्वतादिक दूने समझने चाहिये। संज्ञाएं सबकी जम्बूद्वीपके समान ही समझनी चाहिये। धातकीखण्डके ठीक मध्य भागमें किन्तु एक उत्तरमें और दूसरा दक्षिणमें इस तरह दो इष्वाकारपर्वत पड़े हुए है, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे हैं, और इसी लिये लवणसमुद्र तथा कालोदधिसमुद्रका स्पर्श कर रहे है। इसके निमित्तसे ही धातकीखण्डके दो भाग होगये है, एक पूर्वार्ध दूसरा पश्चिमार्ध। दोनों ही भागोंमें भरतक्षेत्रादिकी रचना है। अतएव जम्बूद्वीपकी अपेक्षा यहाँके भरतक्षेत्रादिकका प्रमाण दूना कहा जाता है। धातकीखण्डका आकार गाड़ीके पहियेके समान है, जिसमें कि अरोंकी जगह पर्वत तथा अरोंके मध्यवर्त्ती छिद्रोंकी जगह क्षेत्र हैं। यहाँके वर्षधर पर्वतोंकी ऊँचाई चार सौ योजनकी है[2]।

जिस प्रकारकी रचना धातकीखण्डमें है, ठीक वैसी ही रचना पुष्करार्धमें है। इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पुष्करार्धे च ॥ १३ ॥

भाष्यम्—यश्च धातकीखण्डे मन्दरादीनां सेष्वाकारपर्वतानां संख्याविषयनियमः स एव पुष्करार्धे वेदितव्यः ॥

ततः परं मानुषोत्तरो नाम पर्वतो मानुषलोकपरिक्षेपी सुनगरप्राकारवृत्तः पुष्करवरद्वी-पार्धविनिविष्टः काञ्चनमयः सप्तदशैकविंशतियोजनशतान्युच्छ्रितः चत्वारि त्रिंशानि क्रोशं चाधो धरणीतलमवगाढो योजनसहस्रं द्वाविंशमधस्ताद्विस्तृतः सप्तशतानि त्रयोविंशानि मध्ये चत्वारि चतुर्विंशान्युपरीति ॥

---

१ ये वृक्ष वनस्पतिकाय नहीं हैं, किन्तु पृथ्वीके एक विकार हैं, जोकि इस तरहके वृक्षके आकारमें परिणत हो गये हैं। यह परिणमन अनादि और अकृत्रिम है। इनका विशेष वर्णन तिलोयपण्णत्ति–त्रिलोकप्रज्ञप्ति और त्रिलोकसारादिक ग्रंथोंमें देखना चाहिये। २–क्षेत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण तत्त्वार्थराजवार्तिक आदिसे जानना चाहिये।

न कदाचिदस्मात्परतो जन्मतः संहरणतो वा चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्ता अपि मनुष्या भूतपूर्वा भवन्ति भविष्यन्ति च, अन्यत्र समुद्घातोपपाताभ्याम् । अतएव च मानुषोत्तर इत्युच्यते ॥

तदेवमर्वाङ्मानुषोत्तरस्यार्धतृतीया द्वीपाः समुद्रद्वयं पञ्चमन्दराः पञ्चत्रिंशत्क्षेत्राणि त्रिंशद्वर्षधरपर्वताः पञ्च देवकुरवः पञ्चोत्तराः कुरवः शतं षष्ठ्यधिकं चक्रवर्ति विजयानां द्वेशते पञ्चपञ्चाशदधिके जनपदानामन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशदिति ॥

अर्थ—इष्वाकार पर्वतोंका तथा उनके साथ साथ मेरु आदि पर्वतोंका संख्या विषयक जो नियम धातकीखण्डके विषयमें ऊपर बताया है, वही नियम पुष्करार्धके विषयमें भी समझना चाहिये ।

भावार्थ—धातकीखण्डकी और पुष्करार्धकी रचना समान है । धातकीखंडके ही समान पुष्करार्धमें भी दो इष्वाकारपर्वत हैं, जोकि दक्षिणोत्तर लम्बे और कालोदधि तथा पुष्करवर समुद्रके जलका स्पर्श करनेवाले तथा पाँच सौ योजन ऊँचे हैं । इन्हींके निमित्तसे पुष्करार्धके भी दो भाग हो गये है—पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध । धातकीखंडके समान ही इनमें भी रचना है, अर्थात् यहाँपर भी जम्बूद्वीपकी अपेक्षा क्षेत्रोंकी और पर्वतोंकी संख्या दूनी समझनी चाहिये । जम्बूद्वीपमें एक भरतक्षेत्र है, तो पुष्करार्धमें दो है—एक पूर्व पुष्करार्धमें और दूसरा पश्चिम पुष्करार्धमें । इसी तरह अन्य क्षेत्र तथा पर्वतोंका प्रमाण भी समझ लेना चाहिये । धातकीखण्डके समान यहाँपर भी दो मेरु हैं, जोकि चौरासी चौरासी हजार योजन ऊँचे है, वंशधर पर्वत भी चार चार सौ योजन ऊँचे हैं । यहाँका सभी संख्याविषयक नियम धातकीखण्डके समान है[1] ।

कालोदधिसमुद्रको चारों तरफसे घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है, जिसका कि विष्कम्भ १६ लाख योजनका है । इस द्वीपके ठीक मध्य भागमें मानुषोत्तर नामका एक पर्वत है, जोकि कंकणके समान गोल चारों तरफको सम्पूर्ण दिशाओंमें पड़ा हुआ है । जिस प्रकार बड़े बड़े नगरोंको परकोटा घेरे रहता है, उसी प्रकार मानुषोत्तरपर्वतने मनुष्यक्षेत्रको घेर रक्खा है । यह सुवर्णमय सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊँचा और भूभागमें चार सौ तीस योजन एक कोस प्रविष्ट है । पृथ्वीपर इसका विस्तार एक हजार बाईस योजन और मध्यमें सात सौ तेईस योजन तथा ऊपर चलकर चार सौ चौबीस योजन है । जिस प्रकार धान्यकी राशिको ठीक बीचमेंसे काट देनेपर उसका आकार एक तरफसे सपाट दीवालके समान और दूसरी तरफसे आधी नारङ्गीके समान ढलवाँ होता है, उसी प्रकार मानुषोत्तरपर्वतका आकार समझना चाहिये । मनुष्यक्षेत्रके भीतरकी तरफका आकार सपाट दीवालके समान और बाहरकी तरफका आकार ढलवाँ है । इसके निमित्तसे पुष्करवर द्वीपके दो भाग हो गये है ।

१—पुष्करार्धकी सूची ४५ लाख योजनकी है । अतएव क्षेत्रादिकोंके आयामादिका प्रमाण धातकीखंडसे कई गुणा अधिक है । विवक्षित द्वीप या समुद्रके एक किनारेसे दूसरे किनारे तकके प्रमाणको सूची कहते हैं ।

इस पर्वतका नाम मानुषोत्तर क्यों है ? तो इसका कारण यह है, कि इससे आगे कोई भी मनुष्य गमन नहीं कर सकता । इस पर्वतसे परे आजतक कोई भी मनुष्य न तो उत्पन्न हुआ न होता है और न होगा । संहरणकी अपेक्षा भी मानुषोत्तरके परे कोई मनुष्य नहीं पाया जाता । चारण विद्याधर और ऋद्धि प्राप्त भी मनुष्योंका संहरण नहीं पाया जाता, और न हुआ न होगा । अर्थात् समुद्घात और उपपातकके सिवाय मानुषोत्तरके आगे मनुष्योंका जन्म तथा संहरण नहीं पाया जाता, इसीलिये इसको मानुषोत्तर ऐसा कहते है ।

भावार्थ—हर कर लेजानेको संहरण कहते हैं । कोई भी देव या विद्याधर आदिक वैरानुबन्धसे बदला आदि लेनेके लिये यहाँके मनुष्यको उठाकर इसलिये लेजाते है, कि वह विना प्रतीकारके ही मर जाय । किन्तु इस तरहका संहरण श्रमणी, वेदरहित, परिहारविशुद्धि संयमके धारण करनेवाले, पुलाक, अप्रमत्त, चतुर्दशपूर्वके धारक, और आहारक ऋद्धिके धारण करनेवाले मुनियोंका नहीं हुआ करता । ऐसा आगमका उल्लेख है[१] । अतएव मानुषोत्तरके आगे चारण आदिका गमन निषिद्ध नहीं है, किन्तु उनका संहरण और वहाँपर मरण निषिद्ध है । विशिष्ट तपोबलके माहात्म्यसे जङ्घाचारण या विद्याचारण शक्तिको प्राप्त हुए मुनि चैत्यवन्दनाके लिये नन्दीश्वर आदि द्वीपोंको भी जाया करते है, ऐसा आवश्यकसूत्रोंमें विधान पाया जाता है । इसी प्रकार महाविद्याओंको धारण करनेवाले विद्याधर और वैक्रियिक आदि ऋद्धिके धारक भी मनुष्य वहाँ जाया करते हैं, ऐसा उल्लेख है[२] । अतएव नियम ऐसा ही करना चाहिये, कि चारण आदिक वहाँ जाकर वहींपर प्राणोका परित्याग नहीं करते । साधारण मनुष्य जिनका कि संहरण होता है, मानुषोत्तर तक पहुँचनेके पहले ही मरणको प्राप्त हो जाते है ।

सारांश यही है, कि इसके आगे मनुष्योंका जन्म और संहरण नहीं पाया जाता, सिवाय समुद्घात[३] और उपपातके[४] । समुद्घातकी अपेक्षा मनुष्यक्षेत्रके बाहर भी मनुष्योंका

१—समणीं अवगत वेदं परिहारपुलागमप्पमत्तं च । चोद्दसपुव्विं आहारयं च णवि कोइ संहरइ ॥ श्रमणीमपगतवेदं परिहारं पुलाकमप्रमत्तं च । चतुर्दशपूर्विणमाहारकं च नैव कोपि संहरति ॥ (भग० श० २५ उ० ६ वृत्तो) २—यह वात दिगम्बर–सम्प्रदायमें नहीं मानी है । दिगम्बर–सिद्धान्तके अनुसार मानुषोत्तरसे आगे समुद्घात और उपपातके सिवाय कभी कोई कैसा भी मनुष्य चारण विधाधर आदि भी गमन नहीं कर सकता । ३—समुद्घातका लक्षण पहले वता चुके हैं, कि आत्मप्रदेशोंका शरीरसे सम्बन्ध न छोड़कर बाहर निकलना, इसको समुद्घात कहते हैं । इसके सात भेद है । प्रकृतमें टीकाकारने समुद्घात शब्दसे मारणान्तिक समुद्घातका उल्लेख किया है, परन्तु केवल समुद्घातमें भी मनुष्यक्षेत्रके वाहर आत्मप्रदेश पाये जाते है । किंतु केवल समुद्घातमें मरण नहीं होता, और टीकाकारका अभिप्राय मरणको दिखानेका है । क्योंकि कोई ढाई द्वीपके वाहर जन्म धारण करनेके लिये मारणान्तिक समुद्घातके द्वारा पहुँचकर पीछे वहीं मर जाता है, ऐसा माना है । इस अपेक्षासे मनुष्यक्षेत्रके वाहर भी मनुष्यका मरण सभव है । किन्तु दिगम्बर–सम्प्रदायके अनुसार मारणान्तिक समुद्घातवाला उत्पन्न होनेके प्रदेशोंका स्पर्श करके वापिस आ जाता है, फिर मरण करता है, अतएव वहाँ मरण संभव नहीं किन्तु मनुष्य–पर्यायका संभव है । ४—ढाई द्वीपके वाहरका जीव मरण करके मनुष्यक्षेत्रमें आता है, तब विग्रहगतिमें मनुष्य आयुका उदय रहता है ।

मरण हो सकता है, और उपपातकी अपेक्षा जन्म भी पाया जा सकता है, शेष अवस्थाओंमें नहीं। अतएव इस पर्वतको मानुषोत्तर कहते है।

इस प्रकार मानुषोत्तरपर्वतके पहले ढाई द्वीप, दो समुद्र, पाँच मेरु, पैंतीस क्षेत्र[1], तीस वर्षधर पर्वत, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, एक सौ साठ चक्रवर्तियोंके विजयक्षेत्र[3], दो सौ पचपन जनपद[4], और छप्पन अन्तर द्वीपें है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता मानुषस्य स्वभावमार्दवार्जवत्वं चेति। तत्र के मनुष्याः क्व चेति अत्रोच्यतेः—

अर्थ—इसी ग्रंथमें आगे चलकर आपने कर्मोंके आस्रवके प्रकरणमें कहा है, कि "स्वभावमार्दवार्जवावं च।" अर्थात् स्वभावकी मृदुता और ऋजुता मनुष्यायुके आस्रवका कारण है, और भी मनुष्य शव्दका उल्लेख कई जगहपर किया है। किन्तु यह नहीं वताया कि वे मनुष्य कौन है? और कहाँ रहते है? अतएव इसी बातको दिखानेके लिये आगेका सूत्र कहते है—

सूत्र—प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—प्राग् मानुषोत्तरात्पर्वतात्पञ्चत्रिंशत्सु क्षेत्रेषु सान्तरद्वीपेषु जन्मतो मनुष्या भवन्ति। संहरणविद्यार्द्धियोगात्तु सर्वेष्वर्धतृतीयेषु द्वीपेषु समुद्रद्वये च समन्दराशिखरेष्विति। भारतका हैमवतका इत्येवमादयः क्षेत्रविभागेन। जम्बूद्वीपका लवणका इत्येवमादयो द्वीपसमुद्रविभागेनेति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मानुषोत्तरपर्वतके पूर्वमें—मानुषोत्तरपर्वतकी मर्यादासे घिरे हुए पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विष्कम्भवाले मनुष्यक्षेत्रमें—पैंतीस क्षेत्रोंमें तथा छप्पन अन्तरद्वीपोंमें मनुष्य जन्म धारण किया करते है। संहरण विद्या और ऋद्धिकी अपेक्षासे तो मनुष्योका सन्निधान सर्वत्र—ढाई द्वीपोमें दो समुद्रोंमें तथा मेरुशिखरोपर पाया जाता है। भारतक—भरत क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले और हैमवतक—हैमवतक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि क्षेत्र विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद है। तथा जम्बूद्वीपक—जम्बूद्वीपमें उत्पन्न होनेवाले, लवणक—लवणसमुद्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि द्वीपसमुद्रके विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद है।

भावार्थः—मनुष्य आयु और मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे जो जन्म धारण करते है, उन जीवोंको मनुष्य कहते है। अतएव मनुष्य पर्याय जन्मकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये, न कि किसी अन्य कारणसे। मनुष्यजन्म मानुषोत्तरपर्वतके भीतरके क्षेत्रमें ही होता

१—जम्बूद्वीपके ७ धातकीखंडके १४ पुष्करार्धके १४। २—जम्बूद्वीपके ६, घातकीखण्डके १२, पुष्करार्धके १२। ३—पाँच मेरुओंके आजू बाजूके विदेहक्षेत्रसम्बन्धी लिये हैं। पाँच भरत और पाँच ऐरावतोके जोड़नेसे १७० होते हैं। ४—जनपदसे मतलब आर्यजनपदोंका है। ५—हिमवान् और शिखरीके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ विदिशाओंमें सात सात अन्तरद्वीप हैं, जो मिलकर ५६ होते हैं।

है बाहर नहीं । इस कथनसे मनुष्योंका स्वरूप और अधिकरण क्या है, सो मालूम होता है । परन्तु मनुष्योंके भेद कितने हैं, सो नहीं मालूम होते । इसके लिये कहते हैं, कि उनके भेद अनेक प्रकारसे किये जा सकते है, क्षेत्र–विभागकी अपेक्षासे तथा द्वीपसमुद्र विभागकी अपेक्षासे । इत्यादि । परन्तु जिनमें सभी भेदोंका अन्तर्भाव हो जाय, ऐसे मूलभेद कौनसे हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—आर्या म्लेच्छाश्च[1] ॥ १५ ॥

भाष्यम्—द्विविधा मनुष्या भवन्ति, आर्या, म्लिशश्च । तत्रार्याः षड्विधाः क्षेत्रार्याः जात्यार्याः कुलार्याः कर्मार्याः शिल्पार्याः भाषार्याः इति । तत्र क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाताः । तथा[2] भरतेष्वर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाताः शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु । जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बष्ठाः ज्ञाताः कुरवो बुंबुनाला उग्रा भोगा राजन्या इत्येवमादयः । कुलार्याःकुलकराश्चक्रवर्तिनो वलदेवा वासुदेवा ये चान्ये आतृतीयादा पञ्चमादा सप्तमाद्वा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः । कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रयोगकृषिलिपि-वाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः । शिल्पार्यास्तन्तुवायकुलालनापिततुन्नवायदेवटादयोऽल्पसावद्या अगर्हिताजीवाः । भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियतवर्णं लोकरूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधा-नामप्यार्याणां संव्यवहारं भाषन्ते ॥

अर्थ—मूलमें मनुष्य दो प्रकारके होते हैं–एक आर्य दूसरे म्लेच्छ । आर्य मनुष्योंके छह भेद हैं–क्षेत्रार्य जात्यार्य कुलार्य कर्मार्य शिल्पार्य और भाषार्य । जो पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न होनेवाले हैं, तथा भरतक्षेत्रके साढ़े पच्चीस जनपदोंमें अथवा शेष चक्रवर्तीके विजय स्थानोंमें जो जन्म धारण करनेवाले हैं, उनको क्षेत्रार्य कहते हैं । इक्ष्वाकु विदेह हरि अम्बष्ठ ज्ञात कुरु बुंबुनाल[3] उग्र भोग[4] और राजन्य प्रभृति जातिकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको जात्यार्य कहते है । कुलकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको कुलार्य कहते है, जैसे कि कुलकर चक्रवर्त्ती बलदेव वासु-देव प्रभृति तथा और भी तीसरेसे पाँचवेंसे या सातवेंसे लेकर कुलकरोंके वंशमें जो उत्पन्न हुए हैं, या जो विशुद्ध वंश और प्रकृतिको धारण करनेवाले है, उनको कुलार्य कहते है । जो अनाचार्यक कर्मकी अपेक्षासे आर्य है, उनको कर्मार्य कहते है, जैसे कि यजन याजन अध्ययन अध्यापनका प्रयोग–कर्म करनेवाले तथा कृषि (खेती) लिपि (लेखन) वाणिज्य (व्यापार) की योनिभूत–मूलरूप पोषणवृत्ति–जिससे कि प्रजाका पोषण होता है, करनेवाले हैं, उनको कर्मार्य कहते है । शिल्प–कारीगरीके कर्म करनेकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको शिल्पार्य कहते है । जैसे कि तन्तुवाय (कपड़े बुननेवाले) कुलाल (कुम्भार) नापित (नाई) तुन्नवाय (सूत कातनेवाले) और देवट प्रभृति । शिल्पार्योसे इनका कर्म

१—आर्या म्लिशश्चेत्यपि क्वचित्पठन्ति ॥ २—तद्यथा इति क्वचित्पठन्ति । ३–कहीं बुंवनाल और कहीं बुचनाल भी पाठ है । ४–कहीं भोज शब्द है ।

अल्पसावद्य है, और इसी लिये इनका आजीवन अगर्हित माना गया है। भाषा—शब्द व्यवहारकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको भाषार्य कहते हैं। गणधरादिक शिष्ट—विशिष्ट—सर्वातिशय सम्पन्न व्यक्तियोंके बोलनेकी जो संस्कृत अथवा अर्धमागधी आदि भाषाएं हैं, उनमें अकारादि वर्णोके पूर्वापरीभावसे सन्निवेश करनेके जो विशिष्ट नियम हैं, उनकी जिसमें प्रधानता पाई जाती है, तथा जो लोकमें रूढ—अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, और स्फुट—बाल—भाषाके समान व्यवहारमें अव्यक्त नहीं हैं, ऐसे शब्दोंका जिसमें व्यवहार पाया जाता है, ऐसी उपर्युक्त पाँच प्रकारके आर्य पुरुषोंके बोलनेकी भाषाका जो व्यवहार करते हैं, उनको भाषार्य समझना चाहिये।

भावार्थ—सामान्यतया मनुष्योंके दो भेद हैं।—एक आर्य दूसरे म्लेच्छ। जो गुणोंको धारण करनेवाले हैं, अथवा जो गुणवानोंके आश्रय हैं, उनको आर्य कहते हैं।[1] साढ़े पच्चीस जनपदोंमें जो उत्पन्न होते हैं, वे प्रायःकरके आर्य होते हैं। आर्योंके छह भेद हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। अतएव क्षेत्र जाति कुल कर्म शिल्प और भाषा इनकी अपेक्षासे ज्ञान दर्शन और चारित्रके विषयमें जिनका आचरण और शील शिष्ट लोकोंके द्वारा अभिमत तथा न्याय्य और धर्मसे अविरुद्ध रहा करता है, उनको आर्य कहा है। जिनका आचरण और शील इससे विपरीत है, तथा जिनकी भाषा और चेष्टा अव्यक्त एवं अनियत है, उनको म्लेच्छ समझना चाहिये।[2] इसी बातको खुलासा करते हुए म्लेच्छोंके भेदोंको भी बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—अतो विपरीता म्लिशः। तद्यथा—हिमवतश्चतसृषु[3] विदिक्षु त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतसृणां मनुष्यविजातीनां चत्वारोऽन्तरद्वीपा भवन्ति त्रियोजनशतविष्कम्भायामाः। तद्यथा—एकोरुकाणामाभाषकाणां[4] लाङ्गूलिनां वैषाणिकानां[5]मिति॥ चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा[6] एवान्तरद्वीपाः। तद्यथा—हयकर्णानां गजकर्णानां गोकर्णानां शष्कुलिकर्णानामिति॥ पञ्च[7]शतान्यवगाह्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः। तद्यथा—[8]गजमुखानां व्याघ्रमुखानामादर्शमुखानां गोमुखानामिति॥ षड्योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः। तद्यथा—अश्व-

---

१—गुणैः गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते इत्यार्याः। २—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार जिनमें वर्णाचार पाया जाय, उनको आर्य, और जिनमे वह न पाया जाय, उनको म्लेच्छ कहते हैं। आर्योंके मूलमें दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त, अनृद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्तके सात भेद हैं—बुद्धि तप विक्रिया औषध रस बल और अक्षीण। कहीं कहीं पर आठ भेद भी बताये हैं। इनके उत्तरभेद अनेक हैं। अनृद्धिप्राप्त आर्योंके भी अनेक भेद हैं, किन्तु उनके पाँच भेद मुख्य हैं-क्षेत्रार्य जात्यार्य कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य। आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवालोको क्षेत्रार्य, जिसमें उच्च गोत्रका उदय पाया जाता है, ऐसे विशुद्ध मातृवंशमें उत्पन्न होनेवालोंको जात्यार्य, वर्णाचारके अनुसार आजीविका करनेवालोंको कर्मार्य, संयम धारण करनेवाले अथवा उसके पात्रोंको चारित्रार्य, और सम्यग्दृष्टि मनुष्योंको दर्शनार्य कहते हैं। ३—हिमवतः प्राक् पश्चाच्च चतसृषु इति पाठान्तरम्। ४—आभासिकानाम् इति च पाठः। ५—विषाणिनामिति वा पाठः। ६—चतुर्योजनशतविष्कम्भाः। एवमेव हयकर्णानाम् इति क्वचित्पाठः। ७—पंचयोजनशतानीति पाठान्तरम्। ८—आदर्शमेषहयगजमुखनामानः इति वा पाठः।

मुखानां हस्तिमुखानां सिंहमुखानां व्याघ्रमुखानामिति[1] ॥ सप्तयोजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा[2] एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा—अश्वकर्णसिंहकर्णहस्तिकर्ण कर्णप्रावरणनामानः ॥ अष्टौ योजनशतान्यवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा[3] एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा—उल्कामुखविद्युज्जिह्वमेषमुखविद्युद्दन्तनामानः ॥ नवयोजनशतायामविष्कम्भा[4] एवान्तरद्वीपा भवन्ति । तद्यथा–घनदन्तगूढदन्तविशिष्टदन्तशुद्धदन्तनामानः[5] ॥ एकोरुकाणामेकोरुकद्वीपः । एवं शेषाणामपि स्वनामभिस्तुल्यनामानो वेदितव्याः॥शिखरिणोऽप्येवमेवेत्येवं षट्पञ्चाशदिति॥

अर्थ—ऊपर आर्य पुरुषोंका आचरण और शील बताया जा चुका है। उससे विपरीत आचरण और शील म्लेच्छोंका हुआ करता है। आर्य पुरुषोंके जो क्षेत्र जाति कुल कर्म शिल्प और भाषा ये छह विषय बताये हैं, उनसे अतिरिक्त क्षेत्र जाति आदिको जो धारण करने वाले हैं, उनको म्लेच्छ समझना चाहिये। इनके अनेक भेद हैं,–जैसे कि शक यवन किरात काम्बोज बाल्हीक इत्यादि । इनके सिवाय अन्तरद्वीपोंमें जो रहते हैं, वे म्लेच्छ ही हैं । क्योंकि उनके क्षेत्रादिक उपर्युक्त क्षेत्रादिकोंसे विपरीत ही हैं। अन्तरद्वीप सम्बन्धी म्लेच्छोंका आवास स्थान और आकार आदि इस प्रकारका समझना चाहिये ।—

हिमवान् पर्वतकी पूर्व और पश्चिमकी तरफ चारों विदिशाओंमें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार प्रकारकी मनुष्य जातियाँ जिनमें निवास करती हैं, ऐसे चार अन्तरद्वीप हैं। प्रत्येक अन्तरद्वीपकी चौड़ाई तथा लम्बाई तीन तीन सौ योजनकी है। इन चार अन्तरद्वीपोंके क्रमसे ये चार नाम हैं–एकोरुक आभासिक लाङ्गूलिक और वैषाणिक। एकोरुक द्वीपमें रहनेवाले मनुष्योंका नाम भी एकोरुक है । इसी प्रकार आभासिक आदि अन्तरद्वीपोंके विषयमें तथा दूसरे भी अन्तरद्वीपोंके विषयमें समझना चाहिये, कि द्वीपके नामके अनुसार ही वहाँके रहनेवाले मनुष्योंके भी वैसे ही आभासिक लाङ्गूलिक आदि नाम है, न कि वहाँके मनुष्योंका आकार ही वैसा है[6]। वहाँपर उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सम्पूर्ण अङ्ग और उपाङ्गोंसे पूर्ण तथा सुन्दर देखनेमें अति मनोहर होते हैं। सभी अन्तरद्वीपोंके विषयमें यही बात समझनी चाहिये। इन द्वीपोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य युगल उत्पन्न होते है, और इनकी आयु पल्यके असंख्यातवें भाग होती है, तथा शरीरकी उँचाई आठ सौ धनुषकी होती है।

पूर्वोत्तर दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ ही योजन चौड़ा एकोरुक नामका द्वीप है, और उसमें एकोरुक नामके मनुष्य निवास करते है। दाक्षिण पूर्व दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा

१–अश्वहस्तिसिंहव्याघ्रमुखनामानः । एवं वा क्वचित्पाठः । २–सप्तशतानीति च क्वचित्पाठः । ३–सप्तयोजनशतेति वा पाठः । ४–नवयोजनशतान्यवगाह्य इति चाधिकः पाठः । ५–श्रेष्ठदन्त इति वा पाठः । ६—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार एकोरुक आदि नाम आकृतिकी अपेक्षासे हैं । एक ही टाँग जिनके हो, उनको एकोरुक कहते हैं। इसी तरह हरएक अन्तरद्वीपके मनुष्योंका नाम आकारकी अपेक्षासे अन्वर्थ समझना चाहिये।

और तीन सौ ही योजन चौड़ा आभासिक नामका द्वीप है, उसमें आभासिक नामके मनुष्य निवास करते हैं। दक्षिण पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन समुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा लाङ्गूलिक नामका द्वीप है, जिसमें कि लाङ्गूलिक नामके मनुष्य निवास करते है। उत्तर पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा वैषाणिक नामका द्वीप है, जिसमें कि वैषाणिक नामके मनुष्य निवास करते हैं।

ये पहले अन्तरद्वीप सम्बन्धी चार द्वीप हैं, इसी प्रकार सातवें अन्तरद्वीप तकके चार चार भेदोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात् पूर्वोत्तर दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा हयकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि हयकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। दक्षिण पूर्व दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गजकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि गजकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। दक्षिण पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवण-समुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गोकर्णनामका द्वीप है, जिममें कि गोकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। उत्तर पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा शष्कुलिकर्ण नामका अन्तरद्वीप है, जिसमें कि शष्कुलिकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं।

लवणसमुद्रके भीतर पाँच सौ योजन चलकर पाँच पाँच सौ योजनका जिनका आयाम—विस्तार और विष्कम्भ है, ऐसे चार अन्तरद्वीप है, जोकि उपर्युक्त चार विदिशाओंमें सन्निविष्ट हैं, और जिनके कि क्रमसे गजमुख व्याघ्रमुख आदर्शमुख और गोमुख ये नाम हैं। तथा इनमें क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते है। छह सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले क्रमसे पूर्वोत्तर आदि विदिशाओंमें अश्वमुख हस्तिमुख सिंहमुख और व्याघ्रमुख नामके चार द्वीप है, जिनमें कि क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते है। इसी प्रकार सात सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर क्रमसे पूर्वोत्तरादि विदिशाओंमें सात सात सौ योजन लम्बे चौड़े अश्वकर्ण सिंहकर्ण हस्तिकर्ण कर्णप्रावरण नामके चार अन्तरद्वीप है, जिनमें कि क्रमसे इसी तरहके नामवाले मनुष्योंका निवास है। आठ सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्क-म्भवाले उपर्युक्त चार विदिशाओंमें क्रमसे उल्कामुख विद्युज्जिह्व मेघमुख और विद्युद्दन्त नामके अन्तरद्वीप है, जिनमें कि वैसे ही नामवाले मनुष्य निवास करते हैं। नौसौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले चारों विदिशाओंमें क्रमसे घनदन्त गूढ़दन्त विशिष्टदन्त और शुद्धदन्त नामके चार अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इसी नामवाले मनुष्य निवास करते हैं।

इन अन्तरद्वीपोंका और इनमें रहनेवाले मनुष्योंका नाम समान है। जैसे कि एकोरुक। अर्थात् एकोरुक मनुष्योंका एकोरुक द्वीप है, अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि एकोरुक द्वीपमें रहनेके कारण ही उन मनुष्योंका नाम एकोरुक है। इसी प्रकार आभासिक आदि शेष द्वीपों और उनमें रहनेवाले मनुष्योंके नाममें तुल्यता समझनी चाहिये।

लवणसमुद्रके भीतर तीन सौ योजनसे लेकर नौ सौ योजन भीतर तक चलकर ये सात अन्तरद्वीप हैं, जो कि हिमवान् पर्वतके पूर्व और पश्चिमकी चारों विदिशाओंके मिलाकर अट्ठाईस होते हैं। जिस प्रकार हिमवान् पर्वत सम्बन्धी अट्ठाईस अन्तरद्वीप हैं, उसी प्रकार शिखरीपर्वत सम्बन्धी भी अट्ठाईस है। कुल मिलाकर ५६ अन्तरद्वीप होते हैं[1]। इन सभी द्वीपोंमें रहनेवाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं।

इस प्रकार मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ भेदोंको बताकर मनुष्यक्षेत्रमें कर्मभूमि और अकर्मभूमि नामके जो भेद हैं, वे कौन से हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तर-कुरुभ्यः ॥ १६ ॥

भाष्यम्—मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतविदेहाः पञ्चदश कर्मभूमयो भवन्ति। अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

संसारदुर्गान्तगमकस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य ज्ञातारः कर्त्तारः उपदेष्टारश्च भगवन्तः परमर्षयस्तीर्थकरा अत्रोत्पद्यन्ते। अत्रैव जाताः सिद्ध्यन्ति नान्यत्र। अतो निर्वाणाय कर्मणः सिद्धिभूमयः कर्मभूमय इति। शेषास्तु विंशतिर्वंशाः सान्तरद्वीपा अकर्मभूमयो भवन्ति। देवकुरूत्तरकुरवस्तु कर्मभूम्यभ्यन्तरा अप्यकर्मभूमय इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मनुष्यक्षेत्रमें भरत ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुको छोड़कर बाकीके विदेहक्षेत्र सम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

भावार्थ—पाँच मेरुओंसे अधिष्ठित पैंतालीस लाख योजन लम्बे चौड़े मनुष्यक्षेत्रमें पाँच भरत पाँच ऐरावत और पाँच ही विदेहक्षेत्र हैं। ये ही मिलकर पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहाती हैं। इनके सिवाय जो क्षेत्र है, वे अकर्मभूमि हैं। विदेहमें देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग भी

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें लवणसमुद्र और कालोदसमुद्रके मिलाकर ९६ अन्तरद्वीप माने हैं, और इनके विस्तार आदिमें भी बहुत विशेषता है, जिसका खुलासा, राजवार्तिक और त्रिलोकसार आदिमें देखना चाहिये। यथा—" तथा तद्द्वीपजा म्लेच्छाः परे स्यु. कर्मभूमिजा.। आद्या षण्णवतिः ख्याता वार्धिद्वयतटद्वयोः ॥" (तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक) इनमेंसे जो विजयार्धके अन्तमें रहनेवाले हैं, वे केवल मिट्टी आदि खाकर रहते हैं, और शेषके हिमवान् आदिके अंतमें रहनेवाले फल फूलोंका आहार करनेवाले तथा पल्यप्रमाण आयुके भोक्ता हुआ करते हैं। ये अन्तरद्वीप कहाँ कहाँ हैं, कितने कितने बड़े हैं, और पृथ्वीतलसे कितनी ऊँचाईपर हैं, आदि बातें ग्रन्थान्तरोंसे जाननी चाहिये।

सम्मिलित है, अतएव वह भी कर्मभूमि समझा जा सकता था, इसके लिये ही उनको छोड़कर ऐसा कहा है। क्योंकि देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमि नहीं है, भोगभूमि है।

नारकादि चतुर्गतिरूप संसार अत्यन्त दुर्गम—गहन है, क्योंकि वह अनेक जातियों—योनियोंसे पूर्ण और अति संकटमय है। इसका अन्त—नाश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप जिस मोक्षमार्गके द्वारा हुआ करता है, या हो सकता है, उसके ज्ञाता प्रदर्शक और उपदेष्टा भगवान् तीर्थंकर एवं परमर्षि इन पंद्रह कर्मभूमियोंमें ही उत्पन्न होते है। तथा इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोका क्षय करके मोक्षपदको प्राप्त किया करते हैं, न कि अन्य क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य। इस प्रकारसे ये ही भूमियाँ ऐसी हैं, कि जहाँपर निर्वाणपद—सिद्धिपदको प्राप्त करनेके योग्य कर्म किया जा सकता है। इसी लिये इनको कर्मभूमि कहते है। इनके सिवाय जो भूमियाँ हैं, जिनमें कि बीस क्षेत्र और पूर्वोक्त एकोरुकादिक अन्तरद्वीप अधिष्ठित हैं, वे सब अकर्मभूमि हैं। क्योंकि उनमें तीर्थंकरका जन्म आदि नहीं पाया जाता। देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमिके अभ्यन्तर होनेपर भी कर्मभूमि नहीं है, क्योंकि वहाँपर चारित्रका पालन नहीं हुआ करता।

इस प्रकार मनुष्योंके भेदोंको बताकर उनकी आयुका जघन्य तथा उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नरो नरा मनुष्या मानुषा इत्यनर्थान्तरम्। मनुष्याणां परा स्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि, अपरा अन्तर्मुहूर्तेति।

अर्थ—नृ नर मनुष्य और मानुष ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक है—पर्यायवाची है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन पल्य और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

भावार्थ—मनुष्य आयु और मनुष्य गति नामकर्मके उदयसे जो पर्याय प्राप्त होती है, उस पर्यायसे युक्त जीवको मनुष्य कहते है। पर्यायसम्बन्धी स्वभावोंके अनुसार ऐसे जीवको नृ नर मनुष्य मानुष मर्त्य मनुज आदि अनेक शब्दोंसे कहते हैं। अभेद विवक्षासे सामान्यतया ये सभी पर्यायवाचक शब्द एक मनुष्य पर्यायरूप अर्थके ही वाचक है। जिस मनुष्य आयुकर्मके उदयसे यह पर्याय प्राप्त हुआ करती है, उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यंतकका है। अर्थात् कोई भी मनुष्य अन्तर्मुहूर्तसे पहले मर नहीं सकता, और तीन पल्यसे अधिक जीवित नहीं रह सकता।

१—पल्य उपमामानका एक भेद है। इसका प्रमाण गोम्मटसार कर्मकाण्डकी भूमिकामें देखना चाहिये। पल्यके तीन भेद हैं—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। यह आयुका प्रमाण अद्धापल्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये। २—मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी स्थिति आगे चलकर दो प्रकारकी बताई है—भवस्थिति और कायस्थिति। इनमेंसे तीन पल्यका प्रमाण भवस्थितिका है। कायस्थितिका प्रमाण आगे लिखेंगे।

संसारी प्राणी चार भागोंमें विभक्त हैं–नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देव। इनमेंसे नारकियोंकी उत्कृष्ट जघन्य आयुका प्रमाण बता चुके हैं, देवोंकी आयुका प्रमाण आगेके अध्यायमें बतावेंगे, मनुष्योंकी आयुका प्रमाण इस सूत्रमें बता दिया। अतएव तिर्यञ्चोंकी आयुका प्रमाण बताना बाकी है, उसीको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तिर्यग्योनीनां चे ॥ १८ ॥

भाष्यम्—तिर्यग्योनिजानां चे परापरे स्थिती त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते भवतो यथासंख्यमेव। पृथक्करणं यथासंख्यदोषनिवृत्त्यर्थम्। इतरथा इदमेकमेव सूत्रमभविष्यदुभयत्र चोभे यथासंख्यं स्यातामिति।

अर्थ—तिर्यग् योनिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रमानुसार तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही समझनी चाहिये। दो सूत्र पृथक् पृथक् करनेका प्रयोजन यथासंख्य दोषकी निवृत्ति करता है। क्योंकि यदि ऐसा न किया होता, और दोनों सूत्रोंकी जगह एक ही सूत्र रहता, तो यथासंख्यके नियमानुसार दोनों स्थितियोंका दो जगह बोध हो जाता।

भावार्थ—यथासंख्य प्रकृतमें दो प्रकारका हो सकता है–एक तो उत्कृष्ट और जघन्यका तीनपल्य और अन्तर्मुहूर्तके साथ। दूसरा मनुष्य और तिर्यञ्चोंका उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिके साथ। इनमेंसे पहला यथासंख्य इष्ट है, और दूसरा अनिष्ट। पहला यथासंख्य पृथक् पृथक् दो सूत्र होनेपर ही बन सकता है। यदि दोनोंकी जगह एक सूत्र कर दिया जाय, तो अनिष्ट यथासंख्यका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। जिससे ऐसे अर्थका बोध हो सकता है, कि मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी होती है, और तिर्यञ्चोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है[४]।

भाष्यम्—द्विविधा चैषां मनुष्यतिर्यग्योनिजानां स्थितिः।–भवस्थितिः कायस्थितिश्च। मनुष्याणां यथोक्ते त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते परापरे भवस्थिती। कायस्थितिस्तु परा सप्ताष्टौ वा भवग्रहणानि॥ तिर्यग्योनिजानां च यथोक्ते समासतः परापरे भवस्थिती।

अर्थ—मनुष्यों की तथा तिर्यञ्चोंकी स्थिति दो प्रकारकी है, एक भवस्थिति दूसरी कायस्थिति। ऊपर तीन पल्य तथा अन्तर्मुहूर्तकी क्रमसे उत्कृष्ट तथा जघन्य जो स्थिति बताई है, वह मनुष्यों की भवस्थिति है। अर्थात् मनुष्यभवको धारण करनेवाले जीवकी एक भवमें स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे कम नहीं हो सकती और तीन पल्यसे अधिक नहीं हो सकती। एक

१–तिर्यग्योनिजानां चेत्यपि पाठः। २–तिर्यग्योनीनां चेत्यपि पाठः। ३–यद्येकमेव इति वा पाठः। ४–टीकाकारने लिखा है, कि एक सूत्र कर देनेसे भी कोई क्षति नहीं है। समस्त पदोंका सम्बन्ध हो जानेसे भी इष्ट अर्थका बोध हो सकता है। अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः इस नियमके अनुसार इष्ट अर्थ किया जा सकता है। अथवा इस सूत्रकी रचना आर्ष ही समझनी चाहिये।

मनुष्यपर्यायमें जीवित रहनेका काल इससे कम या ज्यादा नहीं हो सकता, इसको भवस्थिति कहते हैं। निरन्तर उसी भवके धारण करनेकी कालमर्यादाका नाम कायस्थिति है। एक जीव मनुष्य पर्यायको धारण करके आयु पूर्ण होनेपर पुनः मनुष्य हो और फिर भी उसी तरह बार बार यदि मनुष्य भवको ही धारण करता जाय, तो वह निरन्तर कितने मनुष्यके भव ग्रहण कर सकता है, इसके प्रमाणका ही नाम कायस्थिति है। मनुष्योंकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भव ग्रहण करने तकका है। क्योंकि कोटिपूर्वकी आयुवाला मनुष्य पुनः पुनः मरकर यदि कोटिपूर्वकी आयुवाला ही होता जाय, तो वह सात वारसे अधिक नहीं हो सकता। आठवें भवमें देवकुरु अथवा उत्तरकुरुकी भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है, जहाँसे कि मरण करके नियमसे देवपर्याय धारण करनी पड़ती है।

तिर्यञ्च जीवोंकी भी भवस्थितिका प्रमाण मनुष्योंके समान ही समझना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त। संक्षेपसे तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका यही प्रमाण है। विस्तारसे उसका प्रमाण इसप्रकार है।—

भाष्यम्—व्यासतस्तु शुद्धपृथिवीकायस्य परा द्वादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिवीकायस्य द्वाविंशतिः, अप्कायस्य सप्त, वायुकायस्य त्रीणि, तेजःकायस्य त्रीणि रात्रिंदिनानि वनस्पतिकायस्य दश वर्षसहस्राणि। एषां कायस्थितिरसंख्येयाः अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः। वनस्पतिकायस्यानन्ताः। द्वीन्द्रियाणां भवस्थितिर्द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद् रात्रिंदिनानि। चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः। एषां कायस्थितिः संख्येयानि वर्षसहस्राणि। पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः पञ्चविधाः—तद्यथा—मत्स्याः उरगाः परिसर्पाः पक्षिणश्चतुष्पदा इति। तत्र मत्स्यानामुरगाणां भुजगानां च पूर्वकोट्येव। पक्षिणां पल्योपमासंख्येयभागः। चतुष्पदानां त्रीणि पल्योपमानि गर्भजानां स्थितिः। तत्र मत्स्यानां भवस्थितिः पूर्वकोटिस्त्रिपंचाशदुरगाणां द्विचत्वारिंशद् भुजगानां द्विसप्ततिः पक्षिणां स्थलचराणां चतुरशीतिर्वर्षसहस्राणि सम्मूर्छितानां भवस्थितिः। एषां कायस्थितिः सप्ताष्टौ भवग्रहणानि। सर्वेषां मनुष्यतिर्यग्योनिजानां कायस्थितिरप्यपरा अन्तर्मुहूर्तैवेति।

इति तत्त्वार्थाधिगमे लोकप्रज्ञप्तिर्नामा तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

अर्थ—तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका प्रमाण सामान्यतया ऊपर लिखे अनुसार है। विशेषरूपसे यदि जानना हो, तो वह इस प्रकार समझना कि—

शुद्ध पृथिवीकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है। खर पृथिवीकायकी बाईस हजार वर्षकी, जलकायकी सात हजार वर्षकी और वायुकायकी तीन हजार वर्षकी है। अग्निकायकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण तीन रात्रि दिनका है। तथा वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति दश हजार वर्षकी है। इनमेंसे वनस्पतिकायको छोड़कर बाकी जीवोंकी उत्कृष्ट कायस्थितिका प्रमाण असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी है। वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है।

द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है। त्रीन्द्रियोंकी उनंचास रात्रि दिन, और चतुरिन्द्रियोंकी छह महीना है। इनकी उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यात हजार वर्षकी है।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पाँच प्रकारके हैं।—मत्स्य उरग परिसर्प पक्षी और चतुष्पद। इनमेंसे मत्स्य उरग और भुजग (परिसर्प) इनकी उत्कृष्ट भवस्थिति कोटिपूर्व वर्षकी है पक्षियोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग है। गर्भज चतुष्पदोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्यकी है। इसमें मत्स्योंकी भवस्थिति कोटिपूर्व, उरगोंकी त्रपन, भुजगोंकी ब्यालीस, स्थलचर पक्षियोंकी बहत्तर और सम्मूर्छनजीवोंकी भवस्थिति चौरासी हजार वर्षोंकी है। इन सत्रकी कायस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भवग्रहण करने तक है। सम्पूर्ण मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी कायस्थितिका जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यका लोकप्रज्ञप्ति
नामका तीसरा अध्याय समाप्त हुआ

चतुर्थोऽध्यायः ।

अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन ऊपर तीसरे अध्यायमें कर चुके है, किन्तु ऊर्ध्व-लोकका वर्णन अभीतक नहीं किया गया। अतएव उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता है। इसके सिवाय—

भाष्यम्—अत्राह उक्तं भवता "भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति"। तथौदयिकेषु भावेषु, देवगतिरिति। केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। सरागसंयमादयो दैवस्य। नारकसम्मूर्च्छिनोनपुंसकानि न देवाः। तत्र के देवाः? कतिविधा वेति? अत्रोच्यते:-

अर्थ—यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, कि आपने अनेक स्थलोंपर देव शब्दका प्रयोग किया है—जैसे कि "भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम् (अ० १ सूत्र २२)। तथा औदयिक-भावोंका वर्णन करते हुए भी देवगतिका उल्लेख किया है (अ० २ सत्र ६) और "केव-लिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।" (अ० ६ सूत्र १४) इसी प्रकार "सराग संयमादयो देवस्य" एवं "नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि—न देवाः।" इन सूत्रोंमें भी देव शब्दका पाठ किया है। इस प्रकार देव शब्दका पाठ तो अनेक बार किया है, परन्तु अभी तक यह नहीं बताया, कि देव कहते किसको हैं? दूसरा प्रश्न यह भी है, कि उन देवोंके कुछ भेद भी हैं या नहीं?

भावार्थ—जीव तत्त्वके आधारभूत तीन लोकोंमेंसे ऊर्ध्वलोकका वर्णन बाकी है, उसका करना आवश्यक है, इसलिये और अनेक सूत्रोंमें जो देव शब्दका प्रयोग किया है, उसपरसे उक्त दो प्रश्न जो उपस्थित होते हैं, उनका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैं—

सूत्र—देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया भवन्ति। तान्पुरस्ताद्वक्ष्यामः॥

अर्थ—देव चार निकायवाले हैं। चारों निकायोंका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

भावार्थ—सबसे पहला प्रश्न तो यही उपस्थित होता है, कि जब देव अधोलोक और मध्यलोकमें भी रहते हैं, तो ऊर्ध्वलोकको ही देवोंका आवास क्यों कहा जाता है? उत्तर—देवोंके चार निकाय है—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक। भवनवासी अधोलोकमें और व्यंतर तथा ज्योतिषी तिर्यग्लोकमें रहते है, यह ठीक है, परन्तु देवोंमें वैमानिकदेव प्रधान हैं, और उनका निवास ऊर्ध्वलोकमें ही है। अतएव ऊर्ध्वलोकको जिसका कि इस चतुर्थ अध्यायमें वर्णन किया जायगा, देवोंका आवासस्थान कहते हैं।

देव किसको कहते हैं? इसका उत्तर देवशब्दकी निरुक्ति[1]से ही लब्ध हो जाता है।

१—दीव्यन्तीति देवाः।

देव शब्द दिव् धातुसे बना है, जोकि क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति और गति अर्थमें आती है। देवगति नामकर्मके उदयसे जो जीव देवपर्यायको धारण करता है, वह स्वभावसे ही क्रीड़ा करनेमें आसक्त रहा करता है। उसको भूख प्यासकी बाधा नहीं हुआ करती। उसका शरीर रस रक्तादिकसे रहित और दीप्तिशाली हुआ करता है। उनकी गति भी अति शीघ्र और चपल हुआ करती है। इत्यादि अर्थोंके कारण ही उनको देव[1] कहते हैं।

दूसरा प्रश्न उनके भेदोंके विषयमें है। सो उसका उत्तर चतुर्निकाय शब्दके द्वारा स्पष्ट ही है, कि देवोंके चार निकाय हैं। निकाय नाम संघ अथवा जाति या भेद का है। देवोंकी—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक ये चार जातियाँ हैं, अथवा उनके ये चार संघ या भेद हैं। यद्वा निकाय शब्दका अर्थ निवासस्थान भी माना है। चारों प्रकारके देवोंके निवास और उत्पत्तिके स्थान भिन्न भिन्न हैं और वे चार हैं। भवनवासी रत्नप्रभा पृथिवीके ऊपर नीचेके एक एक हजार योजनके भागको छोड़कर शेष भागमें उत्पन्न होते हैं। ऊपर जो एक हजार योजनका भाग छोड़ा है, उसमेंसे ऊपर नीचे सौ सौ योजन छोड़कर मध्यके आठ सौ योजनके भागमें व्यंतर उत्पन्न हुआ करते हैं। ज्योतिषी देव पृथिवीसे ऊपर सात सौ नब्बे योजन चलकर एकसौ दश योजन प्रमाण ऊँचे नभो भागमें जन्म ग्रहण किया करते हैं। वैमानिकदेव मेरुसे ऊपर ऋजुविमानसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यंतके विमानोंमें उत्पन्न हुआ करते[2] है। इस प्रकार उत्पत्तिस्थानके भेदसे देवोंके चार भेद हैं। इनका गमनागमन जन्मस्थानके सिवाय अन्यस्थानोंमें भी हुआ करता है। यहाँपर इतनाही देवोंका स्वरूप और भेदकथन सामान्यसे समझना चाहिये। क्योंकि इसका विशेष वर्णन आगे चलकर करेंगे[3]। यहाँपर इतना और विशेष समझना कि यह ऊर्ध्वलोकका प्रकरण है, अतएव उसके अनुसार देवशब्दसे भावदेव ही यहाँपर विवक्षित हैं[4]।

प्रश्न—देवोंका स्वरूप और उनके चार निकाय आपने बताये; परन्तु देव प्रत्यक्ष—

१—" दीव्वंति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठहिं दिव्वभावेहिं। भासंतादिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा ॥ १५० ॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड) इसके सिवाय देखो भगवतीसूत्र ५८४–" के महालए ण भंते ! लोए पन्नत्ते ? " इत्यादि। और विमानमहत्व प्रज्ञापनामें " के महाल्या णं भते ! विमाणा पण्णता ? " इत्यादि। २—वैमानिकदेवोंका जन्म अपने अपने स्वर्गमें ही होता है, परन्तु उनकी नियोगिनी देवियोंका जन्म पहले दूसरे स्वर्गमें ही होता है। ऊपरके स्वर्गोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले अथवा रहनेवाले देव वहाँसे आकर उन अपनी अपनी नियोगिनी देवियोंको अपने अपने स्थानपर लें जाते हैं। ३—इसी अध्यायमें। ४—भगवतीसूत्रमें (श. १२ उ. ९ सूत्र ४६१) पाँच प्रकारके देव बताये हैं।–भव्य द्रव्यदेव नरदेव धर्मदेव देवाधिदेव और भावदेव। यथा–" कतिविधा णं भते ! देवा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविधा देवा पण्णत्ता तं जहा–भवियदव्वदेवा नरदेवा धम्मदेवा देवाहिदेवा भावदेवाय।" जो मनुष्य या तिर्यंच मरकर देव होनेवाला है, उसको भव्य द्रव्यदेव कहते हैं। चौदह रत्नोंके अधिपति चक्रवर्तियोंको नरदेव कहते हैं। निर्ग्रन्थ साधुओंको धर्मदेव और तीर्थंकर भगवान्‌को देवाधिदेव कहते हैं। जो देवगति नामकर्मके उदयसे देवपर्यायको धारणकर देवायुको भोगनेवाले हैं, उनको भावदेव कहते हैं।

इन्द्रियोंके द्वारा नहीं दीखते । अतएव उनका मूलमें अस्तित्व भी है या नहीं ? अथवा यह कैसे मालूम हो, कि वास्तवमें देवगतिका अस्तित्व है ? उत्तर—देवगतिके एक देशको देखकर शेष भेदोंके अस्तित्वको भी अनुमानसे जाना जा सकता है । चार निकायोंमेंसे ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व प्रत्यक्ष है । इसी बातको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र— तीयः पीतलेश्यः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां देवनिकायानां तृतीयो देवनिकायः पीतलेश्य एव भवति। कश्चासौ ? ज्योतिष्क इति ।

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकाय बताये हैं, उनमेंसे तीसरे देवनिकायके पीतलेश्या ही होती है । उस देवनिकायका नाम है—ज्योतिष्क । अर्थात् चार देवनिकायोंमेंसे तीसरे देवनिकायका नाम ज्योतिष्क है, और वह नियमसे पीतलेश्यावाला ही होता है[1] । चन्द्र सूर्य आदि विमान प्रत्यक्ष दीखते हैं । उनमें रहनेवाले देव ज्योतिष्कदेव कहे जाते है । जिस प्रकार मकानोंको देखकर उनमें रहनेवालोंका अस्तित्व अनुमानसे मालूम हो जाता है । उसी प्रकार उन देवोंका अस्तित्व भी समझ लेना चाहिये, और उन देवोंके सम्बन्धसे दूसरे देवोंका अस्तित्व भी जाना जा सकता है । जैसे कि सेना वन आदिके एकदेशको देखकर शेषका भी ज्ञान हो जाता है ।

ऊपर जो चार निकाय बताये हैं, उनके अन्तरभेदोंको बतानेके लिये सत्र कहते हैं:—

सूत्र—दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते च देवनिकाया यथासङ्ख्यमेवंविकल्पा भवन्ति। तद्यथा-दशविकल्पा भवनवासिनोऽसुरादयो वक्ष्यन्ते । अष्टविकल्पा व्यन्तराः किन्नरादयः । पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः सूर्यादयः । द्वादशविकल्पाः वैमानिका कल्पोपपन्नपर्यन्ताः सौधर्मादिष्विति[2] ॥

अर्थ—ऊपर जिन देवनिकायोंका उल्लेख किया गया है, उनके भेद क्रमसे इस प्रकार हैं:—भवनवासी, इनके असुरकुमार नागकुमार विद्युत्कुमार आदि दश भेद है, जिनका कि वर्णन आगे चलकर करेंगे । व्यन्तर, इनके किन्नर किंपुरुष महोरग आदि आठ भेद है । तीसरे ज्योतिष्क हैं, जिनके कि सूर्य चन्द्र आदि पाँच भेद हैं । वैमानिकदेवोंके बारह भेद हैं, परन्तु ये भेद सौधर्म आदि स्वर्गसे लेकर कल्पोपपन्न पर्यन्त है । आगे नहीं । व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिकदेवोंके इन भेदोंका भी उल्लेख आगे किया जायगा ।

१—यहाँपर लेश्यासे द्रव्यलेश्या समझनी चाहिये, जो कि शरीरके वर्णरूप है । परन्तु यह कथन ठीक समझमें नहीं आता, क्योंकि देवोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये यह सूत्र है । देव प्रत्यक्ष नहीं दीखते हैं, जो दीखते हैं, वे देवोंके विमान हैं, और उनके वर्णको लेश्या कैसे कहा जा सकता है, फिर सभी विमान या देव पीतवर्णके ही नहीं हैं । यदि देवोंका शरीरवर्ण लिया जाय, तो शेप तीन निकायोंके समान ज्योतिष्क भी दीखते नहीं ।

२—सौधर्मादिष्वपीति च पाठान्तरम् ।

भावार्थ—वैमानिकदेव दो प्रकारके हैं, कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जिनमें वक्ष्यमाण इन्द्र सामानिक आदि भेदोंकी कल्पना पाई जाती है, उन स्वर्गोंको कल्प कहते हैं, और उनमें उपपाद–जन्म धारण करनेवाले देवोंका नाम कल्पोपपन्न है। जिनमें वह कल्पना नहीं पाई जाती, उन स्वर्गोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंको कल्पातीत कहते हैं। पहले सौधर्म स्वर्गसे लेकर बारहवें अच्युत स्वर्गतकको कल्प कहते हैं। अतएव इनमें उत्पन्न होने वाले देवोंके बारह भेद हैं। बारह स्वर्गोंके इन्द्र भी बारह ही हैं। अच्युत स्वर्गसे ऊपरके देव दो तरह के हैं–ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरवासी। इन दोनों ही तरहके देवोंको अहमिन्द्र कहते हैं, क्योंकि इनमें इन्द्रादिककी कल्पना नहीं है। सब समान ऐश्वर्यके धारक है। अतएव वे सभी देव अपने अपनेको इन्द्र ही समझते और मानते हैं। प्रकृतमें वैमानिकदेवोंमेंसे अहमिन्द्रोंका ग्रहण अपेक्षित नहीं है। कल्पोपपन्नपर्यन्त ऐसा कहनेसे और बारह भेद दिखानेसे स्पष्ट होता है, कि प्रकृतमें अच्युत स्वर्ग तकके भेद बताना ही आचार्यको अभीष्ट है।

ऊपर कहा जा चुका है, कि बारहवें स्वर्गतक इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, इसलिये उसको कल्प कहते हैं। किंतु वह कल्पना कितने प्रकारकी है, सो अभी तक बताई नहीं, अतएव उसके भेदोंको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति। तद्यथा इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकानि अनीकाधिपतयः प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्बिषिकाश्चेति ॥ तत्रेन्द्राः भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कविमानाधिपतयः ॥ इन्द्रसमानाः सामानिकाः अमात्यपितृगुरूपाध्यायमहत्तरवत् केवलमिन्द्रत्वहीनाः। त्रायस्त्रिंशा मंत्रिपुरोहितस्थानीयाः। पारिषद्याः वयस्यस्थानीयाः। आत्मरक्षाः शिरोरक्षस्था-

---

१–दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके बारह इन्द्र माने हैं। इन इन्द्रोंकी अपेक्षासे ही कल्पोपन्नके बारह भेद माने हैं। यथा–सौधर्मादि चार स्वर्गोंके चार इन्द्र, पाँचवें छट्ठेका एक, सातवें आठवेंका एक, नौवें दशवेंका एक ग्यारहवें बारहवेंका एक, और तेरहवेंसे सोलहवें तकके चार इन्द्र हैं। इनके नाम राजवार्तिकमें देखना चाहिये। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अच्युत पर्यन्त बारह स्वर्ग और उनके बारह ही इन्द्र माने हैं। किन्तु सिद्धसेन गणीने इन्द्रोंके दश भेद ही गिनाये हैं, जैसा कि अध्याय ४ सूत्र ६ की टीकासे मालूम होता है। २–इस कथनसे नव ग्रैवेयक और नव अनुदिश दोनोंका ही ग्रहण करना चाहिये। ३–विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच विमानोंको अनुत्तर कहते हैं। ४–अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोस्तीत्यात्तकत्थनाः। अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि दिवौकस॰ ॥ श्रीजिनसेनाचार्य–महापुराण ५–“ अधिवासवाची चायं कल्पशब्द॰। अन्तेपरिगताः पर्यन्ताः। कल्पोपपन्ना॰ (कल्पेषूपन्नाः) पर्यन्ता येषा त इमे। कल्पाश्च द्वादश वक्ष्यमाणाः सौधर्मादयोऽच्युतपर्यवसानाः। तत्पर्यन्तमेतच्चतुष्टयं भवतीति ॥ ६—सूत्रमें केवल अनीक शब्द ही पड़ा है, न कि अनीकाधिपति। अतएव भाष्यकारने अनीक शब्दका ही अर्थ अनीकाधिपति है। ऐसा समझानेके लिये खुलासा किया है। अन्यथा दशकी सख्या विघटित हो जायगी।

नीयाः । लोकपाला आरक्षिकार्थचरस्थानीयाः । अनीकाधिपतयो दण्डनायकस्थानीयाः अनीकान्यनीकस्थानीयान्येव । प्रकीर्णकाः पौरजनपदस्थानीयाः । आभियोग्याः दासस्थानीयाः । किल्विषिका अन्तस्थस्थानीया इति ॥

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकाय बताये हैं, उनमेंसे प्रत्येक निकायमें देवोंके दश भेद हुआ करते हैं । अर्थात् चारों निकायोंके देवोंमें दश दश प्रकार हैं[1]। वे दश प्रकार कौनसे हैं सो बताते हैं ।—इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद्य आत्मरक्ष लोकपाल अनीक—अनीकाधिपति प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्बिषिक ।

भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक इन चारों निकायोंके देवोंमें जो सब देवोंके—अपने अपने निकायवर्त्ती समस्त देवोंके अधिपति—स्वामी हैं, उनको इन्द्र कहते है । अमात्य पिता गुरु उपाध्याय आदिके समान जो महान् है, जिनमें केवल इन्द्रत्व तो नहीं है—आज्ञा करनेकी योग्यता या अधिकार तो जिनमें नहीं पाया जाता, परन्तु जिनका ऐश्वर्य सब इन्द्रके ही समान होता है, उन देवोंको सामानिक कहते है । राज्यमें मन्त्री और पुरोहित जिस प्रकार हुआ करते हैं, उसी प्रकार जो देव उनके समान स्थानपर नियुक्त हैं, उनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं[2]। जो मित्रके समान हैं, अथवा सभासदोंके स्थानापन्न हैं, उनको पारिषद्य कहते हैं, । जो हथियार लिये हुए पीठकी तरफ रक्षाके लिये खड़े रहते और स्वामीकी सेवामें सन्नद्ध रहा करते हैं, ऐसे अङ्गरक्षकोंके समान जो देव होते हैं, उनको आत्मरक्ष कहते हैं । जो चोर आदिसे रक्षा करनेवाले कोतवालके समान हैं, उनको लोकपाल कहते हैं । जो सेनापतिके समान हैं, उनको अनीकाधिपति कहते हैं[3] । जो नगरनिवासीके समान हैं—प्रजाके स्थानापन्न हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं । जो नौकरोंके समान हैं, उनको आभियोग्य कहते हैं । नगर बाह्य रहनेवाले चाण्डालादिके जो समान हैं, उनको किल्विषिक कहते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार मर्त्यलोकमें राज्यकी विभूति और उसके अंग हुआ करते हैं, उसी प्रकारकी रचना देवोंमें भी है । इन्द्र राजाके स्थानापन्न है, सामानिक अमात्य और पिता तथा गुरु आदिके स्थानापन्न हैं । इसी प्रकार ऊपर लिखे अनुसार दशों भेदोंके विषयमें समझना चाहिये[4] ।

१—यह सामान्य कथन है । इसका विशेष अपवादरूप कथन आगेके सूत्रमें करेंगे, कि व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें आठ ही भेद हैं। २—ये एक एक इन्द्रके प्रति संख्यामें ३३ ही होते हैं । अतएव इनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं ।

३—अनीक शब्द सूत्रमें आया है, उसीका अर्थ 'अनीकाधिपति है । अन्यथा दो शब्द माननेपर दशकी संख्या नहीं रह सकती है, ऐसा पहले बता चुके हैं । अतएव स्पष्ट बोध करानेके लिये ही भाष्यकारने एक अनीकाधिपति शब्दकी ही व्याख्या की है । ४—यद्यपि स्वर्गोंमें यहाँके समान चोरी करनेवाले अथवा युद्धादि करनेवाले शत्रु आदि नहीं है, तो भी यह केवल पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुई, ऋद्धि विशेषके वैभव और उसके महत्वको प्रकट करता है । जैसे कि किसी महान् पुण्याधिकारी राजाके राज्यमें कभी किसी भी प्रकारका कोई भी उपद्रव नहीं होता, तो भी उसके राज्यमें राज्यके सम्पूर्ण अंग रहते ही हैं, और उनके रहनेको केवल पुण्यजनित वैभव ही कहा जा सकता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अतएव इस वैभवका फल स्थितिका रक्षण और पालन तथा प्रकृष्ट प्रीतिका उत्पन्न करना आदि समझना चाहिये ।

ऊपरके कथनसे देवोंके चारों ही निकायोंमें यह दशविध कल्पना है—सभी निकायोंमें ये दश प्रकारके देव रहते हैं, ऐसा समझमें आता है। क्योंकि ऊपर जो कथन किया है, वह सामान्य है, उसमें अभीतक कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है। अतएव उसमें जो विशेषता है, उसको बताते हैं—

सूत्र—त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—व्यन्तरा ज्योतिष्काश्चाष्टविधा भवन्ति त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या इति ॥

अर्थ—चार निकायोंमेंसे व्यन्तर तथा ज्योतिष्क निकायमें आठ प्रकारके ही देव रहा करते हैं। उनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं हुआ करते।

भावार्थ—इन्द्र सामानिक आदिके भेदसे देवोंके जो दश प्रकार बताये हैं, वे दशों प्रकार भवनवासी और वैमानिक देवोंमें ही पाये जाते है। व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें नहीं। अतएव उनमें देवोंके आठ ही भेद हुआ करते हैं।

इन्द्र आदि दश भेद जो बताये हैं, उनमें और कोई विशेषता नहीं बताई है, अतएव कोई समझ सकता है, कि चार निकायोंके चार ही इन्द्र हैं, इसी प्रकार और भी अनिष्ट अर्थका प्रसङ्ग आ सकता है। अतएव उक्त निकायोंमें इन्द्रोंकी कल्पना किस प्रकारसे है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्देवनिकाययोर्भवनवासिव्यन्तरयोर्देवविकल्पानां द्वौ द्वाविन्द्रौ भवतः। तद्यथा—भवनवासिषु तावद्द्वौ असुरकुमाराणामिन्द्रौ भवतश्चमरो बलिश्च। नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च। विद्युत्कुमाराणां हरिर्हरिसहश्च। सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुदारी च। अग्निकुमाराणामग्निशिखोऽग्निमाणवश्च। वातकुमाराणां वेलम्बः प्रभञ्जनश्च। स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च। उदधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च। द्वीपकुमाराणां पूर्णोऽवशिष्टश्च। दिक्कुमाराणाममितोऽमितवाहनश्चेति ॥

व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च। किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च। महोरगाणामतिकायो महाकायश्च। गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च। यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च। राक्षसानां भीमो महाभीमश्च। भूतानां प्रतिरूपोऽतिरूपश्च। पिशाचानां कालो महाकालश्चेति ॥ ज्योतिष्काणां तु बहवः सूर्याश्चन्द्रमसश्च। वैमानिकानामेकैक एव। तद्यथा-सौधर्मे शक्रः ऐशाने ईशानः, सनत्कुमारे सनत्कुमारः इति। एवं सर्वकल्पेषु स्वकल्पाह्वाः परतस्त्विन्द्रादयो दश विशेषा न सन्ति, सर्व एव स्वतन्त्रा इति॥

अर्थ—उपर्युक्त चार निकायोंमेंसे पहले दो देवनिकायोंमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरोंमें जितने देवोंके विकल्प हैं, उन सभीमें दो दो इन्द्र हुआ करते है। उनके नाम इस प्रकार है—भवनवासियोंके असुरकुमार आदि दशभेद हैं; जिनमेंसे

असुरकुमारोंके चमर और बलि ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारोंके धरण और भूतानंद, विद्युत्कुमारोंके हरि और हरिहस, सुपर्ण कुमारोंके वेणुदेव और वेणुदारी, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारोंके वेलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और अवशिष्ट, तथा दिक्कुमारोंके अमित और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं।

व्यन्तरनिकायके आठ भेद हैं–उनमें भी इसी प्रकार प्रत्येक भेदके दो दो इन्द्र समझने चाहिये। उनके नाम इस प्रकार हैं–किन्नरोंके किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयशाः, यक्षोंके पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, भूतोंके प्रतिरूप और अतिरूप, एवं पिशाचोंके काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं।

ज्योतिष्क निकायमें सूर्य और चन्द्रमा ये दो[1] इन्द्र हैं। किन्तु ये सूर्य और चन्द्रमा एक एक ही नहीं किन्तु बहुत हैं। क्योंकि द्वीप समुद्रोंका प्रमाण असंख्य है और प्रत्येक द्वीप या समुद्रमें अनेक[2] सूर्य तथा चन्द्रमा पाये जाते है। अतएव सूर्य और चन्द्रमा भी असंख्य हैं।

वैमानिकदेवोंमें एक एक ही इन्द्र है।–यथा–सौधर्म स्वर्गके इन्द्रका नाम शक्र है, इसी प्रकार ऐशान स्वर्गके इन्द्रका नाम ईशान और सानत्कुमार स्वर्गके इन्द्रका नाम सनत्कुमार है। इसी प्रकार हरएक कल्पमें समझना चाहिये। उन इन्द्रोंके नाम कल्पोंके नामके अनुसार ही हैं। बारहवें अच्युत स्वर्ग तक कल्प कहा जाता है। इसलिये वहीं तक यह इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, उसके आगे देवोंके सामानिक आदि विशेष भेद नहीं है। वहाँके सभी देव स्वतन्त्र हैं। उनको अहमिन्द्र कहते हैं। वे गमनागमनसे रहित हैं।

इस प्रकार पहली दोनों निकायोंके इन्द्रोंका वर्णन करके उनकी लेश्याओंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पीतान्तलेश्याः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्निकाययोर्देवानां पीतान्ताश्चतस्रोलेश्या भवन्ति।

अर्थ—पहले दोनों निकायोंके देवोंके पीतपर्यन्त चार लेश्याएं होती है।

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें इन दोनोंमें से चन्द्रमाको प्रधान माना है। चन्द्रको इन्द्र और सूर्यको प्रतीन्द्र कहते हैं। सौ इन्द्रोंकी गणनामें इन्द्र और प्रतीन्द्र दोनों ही लिये जाते हैं। २—जम्बूद्वीप दोय लवणाम्बुधिमें चार चन्द, धातखण्ड बारह कालोदधि व्यालीस हैं, पुस्करके दोय भाग ईधर बहत्तरह इत्यादि (चर्चाशतक) ३—माहे-न्द्रमें माहेन्द्र, ब्रह्मलोकमें ब्रह्म, लान्तवमें लान्तक, महाशुक्रमें महाशुक्र, सहस्रारमें सहस्रार, आनत और प्राणन दोनों कल्पोंका प्राणत नामका एक ही इन्द्र है। इसी प्रकार आरण और अच्युतकल्पोंका एक अच्युत नामका ही इन्द्र है। इस प्रकार बारह स्वर्गोंके दश ही इन्द्र हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके बारह इन्द्र माने हैं।

भावार्थ—यहाँपर लेश्यासे अभिप्राय द्रव्यलेश्याका है। अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरनिकायके देवोंके शरीरका वर्ण कृष्ण नील कापोत और पीत इन चार लेश्याओंमेंसे किसी भी एक लेश्यारूप हो सकता है। भावलेश्याके विषयमें कोई नियम नहीं है। दोनों निकायके देवोंके छहों भावलेश्या हो सकती है।

उक्त चारों निकायके देव तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। एक तो वे कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है, दूसरे वे कि जिनके देवियाँ तो नहीं हैं, परन्तु प्रवीचार पाया जाता है। तीसरे वे कि जिनके न देवियाँ हैं और न प्रवीचार ही है। इनमेंसे वे देव कौनसे हैं, कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है? उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—कायप्रवीचारा आ ऐशानात्॥ ८॥

भाष्यम्—भवनवास्यादयो देवा आ ऐशानात् कायप्रवीचारा भवन्ति। कायेन प्रवीचार एषामिति कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम्। ते हि संक्लिष्टकर्माणो मनुष्यवन्मैथुन सुखमनुप्रलीयमानास्तीव्रानुशयाः कायसंक्लेशजं सर्वाङ्गीणं स्पर्शसुखमवाप्य प्रीतिमुपलभन्त इति॥

अर्थ—काय नाम शरीरका है, और प्रवीचार नाम मैथुन सेवनका है। शरीरके द्वारा स्त्रीसम्भोग आदि जो मैथुन सेवन किया जाता है, उसको कायप्रवीचार कहते है। भवनवासियोंसे लेकर ऐशान स्वर्गतकके देव कायप्रवीचार हैं। वे शरीर द्वारा ही मैथुन विषयका सेवन करते है। उनके कर्म अतिक्लेशयुक्त है, वे मैथुन सेवनमें अति अनुरक्त रहनेवाले और उसका पुनः सेवन करनेवाले हैं, मैथुनसंज्ञाके उनके परिणाम अतिशय तीव्र रहा करते है। अतएव वे शरीरके संक्लेशसे उत्पन्न हुए और सर्वाङ्गीण स्पर्श सुखको मनुष्योंकी तरह पाकरके ही वे प्रीतिको प्राप्त हुआ करते हैं।

भावार्थ—यहॉपर आङ्का मर्यादा अर्थ न करके अभिविधि अर्थ माना है। अतएव ऐशान स्वर्गसे पहले पहले ऐसा अर्थ न करके ऐशानपर्यन्त ऐसा अर्थ करना चाहिये। दूसरी बात यह है, कि उपर्युक्त कथनके अनुसार इस सूत्रमें दो बातें बतानी चाहिये। एक तो देवियोंका अस्तित्व और दूसरा प्रवीचारका सद्भाव। कायप्रवीचार शब्दके द्वारा ऐशान पर्यन्त—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंके प्रवीचार किस तरहका होता है, सो तो बता दिया। परन्तु देवियोंके अस्तित्वके विषयमें यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया है। सो वह "व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः" इस सिद्धान्तके अनुसार आगमके व्याख्यानसे समझ लेना चाहिये। आगममे लिखा है, कि भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान

कल्पमें ही देवियाँ जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ करती हैं, इसके आगे नहीं। अतएव जन्मकी अपेक्षा देवियोंका अस्तित्व ऐशान कल्पपर्यन्त ही समझना चाहिये।

दूसरे प्रकारके देव वे बताये है, जिनके कि देवियोंका सद्भाव तो नहीं है, परन्तु प्रवीचारकी सत्ता पाई जाती है। उनके मैथुन सेवन किस प्रकारसे हुआ करता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है:—

सूत्रम्—शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—ऐशानादूर्ध्वं शेषाः कल्पोपपन्ना देवा द्वयोर्द्वयोः कल्पयोः स्पर्शरूपशब्दमनः-प्रवीचारा भवन्ति यथासङ्ख्यम्। तद्यथा सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवान् मैथुनसुखप्रेप्सूनुत्पन्नास्थान् विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते। ताः स्पृष्ट्वैव च ते प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति। तथा ब्रह्मलोकलान्तकयोर्देवान् एवंभूतोत्पन्नास्थान् विदित्वा देव्यो दिव्यानि स्वभावभास्वराणि सर्वाङ्गमनोहराणि शृङ्गारोदाराभिजाताकारविलासान्युज्ज्वलचारुवेषाभरणानि स्वानि रूपाणि दर्शयन्ति। तानि दृष्ट्वैव ते प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति॥ तथा महाशुक्र-सहस्रारयोर्देवानुत्पन्नप्रवीचारास्थान् विदित्वा देव्यः श्रुतिविषयसुखानत्यन्तमनोहरान्शृङ्गारोदाराभिजातविलासाभिलाषच्छेदतलतालाभरणरवमिश्रान् हसितकथितनीतशब्दानुदीरयन्ति। तान् श्रुत्वैव प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति। आनत प्राणतारणाच्युतकल्पवासिनो देवाः प्रवीचारायोत्पन्नास्थाः देवीः संकल्पयन्ति। संकल्पमात्रेणैव च ते परां प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति॥ एभिश्च प्रवीचारैः परतः परतः प्रीति प्रकर्षविशेषोऽनुपमगुणो भवति, प्रवीचारिणामल्पसङ्क्लेशत्वात्। स्थितिप्रभावादिभिरधिका इति वक्ष्यते। (अ० ४ सूत्र २१)

अर्थ—कल्पोपपन्न देवोंमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंको छोड़कर बाकीके जो देव हैं, वे यहाँपर शेष शब्दसे कहे गये हैं। इन देवोंमें दो दो कल्पके देवोंके क्रमसे स्पर्श रूप शब्द और मनके द्वारा प्रवीचार हुआ करता है। वह किस प्रकारसे होता है सो बताते है—

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उन देवोंके जब मैथुन सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको वैसा जानकर उनके निकट आकर उपस्थित होती है। वे देव उन आई हुई देवियोंका केवल स्पर्श करके ही प्रीतिको प्राप्त हो जाते है, और उनकी वह कामवासनाकी आशा उसीसे निवृत्त हो जाती है।

इसी प्रकार ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पवासी देवोंके जब मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है, तब उनको वैसा—मैथुन सुखके लिये आशावान् जानकर उनकी नियोगिनी देवियाँ उनके निकट आकर उपस्थित होती है, और वे उन्हें अपने ऐसे रूप दिखाती है। जो कि दिव्य और स्वभावसे ही भास्वर—प्रकाशमान तथा सर्वाङ्गमें मनोहर है, जो शृङ्गार-सम्बन्धी उदार और अभिजात—उत्तम कुलके योग्य कहे और माने जा सकनेवाले आकार

१—"यस्माद् भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्क सौधर्मैशानकल्पेषु जन्मनोत्पद्यन्ते देव्यः, न परत इति" (सिद्धसेन गणी)

तथा विलाससे युक्त हैं, एवं जिनमें उज्ज्वल और मनोज्ञ वेष—वस्त्रपरिधान—पोशाक तथा आभ-रण पाये जाते हैं। उन देवियोंके ऐसे मनोहर और सुन्दर शृङ्गार तथा वेष भूषासे युक्त रूपोंको देखकर ही वे देव प्रीतिको प्राप्त होजाते हैं, और इतने—देखने मात्रसे ही उनकी वह-कामकी आशा भी निवृत्त हो जाती है।

इसी तरह महाशुक्र और सहस्रार कल्पके देवोंके जब प्रवीचारकी आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको वैसा—काम सुखका अभिलाषी जानकर उनके निकट आती हैं, और ऐसे शब्दोंका उच्चारण करती है, कि जो श्रवण विषयके सुखको देनेवाले और अत्यन्त मनोहर हैं, जिनमें शृङ्गारका उदार और उच्च कुलके योग्य विलास अभिलाप छेद तल ताल और आभरणोंका शब्द मिला हुआ है। एवं जो कभी हास्यके विषयको लेकर और कभी कथोपकथनके सम्बन्धको लेकर तथा कभी गायनके प्रकरणको लेकर प्रवृत्त हुआ करते हैं। उन देवियोंके उन इच्छाके अनुरूप शब्दोंको सुनते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं और उनकी वह आशा भी उसीसे निवृत्त हो जाती है।

इसी तरह आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पवर्ती देव जिस समय प्रवीचारका विचार ही करते है, और देवियोंका संकल्प करते है, उसी समय—उस संकल्पके करते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं, और उस संकल्प मात्रसे ही उनकी वह आशा निवृत्त हो जाती है।

इन प्रवीचारोंके कारण आगे आगेके- ऊपर ऊपरके कल्पोंमें रहनेवाले देव अधिकाधिक विशेष प्रीतिको धारण करनेवाले हैं, और उनकी यह प्रीति उत्तरोत्तर अनुपम महत्वको रखने-वाली है। क्योंकि ऊपर ऊपरके उन प्रवीचार करनेवाले देवोंमें प्रवीचारके संकल्परूप परिणाम अल्प—मन्द मन्दतर हुआ करते हैं। परन्तु वे स्थिति और प्रभावकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक हैं, जैसा कि आगे चलकर लिखा जायगा[1]।

भावार्थ—ऊपर जो तीन[2] प्रकारके देव बताये है, उनमेंसे यह उन देवोंके स्वरूपका वर्णन है, जो कि अदेवीक और सप्रवीचार हैं। यह बात भी ऊपर लिखी जा चुकी है, कि कल्पवासिनी देवियाँ जन्मके द्वारा सौधर्म और ऐशान कल्पमें ही उत्पन्न हुआ करती हैं। ऊपरके कल्पोंमें वे उत्पन्न नहीं हुआ करतीं। अतएव उन देवोंको अदेवीक माना है। किन्तु उनमें प्रवीचार पाया जाता है। उन देवोंको मैथुनकी इच्छा होते ही उनकी-नियोगिनी देवियाँ उनके पास सौधर्म ऐशान कल्पसे आकर उपस्थित हो जाती हैं। उपस्थित होनेवाली

१—अध्याय ४ सूत्र २१। २—सदेवीक सप्रवीचार, अदेवीक सप्रवीचार, अदेवीक अप्रवीचार। दूसरे प्रका-रको अदेवीक कहनेका यह अभिप्राय नहीं है, कि उनके देवियाँ ही नहीं हैं। किन्तु तात्पर्य यह है कि वे मनुष्योंके समान अथवा ऐशान पर्यन्त देवोंके समान कायसे क्रीड़ा करनेवाले नहीं हैं, और उनके नियोगिनी—परिग्रहीता देविया नहीं हैं। अतएव अदेवीक शब्दमे देवियोंके निषेधका पर्युदास रूप अर्थ करना चाहिये।

जो देवियाँ हुआ करती है, उनको अपरिग्रहीत वेश्याओंके स्थानापन्न माना है, और उन्हें अप्सरा कहते हैं। उनकी स्थिति आदिका विशेष वर्णन टीका-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये, जिससे यह मालूम हो सकता है, कि सौधर्म ऐशानमेंसे किस कल्पमें उत्पन्न होनेवाली और कितनी स्थितिवाली देवियाँ किस कल्पवासीके उपभोग योग्य हुआ करती हैं।

सानत्कुमारसे अच्युत कल्प पर्यन्त देवोंके प्रवीचारका सद्भाव जो बताया है, वह मनुष्योंके समान शारीरिक नहीं है। किंतु वह क्रमसे चार प्रकारका है—स्पार्शन दार्शनिक शाब्दिक और मानसिक। इनमेंसे किस किस कल्पमें कौन कौनसा प्रवीचार पाया जाता है, सो ऊपर बताया जा चुका है।

केवल स्पर्शमात्रसे अथवा देखने मात्रसे या शब्दमात्रसे या शब्दमात्रको सुनकर यद्वा मनके संकल्पमात्रसे जो प्रवीचार हुआ करता है, उनमें उत्तरोत्तर सुखकी मात्रा कम होगी, ऐसी उन लोगोंको शंका हो सकती है, जो कि मनुष्योंके समान काय सम्भोगके द्वारा रेतःस्खलनमें ही मैथुन सुखका अनुभव करनेवाले हैं। परन्तु यह बात नहीं है, उन उत्तरोत्तर कल्पवासीदेवोंमें सुखकी मात्रा अधिकाधिक है, क्योंकि प्रवीचार वास्तवमें सुख नहीं है, वह एक प्रकारकी वेदना है। वह जहाँ जहाँपर जितने जितने प्रमाणमें कम हो, सुखकी मात्रा वहाँ वहाँपर उतने उतने ही प्रमाणमें अधिकाधिक समझनी चाहिये। जो कल्पातीत हैं, वे सर्वथा अप्रवीचार होनेसे मानसिक प्रवीचार करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिक सुखी हैं। जैसा कि आगेके सूत्रसे मालूम होगा।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके प्रवीचारका वर्णन पहले कर चुके हैं। और उसके बादका सानत्कुमार कल्पसे लेकर अच्युत कल्पतकके प्रवीचारका इस सूत्रमें वर्णन किया है।

क्रमानुसार अदेवीक और अप्रवीचार देवोंका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

भाष्यम्—कल्पोपपन्नेभ्यः परे देवा अप्रवीचारा भवन्ति। अल्पसंक्लेशत्वात् स्वस्थाः शीतीभूताः। पञ्चविधप्रवीचारोद्भवादपि प्रीतिविशेषादपरिमितगुणप्रीतिप्रकर्षाः परमसुखतृप्ता एव भवन्ति॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें वैमानिक देवोंमेंसे कल्पोपन्न देवोंके प्रवीचारका वर्णन किया गया है, उससे आगेके—नव ग्रैवेयक नव अनुदिश और विजयादिक पाँच अनुत्तरवासी देव यहाँपर पर शब्दसे लिये हैं। ये देव प्रवीचारसे सर्वथा रहित माने हैं। इनके संक्लेश परिणाम अत्यल्प है—मैथुन संज्ञाके परिणाम इनके नहीं हुआ करते, अतएव ये स्वस्थ है—आत्मसमाधिसे उत्पन्न हुए अनुपम सुखका ही ये उपभोग किया करते है, इनका मोहनीय कर्म अत्यंत कृश हो जाता है, इनके क्रोधादि कषाय भी अति मंद रहते हैं, अतएव इनको शीतीभूत

माना है । पाँचें प्रकारके प्रवीचारसे उत्पन्न होनेवाली प्रीति विशेषसे भी इनकी प्रीतिके प्रकर्षका महत्व अपरिमित है । अतएव ये परमसुखके द्वारा सदा तृप्त ही रहा करते हैं ।

भावार्थ—प्रवीचारकी गंधसे सर्वथा रहित होनेके कारण कल्पातीत देव आत्मसमुत्थ अनुपम सुखका अनुभव करनेवाले हैं । रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द ये पाँच मनोहर विषय प्रवीचारके कारण हैं । इन पाँचोंके समुदायसे जो सुखानुभव हो सकता है, उससे भी अपरिमित-गुणा प्रीतिविशेष—प्रमोद—आत्मिक सुख इन देवोंके रहा करता है । उनके सुखके समान सुख अन्यत्र संसारमें कहीं भी नहीं मिल सकता । अतएव वे जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त निरंतर सुखी ही रहा करते हैं ।

"न परे" ऐसा सूत्र करनेसे भी काम चल सकता था, फिर भी अप्रवीचार शब्दका ग्रहण करके सूत्रमें जो गौरव किया है, वह विशेष अर्थका ज्ञापन करनेके लिये है । जिससे इन देवोंमें संक्लेश अधिक नहीं है, अल्प है, और संसार प्रवीचार समुद्भव है, इत्यादि विशिष्ट अर्थका बोध होता है ।

अबतक देवोंके सामान्य वर्णन द्वारा नाम निकाय विकल्प विधिका वर्णन किया, अब विशेष कथन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार कहते हैः—

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता "देवाश्चतुर्निकायाः," दशाष्ट पंचद्वादशविकल्पाः इति । तत् के निकायाः? के चैषां विकल्पाः इति? अत्रोच्यते-चत्वारो देवनिकायाः । तद्यथा-भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिका इति । तत्रः—

अर्थ—प्रश्न—आपने इस अध्यायकी आदिमें पहला—"देवाश्चतुर्निकायाः" और तीसरा—"दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः" ऐसा सूत्र कहा है । उसमें निकाय शब्दका पाठ किया है । सो यह नहीं मालूम हुआ कि, निकाय कहते किसको हैं? और उसके कितने भेद हैं?

उत्तर—देवोंके चार निकाय हैं । यथा—भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।

भावार्थ—प्रश्नकर्त्ताका अभिप्राय सामान्य जिज्ञासाका नहीं, किन्तु विशेष जिज्ञासाका है । अर्थात् निकाय शब्दसे जो आपने बताये हैं वे कौन कौनसे हैं, और उनके वे दश आदिक भेद कौन कौनसे हैं । अतएव उत्तरमें भाष्यकार निकायोंके चार भेदोंके भवनवासी आदि नाम गिनाकर क्रमसे पहले भवनवासियोंके दश भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैः—

१—टीकाकारने रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द इन विषयोंकी अपेक्षासे प्रवीचारके पाँच भेद बताये हैं। परन्तु सूत्रोक्त पाँच प्रकारके प्रवीचार इस तरह कहे जा सकते हैं, कि—कायिक, स्पार्शन, दार्शनिक, शाब्दिक और मानसिक । जैसा कि सूत्र ८–९ से प्रतीत होता है ।

सूत्र—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितो-दधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—प्रथमो देवनिकायो भवनवासिनः। इमानि चैषां विधानानि भवन्ति। तद्यथा—असुरकुमारा नागकुमारा विद्युत्कुमाराः सुपर्णकुमारा अग्निकुमारा वातकुमाराः स्तनितकुमारा उदधिकुमारा द्वीपकुमारा दिक्कुमारा इति॥

कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते। असुरकुमारावासेष्वसुरकुमाराः प्रतिवसन्ति शेषास्तु भवनेषु। महामन्दरस्य दक्षिणोत्तरयोर्दिग्विभागयोर्बह्वीषु योजनशतसहस्रकोटीकोटीष्वावासा भवनानि च दक्षिणार्धाधिपतीनामुत्तरार्धाधिपतीनां च यथास्वं भवन्ति। तत्र भवनानि रत्नप्रभायां बाहल्यार्धमवगाह्य मध्ये भवन्ति। भवनेषु वसन्तीति भवनवासिनः॥

अर्थ—पहला देवनिकाय भवनवासी हैं। उनके ये भेद हैं—असुरकुमार १ नागकुमार २ विद्युत्कुमार ३ सुपर्णकुमार ४ अग्निकुमार ५ वातकुमार ६ स्तनितकुमार ७ उदधिकुमार ८ द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १०।

असुरादिक सभी भवनवासीदेवोंका स्वरूप कुमारोंके समान रमणीय और दर्शनीय हुआ करता है। इनके शरीर कुमारोंके समान ही सुकुमार और इनकी गति मृदु—स्निग्ध मधुर और ललित हुआ करती है। सुंदर शृंगारमें रत उच्च एवं उत्तम रूपको धारण करनेवाले तथा विविध प्रकारकी क्रीड़ा विक्रिया करनेमें अनुरक्त रहा करते हैं। इनका रूप शरीरका वर्ण, वेष—वस्त्रपरिधान, भाषा—वचन—कला, आभरण—अलंकार, प्रहरण—अस्त्र शस्त्र आदि आयुध, आवरण—छत्रादिक आच्छादन, यान—पालकी पीनस आदि, और वाहन—हाथी घोड़ा आदि सवारी, सब उद्धत और ऐसी हुआ करती है, जो कि कुमारोंके तुल्य हों, इनका राग भाव भी कुमारोंके ही समान उल्वण—व्यक्त हुआ करता है। एवं कुमारोंके ही समान ये भी क्रीड़ा करने—यथेच्छ इतस्ततः विहार करने और विनोद करते फिरनेमें रत एवं प्रसन्न रहा करते हैं। इत्यादि सभी चेष्टा और मनोभाव कुमारोंके तुल्य रहनेके कारण असुरादिक दशों भेदवाले भवनवासियोंके लिये कुमार शब्दका प्रयोग किया जाता है। असुरकुमार नागकुमार इत्यादि।

दश प्रकारके भवनवासियोंमें जो असुरकुमार हैं, वे प्रायः करके अपने आवासोंमें ही रहा करते है। यद्यपि कभी कभी वे भवनोंमें भी रहते है, परन्तु प्रायःकरके उनका निवास अपने अपने आवास स्थानमें ही हुआ करता है। बाकीके ९ प्रकारके भवनवासी आवासोंमें नहीं रहते भवनोंमें ही रहा करते हैं।[1]

१—नाना प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे उद्दीप्त रहनेवाले शरीर प्रमाणके अनुसार बने हुए महामण्डपोंको आवास कहते हैं। बाहरसे गोल भीतरसे चतुष्कोण और नीचेके भागमें कमलकी कर्णिकाके आकारमे जो बने हुए होते हैं, उन मकानोंको भवन कहते हैं।

महामन्दर–सुदर्शन मेरुके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें अनेक कोटीकोटी लाख योजनमें आवास हैं, और दक्षिण अर्धके अधिपति चमरादिकोंके तथा उत्तर अर्धके अधिपति बलि आदिकोंके भवन भी यथायोग्य बने हुए हैं। इनमेंसे भवन रत्नप्रभा पृथिवीमें मुटाईका जितना प्रमाण है, उसके ठीक अर्ध भागके बीचमें बने हुए हैं। उन भवनोंमें निवास करनेके कारण ही इन प्रथम निकायवाले देवोंको भवनवासी कहते हैं।

भाष्यम्—भवप्रत्ययाश्चैषामिमा नामकर्मनियमात्स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्ति। तद्यथा—गम्भीराः श्रीमन्तः काला महाकायाः रत्नोत्कटमुकुटभास्वराश्चूडामणिचिन्हा असुरकुमारा भवन्ति। शिरोमुखेष्वधिक प्रतिरूपाः कृष्णश्यामा मृदुललितगतयः शिरस्सु फणिचिन्हा नागकुमाराः। स्निग्धा भ्राजिष्णवोऽवदाता वज्रचिन्हा विद्युत्कुमाराः। अधिकरूपग्रीवोरस्काः श्यामावदाताः गरुडचिह्नाः सुपर्णकुमाराः। मानोन्मानप्रमाणयुक्ता भास्वन्तोऽवदाता घटचिह्ना अग्निकुमारा भवन्ति। स्थिरपीनवृत्तगात्रा निमग्नोदरा अश्वचिह्ना अवदाता वातकुमाराः। स्निग्धाःस्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वनाः कृष्णा वर्धमानाचिह्नाःस्तनितकुमाराः। ऊरुकटिष्वधिकप्रतिरूपाः कृष्णश्यामाः मकरचिह्ना उदधिकुमाराः। उरःस्कन्धबाह्वग्रहस्तेष्वधिक प्रतिरूपाः श्यामावदाताः सिंहचिह्ना द्वीपकुमाराः। जङ्घाग्रपादेष्वधिकप्रतिरूपाः श्यामा हस्तिचिह्ना दिक्कुमाराः। सर्वे विविधवस्त्राभरण प्रहरणावरणा भवन्तीति।

अर्थ—इन देवोंके विभिन्न प्रकारकी ये विक्रियाएं जो हुआ करती हैं, वे भवप्रत्यय हैं। उस भव–पर्यायको धारण करना ही उनका कारण है, न कि तपोऽनुष्ठानादिक। नामकर्मके नियमानुसार और अपनी अपनी जातिविशेषमें जैसी कुछ नियत है, उसके अनुरूप ही उनके विक्रियाएं हुआ करती है। यथाः—असुरकुमार गम्भीर–घनशरीरके धारक श्रीमान्–सम्पूर्ण अंग और उपाङ्गोंके द्वारा सुन्दर कृष्ण वर्ण महाकाय और रत्नोंसे उत्कट मुकुटके द्वारा दैदीप्यमान हुआ करते है। इनका चिन्ह चूडामणि रत्न है। अर्थात् उनकी यह विक्रिया आङ्गोपाङ्गनामकर्म निर्माणनामकर्म और वर्णादिनामकर्मके उदयसे अपनी जातिविशेषताको करने या दिखानेवाली उसके अनुरूप हुआ करती है। इसी तरह नागकुमारादिकके विषयमें समझना चाहिये। नागकुमार शिर और मुखक भागोंमें अधिक प्रतिरूप कृष्णश्याम–अत्यधिक श्यामवर्णवाले एवं मृदु और ललित गतिवाले हुआ करते हैं। इनके शिरोंपर सर्पका चिन्ह हुआ करता है। स्निग्ध प्रकाशशील उज्ज्वल शुक्लवर्णके धारण करनेवाले विद्युत्कुमार हुआ करते है। इनका चिन्ह वज्र है। सुपर्णकुमार ग्रीवा और वक्षःस्थलमें अति सुन्दर श्याम किन्तु उज्ज्वल–शुद्ध वर्णके धारक हुआ

१–धातकीखण्ड आदिके मेरुको कोई न समझ ले, इसके लिये ही महामन्दर शब्दका प्रयोग किया है। यहाँपर महामेरुके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें आवास और भवनोंका होना लिखा है, परन्तु टीकाकार सिद्धसेनगणी लिखते हैं, कि आर्ष आगममें रत्नप्रभा पृथिवीकी मोटाईके ऊपर नीचेके एक एक हजारको छोड़कर मध्यके ७८ हजार योजन मोटे भागमें ही भवनोंका होना सर्वत्र लिखा है। २–भाष्यकारने नपुंसक लिंगवाले अर्धशब्दका प्रयोग किया है, जिससे बराबरके आधे आधे टुकड़ेका अर्थ होता है, क्योंकि "अर्धं समांशे" "तुल्यभागेऽर्धं" ऐसा कोषका नियम है।

करते हैं। इनका चिन्ह गरुड़ है। अग्निकुमार मान और उन्मान—चौड़ाई और ऊँचाईका जितना प्रमाण होना चाहिये, उससे युक्त दैदीप्यमान और शुद्ध वर्णके धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका चिन्ह घट है। स्थिर स्थूल और गोल शरीरको रखनेवाले तथा निमग्न उदरसे युक्त एवं शुद्ध वर्णके धारक वातकुमार हुआ करते है। इनका चिन्ह अश्व है। स्तनितकुमार चिक्कण और स्निग्ध गम्भीर प्रतिध्वनि तथा महानाद करनेवाले और कृष्ण वर्ण हुआ करते हैं। इनका चिन्ह वर्धमान है। उदधिकुमार जङ्घा और कटि भागमें अधिक सुन्दर और कृष्णश्याम वर्णके धारक हुआ करते हैं। इनका चिन्ह मकर है। द्वीपकुमार वक्षःस्थल स्कन्ध—कंधा बाहुओंका अग्र भाग एवं हस्तस्थलमें विशेष सुन्दर हुआ करते है, शुद्ध श्याम और उज्ज्वल वर्णको धारण करनेवाले हुआ करते है। इनका चिन्ह सिंह है। दिक्कुमार जङ्घाओंके अग्रभाग और पैरोंमें अधिक सुन्दर होते और श्यामवर्णको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका चिन्ह हस्ती है।

इस प्रकार यह भवनवासियोंकी भिन्न भिन्न विक्रियाओंका स्वरूप बताया है। इसके सिवाय ये सभी देव नाना प्रकारके वस्त्र आभरण प्रहरण और आवरणोंसे युक्त रहा करते है।

भावार्थ—लोकमें यह बात प्रसिद्ध है, कि असुर, देवोंके विरोधी और विद्रूप हुआ करते है। सो यह बात नहीं है। ये भी देवयोनि ही हैं। इनको पहले देवनिकायमें माना है, और ये अति सुन्दर रूपको धारण करनेवाले हुआ करते है। किन्तु ये कर्मजनित जाति स्वभावके कारण कुमारोंकीसी चेष्टाको पसन्द करते है, अतएव कुमार कहे जाते हैं। इनके आवास और भवनोंके विषयमें ऊपर लिखा जा चुका है। किस किस जातिके देवोंके भवनोंकी संख्या कितनी कितनी है, सो टीका—ग्रन्थोंसे देखना चाहिये।

क्रमानुसार दूसरे देवनिकायके जो आठ भेद बताये हैं, वे कौनसे है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अष्टविधो द्वितीयो देवनिकायः। एतानि चास्य विधानानि भवन्ति। अधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रिष्वपि लोकेषु भवननगरेष्वावासेषु च प्रतिवसन्ति। यस्माच्चाधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात्पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपतन्त्यनियतगतिप्रचारा मनुष्यानपि केचिद्भृत्यवदुपचरन्ति विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रतिवसन्त्यतो व्यन्तरा इत्युच्यन्ते॥

अर्थ—दूसरा देवनिकाय व्यन्तर है। वह आठ प्रकारका है। वे आठ भेद इस प्रकार हैं—किन्नर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गन्धर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ और पिशाच ८॥

इनको व्यन्तर क्यों कहते हैं ? उत्तर—वि—विविध प्रकारका है, अन्तर—आवसन—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं। क्योंकि यद्यपि रत्नप्रभा पृथिवीके एक हजार योजन मोटे पहले रत्नकाण्डकके ऊपर नीचेके सौ सौ योजनके भागको छोड़कर मध्यके आठसौ योजन मोटे भागमें इन व्यन्तरोंका जन्मस्थान है, परन्तु वहाँ उत्पन्न होकर भी ये अधः ऊर्ध्व और तिर्यक् तीनों लोकमें अपने भवन और अपने नगर तथा अपने आवासोंमें निवास किया करते हैं। बालकके समान इनका स्वभाव अनवस्थित हुआ करता है, और स्वतन्त्र रूपसे सर्वत्र ये अनियत गमनागमन करनेवाले है। अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं। तथा अधः तिर्यक् और ऊर्ध्व तीनों ही लोकोंका स्पर्श करते और स्वतन्त्ररूपसे प्रायः अनियत गमन—प्रचार करते है, फिर भी कदाचित् पराभियोग—इन्द्रकी आज्ञा अथवा चक्रवर्ती आदि पुरुषोंकी आज्ञासे भी ये गमनागमन—प्रचार किया करते है। कोई कोई व्यन्तर नौकरोंकी तरह मनुष्योंकी सेवा भी किया करते हैं। नाना प्रकारकी पर्वतोंकी कन्दराओंमें, वनोंमें, या किन्हीं विवरस्थानोंमें भी निवास किया करते हैं। अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं।

भावार्थ—व्यन्तर शब्दके कई अर्थ हैं। वि—विविध प्रकारका है अन्तर—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं। अथवा वि—विगत है, अन्तर—भेद जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं। क्योंकि इनमें मनुष्योंसे अविशिष्टता भी पाई जाती है। यद्वा गो आदिक संज्ञाओंकी तरह रूढ़ीसे ही दूसरे देवनिकायका नाम व्यन्तर ऐसा प्रसिद्ध है। इनके किन्नर किम्पुरुष आदि आठ भेद हैं, जैसा कि ऊपर गिनाया जा चुका है। उन किन्नरादिकोंके भी उत्तरभेद कितने कितने और कौन कौन से हैं, सो बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं:—

भाष्यम्—तत्र किन्नरा दशविधाः । तद्यथा—किन्नराः किम्पुरुषाः किम्पुरुषोत्तमाः किन्नरोत्तमा हृदयंगमा रूपशालिनोऽनिन्दिता मनोरमा रतिप्रिया रतिश्रेष्ठा इति । किम्पुरुषा दशविधाः तद्यथा—पुरुषाः सत्पुरुषाः महापुरुषाः पुरुषवृषभाः पुरुषोत्तमा अतिपुरुषा मरुदेवाः मरुतो मेरुप्रभा यशस्वन्त इति । महोरगादशविधाः । तद्यथा—भुजगा भोगशालिनो महाकाया अतिकायाः स्कन्धशालिनो मनोरमा महावेगा महेष्वक्षाः मेरुकान्ता भास्वन्त इति । गान्धर्वा द्वादशविधाः । तद्यथा—हाहा हूहू तुम्बुरवो नारदा ऋषिवादिकाः भूतवादिकाः कादम्बाः महाकादम्बा रैवता विश्वावसवो गीतरतयो गीतयशस इति । यक्षास्त्रयोदशविधाः । तद्यथा-पूर्णभद्राः माणिभद्राःश्वेतभद्रा हरिभद्राः सुमनोभद्रा व्यतिपातिकभद्राः सुभद्राः सर्वतोभद्रा मनुष्ययक्षा वनाधिपतयो वनाहारा रूपयक्षा यक्षोत्तमा इति । सप्तविधा राक्षसाः । तद्यथा-भीमा महाभीमा विघ्ना विनायका जलराक्षसा राक्षसराक्षसा ब्रह्मराक्षसा इति । भूता नवविधाः । तद्यथा-सुरूपाःप्रतिरूपा अतिरूपा भूतोत्तमाः स्कन्दिका महास्कन्दिका महावेगाः प्रतिच्छन्ना आकाशगा इति । पिशाचाः पंचदशविधाः । तद्यथा-कूष्मण्डाः पटकाः जोषा आह्नकाः कालाः महाकालाश्चौक्षा अचौक्षास्तालपिशाचा मुखरपिशाचा अधस्तारका देहा महाविदेहास्तूष्णीका वनपिशाचा इति ॥

अर्थ—व्यन्तरोंके आठ भेद जो बताये है, उनमें सबसे पहला भेद किन्नर है। उसके दशभेद हैं। यथा—किन्नर १ किम्पुरुष २ किम्पुरुषोत्तम ३ किन्नरोत्तम ४ हृदयंगम ५ रूप-

शाली ६ अनिन्दित ७ मनोरम ८ रतिप्रिय ९ और रतिश्रेष्ठ १०। दूसरा भेद किम्पुरुष है। उसके भी दश भेद हैं। यथा—पुरुष १ सत्पुरुष २ महापुरुष ३ पुरुषवृषभ ४ पुरुषोत्तम ५ अतिपुरुष ६ मरुदेव ७ मरुत् ८ मेरुप्रभ ९ और यशस्वान् १०। तीसरा भेद महोरग है। उसके भी दश भेद है। यथा—भुजग १ भोगशाली २ महाकाय ३ अतिकाय ४ स्कन्धशाली ५ मनोरम ६ महावेग ७ महेष्वक्ष ८ ९ मेरुकान्त और भास्वान् १०। चौथा भेद गान्धर्व है। उसके बारह भेद हैं। यथा—हाहा १ हूहू २ तुम्बुरु ३ नारद ४ ऋषिवादिक ५ भूतवादिक ६ कादम्ब ७ महाकादम्ब ८ रैवत ९ विश्वावसु १० गीतरति ११ और गीतयशाः १२। पाँचवाँ भेद यक्ष है। उसके तेरह भेद हैं। यथा—पूर्णभद्र १ माणिभद्र २ श्वेतभद्र ३ हरिभद्र ४ सुमनोभद्र ५ व्यतिपातिकभद्र ६ सुभद्र ७ सर्वतोभद्र ८ मनुष्ययक्ष ९ वनाधिपति १० वनाहार ११ रूपयक्ष १२ यक्षोत्तम १३। छट्ठा भेद राक्षस है। उसके सात भेद हैं। यथा—भीम १ महाभीम २ विघ्न ३ विनायक ४ जलराक्षस ५ राक्षसराक्षस ६ ब्रह्मराक्षस ७। सातवाँ भेद भूत है, उसके नौ भेद हैं। यथा—सुरूप १ प्रतिरूप २ अतिरूप ३ भूतोत्तम ४ स्कन्दिक ५ महास्कान्दिक ६ महावेग ७ प्रतिच्छन्न ८ आकाशग ९। आठवाँ भेद पिशाच है, उसके पन्द्रह भेद हैं। यथा—कूष्माण्ड १ पटक २ जोष ३ आह्नक ४ काल ५ महाकाल ६ चौक्ष ७ अचौक्ष ८ तालपिशाच ९ मुखरपिशाच १० अधस्तारक ११ देह १२ महाविदेह १३ तूष्णीक १४ वनपिशाच १५।

अब इन आठों भेदोंके क्रमसे विक्रिया और ध्वजचिन्होंको भाष्यकार बताते हैं—

भाष्यम्—तत्र किन्नराः प्रियङ्गुश्यामाः सौम्याः सौम्यदर्शना मुखेष्वधिकरूपशोभा मुकुटमौलिभूषणा अशोकवृक्षध्वजा अवदाताः। किम्पुरुषा ऊरुबाहुष्वधिकशोभा मुखेष्वधिकभास्वरा विविधाभरणभूषणाश्चित्रस्रगनुलेपनाश्चम्पकवृक्षध्वजाः। महोरगाःश्यामावदाता महावेगाः सौम्याः सौम्यदर्शना महाकायाः पृथुपीनस्कन्धग्रीवा विविधानुविलेपना विचित्राभरणभूषणाः नागवृक्षध्वजाः। गान्धर्वा रक्तावदाता गम्भीराः प्रियदर्शनाः सुरूपाः सुमुखाकाराः सुस्वरा मौलिधरा हारविभूषणास्तुम्बुरुवृक्षध्वजाः। यक्षाः श्यामावदाता गम्भीरास्तुन्दिला वृन्दारकाः प्रियदर्शनाः मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्तपाणिपादतलनखतालुजिह्वौष्ठाः भास्वरमुकुटधरा नानारत्नविभूषणा वटवृक्षध्वजाः। राक्षसा अवदाताः भीमा भीमदर्शनाः शिरःकराला रक्तलम्बौष्ठास्तपनीयविभूषणा नानाभक्ति विलेपनाः खट्वाङ्गध्वजाः। भूताः श्यामाः सुरूपाः सौम्या आपीवरा नानाभक्तिविलेपनाः सुलसध्वजाः कालाः। पिशाचाः सुरूपाः सौम्यदर्शनाः हस्तग्रीवासु मणिरत्नविभूषणाः कदंबवृक्षध्वजाः। इत्येवंप्रकारस्वभावानि वैक्रियाणि रूपचिन्हानि व्यन्तराणां भवन्तीति॥

अर्थ—उक्त आठ प्रकारके व्यन्तरोंमेंसे पहली जातिके किन्नरदेव प्रियङ्गुमणिके समान श्यामवर्ण सौम्यस्वभावके और देखनेमें भी अत्यन्त सौम्य—आल्हादकर हुआ करते हैं। इनके रूपकी शोभा मुखभागमें अधिक हुआ करती है, और शिरोभाग मुकुटके द्वारा भूषित रहा करता है। इनका चिन्ह अशोक वृक्षकी ध्वजा है, और वर्ण अवदात शुद्ध स्वच्छ एवं उज्ज्वल हुआ करता है। दूसरी जातिके किम्पुरुष व्यन्तरोंकी शोभा ऊरु जङ्घा और

बाहुओंमें अधिक हुआ करती है। इनका मुखभाग अधिक भास्वर प्रकाशशील हुआ करता है, और ये नाना प्रकारके आभरणोंसे भूषित रहा करते हैं। चित्र विचित्र प्रकारकी मालाओंसे सुसज्जित एवं अनेक तरहके अनुलेप इत्र आदिसे अनुलिप्त रहा करते हैं। इनका चिन्ह चम्पक वृक्षकी ध्वजा है। तीसरी जातिके व्यन्तर महोरग श्यामवर्ण किन्तु अवदात शुद्ध स्वच्छ और उज्ज्वल हुआ करते हैं, ये महान् वेगको और सौम्य स्वभावको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका स्वरूप देखनेमें सौम्य हुआ करता है। तथा इनका शरीर महान् और स्कन्ध तथा ग्रीवाका भाग विशाल एवं स्थूल हुआ करता है। ये विविध प्रकारके विलेपनोंसे युक्त और विचित्र आभरणोंसे भूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह नाग वृक्षकी ध्वजा है। चौथे गान्धर्व जातिके व्यन्तर शुद्ध स्वच्छ लाल वर्णके और गम्भीर—घन शरीरको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। उनका स्वरूप देखनेमें प्रिय होता है। और सुन्दररूप तथा सुन्दरमुखके आकार और मनोज्ञ स्वरके धारक हुआ करते हैं। शिरपर मुकुटको रखनेवाले और गलेमें हारसे विभूषित रहा करते है। इनका चिन्ह तुम्बुरु वृक्षकी ध्वजा है। पाँचवें यक्ष जातिके व्यन्तर निर्मल श्यामवर्णके किन्तु गम्भीर और तुन्दिल हुआ करते हैं। मनोज्ञ और देखनेमें प्रिय तथा मान और उन्मानके प्रमाणसे युक्त होते हैं। हाथ पैरोंके तलभागमें तथा नख तालु जिन्हा और ओष्ठ प्रदेशमें लालवर्णके हुआ करते है। प्रकाशमान मुकुटोंको धारण करनेवाले और नाना प्रकारके रत्न अथवा रत्नजटित भूषणोंसे भूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह वट वृक्षकी ध्वजा है। छट्ठे राक्षस जातिके व्यन्तर शुद्ध निर्मल वर्णके धारक भीम और देखनेमें भयंकर हुआ करते हैं। शिरोभागमें अत्यंत कराल तथा लालवर्णके लम्बे ओष्ठोंसे युक्त हुआ करते है। तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे अलंकृत और अनेक तरहके विलेपनोंसे युक्त होते है। और इनका चिन्ह खट्वाङ्गकी ध्वजा है। सातवें भूत जातिके व्यन्तर श्यामवर्ण किन्तु सुन्दर रूपको रखनेवाले सौम्य स्वभावके अतिस्थूल अनेक प्रकारके विलेपनोंसे युक्त कालरूप हुआ करते है। इनका चिन्ह सुलसध्वजा है। आठवीं जातिके व्यन्तर पिशाच हैं। ये सुन्दर रूपके धारक देखनेमें सौम्य और हाथ तथा ग्रीवामें मणियों और रत्नजटित भूषणोंसे अलंकृत रहा करते हैं। इनका चिन्ह कदम्ब वृक्षकी ध्वजा है।

इस तरहसे आठ प्रकारके व्यन्तरोंका स्वभाव—रुचि विक्रिया शरीरका विविधकरण-वर्ण आकार प्रकार आदि और रूप तथा चिन्होंको समझना चाहिये।

भावार्थ—दूसरा देवनिकाय व्यन्तर है। व्यन्तर शब्दका अर्थ और उनके जन्म तथा निवास करनेके स्थानका ऊपर वर्णन कर चुके है। यहाँपर उनके भेद और स्वभाव आदिको बताया है। आठ प्रकारके व्यन्तरोंके जो उत्तरभेद है, उनका स्वभावादि भी अपने अपने मूलभेदके अनुसार ही समझ लेना चाहिये। यहाँपर भाष्यकारने जो बहुतसे उत्तरभेदोंको

गिनाया है, उसकी लेशमात्र सूचना आर्ष आगममें मिलती है, परन्तु इस तरहका पाठ नहीं मिलता[1]। इनके आवासस्थान या जन्मस्थानोंका प्रकार विस्तार प्रमाण शरीरकी अवगाहना देवियोंकी संख्या अवधिका विषयक्षेत्र आदिका स्वरूप ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये।

भाष्यम्--तृतीयो देवनिकायः।--

अर्थ—ऊपर पहले—भवनवासी और दूसरे—व्यन्तर देवनिकायका वर्णन किया। उसके अनन्तर क्रमानुसार तीसरे देवनिकायका वर्णन अवसरप्राप्त है। अतएव उसका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैः—

सूत्र—ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥१३॥

भाष्यम्—ज्योतिष्काः पंचविधा भवन्ति। तद्यथा—सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारका इति पंचविधा ज्योतिष्का इति। असमासकरणमार्षाच्च सूर्याचन्द्रमसोः क्रमभेदः कृतःयथा गम्येतैतदेवैषामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति। तद्यथा–सर्वाधस्तात्सूर्यास्त-तश्चन्द्रमसस्ततो ग्रहास्ततो नक्षत्राणि ततोऽपि प्रकीर्णताराः। ताराग्रहास्त्वनियतचारित्वा-त्सूर्यचन्द्रमसामूर्ध्वमधश्च चरन्ति। सूर्येभ्यो दशयोजनावलम्बिनो भवन्तीति। समाद्भूमि भागादष्टसु योजनशतेषु सूर्यास्ततो योजनानामशीत्यां चन्द्रमसस्ततो विंशत्यां तारा इति। द्योतयन्त इति ज्योतींषि विमानानि तेषुभवा ज्योतिष्का ज्योतिषो वा देवा ज्योतिरेव वा ज्योतिष्काः। मुकुटेषु शिरोमुकुटोपगूहितैः प्रभामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैः सूर्यचन्द्रतारामण्डलैर्य-थास्वं चिन्हैर्विराजमाना द्युतिमन्तो ज्योतिष्का भवन्तीति।

अर्थ—तीसरा देवनिकाय ज्योतिष्क है[2]। वह पाँच प्रकारका है। यथा—सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा। इस तरह ज्योतिष्क देव पाँच प्रकारके हैं। इस सूत्रमें सूर्य और चन्द्रमस् शब्दका समास नहीं किया गया है। यदि वह करके "सूर्याचन्द्रमसो" ऐसा पाठ[3] कर दिया जाता, तो लाघव होता था। सो न करके असमस्त पद ही रक्खा है। इस लिये और आर्ष आगमके प्रमाणसे सूर्य और चन्द्रमाके पाठका क्रम भी भिन्न[4] ही कर दिया है, इसलिये आचार्यका अभिप्राय ज्ञापनसिद्ध विशेष अर्थके बोध करानेका है। वह यह कि जिससे ज्योतिष्क विमानोंका यह आनुपूर्व और ऊर्ध्वनिवेश अच्छी तरह और ठीक ठीक समझमें आ जाय। वह इस प्रकार है कि—सबके नीचे सूर्य है, उसके ऊपर चन्द्रमा, उसके ऊपर ग्रह और उसके ऊपर नक्षत्र और उसके भी ऊपर प्रकीर्णक ताराओंका निवेश है।

१—" भेदास्त्वेषा किन्नरादीनां स्वस्थाने भाष्यकृता वहवो निदर्शितास्ते चार्षे सूचिता लेशतो न प्रतिपद-मधीताः।" (सिद्धसेनगणि टीका) २—ज्योतिष्कशब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है–ज्योतींषि विमानानि तेषुभवा ज्योतिष्काः द्व्यष्टगादिसूत्रात् टक्, अथवा ज्योतिषो देवास्तैर्दीव्यन्तीति ज्योतिष्काः वपु सम्बन्धिना वा ज्योतिषा ज्वलन्तीति ज्योतिष्काः यद्वा ज्योतिरेव ज्योतिष्काः भास्वरशरीरत्वात् समस्त दिङ्मण्डलद्योतनत्वाच्च स्वार्थे कन्। यहाँपर भाष्यकारने पहले ज्योतिष्कोंके प्रकार फिर उसका अर्थ और स्वरूप भी आगे बताया है। ३—दिगम्बर सम्प्रदायमें ऐसा ही पाठ है। ४—आर्ष आगममें सर्वत्र चन्द्रमाका पाठ पहले और सूर्यका पाठ पीछे मिलता है। परन्तु यहाँपर सूत्रमें सूर्य शब्दका पाठ पहले किया है।

इनमेंसे तारा और ग्रहोंका चार नियत नहीं है । अतएव उनका चार—भ्रमण सूर्य और चन्द्रमाके ऊपर तथा नीचे दोनों ही भागमें हुआ करता है । अनवस्थित गतिवाले होनेके कारण ही ये—अङ्गारकादिक सूर्यसे दश योजनके अन्तरपर रहा करते हैं ।

इस समान भूमितलसे आठ सौ योजन ऊपर चलकर सूर्योंके विमान हैं । सूर्यस्थानसे अस्सी योजन ऊपर चलकर चन्द्रमाओंके विमान हैं । चन्द्रमाओंके स्थानसे बीस योजन ऊपर चलकर तारा हैं[1]।

इन ज्योतिष्कदेवों विमान उद्योतशील है । उन विमानोंमें जो रहें, उनको ज्योतिष्क अथवा ज्योतिष् देव भी कहते हैं। ज्योतिष् और ज्योतिष्क शब्दका एक ही अर्थ है[2]।

इन ज्योतिष्कदेवोंके मुकुटोंमें जो चिन्ह रहा करते हैं, वे शिरोमुकुटोंसे अलंकृत और प्रभामण्डलके समान तथा उज्ज्वल वर्णके हुआ करते हैं । तथा वे यथायोग्य सूर्यमण्डल चन्द्रमण्डल और तारामण्डलरूप हैं। अर्थात् जो सूर्यके चिन्ह हैं, वे सूर्यमण्डलके आकार हैं और जो चन्द्रमाके चिन्ह हैं, वे चन्द्रमण्डलके आकार हैं, तथा जो ताराओंके चिन्ह हैं, वे तारामंडलके आकार हैं । ज्योतिष्कदेव इन चिन्होंसे युक्त प्रकाशमान हैं ।

भावार्थ—तीसरे देवनिकायका नाम ज्योतिष्क है । इन देवोंके विमान प्रकाशशील हैं, उनमें रहनेके कारण अथवा स्वयं भी ये द्युतिमान् हैं, अतएव इनको ज्योतिष्क कहते है । इनके पाँच भेद है, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है । इनका अस्तित्व सभी द्वीप समुद्रोंमें है । किस किस द्वीप और किस किस समुद्रमें कितने प्रमाणमें कौन कौनसे ज्योतिष्क विमान हैं, यह बात आगमके अनुसार समझ लेनी चाहिये । जम्बूद्वीपमें इनका भ्रमण मेरुसे ११२१ योजनके अन्तपर हुआ करता है, और यह ज्योतिर्लोक एकसौ दश योजन ऊँचा है । इनकी अवधि विक्रिया विभूति आदि ग्रन्थान्तरोंसे समझनी चाहिये ।

ये ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति और भ्रमण करनेवाले है, या उसमें किसी प्रकारका अन्तर है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र करते है कि:—

१—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार पहले ताराओंके विमान हैं, और उनके ऊपर सूर्यादिकोंके विमान हैं, जिसका कि क्रम इस प्रकार है—"णवदुत्तरसत्तसया दससीदी चदुदुग तियचउक्के । तारा रविससि रिक्खा बुह भग्गव अंगिरा सणी ॥ " अर्थात् पृथ्वीतलसे ७९० योजन ऊपर ताराओंके विमान हैं, उनसे दश योजन ऊपर सूर्यका उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमाका उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका विमान, उससे भी तीन योजन ऊपर बुधका विमान, उससे तीन योजन ऊपर शुक्रका विमान, उससे तीन योजन ऊपर चलकर बृहस्पतिका, विमान, उससे भी चार योजन ऊपर चलकर मंगलका विमान, और उससे भी ऊपर चार योजन चलकर शनिका विमान है । इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिर्गणकी ऊँचाई एक सौ दश योजन और तिर्यग् घनोदधि पर्यन्त असंख्य द्वीप समुद्र प्रमाण है ।
२—ज्योतिष्क शब्दकी निरुक्ति पहले बता चुके हैं ।

सूत्र—मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

भाष्यम्—मानुषोत्तरपर्यन्तो मनुष्यलोक इत्युक्तम् । तस्मिन् ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो भवन्ति । मेरोः प्रदक्षिणा नित्या गतिरेषामिति मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयः । एकादशस्वेकविंशेषु योजनशतेषु मेरोश्चतुर्दिशं प्रदक्षिणं चरन्ति । तत्र द्वौ सूर्यौ जम्बूद्वीपे, लवणजले चत्वारो, धातकीखण्डे द्वादश, कालोदे द्वाचत्वारिंशत्, पुष्कराधें द्विसप्ततिरित्येवं मनुष्यलोके द्वात्रिंशत्सूर्यशतं भवति । चन्द्रमसामप्येष एव विधिः । अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि, अष्टाशीतिर्ग्रहाः, षट्षष्टिःसहस्राणि नव शतानि पञ्चसप्ततीनि तारा कोटाकोटीनामेकैकस्य चन्द्रमसः परिग्रहः । सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तूर्ध्वलोके ज्योतिष्का भवन्ति । अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलविष्कम्भः, चन्द्रमसः षट्पञ्चाशत्, ग्रहाणामर्धयोजनम्, गव्यूतं नक्षत्राणाम्, सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्धक्रोशो, जघन्यायाः पञ्चधनुःशतानि । विष्कम्भार्धबाहुल्याश्च भवन्ति सर्वे सूर्यादयः, नृलोक इति वर्तते । बहिस्तु विष्कम्भबाहल्याभ्यामतोऽर्धं भवन्ति ॥ एतानि च ज्योतिष्कविमानानि लोकस्थित्या प्रसक्तावस्थितगतीन्यपि ऋद्धिविशेषार्थमाभियोग्यनामकर्मोदयाच्च नित्यंगतिरतयो देवा वहन्ति । तद्यथा—पुरस्तात्केसरिणो, दक्षिणतः कुञ्जराः, अपरतो वृषभाः, उत्तरतो जविनोऽश्वा इति ॥

अर्थ—मनुष्यलोकका प्रमाण पहले बता चुके हैं, कि मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यलोक है । अर्थात् जम्बूद्वीप धातकीखंड और पुष्करद्वीपका अर्ध भाग तथा इनके मध्यवर्ती लवणसमुद्र और कालोदसमुद्र इस समस्त क्षेत्रको मनुष्यलोक कहते हैं । इसमें जितने ज्योतिष्कदेवोंके विमान हैं, वे सभी मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले और नित्य गमन करनेवाले हैं । इनकी मेरुकी प्रदक्षिणारूप गति नित्य है, इसी लिये इनको मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतिवाला कहा है । ग्यारह सौ इक्कीस योजन (११२१) मेरुसे हटकर चारों दिशाओंमें ये प्रदक्षिणा दिया करते है । अर्थात् मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर उसकी प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण किया करते हैं ।

ज्योतिष्क देवोंके पाँच भेद जो बताये हैं, उनमेंसे सूर्य जम्बूद्वीपमें दो, लवणसमुद्रमें चार, धातकीखण्डमें बारह, कालोदधिसमुद्रमें ब्यालीस, और पुष्करद्वीपके मनुष्यक्षेत्र सम्बन्धी अर्ध भागमें बहत्तर हैं । इस प्रकार मनुष्यलोकमें कुल मिलाकर एक सौ बत्तीस सूर्य होते है । चन्द्रमाओंका विधान भी सूर्यविधिके समान ही समझना चाहिये । प्रत्येक चन्द्रमाका परिग्रह इस प्रकार है—अट्ठाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छयासठ हजार नौ सौ पचहत्तर (६६९७५) कोड़ाकोड़ी तारा ।

पाँच प्रकारके ज्योतिष्कोंमेंसे सर्य चन्द्रमा ग्रह और नक्षत्र ये चार तो तिर्यग्लोकमें हैं, और शेष ज्योतिष्क—प्रकीर्णक तारा ऊर्ध्वलोकमें है[1] ।

१—अन्य ग्रन्थोंमें पाँचो ही प्रकारके ज्योतिष्क तिर्यग्लोकमें ही माने हैं । अतएव इसकी टीकामें सिद्धसेन गणीने लिखा है कि " आचार्य एवेदमवगच्छति, नत्वार्षमेवमवस्थितं, सर्वज्योतिष्काणा तिर्यग्लोकव्यवस्थानात् । " परन्तु किसी किसीने इसका ऐसा भी अभिप्राय लिखा है, कि भाष्यकारका आशय भी उनके बहुश्रुत होनेसे अविरुद्ध ही है । अतएव यहाँपर ऊर्ध्व लोकसे ऊर्ध्व दिशा अथवा सबसे ऊपरका भाग ऐसा अर्थ समझना चाहिये । क्योंकि ताराओंकी गति अनियत है, और वे चन्द्रमासे ऊपर भी गमन करते हैं, तथा नौ सौ योजनका तिर्यग्लोक भी माना नहीं है ।

सूर्यमण्डलका विष्कम्भ अड़तालीस योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे एक भागप्रमाण (४८$\frac{१}{६०}$) है । चन्द्रमण्डलका विष्कम्भ छप्पन योजन है । ग्रहोंका विष्कम्भ अर्ध योजन, और नक्षत्रोंका विष्कम्भ दो कोश[१], तथा ताराओंमेंसे सबसे बड़े ताराका विष्कम्भ (उत्कृष्ट विष्कम्भका प्रमाण) आधा कोश और सबसे छोटे ताराका विष्कम्भ (जघन्य प्रमाण) पाँचसौ धनुष है । इन मण्डलोंके विष्कम्भका जो प्रमाण बताया है, उससे आधा बाहल्य-मोटाई या ऊँचाईका प्रमाण समझना चाहिये ।

इस प्रकार सूर्य आदि सम्पर्ण ज्योतिष्क देवोंका जो प्रमाण यहाँपर बताया है, वह मनुष्यलोककी अपेक्षासे है । मनुष्यलोकसे बाहर सूर्य आदिके मण्डलोंका विष्कम्भ और बाहल्य मनुष्यक्षेत्रवर्त्ती सूर्य मण्डलादिके विष्कम्भ और बाहल्यसे आधा समझना चाहिये । अर्थात् मनुष्यक्षेत्रके बाहर जितने सूर्य हैं, उनमेंसे प्रत्येक सूर्यमण्डलका विष्कम्भ चौबीस योजन और एक योजनके साठ भागमेंसे एक भाग प्रमाण (२४$\frac{१}{६०}$) है । इससे आधा प्रमाण बाहल्यका समझना चाहिये । इसी तरह चन्द्रमण्डल आदिका जो प्रमाण मनुष्यलोकमें बताया है, उससे आधा मनुष्यक्षेत्रके बाहरके चन्द्रमण्डलादिकका है, ऐसा समझना ।

कुछ लोगोंका कहना है, कि सूर्यमण्डलादि जो भ्रमण करते हैं, उसका कारण ईश्वरीय इच्छा है । ईश्वर ही जगत्का कर्त्ता हर्त्ता विधाता है, अतएव उसकी सृष्टिमें उसकी इच्छाके विना कुछ भी नहीं हो सकता, और न इस प्रकारकी नियत गति उसकी इच्छाके विना बन ही सकती है । परन्तु यह बात नहीं है, सर्वज्ञ वीतराग कर्ममलसे सर्वथा रहित अशरीर परमात्मा सृष्टिका कर्त्ता हर्त्ता विधाता नहीं बन सकता । उसमें इस प्रकारके गुणोंका आरोपण करना युक्ति और वस्तुस्थितिसे सर्वथा विरुद्ध है । सृष्टिका सम्पूर्ण कार्य वस्तु स्वभावसे ही चल रहा है । तदनुसार ही सूर्यमण्डलादिका भ्रमण भी समझना चाहिये । ज्योतिष्क विमानोंकी आभीक्ष्ण्य-नित्यगति लोकानुभाव-वस्तु स्वभावके अनुसार ही प्रसक्त-सम्बद्ध-नियत है । तदनुसार ही उनका गमन हुआ करता है । फिर भी ऋद्धिविशेषको प्रकट करनेके लिये, जिनके आभियोग्य नामकर्मका उदय आ रहा है, और इस उदयके कारण ही जो गति-गमन करनेमें ही रति-प्रीति रखनेवाले है ऐसे वाहन जातिके देव उन सूर्यमण्डलादिकोंको खींचा करते है । आभियोग्य नामकर्मके उदय-से जिनको सदा गमन करनेकी ही क्रिया पसंद है, ऐसे देव लोकस्थितिके अनुसार स्वयं ही घूमते हुए सूर्यमण्डलादिके नीचे सिंहादिके नाना आकार धारण करके गमन किया करते हैं, और उन विमानोंको खींचा करते है । इस कथनसे यह बात प्रकट कर दी है, कि उन वाहन-देवोंको

१—मूलमें गव्यूति शब्द है । यद्यपि कहीं कहीं पर गव्यूति शब्दका अर्थ एक कोश भी किया है, परन्तु यह व्यापक अर्थ नहीं है, सामान्यसे गव्यूति शब्दका दो कोश ही अर्थ होता है । अमरकोशमें भी " गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगं " ऐसा ही लिखा है, अतएव यहाँपर दो कोश ही अर्थ किया है । यही अर्थ शास्त्रसे अविरुद्ध है ।

खींचनेमें किसी प्रकारका भारजन्य कष्ट नहीं हुआ करता । क्योंकि कर्मोदयके अनुसार उन्हें स्वयं ही वह कार्य प्रिय है । दूसरे स्वयं गमन करनेवाले सूर्य चन्द्र आदिके विमानोंके नीचे इच्छानुसार वेष धारण करके ये लग जाते और गमन किया करते तथा उनकी गतिमें सहायक हुआ करते है । इस प्रकार वाहनोंके निमित्तसे सूर्य चन्द्र आदिकी पुण्यकर्मजनित ऋद्धिकी महत्ता प्रकट हुआ करती है ।

सूर्यमण्डलको खींचनेवाले देवोंमेंसे जो पूर्व दिशामें खीचते हैं, वे सिंहका रूप धारण किया करते हैं, दक्षिण दिशामें खींचनेवाले हाथीका रूप धारण करते, पश्चिम दिशामें खींचनेवाले बैलका स्वरूप धारण किया करते और उत्तर दिशामें खींचनेवाले वेगवान् घोड़ोंका रूप धारण किया करते हैं । यह सब उसी आभियोग्य नामकर्मका कार्य है, कि जिसका फल अवश्य भोगना ही पड़ता है ।

ये सब वाहन–जातिके देव सूयमण्डलके सोलह हजार और उतने ही चन्द्रमण्डलके हैं, ग्रह विमानोंके आठ हजार, नक्षत्र विमानोंके चार हजार, और तारा विमानोंके दो हजार कुल वाहन–देव हैं ।

भावार्थ—तीसरे ज्योतिष्क नामक देवनिकायका स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार है । इनके सामान्य पाँच ही भेद हैं । सम्पूर्ण ज्योतिष्क इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं । इनके प्रकाश और ताराके क्षेत्रका काष्ठान्तर मण्डलान्तर और चार क्षेत्र आदिका एवं ऋद्धि वैभव आदिका प्रमाण आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये ।

सर्व सामान्यसे ये दो प्रकारके कहे जा सकते हैं–गतिशील और स्थितिशील । मनुष्यलोकवर्त्ती पाँचों ही प्रकारके ज्योतिष्क गतिशील हैं, और उसके बाहरके सब स्थितिशील है । यद्यपि मनुष्यलोकमें भी कितने ही ज्योतिष्क विमान स्थितिशील–ध्रुव हैं, परन्तु उनकी गौणता होनेसे गणना नहीं की है । जिस प्रकार किसी वैश्यके विवाहकी वरातको देखकर लोकमें कहा जाता है कि “ यह वैश्योंकी वरात है । ” यद्यपि उस वरातमें वैश्योंके अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्र भी सम्मिलित रहा करते हैं, परन्तु उनका बाहुल्य और प्राधान्य न रहनेसे परिगणन नहीं किया जाता । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । सूर्य चन्द्र आदि प्रायः सभी ज्योतिष्कमण्डलके गतिशील रहनेसे मनुष्यलोकका ज्योतिर्मण्डल गतिशील ही कहा जाता है।

इसी प्रकार नित्य शब्दके विषयमें समझना चाहिये । यहाँपर नित्य शब्द भी आभीक्ष्ण्यवाची अभीष्ट है । जिस प्रकार लोकमें किसी मनुष्यके लिये कहा जाता है, कि “ यह तो नित्य ऐसा ही करता रहता है । ” यद्यपि वह मनुष्य प्रतिदिन और प्रतिक्षण उसी कामको नहीं किया करता, उसके सिवाय अन्य कार्योंको भी किया करता है । परन्तु प्रायः उसी

कार्यके करनेसे उसके लिये नित्य शब्दका प्रयोग हुआ करता है। इसी तरह प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। नृलोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य मानी है। सो उनमेंसे कोई कोई कदाचित् गमन नहीं करता, तो भी उसकी अपेक्षा नहीं है। सामान्यतया प्राधान्यकी अपेक्षासे सभीकी गति नित्य मानी है।

मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क विमान मेरुकी नित्य प्रदक्षिणा देते हुए गमन-भ्रमण करते हैं, ऐसा कहनेका एक अभिप्राय यह भी है, कि इनकी गति दक्षिण भागके द्वारा हुआ करती है, न कि वाम भागके द्वारा। इसी लिये सत्रमें प्रदक्षिणा शब्दका प्रयोग किया है। अर्थात् सूर्य आदिक जो भ्रमण करते हैं, सो पूर्व दिशासे दक्षिण दिशाकी तरफ घूमते हुए करते हैं, न कि उत्तर दिशाकी तरफ घूमते हुए।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि इन सूर्य आदि ज्योतिष्क विभागोंकी गतिको ही काल शब्दके द्वारा अनेक लोग कहा करते हैं, सो उनका यह कहना सत्य है या मिथ्या? इसका उत्तर यह है, कि वास्तवमें काल यह गति शब्दका वाच्य नहीं है। किन्तु कालके भत भविष्यत् और वर्तमानरूप जो भेद हैं, वे इस गतिके द्वारा सिद्ध होते है। इस अभिप्रायको दिखानेके लिये ही आगे सूत्र करते हैः—

सूत्र—तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—कालोऽनन्तसमयः वर्तनादिलक्षणः इत्युक्तम्। तस्य विभागो ज्योतिष्काणां गतिविशेषकृतश्चारविशेषेण हेतुना। तैः कृतस्तत्कृतः। तद्यथा—अणुभागाश्चारा अंशाःकला लवा नालिका मुहूर्ता दिवसा रात्रयः पक्षा मासा ऋतवोऽयनानि संवत्सरा युगमिति लौकिकसमोविभागः। पुनरन्यो विकल्पः प्रत्युत्पन्नोऽतीतोऽनागत इति त्रिविधः॥ पुनस्त्रिविधः परिभाष्यते संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्त इति ॥

अर्थ—वर्तना आदि है लक्षण जिसके ऐसा काल द्रव्य अनन्त समयोंके समूह रूप है, यह बात पहले लिख चुके है। उस कालका विभाग इन ज्योतिष्क देवोके विमानोंके गति विशेषके द्वारा हुआ करता है। सूर्य चन्द्र आदिकी गतिको ही चार कहते है। यह चार सूर्य और चन्द्र आदिका भिन्न भिन्न प्रकारका है। कितु जिसका जैसा चार है, वह उसका नियत है, अतएव उसके द्वारा कालका विभाग सिद्ध होता है, और इसी लिये उस विभागको तत्कृत-ज्योतिष्कदेवोंका किया हुआ कहते है, यह विभाग सर्व जघन्यसे लेकर सर्वोत्कृष्ट तक अनेक भेदरूप है। यथा— अणुभाग चार अंश कला लव नालिका (नाली) मुहूर्त दिन रात्रि दिनरात्रि पक्ष महीना ऋतु

१—वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण काल " वर्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व ये काल-द्रव्यके लक्षण हैं।

अयन सम्वत्सर और युग। ये सब लौकिकजनोंके समान ही कालके विभाग हैं। जिस प्रकार लोकमें वैशेषिक पौराणिक आदिने काल–विभाग माना है, उसी प्रकारका यह विभाग है। इसके सिवाय दूसरी तरहसे भी लौकिक पुरुषोंके समान ही काल–विभाग माना है। वह तीन प्रकारका है–भूत भविष्यत् और वर्तमान। इन दोनों प्रकारोंके सिवाय अपने सिद्धान्तकी अपेक्षासे भी काल–विभाग माना है। वह भी तीन प्रकारका है—संख्येय असंख्येय और अनंत।

ज्योतिष्क विमानोंकी गतिके द्वारा कालका जो विभाग होता है, उसका खुलासा अर्थ समझानेके लिये कहते हैं:—

भाष्यम्—तत्र परम सूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्र-व्यतिक्रमकालः समय इत्युच्यते, परमदुरधिगमोऽनिर्देश्यः; तं हि भगवन्तः परमर्षयः केवलिनो विदन्ति, न तु निर्दिशन्ति, परमनिरुद्धत्वात्। परमनिरुद्धे हि तस्मिन् भाषाद्रव्याणां ग्रहणनिसर्गयोः करणप्रयोगासम्भव इति। ते त्वसंख्येया आवलिका, ताः संख्येयाः उच्छ्वासः तथा निश्वासः। तौ बलवतः पट्विन्द्रियस्य कल्यस्य मध्यमवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः। ते सप्त स्तोकः। ते सप्त लवः, तेऽष्टात्रिंशदर्धं च नालिका। ते द्वे मुहूर्तः। ते त्रिंशदहोरात्रम्। तानि पंचदश पक्षः। तौ द्वौ शुक्लकृष्णौ मासः। तौ द्वौ मासावृतुः। ते त्रयोऽयनम्। ते द्वे संवत्सरः। ते पञ्च चन्द्रचन्द्राभिवर्धितचन्द्राभिवर्धिताख्या युगम्। तन्मध्येऽन्ते चाधिकमासकौ। सूर्यसवनचन्द्रनक्षत्राभिवर्धितानि युगनामानि। वर्षशतसहस्रं चतुरशीतिगुणितं पूर्वाङ्गम्। पूर्वाङ्गशतसहस्रम् चतुरशीतिगुणितम् पूर्वम्। एवं तान्ययुतकमलनालिनकुमुदतुट्यडडावबाहाहाहूहूचतुरशीतिशतसहस्रगुणाः संख्येयः कालः। अत ऊर्ध्वमुपमानियतं वक्ष्यामः। तद्यथा हि नाम-योजनविस्तीर्णं योजनोच्छ्रायं वृत्तं पल्यमेकरात्राद्युत्कृष्टसप्तरात्रजातानामङ्गलोम्नां गाढं पूर्णं स्याद्वर्षशताद्वर्षशतादेकैकस्मिन्नुद्ध्रियमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं स्यादेतत्पल्योपमम्। तद्दशभिः कोटाकोटिभिः गुणितं सागरोपमम्। तेषां कोटाकोट्यश्चतस्रः सुषमसुषमा, तिस्रः सुषमा, द्वे सुषमदुःषमा, द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि हित्वा एका दुःषमसुषमा, वर्षसहस्राणि एकविंशतिर्दुःषमा, तावत्येव दुःषमदुःषमा। ता अनुलोमप्रतिलोमा अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यो भरतैरावतेष्वनाद्यनन्तं परिवर्तन्तेऽहोरात्रवत्। तयोः शरीरायुःशुभपरिणामानामनन्तगुणहानिवृद्धी, अशुभपरिणामवृद्धिहानी। अवस्थिताऽवस्थितगुणाचैकैकान्यत्र। तद्यथा—कुरुषु सुषमसुषमा, हरिरम्यकवासेषु सुषमा, हैमवतहैरण्यवतेषु सुषमदुःषमा, विदेहेषु सान्तरद्वीपेषु दुःषमसुषमा, इत्येवमादिर्मनुष्यक्षेत्रपर्यायापन्नः कालविभागो ज्ञेय इति।

अर्थ—ऊपर जो कालके विभाग बताये हैं, उनमें सबसे छोटा विभाग समय है,

१–अवरा पज्जायठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओत्ति। दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो दु ॥५७२॥ [illegible] असंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो। सत्तुस्सासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणिओ ॥५७३॥ [illegible] लिया मुहुत्तं तु। एगसमयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥५७४॥ [illegible] संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो ॥५७५॥—गोम्मटसार–जी० [illegible]। [illegible] अभिप्राय [illegible] है। २—[illegible] चलकर स्वयं ग्रन्थकारने अणुभागसे लेकर युग पर्यन्त [illegible]। कालेनेति पाठान्तरम्।

जिसका कि स्वरूप इस प्रकार है—निर्विभाग पुद्गल द्रव्यको परमाणु कहते हैं, उसकी क्रिया जब परम सूक्ष्म—अत्यन्त अलक्ष्य हो, और जब कि वह सबसे जघन्य गतिरूपमें परिणत हो, उस समयमें अपने अवगाहनके क्षेत्रके व्यतिक्रम करनेमें जितना काल लगता है, उसको समय कहते है । अर्थात् जिसका फिर दूसरा विभाग कभी नहीं हो सकता, ऐसे पुद्गल द्रव्यके अणु—परम अणुकी क्रिया जब सबसे अधिक सूक्ष्मरूप हो, और उसी समयमें वह आकाशके जिस प्रदेशपर ठहरा हुआ है, उससे हटकर—सर्व—जघन्य—अत्यन्त मन्द गतिके द्वारा अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेशपर जाय, तो उसको अपने अवगाहनका व्यतिक्रम कहते हैं, इस व्यतिक्रममें, अर्थात् मन्दगतिके द्वारा उस परमाणुको अपने अवगाहित प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमें जितना काल लगता है, उसको समय कहते है । परमाणु और उसके अवगाहित आकाश प्रदेशकी अपेक्षा संक्रान्तिके काल—समयको भी अविभाग परम निरुद्ध और अत्यन्त सूक्ष्म कहते है । सातिशय ज्ञानके धारण करनेवाले भी इसको कठिनतासे ही जान सकते है[1] । इसके स्वरूपका वचन द्वारा निरूपण भी नहीं हो सकता । जो परमर्षि हैं, वे आत्मप्रत्यक्षके द्वारा उसको जान सकते हैं, परन्तु उसके स्वरूपका निरूपण करके दूसरोंको उसका बोध नहीं करा सकते[2] । जो परमर्षि—अनुपम लक्ष्मीके धारक और छद्मस्थ अवस्थाको नष्ट कर कैवल्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे भगवान् भी ज्ञेयमात्रको विषय करनेवाले अपने केवलज्ञानके द्वारा उसको जान लेते हैं, परन्तु दूसरोंको उसके स्वरूपका निर्देश नहीं करते, क्योंकि वह परम निरुद्ध है । उसके स्वरूपका निरूपण जिनके द्वारा हो सकता है, ऐसी भाषावर्गणाओंको वे केवली भगवान् जबतक ग्रहण करते हैं, तबतक असंख्यात समय हो जाते है । समय परम निरुद्ध—अत्यल्प—इतना छोटा है, कि उसके विषयमें पुद्गल द्रव्यकी भाषावर्गणाओंका ग्रहण और परित्याग करनेमें इन्द्रियोंका प्रयोग हो नहीं सकता—असंभव है ।

इस प्रकार समयका स्वरूप है । यह कालकी सबसे छोटी—जघन्य पर्याय है । असंख्यात समयोंकी एक आवली—आवलिका होती है । संख्यात आवलिकाओंका एक उच्छ्वास अथवा एक निःश्वास होता[3] है । जो बलवान् है—जिसके शरीरकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है,

---

१—समय कालकी पर्याय होनेसे अमूर्त है—और वह सबसे जघन्य है । अतएव प्रत्यक्ष ज्ञानोंमेंसे केवल, ज्ञानका ही वह विषय हो सकता है । अथवा श्रुतज्ञानसे अनुमान द्वारा जाना जा सकता है । २—घटादिकके समान उसका साक्षात्कार नहीं करा सकते, और न यही बता सकते हैं, कि वह अब शुरू हुआ और अब पूर्ण हुआ । क्यों नहीं बता सकते और इसका कारण क्या है, सो आगे चलकर इसकी व्याख्यामें लिखा है ।

३—वायुको भीतर खींचनेको उच्छ्वास और कोष्ठस्थ वायुके बाहर निकालनेको निःश्वास कहते हैं । यह श्वासोच्छ्वासका स्वरूप मनुष्यगतिकी अपेक्षासे समझना चाहिये । क्योंकि देवोंके श्वासोच्छ्वासका प्रमाण इससे बहुत बड़ा होता है । उनके श्वासोच्छ्वासका प्रमाण उनकी आयुके हिसाबसे हुआ करता है । वह इस प्रकार है, कि जितने सागरकी आयु होती है, उतने ही पक्ष पीछे वे श्वास लेते हैं ।

तदवस्थ बनी हुई है, जिसकी इन्द्रियाँ भी समर्थ है, जिसका शरीर किसी प्रकारकी व्याधिसे आक्रान्त नहीं है, जो न बाल्य अवस्थाका है और न वृद्ध अवस्थाका, किंतु मध्यम वयको धारण करनेवाला है, जिसका मन भी स्वस्थ है—किसी प्रकारकी आधि—चिन्तासे घिरा हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषके उच्छ्वास और निःश्वास दोनोंके समहको प्राण कहते है[1]। सात प्राणोंके समूहको एक स्तोक कहते है। सात स्तोक प्रमाण कालको लव कहते है। साड़े अड़तीस लवकी एक नाली कही जाती है। दो नालीका एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तका एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष होता है। ये पक्ष दो प्रकारके हुआ करते हैं, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष[2]। दोनों पक्षोंके समूहको मास—महीना[3] कहते है। दो महीनेकी एक ऋतु होती है[4]। तीन ऋतुकी एक अयन और दो अयनका एक संवत्सर—वर्ष होता है। पाँच वर्षके समूहको युग कहते है। वर्ष चान्द्र अभिवर्धित आदि पाँच प्रकारका होता है। उसके अनुसार ही युगके भी पाँच प्रकार समझ लेने चाहिये। वे पाँच[5] नाम इस प्रकार है। सौर्य, सवन, चान्द्र, नाक्षत्र, और अभिवर्द्धित। पाँच वर्षके युगमें मध्यमें और अन्तमें मिलकर दो अधिक मास हुआ करते है[6]।

१—" अट्ठस्स अणलसस्स य णिरुवहदस्स य हवेज्ज जीवस्स। उस्सासाणिस्सासो ऐसो पाणोत्ति आहीदो॥ (गो. जीवकाण्ड क्षेपक)। ऐसे मनुष्यके एक अन्तर्मुहूर्तमें ३७७२ नाड़ीके ठोके लगते हैं। आजकलके डाक्टरोंने भी करीब करीब इतना ही हिसाब माना है।

२—जिसमें चन्द्रमाका उदय-काल बढ़ता जाय, उसको शुक्ल पक्ष और जिसमें अन्धकार बढ़ता जाय, उसको कृष्णपक्ष कहते हैं। प्रतिपदासे अमावस्यातक कृष्णपक्ष और उसके बाद प्रतिपदासे पूर्णमासीतक शुक्ल पक्ष होता है, कृष्णपक्षमें अन्धकार बढ़ते बढ़ते अमावस्याको चन्द्रमाका सर्वथा अनुदय हो जाता है, और शुक्ल पक्षमें चन्द्रमाका प्रकाश बढ़ते बढ़ते पूर्णमासीको उसका पूर्ण उदय हो जाता है। ३—साधारणतया महीना पाँच प्रकार के हैं, सूर्य चन्द्र आदिकी अपेक्षासे। परन्तु देशमे इस विषयका व्यवहार प्रायः दो प्रकारका ही देखनेमें आता है।—कहीं कहीं तो अमावस्याको महीना पूर्ण होता है, अतएव उस तिथिकी जगह ३० का अंक लिखा जाता है। कहीं कहींपर पूर्णमासीको महीना पूर्ण होता है, और इसी लिये उसका नाम पूर्णमासी है। सामान्यसे महीना ३० दिनका ही गिना जाता है, यद्यपि उसमे कुछ कुछ अंतर भी है। ४—इस हिसाबसे वर्षकी छह ऋतु हुआ करती हैं, जिनके कि नाम इस प्रकार हैं—हेमन्त शिशिर वसंत ग्रीष्म वर्षा शरद्। ५—चन्द्र १ सूर्य २ अभिवर्द्धित ३ सवन ४ और नक्षत्र ५ ये पाँच प्रकारके संवत्सर हैं। इनका प्रमाण क्रमसे इस प्रकार है।—चन्द्रसंवत्सरमें महीनाका प्रमाण २९$\frac{३२}{६२}$ दिनका है। इस हिसाबसे वर्षमें बारह महीनाके ३५४ $\frac{१२}{६२}$ दिन होते हैं। यही चन्द्रसंवत्सरका प्रमाण है। (आजकल मुसलमान प्रायः चन्द्रसम्वत्सर को ही मानते हैं।) सूर्यसम्वत्सरमें महीनाका प्रमाण ३०$\frac{१}{२}$ दिन है, इस हिसावसे वर्ष—बारह महीनाके ३६६ दिन होते हैं। यही सौरवर्षका प्रमाण है। अभिवर्द्धित सम्वत्सरमें ३०$\frac{१२१}{१२४}$ दिनका महीना और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३८३$\frac{४४}{६२}$ दिन होते हैं। सवन संवत्सरमे महीनाके ३० दिन और बारह महीनाके ३६० दिन होते हैं। नक्षत्र सम्वत्सरमें महीनाके २७$\frac{२१}{६७}$ दिन और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३२७$\frac{५१}{६७}$ दिन होते हैं। इस प्रकार पाँचो सम्वत्सर एक साथ प्रवृत्त रहा करते हैं, और अपने अपने समयपर वे पूर्ण हो जाते हैं। पाँच वर्षके युगमे पाँचो ही प्रकारके सम्वत्सर आ जाते हैं। वर्षके अनुसार ही युगके भी पाँच नाम समझ लेने चाहिये।

६—पाँच प्रकारके सम्वत्सरोंमेंसे अभिवर्द्धित नामके सम्वत्सरमें अधिक मास होता है। और अंतमें अभिवर्द्धित सम्वत्सर ही हुआ करता है।

चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग, चौरासी लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व हुआ करता है। पूर्वसे आगे क्रमसे अयुत कमल नलिन कुमुद तुटि अडड अवव हाहा और हूहू भेद माने है। इनका प्रमाण भी उत्तरोत्तर चौरासी लाख चौरासी लाख गुणा है। अर्थात् चौरासी लाख पर्वका एक अयुत और चौरासी लाख अयुतका एक कमल, चौरासी लाख कमलका एक नलिन, चौरासी लाख नलिनका एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुदका एक तुटि, चौरासी लाख तुटिका एक अडड, चौरासी लाख अडडका एक अवव, चौरासी लाख अववका एक हाहा, और चौरासी लाख हाहाका एक हूहू होता है। यहाँतक संख्यात कालके भेद हैं। क्योंकि ये गणित–शास्त्रके विषय हो सकते है और है। अतएव इसके ऊपर जो कालके भेद गिनाये हैं, उनको उपमा नियत कहते हैं[2]। इस उपमा नियत–कालका प्रमाण इस प्रकार है:—

एक योजन लम्बा और एक ही योजन चौड़ा तथा एक ही योजन ऊँचा गहरा—एक गोल गड्ढा बनाना[3] चाहिये। एक दिन या रात्रिसे लेकर सात दिन तकके उत्पन्न मेंढ़ेके बच्चेके बालोंसे[4] उस गड्ढेको गाढरूपसे—खूब अच्छी तरह दबाकर पूर्णतया भरना चाहिये। पुनः सौ सौ वर्षमें उन बालोंमेंसे एक एक बालको निकालना चाहिये। इसी क्रमसे निकालते निकालते जब वह गड्ढा बिलकुल खाली होजाय, उतनेमें जितना काल लगे, उसको एक पल्य कहते हैं[5]। इसको दश कोड़ाकोड़ीसे गुणा करनेपर एक सागर होता है। अर्थात् दश कोड़ाकोड़ी पल्यका एक सागर होता है। चार कोड़ाकोड़ी सागरका एक सुषमसुषमा, तीन कोड़ाकोड़ी सागरका सुषमा, दो कोडाकोड़ी सागरका सुषमादुष्षमा, ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका दुषमसुषमा, इक्कीस हजार वर्षका दुष्षम, और इक्कीस हजार वर्षका ही दुष्षमदुष्षमा काल माना है।

१—भाष्यकारने जो स्थान गिनाये हैं, वे अत्यल्प हैं। आगममें जो क्रम बताया है, वह इस प्रकार है—तुट्यङ्ग तुटिका अडडाङ्ग अडडा अववाङ्ग अववा हाहाङ्ग हाहा हूहुङ्ग हुहुका उत्पलाङ्ग उत्पल पद्माङ्ग पद्म नलिनाङ्ग नलिन अर्थनियूराङ्ग अर्थनियूर चूलिकाङ्ग चूलिका शीर्षप्रहेलिकाङ्ग शीर्षप्रहेलिका। ये सब चौरासी लाख चौरासी लाख गुणे हें। सूर्यप्रज्ञप्तिमें पूर्वके ऊपर लताङ्गसे लेकर शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त गणित–शास्त्रका विषय बताया है। २—उपमामान असंख्यातरूप है। वह करके नहीं बताया जा सकता, अतएव किसी न किसी चीजकी उपमा देकर उसके छोटे बड़ेपनका बोध कराया जाता है। जैसे कि पल्य सागर आदि। अन्न भरनेकी खासको पल्य और समुद्रको सागर कहते हैं। ३—ऐसा प्रयोग किसाने न किया है और न हो सकता है, केवल बुद्धिके द्वारा कल्पना करके समझनेके लिये यह उपाय केवल कल्पनारूप बताया है। ४—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार उन बालोंके ऐसे टुकड़े करना जिनका कि फिर कैंचीसे दूसरा टुकड़ा न होसके, ऐसे बाल–खण्डोंसे उस गड्ढेको भरना चाहिये। ५–पल्य ३ प्रकारका माना है–उद्धारपल्य अद्धापल्य और क्षेत्रपल्य। दिगम्बर सम्प्रदायमें इस प्रकार ३ भेद माने हैं–व्यवहारपल्य उद्धार-पल्य और अद्धापल्य। इनके उत्तरभेद अनेक हैं, उनका स्वरूप और उनके कालके अल्प बहुत्वको टीका-ग्रन्थोमें देखना चाहिये। सामान्यतया—उद्धारपल्यका प्रयोजन द्वीप सागरोंकी गणना आदिका है। अद्धापल्यका प्रयोजन उत्सर्पिणी आदि काल-विभाग कर्मस्थिति पृथिवी कायादिककी काय और भवकी स्थिति आदिका परिज्ञान कराना हैं। क्षेत्रपल्यका प्रयोजन पृथिवी कायादिक जीव–राशिका परिमाण बताना है। प्रत्येक पल्यके बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो दो भेद हैं। यहाँपर भाष्यकारने बादर अद्धापल्यका स्वरूप बताया है, जोकि संख्यात कोटि वर्षरूप है।

सुषमसुषमासे लेकर दुष्षमदुष्षमा तकका काल दश कोड़ाकोड़ी सागरका है। इस दश कोड़ाकोड़ी सागरेक अनुलोम—सुषमसुषमासे लेकर दुषमदुषमा तकके कालको अवसर्पिणी[1] कहते है। दश कोड़ाकोड़ी सागरके ही प्रतिलोम-दुषमदुषमासे लेकर सुषमसुषमा पर्यन्त कालको उत्सर्पिणी[2] कहते है। जिस प्रकार दिनके बाद रात्रि और रात्रिके बाद दिन हुआ करता है, तथा उनकी इसी तरहकी प्रवृत्ति अनादि कालसे चली आ रही है, उसी प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालकी फिरन भी अनादि कालसे चली आ रही है। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी काल प्रवृत्त हुआ करता है[3], यह प्रवृत्ति अनादि कालसे है। किन्तु यह भरत आर ऐरावत क्षेत्रमें ही होती है, अन्य क्षेत्रोंमें नहीं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दोनों ही कालोंमें क्रमसे शरीर आयु और शुभ परिणामोकी अनन्तगुणी हानि और वृद्धि हुआ करती है, तथा अशुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी वृद्धि और हानि हुआ करती है। अर्थात् अवसर्पिणी कालमें शरीर आयु और शुभ परिणामोंकी क्रमसे अनन्तगुणी हानि होती जाती है, और उत्सर्पिणी कालमें इन विषयोंकी क्रमसे अनन्तगुणी वृद्धि होती जाती है। इसी प्रकार अवसर्पिणीमें अशुभ परिणामोंकी अनन्तगुणी वृद्धि होती जाती है, और उत्सर्पिणीमें उनकी क्रमसे अनन्तगुणी हानि होती जाती है। भरत और ऐरावतके सिवाय दूसरे क्षेत्रोंमें कालकी प्रवृत्ति अवस्थित है, और वहाँके गुण भी अवस्थित हैं। यथा—कुरुक्षेत्रमें—देवकुरु और उत्तरकुरुमें सदा सुषमसुषमा काल ही अवस्थित रहता है[5]। कल्पवृक्षादिके परिणाम जो नियत है, वे ही वहाँ हमेशा बने

१–जिसमें आयु काय और शुभ परिणाम घटते जॉय उसको अवसर्पिणी कहते हैं। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी बाद अवसर्पिणी हुआ करती है। असंख्यात अवसर्पिणियोंके अनन्तर एक हुंडावसर्पिणी हुआ करती है। इसमे द्रव्य मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति और अनेक विलक्षण कार्य हुआ करते हैं। वर्तमानमे हुंडावसर्पिणी काल चल रहा है। २–जिसमें आयु काय और शुभ परिणाम वढ़ते जॉय। ३- उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनोंके समूहको एक कल्पकाल कहते है। अतएव उसका प्रमाण वीस कोड़ाकोड़ी सागर है। ४–अर्थात् अवसर्पिणीमें शरीरादिककी अनन्तगुणी हानि और उत्सर्पिणीमें अनन्तगुणी वृद्धि हुआ करती है। शुभ परिणामोंसे प्रयोजन आचार विचार शिक्षा दीक्षा बुद्धि और मनकी गति रीति नीति आदि सभी धार्मिक भावोंसे है, सुषमसुषमामें मनुष्योंका शरीर ३ कोशका, आयु ३ पल्यकी होती है। आगे घटती घटती जाती है, दुष्षमा (वर्तमान काल) में शरीरका प्रमाण अनियत और आयुका प्रमाण १०० वर्ष परन्तु अनियत्त है। अति दुष्षमामें शरीर प्रमाण अनियत परन्तु अन्तमें एक हाथका है। आयु सोलह वर्षकी मानी है। प्रतिलोममें इसकी उल्टी गति समझनी चहिये।

५—यह उत्तम भोगभूमि है। यहाँपर उत्तम पात्रको दान देनेके द्वारा संचित पुण्यके प्रभावसे युगल उत्पन्न हुआ करते हैं। उत्तम शरीर संहनन आयु कायरूपको पानेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्षोंके फलोंको भोगते हैं। स्त्री पुरुष साथ उत्पन्न होते और साथ ही मृत्युको प्राप्त होते हैं। पुरुष जँभाई लेकर और स्त्री छींक लेकर मरते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही मरकर नियमसे स्वर्गको जाते है। क्योंकि उनके परिणाम अत्यत मन्द कषायरूप हुआ करते हैं। इनके शरीरकी कान्ति तप्त सुवर्णके समान हुआ करती है।

रहते हैं । हरि और रम्यक क्षेत्रमें सुषमा कालकी परिस्थिति हमेशा रहा करती है[1] । हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रमें सदा सुषमदुःषमा कालकी प्रवृत्ति रहती है[2] । विदेहक्षेत्र तथा अन्तरद्वीपोंमें हमेशा दुष्षमसुषमा काल बना रहता है[3] ।

ऊपर कालके अनेक भेद जो बताये है, उनके सिवाय और भी उसके अनेक[4] भेद है । परन्तु उन सब काल-विभागोंका व्यवहार मुख्यतया मनुष्य-क्षेत्रमें ही हुआ करता है । मुख्यतया कहनेका अभिप्राय यह है, कि मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क-चक्रके भ्रमशील होनेसे वास्तवमें तो यहाँपर कालका विभाग हुआ करता है । परन्तु यहाँ जो व्यवहार प्रसिद्ध है, उसके सम्बन्धसे देवलोक आदिमें भी उसका व्यवहार होता है ।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि मनुष्यलोकमें तो ज्योतिषचक्र मेरुकी प्रदक्षिणा देता हुआ नित्य ही गमनशील है । परन्तु उसके बाहर कैसा है ? विना प्रदक्षिणा दिये ही गतिशील है ? अथवा नित्य गतिशील न होकर कदाचित् गतिशील है ? यद्वा उसका कोई और ही प्रकार है ? इसके उत्तरमें नृलोकके बाहर ज्योतिष्क विमानोंकी जैसी कुछ अवस्था है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥

भाष्यम्— नृलोकाद् बहिर्ज्योतिष्काः अवस्थिताः, अवस्थिता इत्यविचारिणः, अवस्थित विमानप्रदेशा अवस्थितलेश्याप्रकाशा इत्यर्थः । सुखशीतोष्णरश्मयश्च ॥

अर्थ—नृलोक-मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त जो क्षेत्र है, उससे बाहर सूर्य चन्द्र आदि जो ज्योतिष्क विमान हैं, वे अवस्थित है । अवस्थितसे अभिप्राय अविचारीका है । अर्थात् वहाँके ज्योतिष्क विचरण-भ्रमण नहीं करते, अतएव अवस्थित हैं । उनके विमानोंके प्रदेश भी अवस्थित हैं । अर्थात् न ज्योतिष्क देव ही गमन करते है, और न उनके विमान ही गमन करते है ।

१—यहाँ मध्यम भोगभूमि है । यहाँ शरीर २ कोशका आयु २ पल्यकी इत्यादि सब विषय मध्यम समझना चाहिये । यहाँके मनुष्योंके शरीरकी कान्ति चन्द्रमा समान मानी है । २—यह जघन्य भोगभूमि है । यहाँ शरीर १ कोश आयु १ पल्यकी होती है । शरीरकी कान्ति मँहदीके पत्ते सरीखे कही है । ३—यह कर्मभूमि है, यहाँ राजा प्रजाका व्यवहार और आजीवनके उपायोंका व्यवहार चलता है । यहाँ शरीरोत्सेध उत्कृष्ट ५२५ धनुष और आयु ८४ हजार वर्ष है ।

४—पुद्गलपरावर्तन आदि पंच परिवर्तनरूप, तथा सर्वाद्धा आदिक कालका प्रमाण अनन्त है । भाष्यकारने संख्येय असंख्येय और अनंत इस तरह तीन भेदोका उल्लेख किया है, परन्तु उनमेंसे यहाँपर पहले दो भेदोका खुलासा किया है, अनन्तका खुलासा नहीं किया है, सो ग्रन्थान्तरोंसे समझ लेना चाहिये । सामान्यसे अनन्त उसको कहते हैं, कि जिस राशिका कभी अन्त न आवे । इसके मूलमें दो भेद हैं—सक्षय अनन्त और अक्षय अनन्त । अक्षय अनन्तका स्वरूप इस प्रकार है—" सत्यपि व्ययसद्भावे, नवीनवृद्धेरभाववत्त्वं चेत् । यस्य क्षयो न नियत· । सोऽनन्तो जिनमते भणित ॥ " अनन्तके ३ भेद इस प्रकार भी बताये हैं—युक्तानन्त परीतानन्त अनन्तानन्त । इनमें भी प्रत्येकके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन तीन प्रकार है । इनका प्रमाण गोम्मटसार कर्मकाण्डकी भूमिकामें देखना चाहिये ।

उनकी लेश्या और प्रकाश भी अवस्थित है। लेश्यासे मतलब वर्णका है। मनुष्य-लोकमें ज्योतिष्क विमानोंके गतिशील होनेसे उपराग आदिके द्वारा वर्णमें परिवर्तन भी हो जाता है, परन्तु नृलोकके वाहर ज्योतिष्कोंके अवस्थित होनेसे उपराग आदि संभव नहीं है, अतएव वहाँ-पर वर्णमें परिवर्तन नहीं हो सकता, उनका पीत वर्ण अवस्थित रहता है। इसीलिये-निष्कम्प रहनेके कारण ही उनका उदय और अस्त नहीं हुआ करता, अतएव उनका एक लाख योजन प्रमाण प्रकाश अवस्थित रहता है। वहाँके सूर्य चन्द्रमाओंकी किरणें अत्यंत उग्र उष्ण अथवा शीतरूप नहीं हैं। सूर्यकी किरणें अत्यन्त उष्ण नहीं है-सुखकर है। चन्द्रमाकी किरणें अत्यन्त शीत नहीं है। वे भी सुखकर है। दोनोंकी ही किरणें स्वभावसे ही साधारण और सुखकर रहती हैं।

इस प्रकार तीसरे देवनिकायका वर्णन पूर्ण हुआ। ज्योतिष्कोंके स्थान वर्ण गति विष्कम्भ आदिका और उनके विमान तथा उनकी गतिके द्वारा होनेवाले काल-विभाग एवं उस काल-विभागका स्वरूप भी बताया। शेष वैभव और अवधि प्रमाण आदिका स्वरूप ग्रन्थान्तरों-से देखकर जानना चाहिये। अब क्रमानुसार चौथे देवनिकायका वर्णन अवसर प्राप्त है। उनके नाम भेद आदिका विशेष वर्णन करनेके लिये सबसे पहले अधिकार सूत्रका उल्लेख करते हैं:—

सूत्र—वैमानिकाः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—चतुर्थो देवनिकायो वैमानिकाः। तेऽतऊर्ध्वं वक्ष्यन्ते। विमानेषु भवा वैमानिकाः।

अर्थ—चौथे देवनिकायका नाम वैमानिक है। यहाँसे अब इसी निकायका वर्णन करेंगे। विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले या रहनेवालोंको वैमानिक कहते हैं।

भावार्थ—यह अधिकार सत्र है। यहाँसे वैमानिक देवोंका अधिकार चलता है, स्थितिके प्रकरणसे पूर्वतक अर्थात् आगे चलकर स्थितिका वर्णन जो किया जायगा, उससे पहले-यहाँसे लेकर उस प्रकरणसे पहले पहले जो कुछ भी अब वर्णन किया जायगा, वह वैमानिक देवोंके विषयमें समझना चाहिये, ऐसा इसका अभिप्राय है। विमानोमें होनेवालोंको वैमानिक[1] कहते हैं। यद्यपि ज्योतिष्कदेव भी विमानोंमें ही उत्पन्न होते और रहते हैं, परन्तु यह वैमानिक शब्द समभिरूढ नयकी अपेक्षा सौधर्मादि स्वर्गवासी देवोंमें ही रूढ है। विमान तीन प्रकार-के हैं-इन्द्रक श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक[2]। जो सबके मध्यमें होता है, उसको इन्द्रक कहते हैं, जो पूर्व आदि दिशाओंके क्रमसे श्रेणिरूप-एक लाइनमें अवस्थित है, उनको श्रेणिबद्ध

१—वैमानिकशब्द निरुक्तिसिद्ध भी है। यथा-यत्रस्था आत्मनो वि-विशेषेण सुकृतिनो मानयन्ति इति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः। अथवा—यत्रस्थाः परस्परं भोगातिशयं मन्यन्ते इति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः। २—ये शब्द भी अन्वर्थ और निरुक्तिसिद्ध हैं।

कहते हैं । बिखरे हुए फूलोंकी तरह जो अनवस्थितरूपसे जहाँ तहाँ अवस्थित रहते हैं, उनको पुष्पप्रकीर्णक कहते है । इनमें रहनेवाले देवोंका नाम वैमानिक है । यही चौथा देव-निकाय है । आगे इसीका क्रमसे वर्णन करेंगे ।

वैमानिक देव जोकि अनेक विशेष ऋद्धियोंके धारक है, उनके मूलमें कितने भेद हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

भाष्यम्—द्विविधा वैमानिका देवाः—कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । तान् परस्तात् वक्ष्याम इति ।

अर्थ—वैमानिक दो प्रकारके हैं—एक कल्पोपपन्न, दूसरे कल्पातीत । इन भेदोंका आगे चलकर वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—पूर्वोक्त इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पना जिनमें पाई जाय, उनको कल्प कहते हैं । यह कल्पना सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्गतक ही पाई जाती है । इन कल्पोंमें उत्पन्न होनेवालोंको कल्पोपपन्न कहते हैं । इस कल्पनासे जो अतीत–रहित हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं । अच्युत स्वर्गसे ऊपर ग्रैवेयक आदिमें जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उनको कल्पातीत समझना चाहिये । वैमानिक देवोंके सामान्यसे ये दो मूल भेद हैं । इनके उत्तरभेदोंका वर्णन आगे क्रमसे करेंगे ।

इन दो भेदोंमेंसे पहले कल्पोपपन्न देवोंके कल्पोंकी अवस्थिति किस प्रकारसे है ? इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—उपर्युपरि ॥ १९ ॥

भाष्यम्—उपर्युपरि च यथानिर्देशं वेदितव्याः । नैकक्षेत्रे नापि तिर्यगधोवेति ।

अर्थ—यह सूत्र देवों या विमानोंके विषयमें न समझकर कल्पोंके विषयमें ही समझना चाहिये । सौधर्म आदि कल्पोंका नामनिर्देश आगेके सूत्रमें करेंगे । उनका अवस्थान क्रमसे ऊपर ऊपर समझना चाहिये । अर्थात् निर्देशके अनुसार सौधर्मके ऊपर ऐशान और ऐशानके ऊपर सनत्कुमार कल्प है । इसी क्रमसे अच्युतपर्यन्त कल्पोंका अवस्थान ऊपर ऊपर है । ये कल्प न तो एक क्षेत्रमें हैं—सबके सब एक ही जगह अवस्थित नहीं है, और न तिर्यक् अथवा नीचे नीचेकी तरफ ही अवस्थित है ।

नामनिर्देशके अनुसार कल्पोंका और उसके ऊपर कल्पातीतोंका अवस्थान है, यह बात ऊपर बता चुके है, किन्तु दोनोंमेंसे किसीका भी अभीतक नामनिर्देश नहीं किया है । अतएव वे कौनसे हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सौधर्मैशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोक-लान्तकमहाशुक्र-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ २० ॥

भाष्यम्—एतेषु सौधर्मादिषु कल्पविमानेषु वैमानिका देवा भवन्ति । तद्यथा—सौधर्मस्य कल्पस्योपरि ऐशानः कल्पः । ऐशानस्योपरि सनत्कुमारः । सनत्कुमारस्योपरि माहेन्द्र इत्येवमा सर्वार्थसिद्धादिति ॥

अर्थ—सौधर्म ऐशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक्र सहस्रार आनत प्राणत आरण और अच्युत ये बारह कल्प हैं । इन सौधर्म आदि कल्पोंके विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं । अच्युत कल्पके ऊपर नवग्रैवेयक है । जोकि ऊपर ऊपर अवस्थित हैं । ग्रैवेयकोंके ऊपर पाँच महा विमान हैं, जिनको कि अनुत्तर कहते हैं, और जिनके नाम इस प्रकार हैं—विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्ध । सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त सभीका अवस्थान क्रमसे ऊपर ऊपर है ।

भावार्थ—ज्योतिष्क विमानोंसे असंख्यात[1] योजन ऊपर चलकर मेरुसे ऊपर पहला सौधर्मकल्प है । यह पूर्व पश्चिम लम्बा और उत्तर दक्षिण चौड़ा है । इसकी लम्बाई और चौड़ाई असंख्यात कोटाकोटी योजनकी है । क्योंकि इसका विस्तार लोकके अन्ततक है । इसकी आकृति आधे चन्द्रमाके समान है । यह सर्वरत्नमय और अनेक शोभाओंसे युक्त है । इसके ऊपर ऐशान कल्प है, जोकि इससे उत्तरकी तरफ कुछ ऊपर चलकर अवस्थित है । सौधर्म कल्पसे अनेक योजन ऊपर सनत्कुमार कल्प है, जोकि सौधर्मकल्पकी श्रेणीमें ही व्यवस्थित है । ऐशान कल्पके ऊपर माहेन्द्र कल्प है । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पके ऊपर अनेक योजन चलकर दोनोंके मध्यभागमें पूर्ण चन्द्रमाके आकारवाला ब्रह्मलोक[2] नामका कल्प है । इसके ऊपर लान्तक महाशुक्र और सहस्रार ये तीन कल्प हैं । इनके ऊपर सौधर्म ऐशान कल्पोंकी तरह आनत और प्राणत नामके दो कल्प हैं । इनके ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्रके

१—इस विषयमें टीकाकारने भी लिखा है कि " ज्योतिष्कोपरितनप्रस्तारादसंख्येययोजनमध्वानमारुह्य मेरूपलक्षितदक्षिणभागार्धव्यवस्थितः प्राक् तावत् सौधर्मः कल्पः ।" परन्तु असंख्यात योजन ऊपर चलकर किस तरह लिखते हैं, सो समझमें नहीं आता । क्योंकि मेरुप्रमाण मध्यलोक है, उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, और मेरुका प्रमाण एक लाख योजनका ही है । अथवा संभव है, कि सौधर्म स्वर्गकी उँचाईको लक्ष्यमें रखकर अन्तिम उपरितन विमानकी अपेक्षासे ही असंख्यात योजन ऊपर ऐसा लिख दिया हो । २—यहाँपर लोक शब्द लौकान्तिक देवोंका बोध करनेके लिये हैं, ये अत्यंत शुभ परिणामवाले देव हैं, जोकि ऋषियोंकी तरह रहनेके कारण ब्रह्मर्षि कहाते हैं । इनकी रुचि जिनभगवान्के कल्याणकोको देखनेकी अधिक रहा करती है । जिस समय तीर्थंकर दीक्षा-धारण करनेका विचार करते हैं, उसी समय ये आकर उनके उस विचारकी प्रशंसा किया करते हैं । ये मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर नियमसे मोक्षको जाते हैं ।

समान आरण और अच्युत नामके दो कल्प समान श्रेणीमें व्यवस्थित हैं । इस प्रकार बारह कल्प हैं । इनके ऊपर ग्रैवेयक हैं । ये नौ है और वे ऊपर ऊपर अवस्थित हैं ।[२] इनके ऊपर विजयादिक पाँच महाविमान हैं ।

भाष्यम्—सुधर्मा नाम शक्रस्य देवेन्द्रस्य सभा, सा तस्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः । ईशानस्य देवराजस्य निवास ऐशानः, इत्येवमिन्द्राणां निवासयोगाभिख्याः सर्वे कल्पाः । ग्रैवेयकास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशविनिविष्टा ग्रीवाभरणभूता ग्रैवा ग्रीव्या ग्रैवेया ग्रैवेयका इति॥

अनुत्तराः पञ्च देवनामान एव । विजिता अभ्युदयविघ्नहेतवः एभिरिति विजय वैजयन्तजयन्ताः । तैरेव विघ्नहेतुभिर्न पराजिता अपराजिताः । सर्वेष्वभ्युदयार्थेषु सिद्धाः सर्वार्थैश्च सिद्धाः सर्वे चैषामभ्युदयार्थाः सिद्धा इति सर्वार्थसिद्धाः । विजितप्रायाणि वा कर्माण्येभिरुपस्थितभद्राः परीषहैरपराजिताः सर्वार्थेषु सिद्धाः सिद्धप्रायोत्तमार्था इति विजयादय इति ॥

अर्थ—पहले सौधर्म कल्पके इन्द्रका नाम शक्र है, यह बात पहले बता चुके हैं । इस देवराजकी सभाका नाम सुधर्मा है । इस सभाके नामके सम्बन्धसे ही पहले कल्पको सौधर्म कहते हैं । दूसरे कल्पके देवराज—इन्द्रका नाम ईशान है । उसके निवासके कारण ही दूसरे कल्पको ऐशान कहते हैं । इसी प्रकार इन्द्रोंके निवासके सम्बन्धसे सम्पूर्ण कल्पोंका नाम समझ लेना चाहिये । जो इन्द्रोंके निवास स्थान—सभा आदिका अथवा इन्द्रोंका नाम है उसीके अनुसार उन कल्पोंका भी नाम है । यह व्यवहार बारह कल्पोंमें ही हो सकता है । इनके ऊपर ग्रैवेयक हैं । इनको ग्रैवेयक कहनेका कारण यह है, कि यह लोक पुरुषाकार है । उसके ग्रीवाके प्रदेशपर ये अवस्थित हैं । अथवा उस ग्रीवाके ये आभरणभूत है । अतएव इनको ग्रैव ग्रीव्य ग्रैवेय और ग्रैवेयक[३] कहते हैं ।

पाँच महाविमान जोकि ग्रैवेयकोंके ऊपर हैं, उनको अनुत्तर कहते हैं । इनके नाम—विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध हैं । ये नाम देवोंके नामके सम्बन्धसे हैं । पहले तीन विमानोंके देव विजयशील—स्वभावसे ही जयरूप है । उन्होंने अपने अभ्युदयके विघ्नके कारणोको भी जीत लिया है, अतएव उनको क्रमसे विजय वैजयन्त और जयन्त कहते हैं । उनके विमानोंके भी क्रमसे ये ही नाम हैं । जो उन विघ्नके कारणोंसे पराजित नहीं होते, उनको अपराजित कहते हैं । उनके विमानका नाम भी अपराजित है । सम्पूर्ण अभ्युदयरूप प्रयोजनोंके विषयमें जो सिद्ध हो चुके हैं । अथवा समस्त

१—जो ग्रीवाके स्थानपर हो, ऐसा इस शब्दका अर्थ है । इसकी निरुक्ति इसी सूत्रकी व्याख्यामे आगे चलकर लिखी है । २—दिगम्बर सम्प्रदायमें ग्रैवेयकोंके ऊपर और सर्वार्थसिद्धिके नीचे नौ अनुदिश और भी माने हैं ।

३—लोक· पुरुष इवेत्युपचाराल्लोक एव पुरुषस्तस्य ग्रीवेव ग्रीवा तत्रभवा ग्रैवा ग्रैवेया. "ग्रीवाभ्योऽण्च" इति अणु, (—पाणिनीय अध्याय ४ पाद ३ सूत्र ५७) तथा "कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु" (—पाणिनीय अध्याय ४ पाद २ सूत्र ९६) इति ग्रीव्या ग्रैवेयकाश्चेति । ग्रीवायां साधवो ग्रीव्या इति वा व्युत्पत्तिः कर्तव्या । ये सबके उत्तर-ऊपर हैं—इनसे ऊपर और कोई भी विमान नहीं है । अतएव इनको अनुत्तर कहते हैं ।

इष्ट विषयोंके द्वारा जो सिद्ध हो चुके हैं। यद्वा जिनके समस्त अभ्युदयरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं, उन देवोंको सर्वार्थसिद्ध कहते हैं। उनके विमानोंका नाम भी सर्वार्थसिद्ध है।

सामान्यतया विजय आदि पाँचो ही अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देवोंने कर्म-भारको प्रायः जीत लिया है; क्योंकि अब उनका कर्म-पटल गुरु और सघन नहीं रहा है, लघु और तनु रह गया है। इनको निर्वाणकी प्राप्ति अत्यन्त निकटतर है, अतएव इनके कल्याण—परम कल्याण अत्यल्प समयकी अपेक्षा उपस्थित हुए सरीखे ही समझने चाहिये। देव-पर्यायसे च्युत होकर मनुष्य-पर्यायको प्राप्त करके भी ये परीषह—उपसर्ग और विघ्न—बाधाओंसे पराजित नहीं हुआ करते, और देव-पर्यायमें भी निरंतर तृप्त ही रहा करते हैं। इनको कोई भी क्षुधा-दिककी बाधा पराजित—पीड़ित नहीं कर सकती, अतएव ये सभी देव अपराजित कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार इन सभी देवोंकी संसारसम्बन्धी प्रायः सभी कर्तव्यताएं समाप्त हो चुकी हैं, प्रायः सभी इष्ट विषयोंमें ये सिद्ध—तृप्त हो चुके हैं, और इनका उत्तमार्थ—सकल कर्मोंके क्षयरूप परमनिःश्रेयस-कल्याण भी प्रायः सिद्ध हो चुका है, क्योंकि ये अनन्तर आगामी भवसे ही मुक्त होनेवाले हैं। अतएव पाँचों ही अनुत्तर विमानवासी विजय आदिक कल्पातीत देवोंको अपराजित और सर्वार्थसिद्ध कह सकते है। परन्तु उनके ये नाम जो प्रसिद्ध हैं, सो प्रसिद्धि या रूढिकी अपेक्षासे हैं।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंके सौधर्मादि कल्प और ग्रैवेयकादि कल्पातीत भेदोंको बताया और उनकी ऊपर ऊपर उपस्थिति किस किस प्रकारसे है, तथा उनके समास विग्रहार्थ आदि भी बताये अब उन्हीं प्रकृत वैमानिक देवोंके ही विषयमें और भी अधिक विशेषता बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—यथाक्रमं चैतेषु सौधर्मादिषु उपर्युपरि पूर्वतः पूर्वतः एभिःस्थित्यादिभि-रर्थैरधिका भवन्ति । तत्र स्थितिरुत्कृष्टा जघन्या च परस्ताद्वक्ष्यते। इह तु वचने प्रयोजनं येषामपि समा भवति तेषामप्युपर्युपरि गुणाधिका भवतीति यथा प्रतीयेत ।
प्रभावतोऽधिकाः—यः प्रभावो निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु सौधर्मकाणांसोऽनन्त-गुणाधिक उपर्युपरि। मन्दाभिमानतया त्वल्पतरसंक्लिष्टत्वादेते न प्रवर्तन्त इति। क्षेत्रस्वभाव-जनिताच्च शुभपुद्गलपरिणामात्सुखतो द्युतितश्चानन्तगुणप्रकर्षेणाधिकाः । लेश्याविशुद्ध्या-धिकाः—लेश्यानियमः परस्तादेषां वक्ष्यते। इह तु वचने प्रयोजनं यथा गम्येत यत्रापि

१—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित इन चार विमानवाले देव दो मनुष्य—भवतक धारण करके मोक्षको जाते हैं, और सर्वार्थसिद्धिके देव एक ही भव—धारण करके मुक्त हो जाते हैं।

विधानतस्तुल्यास्तत्रापि विशुद्धितोऽधिका भवन्तीति। कर्मविशुद्धित एव वाधिका भवन्तीति। इन्द्रियविषयतोऽधिकाः—यदिन्द्रियपाटवं दूरादिष्टविषयोपलब्धौ सौधर्मदेवानां तत्प्रकृष्टतरगुणत्वादल्पतरसंक्लेशत्वाच्चाधिकमुपर्युपरि इति। अवधिविषयतोऽधिकाः—सौधर्मैशानयोर्देवा अवधिविषयेणाधो रत्नप्रभां पश्यन्ति तिर्यगसंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात् सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः शर्कराप्रभां पश्यन्ति तिर्यगसंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात्। इत्येवं शेषाः क्रमशः। अनुत्तरविमानवासिनस्तु कृत्स्नां लोकनाडीं पश्यन्ति। येषामपि क्षेत्रतस्तुल्योऽवधिविषयः तेषामप्युपर्युपरि विशुद्धितोऽधिको भवतीति॥

अर्थ—उपर्युक्त सौधर्म आदिक कल्प और कल्पातीतोंके देव क्रमसे पूर्व पूर्वकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके सभी वैमानिक इस सूत्रमें बताये हुए स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्या विशुद्धि इन्द्रिय विषय और अवधिविषय इन ७ विषयोंमें अधिकाधिक हैं। अपनेसे नीचेके देवोंकी अपेक्षा सभी वैमानिकदेवोंकी स्थिति आदिक अधिक ही हुआ करती है। यथा—स्थितिके जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंको आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार इसी अध्यायमें लिखेंगे। अतएव इस विषयमें यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी यहाँपर जो स्थितिका उल्लेख किया है, उससे उसका यह प्रयोजन अवश्य समझ लेना चाहिये, कि जिन उपरितन और अधस्तन विमानवर्ती देवोंकी स्थिति समान है, उनमें भी जो ऊपरके विमानोंमें रहनेवाले और उत्पन्न होनेवाले हैं, वे अन्य गुणोंमें अधिक हुआ करते हैं, अथवा उनकी स्थिति दूसरे गुणोंकी अपेक्षा अधिक हुआ करती है।

अचिन्त्य शक्तिको प्रभाव कहते हैं। यह निग्रह अनुग्रह विक्रिया और पराभियोग आदिके रूपमें दिखाई पड़ता है। शाप या दण्ड आदिके देनेकी शक्तिको निग्रह तथा परोपकार आदिके करनेकी शक्तिको अनुग्रह कहते हैं। शरीरको अनेक प्रकारका बना लेनेकी अणिमा महिमा आदि शक्तियोंको विक्रिया कहते हैं। जिसके बलपर जबरदस्ती दूसरेसे कोई काम करा लिया जा सके, उसको पराभियोग कहते हैं। यह निग्रहानुग्रह आदिकी शक्ति सौधर्मादिक देवोंमें जितने प्रमाणमें पाई जाती है, उससे अनन्तगुणी अपनेसे ऊपरके विमानवर्त्ती देवोंमें रहा करती है। किन्तु वे अपनी उस शक्तिको उपयोगमें नहीं लिया करते। क्योंकि उनका कर्म—भार अति मन्द हो जानेसे अभिमान भी अत्यन्त मन्द हो जाता है, और इनके संक्लेश परिणाम भी अतिशय अल्पतर हो जाते हैं। ऊपर ऊपरके देवोंके चित्त संक्लेश—कषायरूप परिणामोंके द्वारा कम कम व्याप्त हुआ करते हैं। अतएव उनकी निग्रह अथवा अनुग्रह आदिके करनेमें प्रवृत्ति कम हुआ करती है।

इसी प्रकार सुख और द्युति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक है। क्योंकि वहाँके क्षेत्रका स्वभाव ही इस प्रकारका है, कि जिसके निमित्तसे वहाँके पुद्गल अपनी अनादि पारणामिक शक्तिके द्वारा अनन्तगुणे अनंतगुणे अधिकाधिक शुभरूप ही परिणमन किया करते है, और वह परिणमन इस तरहका हुआ करता है, कि जो ऊपर ऊपरके देवोंके लिये अनन्तगुणे अनंतगुणे

अधिक—प्रकृष्ट सुखोदयका कारण हुआ करता है । शरीरकी निर्मलता अथवा कान्तिको द्युति, कहते हैं । यह भी नीचेके देवोंसे ऊपरके देवोंकी अधिक है ।

शरीरके वर्णको लेश्या कहते है । इसकी विशुद्धि भी ऊपर ऊपर अधिकाधिक है, वैमानिकदेवोंमें लेश्यासम्बन्धी जो नियम है, उसका वर्णन आगे चलकर करेंगे । किन्तु यहाँपर जो लेश्या शब्दका प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय विशेष अर्थको बतानेका है । वह यह कि जिन ऊपर नीचेके देवोंमें लेश्याका भेद समान होता है, उनमें भी ऊपरके देवोंकी लेश्याकी विशुद्धि अधिक हुआ करती है । क्योंकि ऊपर ऊपरके देवोंके अशुभ कर्म कृष हो जाया करते हैं, और उनमें शुभ—कर्मोंकी बहुलता पाई जाती है ।

इन्द्रियोंका और अवधिका विषय भी ऊपरके देवोंका अधिक अधिक है । दूर ही से अपने इष्ट विषयको ग्रहण कर लेने—देख लेनेमें इन्द्रियोंका सामर्थ्य जितना नीचेके देवोंमें है, उससे ऊपरके देवोंमें अधिक है । क्योंकि वे प्रकृष्टतर गुणोंको और अल्पतर संक्लेश परिणामोंको धारण करने वाले हैं । अवधिज्ञानका स्वरूप पहले बताया जा चुका है । वह भी ऊपर ऊपरके देवोंका अधिकाधिक है । सौधर्म और ऐशान कल्पके देव अवधिके विषयकी अपेक्षा रत्नप्रभा पृथिवीतकको देख सकते हैं । तिर्यक्—पूर्वादि दिशाओंकी तरफ असंख्यात लक्ष योजनतक देख सकते हैं । ऊपरको—ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त ही देख सकते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव शर्करा—दूसरी पृथिवीतक देख सकते हैं । तिर्यक् असंख्यात लक्ष योजन और ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त—विमानके ध्वजदण्ड तक देख सकते हैं । इसी प्रकार शेष—ब्रह्मलोक आदिके देवोंके विषयमें भी क्रमसे समझ लेना चाहिये । अर्थात् ब्रह्मलोक और लान्तक विमान-वाले देव वालुकाप्रभा पर्यन्त, शुक्र सहस्रारवाले पङ्कप्रभा पर्यन्त, आनत, प्राणत और आरण अच्युतवाले धूमप्रभा पर्यन्त, अधस्तन ग्रैवेयक और मध्यम ग्रैवेयकवाले तमःप्रभा पर्यन्त, और उपरिम ग्रैवेयकवाले महातमःप्रभा पर्यन्त, तथा पाँच अनुत्तर विमानोंके देव समस्त लोकनाड़ीको[1] देख सकते हैं । इस विषयमें इतना और भी समझना चाहिये, कि जिन देवोंके अवधिज्ञानका विषय क्षेत्रकी अपेक्षा समान है, उनमें भी जो ऊपर ऊपरके देव है, उनमें उसकी विशुद्धता अधिकाधिक पाई जाती है ।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंमें जिन विषयोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपर अधिकता है, उनको बताया अब यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं, कि उनमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर सुखादि विषयोंकी

१—अर्थात् लोकको नहीं देख सकते, केवल लोकके मध्यमे बनी हुई नाडीके भीतरके विषयको ही देख सकते हैं । लोकके ठीक मध्यमे नीचेसे ऊपर तक १४ राजू ऊँची और एक राजू चौड़ी तथा एक राजू मोटी नाडीको लोकनाडी कहते हैं, इसीका नाम त्रसनाडी भी है ।

अपेक्षा अधिकता है, उसी प्रकार किन्हीं विषयोंकी अपेक्षासे अधिकाधिक न्यूनता भी है, या नहीं । यदि है तो किन किन विषयोंकी अपेक्षासे है । अतएव कहते है कि वे देव—

सूत्र—गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—गतिविषयेण शरीरमहत्त्वेन महापरिग्रहत्वेनाभिमानेन चोपर्युपरि हीनाः । तद्यथा—द्विसागरोपमजघन्यस्थितीनां देवानामासप्तम्यां गतिविषयस्तिर्यगसंख्येयानि योजनकोटीकोटीसहस्राणि । ततः परतो जघन्यास्थितीनामेकैकहीना भूमयो यावत्तृतीयेति । गतपूर्वाश्च गमिष्यन्ति च तृतीयां देवाः परतस्तु सत्यपि गतिविषये न गतपूर्वा नापि गमिष्यन्ति । महानुभावक्रियातः औदासीन्याच्चोपर्युपरि देवा न गतिरतयो भवन्ति । सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्देवानां शरीरोच्छ्रायः सप्तारत्नयः । उपर्युपरिद्वयोर्द्वयोरेकैकारत्निर्हीना आ सहस्रारात् । आनतादिषु तिस्रः । ग्रैवेयकेषु द्वे । अनुत्तरे एका इति । सौधर्मे विमानानां द्वात्रिंशच्छतसहस्राणि । ऐशानेऽष्टाविंशतिः । सानत्कुमारे द्वादश । माहेन्द्रेऽष्टौ । ब्रह्मलोके चत्वारि शतसहस्राणि । लान्तके पञ्चाशत्सहस्राणि । महाशुक्रे चत्वारिंशत् । सहस्रारे षट् । आनतप्राणतारणाच्युतेषु सप्त शतानि अधोग्रैवेयकाणां शतमेकादशोत्तरम् । मध्ये सप्तोत्तरम् । उपर्येकमेव शतम् । अनुत्तराः पञ्चैवेति । एवमूर्ध्वलोके वैमानिकानां सर्वविमानपरिसंख्या चतुरशीतिः शतसहस्राणि सप्तनवतिश्च सहस्राणि त्रयोविंशानीति । स्थानपरिवारशक्तिविषयसंपत्स्थितिष्वल्पाभिमानाः परमसुखभागिन उपर्युपरीति ॥

अर्थ—गति विषय—अपने स्थानसे दूसरे स्थानको जाना आदि, शरीरकी उँचाई आदि, महान् परिग्रह—ऐश्वर्य और विभूति तथा उसमें ममकार और अहंकारका भाव रखना, अभिमान—अपनेसे बड़े अथवा बराबरवालेको अपनेसे छोटा समझना, अथवा अपनेमें महत्ताका अनुभव करना, इन चार विषयोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके देव हीन है । ऊपरके देवोंमें अपनेसे नीचेके देवोंकी अपेक्षा ये विषय कम कम पाये जाते हैं । यथा—जिनकी जघन्य स्थिति दो सागरकी है, उनकी गतिका विषय सातवीं पृथिवी पर्यन्त है, यह प्रमाण अधो दिशाकी अपेक्षासे है । तिर्यक्—पूर्वादि दिशाओंकी अपेक्षासे असंख्यात कोड़ाकोड़ी सहस्र योजन प्रमाण गतिका विषय समझना चाहिये । इसके आगेके जघन्य स्थितिवाले देवोंका गतिका विषयभूत क्षेत्र तीसरी पृथिवी पर्यन्त क्रमसे एक एक भूमि कम कम होता गया है । जिनका विषय तीसरी पृथिवी तकका है, वे देव अपने गतिके विषयभूत क्षेत्रपर्यन्त गमन कर सकते हैं, और करते भी है । पर्व जन्मके स्नेह आदिके वशसे अपने किसी इष्ट प्राणीसे मिलने आदिके लिये वे वहाँतक—तीसरी भूमितक जा सकते है और जाते है, । पूर्वकालमें अनेक देव इस प्रकारसे गये भी है और भविष्यमें जाँयगे भी, परन्तु जिनका गतिका विषयभूत क्षेत्र तीसरी पृथिवीसे अधिक है, उनका उतना गतिका विषय

१—जैसे कि बलभद्रका जीव अपने पूर्वजन्मके भाई कृष्णके जीवसे मिलनेके लिये स्वर्गसे-नरकम गया था । इसकी कथा भी जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखी है । इसी प्रकार और भी अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं ।

रहते हुए भी वे वहाँतक गमन नहीं किया करते। न पूर्वकालमें ही उन्होंने कभी गमन किया है, और न भविष्यमें ही गमन करेंगे। अर्थात् उनके गति विषयको बतानेका प्रयोजन उनकी गति–शक्तिको बतानामात्र है, कि वे अमुक स्थान तक गमन करनेकी सामर्थ्य रखते हैं। क्योंकि इससे उनकी महत्ताका बोध होता है। किन्तु उनकी वह शक्ति व्यक्त नहीं होती–क्रिया रूपमें परिणत नहीं होती। क्योंकि ऊपरके देवोंके परिणाम महान्–उत्कृष्ट–शुभ होते गये हैं। वे इधर उधर जाने आने आदिके विषयमें उदासीन रहा करते हैं। जिन-भगवान्‌के कल्याणकोंको देखना तथा चैत्य चैत्यालय आदिकी वन्दना आदि करना इत्यादि शुभ कार्योंके सिवाय अन्य सम्बन्धसे उनको इतस्ततः घूमना पसन्द नहीं है–अन्य विषयोंमें उनकी गमन करनेमें प्रीति नहीं हुआ करती।

शरीरकी ऊँचाई सौधर्म और ऐशान कल्पवाले देवोंकी सात अरत्नि[1] प्रमाण है। इनसे ऊपरके देवोंका शरीरोत्सेध सहस्रार कल्पपर्यन्त दो दो कल्पोंके प्रति एक एक अरत्नि क्रमसे कम कम होता गया है। आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पवासी देवोंका शरीरोत्सेध तीन अरत्नि प्रमाण है। ग्रैवेयकवासियोंका दो अरत्नि प्रमाण और पाँच अनुत्तर वासियोंके शरीरका उत्सेध एक अरत्नि प्रमाण है। इस प्रकार क्रमसे ऊपर ऊपरके देवोंके शरीरकी ऊँचाईका प्रमाण कम कम होता गया है।

परिग्रहका प्रमाण इस प्रकार है–सौधर्म कल्पमें विमानोंकी संख्या ३२ लाख, है। ऐशान-कल्पमें २८ लाख, सानत्कुमारकल्पमें १२ लाख, माहेन्द्रकल्पमें ८ लाख, ब्रह्मलोकमें चार लाख, लान्तककल्पमें पचास हजार, महाशुक्रमें चालीस हजार, सहस्रारमें छह हजार, आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पमें सात सौ, अधोग्रैवेयकमें १११, मध्यम ग्रैवेयकमें १०७, उपरिम ग्रैवेयकमें १०० विमान हैं। विजयादिक अनुत्तर विमान ५ ही है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें वैमानिक देवोंके समस्त विमानोंकी संख्या चौरासी लाख सतानवे हजार तेईस (८४९७०२३) है। इससे स्पष्ट होता है, कि ऊपर ऊपरके देवोंका परिग्रह अल्प अल्प होता गया है।

इसी प्रकार अभिमानके विषयमें समझना चाहिये। स्थान–कल्पविमान आदि, परिवार–देवियाँ और देवें[2], शक्ति–अचिन्त्य सामर्थ्य, विषय—इन्द्रियोंका तथा अवधिका विषयक्षेत्र आदि, संपत्ति–वैभव ऐश्वर्य, अथवा विषयसंपत्ति–शब्दादि रूप समृद्धि, और स्थिति–आयुका प्रमाण, ये सब विषय ऊपर ऊपरके देवोंके महान् है। फिर भी उनके सम्बन्धसे उन देवोंको गर्व नहीं हुआ करता। प्रत्युत जिस जिस तरह उनका वैभव और शक्ति आदिका

१—एक हस्त प्रमाणसे कुछ कमको अरत्नि कहते हैं। अर्थात् कोहनीसे कनिष्ठिका पर्यन्त।

२—दासी दास प्रभृति।

प्रमाण तथा महत्व बढ़ता गया है, उसी उसी प्रकार उनका अभिमान उत्तरोत्तर कम कम होता गया है । अर्थात् यद्यपि नीचेके देवोंसे ऊपरके वैमानिक अधिक शक्तिशाली हैं, फिर भी वे नीचेके देवोंसे अधिक निरभिमान हैं । अतएव ऊपर ऊपरके देव अधिकाधिक उत्तम सुखके भोक्ता हैं । क्योंकि उनके दुःखोंके अन्तरङ्ग या बाह्य कारण नहीं है, और सुखके कारण बढ़ते चले गये हैं ।

भाष्यम्—उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः ।—उच्छ्वासः सर्वजघन्यस्थितीनां देवानां सप्तसु स्तोकेषु आहारश्चतुर्थकालः । पल्योपमस्थितीनामन्तर्दिवसस्योच्छ्वासो पृथक्त्वस्याहारः । यस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावत्स्वर्धमासेषूच्छ्वासस्तावत्स्वेव वर्षसहस्रेष्वाहारः । देवानां सद्वेदनाः प्रायेण भवन्ति न कदाचिदसद्वेदनाः । यदि चासद्वेदना भवन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवन्ति न परतोऽनुबद्धा । सद्वेदनास्तूत्कृष्टेन षण्मासान् भवन्ति । उपपातः—आरणाच्युतादूर्ध्वमन्यतीर्थानामुपपातो न भवति। स्वलिङ्गिनां भिन्नदर्शनानामाग्रैवेयकेभ्यः उपपातः । अन्यस्य सम्यग्दृष्टेः संयतस्य भजनीयं आ सर्वार्थसिद्धात् । ब्रह्मलोकादूर्ध्वमासर्वार्थसिद्धाच्चतुर्दशपूर्वधराणामिति । अनुभावो विमानानां सिद्धिक्षेत्रस्य चाकाशे निरालम्बास्थितौ लोकस्थितिरेव हेतुः । लोकस्थितिर्लोकानुभावो लोकस्वभावो जगद्धर्मोऽनादिपरिणामसन्ततिरित्यर्थः । सर्वे च देवेन्द्रा ग्रैवेयादिषु च देवा भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्माभिषेकनिःक्रमणज्ञानोत्पत्तिमहासमवसरणनिर्वाणकालेष्वासीनाः शयिताः स्थिता वा सहसैवासनशयनस्थानाश्रयैः प्रचलन्ति । शुभकर्मफलोदयाल्लोकानुभावत एव वा । ततो जनितोपयोगास्तां भगवतामनन्यसदृशीं तीर्थकरनामकर्मोद्भवां धर्मविभूतिमवधिनाऽऽलोच्य संजातसंवेगाः सद्धर्मबहुमानात्केचिदागत्य भगवत्पादमूलं स्तुतिवन्दनोपासनहितश्रवणैरात्मानुग्रहमाप्नुवन्ति । केचिदपि तत्रस्था एव प्रत्युपस्थापनाञ्जलिप्रणिपातनमस्कारोपहारैः परमसंविग्नाःसद्धर्मानुरागोत्फुल्लनयनवदनाः समभ्यर्चयन्ति ॥

अर्थ—उपर्युक्त वैमानिक देवोंमें उच्छ्वास आहार वेदना उपपात और अनुभावकी अपेक्षा भी ऊपर ऊपर हीनता[1] है । इनकी हीनताका क्रम किस प्रकारका है, सो आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये । किन्तु उसका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार है:—उच्छ्वास—सबसे जघन्य स्थितिवाले देवोंका उच्छ्वास सात स्तोकमें हुआ करता है । देवोकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है । इतनी स्थितिवाले देव सात स्तोक[2] बीत जानेपर उच्छ्वास लिया करते हैं, और उनको आहारकी अभिलाषा एक दिनके अन्तरसे हुआ करती है । जिनकी स्थिति एक पल्यकी है, वे एक दिनमें उच्छ्वास लिया करते है, और उनको पृथक्त्व[3] दिनमें आहारकी अभिलाषा हुआ करती है । सागरोपम स्थितिवालोंमें से जिनकी जितने सागरकी स्थिति है, वे

१—ऊपर गतिस्थिति आदि सूत्रमें बताये गये विषयोंके सिवाय इन विषयोंकी अपेक्षासे भी ऊपर ऊपर हीनता है, ऐसा भाष्यकारका अभिप्राय है । परन्तु अन्य विषयोंमे इनका अन्तर्भाव हो सकता है । २—इसका प्रमाण पहले बता चुके हैं । ३—दोसे नौतकको पृथक्त्व संज्ञा है । दिगम्बर सम्प्रदायमें तीनसे नौतकको पृथक्त्व कहते हैं । अर्थात् स्थितिके पल्योंके अनुसार आहारकी अभिलाषाके दिनोंका प्रमाण २ से ९ तकका यथा योग्य समझ लेना ।

उतने ही पक्ष व्यतीत होनेपर, उच्छ्वास लेते हैं, और उतने ही हजार वर्ष वीत जानेपर उनको आहारकी अभिलाषा हुआ करती है। वेदना—वेदना नाम सुख दुःखके अनुभवका है। यह भाव वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करता है। वेदनीयकर्म दो प्रकारका है—साता और असाता। साताके उदयसे सुखका अनुभव और असाताके उदयसे दुःखका अनुभव हुआ करता है। सुखानुभवको सद्वेदना और दुःखानुभवको असद्वेदना कहते है। देवोंके प्रायः सद्वेदना ही हुआ करती हैं, कभीं भी असद्वेदनाएं नहीं होतीं। यदि कदाचित् असद्वेदनाएं उनके हों भी, तो ज्यादःसे ज्यादः अन्तर्मुहूर्ततक ही हो सकती हैं, इससे अधिक नहीं। सद्वेदनाकी भी निरन्तर धारा—प्रवाहरूप प्रवृत्ति ज्यादःसे ज्यादः छह महीनातक चल सकती है, इससे अधिक नहीं। छह महीनाके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तके लिये वह छूट जाती है, अन्तर्मुहूर्तके बाद फिर चालू हो जाती है। उपपात—देवपर्यायमें जन्मग्रहण करनेको उपपात कहते है। किस प्रकारका जीव कहाँतक की देवपर्यायको धारण कर सकता है, वह इस प्रकार है—जो अन्य लिङ्गी मिथ्यादृष्टि है, वे अच्युत स्वर्गतक जाते हैं, इससे ऊपर नहीं जा सकते। अर्थात् जो जैनेतर लिङ्गको धारण करनेवाले और मिथ्या ही दर्शन—मतको माननेवाले हैं, वे मरकर आरण अच्युत कल्पतक जन्म ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि हैं, वे मरकर नवग्रैवेयक पर्यन्त जन्मग्रहण कर सकते है, इससे ऊपर नहीं[1]। जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु हैं, वे मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त योग्यतानुसार कहीं भी जन्म-ग्रहण कर सकते है। अर्थात् जिनलिङ्गी सम्यग्दृष्टियोका उपपात सौधर्मसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त है। एक विशेष नियम और भी है, वह यह कि जो चौदह पूर्वका ज्ञान रखनेवाले हैं, वे साधु मरकर ब्रह्मलोकसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त जा सकते है। अर्थात् चौदह पूर्वके पाठी मरकर ब्रह्मस्वर्गसे नीचेके कल्पमें जन्म ग्रहण नहीं करते। अनुभाव—परिणमन अथवा कार्यविशेषमें प्रवृत्ति करनेको अनुभाव कहते हैं। देवोंके विमान निरालम्ब हैं—सब विना आधारके ही ठहरे हुए हैं। इसी प्रकार जो सिद्धक्षेत्र है, वह भी निरालम्ब ही है। अतएव इस विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि ये विना आधारके किस तरह ठहरे हुए है? इसका उत्तर यही है, कि इस प्रकारसे ठहरनेका कारण मात्र लोकस्थिति है। लोकस्थिति लोकानुभाव लोकस्वभाव और जगद्धर्म तथा अनादि परिणाम सन्तति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अर्थात् अनादि पारिणामिक स्वभाव ही ऐसा है, कि जिसके निमित्तसे उनका ऐसा ही परिणमन होता है, कि

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग माने हैं, उनमें से बारहवें सहस्रारतक अन्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि जा सकते हैं, ऐसा माना है। यथा—परमहंस नामा परमती, सहस्रार ऊपर नहिं गती। द्रव्यलिङ्गधारी जे जती, नवग्रैवक ऊपर नहिं गती॥ (दण्डक)

जिससे वे आकाशमें विना आधारके यथास्थान वायुमें ठहरे रहते हैं। अनादिकालसे जिस प्रकार ठहरे हुए हैं, अनन्त कालतक भी उसी प्रकारसे ठहरे रहेंगे। अतएव इस प्रकारसे ठहरनेमें वस्तुका अनादि पारिणामिक स्वभाव ही कारण समझना चाहिये।

परमर्षि भगवान् अरिहंतदेवके जन्मकल्याणका महाभिषेकोत्सव जब होता है,[1] अथवा जब निःक्रमण-कल्याणक उपस्थित होता है, और तीर्थंकर भगवान् दीक्षा धारण करते हैं,[2] यद्वा ध्यानाग्निके द्वारा चार घातिया कर्मोको नष्ट कर देनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है[3], तथा कैवल्य प्रकट होनेके अनंतर महान् समवसरणकी[4] रचना हुआ करती है, एवं च जब आयु पूर्ण होनेपर शेष समस्त कर्मोके नष्ट हो जानेसे निर्वाण-कल्याणका प्रसङ्ग आता है, उस समय समस्त देवोंके सोने बैठने और चलने फिरने आदिके आधारभूत स्थान चलायमान–कम्पायमान हो जाया करते हैं[5]। उस समय जो देव अपने आसनपर बैठे हों वे, जो सो रहे हों वे और जो केवल स्थित हों वे, अपने अपने आसनके–बैठने सोने और ठहरनेके आधारके सहसा कम्पित होनेसे चलायमान हो जाया करते हैं। अपने स्थानसे चलकर उसी समय भगवानकी स्तुति वन्दना आदि करते हुए उत्सवके मनानेमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस तरह आसनोंका कम्पित होना और देवोंका चलायमान होना किसका कार्य कहा जा सकता है? तो इसका कारण या तो शुभ कर्मोंका फलोदय अथवा लोकका अनुभाव–स्वाभाविक अनादि परिणाम ही कहा जा सकता है। जब आसन आदि कम्पित होते हैं, तब सहसा इस प्रकारकी क्रियाओको देखकर वे देवगण उसके कारणको जाननेके लिये अवधिज्ञानका उपयोग लेते हैं। अवधिका उपयोग करनेपर जब वे देखते है, कि भगवान् अरहंतदेवके तीर्थंकर नामकर्मके उदयसे असाधारण–जो अरिहंतके सिवाय अन्य किसी भी देवमें न पाई जाय, ऐसी धर्म-

---

१—गर्भ-कल्याणकका उत्सव मनानेके लिये भी देव आया करते हैं, परन्तु उसका उल्लेख भाष्यकारने क्यों नहीं किया, सो समझमें नहीं आता। संभव है कि जन्मके कहनेसे ही गर्भ जन्म दोनोंका बोध कराना अभीष्ट हो। भगवान्को जन्मते ही सब देव मिलकर सौधर्मेन्द्रकी मुख्यतामे मेरुपर लेजाते हैं, और वहाँ क्षीरसमुद्रके जलसे १००८ कलशोंसे उनका अभिषेक करते हैं। कलशोंका प्रमाण त्रिलोकसारमें और जन्म तथा शेष कल्याणोंका विशेष स्वरूप शातिनाथ पुराण आदिग्रथों में देखना चाहिये। २—भगवान्–जब दीक्षा धारण करनेके लिये घर छोड़कर वनको जाते हैं, तब देवोकी लाई हुई विशेष पालखीमें बैठकर जाते हैं। उस पालखीको थोड़ी दूर तक मनुष्य लेकर चलते है, पीछे देव आकाश मार्गसे उसको ले जाते है। ३—केवलज्ञानकी उत्पत्ति तीर्थंकरोंके सिवाय अन्य साधुओंको भी हो सकती है। अतएव तीर्थंकरोंके ज्ञानकल्याणका उत्सव मनानेके सिवाय अन्य केवलियोंके कैवल्योत्पत्तिके समय भी देव उसका उत्सव मनानेके लिये आया करते हैं। ४—तीर्थंकर भगवान्के उपदेशकी जगह। इसमें १२ सभाएं और उनके मध्यमें गन्धकुटी हुआ करती है। इसकी रचना अत्यत महान् है। इसका विशेष स्वरूप त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें देखना चाहिये। ५—आसन कम्पित होते हैं, मुकुट नम्रीभूत होते हैं, व्यन्तरोंके यहाँ पटह–ध्वनि, भवनवासियोंके यहाँ शंख–ध्वनि, ज्योतिष्कोंके यहाँ सिंहनाद, वैमानिकोंके यहाँ घंटाका नाद–शब्द हुआ करता है। इस अकस्मात् घटनासे आश्चर्यान्वित होकर वे अवधिज्ञानको जोड़ते हैं। तब उन्हें उसका कारण कल्याणकका समय मालूम होता है।

विभूति प्रकट हुई है, तो उनमेंसे कितने ही देव संवेगको प्राप्त होते हैं, और समीचीन धर्मको बहुमान–अत्यन्त सम्मान देनेके लिये स्वर्गसे मर्त्यलोकमें आकर भगवान् अरिहंतदेवके चरणोंके मूलमें उपस्थित होकर उनकी स्तुति वन्दना और उपासनामें प्रवृत्त होकर तथा हितोपदेशको श्रवण करके आत्म-कल्याणको प्राप्त हुआ करते हैं। कोई कोई देव मर्त्यलोकमें नहीं आते, वे अपने अपने स्थानपर ही रहकर खड़े होकर अञ्जलि-हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र होकर नमस्कार करके और भेंट पूजाका द्रव्य चढ़ाकर परम संवेगको प्राप्त हुए समीचीन धर्मके अनुरागसे जिनके नेत्र और मुख खिल रहे हैं, वहींसे भगवान्का पूजन करते हैं।

भावार्थ—ऊपर ऊपरके देवोंकी गति आदि कम कम जो बताई है, उसके अनुसार वे देव प्रायः मर्त्यलोकमें नहीं आते। कभी आते भी है, तो पुण्यकर्मके उदयसे अथवा अनादि पारणामिक स्वभावके वश पंच कल्याणोंके अवसरपर ही आते हैं। कोई कोई देव उन अवसरोंपर भी नहीं आते। न आनेका कारण अभिमान नहीं है, क्योंकि अभिमान तो ऊपर ऊपर कम कम होता गया है; किन्तु न आनेका कारण संवेगकी अधिकता है। जिसके कि वश होकर वे अपने अपने स्थानपर ही पूजा महोत्सव करते हैं।

वैमानिक देवोंके विमानोंकी संख्या भेद स्थिति स्थान आदिका वर्णन किया, अब उनकी लेश्याका वर्णन प्राप्त है। उसके लिये भाष्यकार करते हैं कि—

भाष्यम्—अत्राह–त्रयाणां देवनिकायानां लेश्यानियमोऽभिहितः। अथ वैमानिकानां केषां का लेश्या इति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न–पूर्वोक्त तीनों देवनिकायों–भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्कोंकी लेश्याका नियम पहले बता चुके है। परन्तु वैमानिकोंकी लेश्याका अभीतक कोई भी नियम नहीं बताया। अतएव कहिये कि किन किन वैमानिकोंके कौन कौनसी लेश्या होती है? इस प्रश्नका उत्तर निम्नलिखित सूत्रसे होता है, अतएव उसको कहते हैं—

सूत्र—पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २३ ॥

भाष्यम्—उपर्युपरि वैमानिकाः सौधर्मादिषुद्वयोस्त्रिषु शेषेषु च पीतपद्मशुक्ललेश्या भवन्ति यथासङ्ख्यम्। द्वयोः पीतलेश्या सौधर्मैशानयोः। त्रिषु पद्मलेश्याः, सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकेषु। शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिद्धाच्छुक्ललेश्याः। उपर्युपरि तु विशुद्धतरेत्युक्तम्।

अर्थ—यहाँपर वैमानिक देवोंका प्रकरण है, और उपर्युपरि शब्दका सम्बन्ध चला आता है। अतएव इस सूत्रका अर्थ भी इस प्रकरण और सम्बन्धको लेकर ही करना

१—संसाराद्भीरुता संवेगः। २ गुणस्तोकं समुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः। ३—"वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा। भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया॥ ४—आराधना–पूजा आदि।

चाहिये । यहाँपर जो लेश्याका नियम बताया है, वह ऊपरके वैमानिक देवोंके विषयमें क्रमसे घटित कर लेना चाहिये, अर्थात् सौधर्मादिक कल्पोंमें से दो तीन और शेष कल्पोंमें क्रमसे ऊपर ऊपरके वैमानिक देवोंको पीत पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या वाला समझना । सौधर्म और ऐशान इन दो कल्पोंमें तो पीतलेश्या है । इसके ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोक इन तीन कल्पोंमें पद्मलेश्या है । बाकीके अर्थात् लान्तकसे लेकर सर्वार्थसिद्धपर्यन्त वैमानिकोंकी शुक्ल लेश्या है । इनमें भी विशुद्ध विशुद्धतर और विशुद्धतमका ऊपरका क्रम जैसा कि पहले बता चुके हैं, यहाँपर भी समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर कल्पोंकी लेश्याओंका जो वर्णन है, वह सामान्य है । सूक्ष्म अंशोंकी अपेक्षासे वर्णन नहीं है । अतएव इस नियमको लक्ष्यमें रखकर ऊपरके देवोंमें नीचेके देवोंकी अपेक्षा लेश्याकी अधिक विशुद्धि समझनी चाहिये । जैसे कि सौधर्म और ऐशान् दोनोंमें ही पीत लेश्या बताई है, परन्तु सौधर्मकी अपेक्षा ऐशानमें पीतलेश्याकी विशुद्धि अधिक है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर भी लेश्यासे द्रव्यलेश्याका ही ग्रहण अभीष्ट है । क्योंकि भावलेश्या अध्यवसायरूप हैं, अतएव वे छहों ही वैमानिक देवोंमें पाई जाती हैं । यहाँपर जो लेश्याओंका नियम है, वह भावलेश्याओंके विषयमें है, ऐसा किसी किसीका कहना है, परन्तु टीकाकार को यह बात इष्ट नहीं है । दूसरी बात यह है, कि—पहले तीन निकायोंकी लेश्याका वर्णन कर चुके हैं, यहाँपर वैमानिकोंकी लेश्याका वर्णन किया है, यदि दोनों वर्णनोंको एक साथ कर दिया जाता, तो ठीक होता, ऐसी किसी किसीको शंका हो सकती है, परन्तु वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि वैसा करनेमें व्यतिकर दोष उपस्थित होता है, और ऐसा करनेसे सुखपूर्वक विषयका ज्ञान हो जाता है । पीत लेश्यावाले सौधर्म और ऐशान कल्पके देव सुवर्ण वर्ण हैं, सानत्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोकके देवोंके शरीरकी कान्ति पद्म कमलके समान है, लान्तकसे लेकर सर्वार्थसिद्धतकके देवोंके शरीरकी प्रभा धवलवर्ण है ।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता द्विविधा वैमानिका देवाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्चेति । तत् के कल्पा इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने वैमानिक देवोंके पहले दो भेद बताये थे—एक कल्पोपपन्न दूसरे कल्पातीत । इनमेंसे किसीका भी अर्थ तबतक अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता, जबतक कि कल्प शब्दका अभिप्राय न मालूम हो । किन्तु कल्प शब्दका अर्थ अभीतक सूत्र द्वारा अनुक्त है । अतएव कहिये कि कल्प किसको कहते हैं? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र द्वारा कल्प शब्द का अर्थ बताते हैं—

सूत्र—प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा भवन्ति सौधर्मादय आरणाच्युतपर्यन्ता इत्यर्थः। अतोऽन्ये कल्पातीताः।

अर्थ—ग्रैवेयकोंसे पहले पहलेके जो विमान हैं, उनको कल्प कहते हैं। अर्थात् सौधर्म स्वर्गसे लेकर आरण अच्युत पर्यन्त जितने विमान हैं, उन सबकी कल्प संज्ञा है। अतएव इनसे जो शेष बचते है—अर्थात् ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानोंको कल्पातीत कहते हैं। जो कल्पोंमें उपपाद—जन्म ग्रहण करते हैं, उनको कल्पोपपन्न और जो ग्रैवेयकादिकोंमें उपपन्न होते हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं। अच्युतपर्यन्त को कल्प कहनेका कारण वहाँपर इन्द्र आदिक दश प्रकारके देवोंकी कल्पनाका होना है, यह बात पहले बता चुके हैं।

भाष्यम्—अत्राह-किं देवाः सर्वे एव सम्यग्दृष्टयो यद्भगवतां परमर्षीणामर्हतांजन्मादिषु प्रमुदिता भवन्ति इति। अत्रोच्यते—न सर्वे सम्यग्दृष्टयः किन्तु सम्यग्दृष्टयः सद्धर्मबहुमानादेव तत्र प्रमुदिता भवन्त्यभिगच्छन्ति च। मिथ्यादृष्टयोऽपि च लोकचित्तानुरोधादिन्द्रानुवृत्त्या परस्परदर्शनात् पूर्वानुचरितामिति च प्रमोदं भजन्तेऽभिगच्छन्ति च। लोकान्तिकास्तु सर्व एव विशुद्धभावाः सद्धर्मबहुमानात्संसारदुःखार्तानां च सत्त्वानामनुकम्पया भगवतां परमर्षीणामर्हतां जन्मादिषु विशेषतः प्रमुदिता भवन्ति। अभिनिःक्रमणाय च कृतसंकल्पान्भगवतोऽभिगम्य प्रहृष्टमनसः स्तुवन्ति सभाजयन्ति चेति ॥

अर्थ—प्रश्न—क्या सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं, कि जो परमर्षि भगवान् अरहंतदेवके जन्मादिक कल्याणोंके समय प्रमुदित हुआ करते है ? उत्तर—नहीं, सभी देव सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तो सद्धर्मके बहुमानसे ही प्रमुदित होते हैं, और उनके पादमूलमें आकर स्तुति आदिमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी उस कार्यमें प्रवृत्त तो होते हैं, परन्तु सद्धर्मके बहुमानसे प्रवृत्त नहीं हुआ करते, किन्तु लोगोंके चित्तके अनुरोधसे अथवा इन्द्रका अनुवर्तन करनेके लिये यद्वा आपसकी देखा देखी, या हमारे पूर्वज इस कामको करते आये हैं, अतएव हमको भी करना चाहिये, ऐसी समझसे प्रमोदको प्राप्त होते हैं, और भगवान् अरहंत देवका अभिगमन करते हैं। लौकान्तिक देव जो बताये हैं, वे सभी विशुद्ध भावोंको धारण करनेवाले—सम्यग्दृष्टि हैं। वे सद्धर्मके बहुमानसे अथवा संसार दुःखोंसे आर्त—पीडित—प्राणियोंके ऊपर दया करके—सदय परिणामोंके कारण परमर्षि भगवान् अरहंत—देवके जन्मादि कल्याणोंके समय विशेषरूपसे प्रमुदित हुआ करते हैं, और जिस समय भगवान् अभिनिःक्रमण—तपस्या या दीक्षा धारण करनेके लिये संकल्प करते हैं, उस समय वे भगवान्के निकट आते है, और अत्यंत हर्षित चित्तसे उनकी स्तुति करते हैं, तथा उन्हें वैसा करनेके लिये प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—लौकान्तिक देव सम्यग्दृष्टि होते है। इसी लिये वे भगवान् अर्हंतदेवके जन्म लेनेपर या दीक्षाका विचार करनेपर विशेषरूपसे हर्षित होते हैं, और उनके निकट आकर उनके

उस विचारकी अत्यंत प्रशंसा करते है, और संसारके ताप त्रयसे संतप्त जीवोंके ऊपर अनुकम्पा भावसे कहते है, कि हे भगवन्, आपने जो यह विचार किया है, वह अतिशय स्तुत्य है। आपने तीन जगत्का उद्धार करनेके लिये ही अवतार धारण किया है । आपके दीक्षा धारण किये विना जीवोंका अज्ञान और क्लेश दूर नहीं हो सकता । अतएव इन दीन प्राणियोंपर कृपा करके शीघ्र ही तपस्यामें प्रवृत्त हो कैवल्य को प्राप्त करके इनको हितका उपदेश दीजिये ।

लौकान्तिकोंके सिवाय अच्युत कल्प पर्यन्तके देवोंमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके देव हुआ करते है। यद्यपि जिन भगवान्के जन्मादि कल्याणोंके समय दोनों ही प्रकारके देव सम्मिलित होते है, और स्तुति वन्दना प्रणाम नमस्कार पूजोपहारादिमें स्वयं प्रवृत्त होते है। फिर भी दोनोंकी अन्तरङ्ग रुचिमें महान् अन्तर है । जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे बहुमान पूर्वक भगवान्के कल्याणकोंका यह अवसर है, यह बात आसन कम्पनादिका निमित्त पाकर जोड़े गये अवधिज्ञानेक द्वारा मालूम होते ही सहसा उस उत्सवको मनानेमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी ऐसी प्रवृत्तिका कारण सद्धर्मका अनुराग, दर्शनविशुद्धि, भक्ति--भावका अतिरेक, भक्तिवश जिन भगवान्का अनुसरण करनेकी विशिष्ट भावना, कल्याणोत्सव मनानेका अनुराग, तीर्थंकर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई असाधारण विभूतिको देखनेके लिये उत्पन्न हुई उत्सुकता, तत्त्वस्वरूपमें उत्पन्न हुई शंकाओंको दूर करनेकी अभिलाषा, नवीन प्रश्न करनेकी सदिच्छा आदि हैं । इन कारणोंके वश होकर ही वे तीर्थंकर भगवान्के चरणमूलमे आते है, और वहींपर अपनी आत्माका अत्यन्त एकान्ततः हित सिद्ध होना समझकर उनकी स्तुति वन्दना पूजा उपासना और धर्मश्रुतिमें प्रवृत्त होते हैं. जिससे कि वे अपनी और परकी आत्माओंको श्रद्धा तथा संवेगके द्वारा कल्मषतासे रहित बना देते है । किन्तु मिथ्यादृष्टि देवोंमें यह बात नहीं है । वे दूसरोंके अनुरोधसे, अथवा इन्द्र जैसा करते हैं, वैसा नहीं करेंगे, तो वे संभवतः कुपित हो, ऐसा समझकर इन्द्रका अनुसरण करनेके अभिप्रायसे, वहाँपर दूसरे देव करते है, उनकी--सम्यग्दृष्टियोंकी देखा देखी, अपने पूर्वजोंका आचरण समझकर उसमें प्रवृत्ति करते हैं । उनके हृदयमें सद्धर्मके प्रति स्वयं बहुमान नहीं होता ।

जो ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी है, वे अपने स्थानपर ही से मन वचन और कायके द्वारा एकाग्र भावना स्तुति और हाथ जोड़ना प्रणाम करना आदि कार्योंमें प्रवर्तन किया करते है ।

१---लौकान्तिकोंका यह नियोग--नियम ही है, कि जब तीर्थंकर भगवान् दीक्षाका विचार करें, उसी समय वे आकर उनकी स्तुति करें । २---कुलाचार समझकर । जिस प्रकार यहाँपर बहुतसे लोक अपने अपने कुलके देवी देवोंको यह समझकर पूजा करते हैं, कि हमारे पूर्वज इनको पूजते थे, इसलिये हमें भी पूजना चाहिये । इसी तरह स्वर्गोमें कितने ही मिथ्यादृष्टि देव अरंहतको अपना कुलदेव समझकर पूजते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह-केपुनर्लौकान्तिकाः कतिविधा वेति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—वैमानिक देवोंका वर्णन करते हुए आपने लौकन्तिक देवोंका नामोल्लेख जो किया है वे कौन है ? और कितने प्रकारके हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेके सत्रका उपस्थापन करते हैं—

सूत्र—ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः। ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति। तद्यथा—

अर्थ—ब्रह्मलोक है, आलय—स्थान जिनका उनको कहते हैं ब्रह्मलोकालय। लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकालय ही होते हैं। अर्थात् लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही निवास करनेवाले हैं, वे अन्य कल्पोंमें निवास नहीं करते, और न कल्पोंसे परे ग्रैवेयकादिकमें ही निवास करते हैं। अर्थात् सूत्र करनेकी सामर्थ्यसे ही एवकारका अर्थ निकल आता है। उस सामर्थ्यलभ्य एवकारको ही भाष्यकारने यहाँपर स्फुट कर दिया है। इसका फल अवधारण अर्थको दिखाना ही है। अन्यथा कोई यह समझ सकता था, कि ब्रह्मलोक—पाँचवें स्वर्गमें लोकान्तिक देव ही रहते हैं। सो यह बात नहीं है, ऐसा दिखाना भी- इसका अभिप्राय है। अर्थात् ब्रह्मलोकमें अनेक देव रहते हैं, उनमें ही लोकान्तिक देव रहते हैं। परन्तु लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं रहते। लोकांतिकोंके निवास स्थानको इस तरह खास तौरसे बतानेका कारण उनकी विशिष्टताको प्रकट करना है। क्योंकि अन्य देवोंकी अपेक्षा लोकान्तिक देव विशिष्ट हैं। उनमें विशिष्टता दो कारणसे है। एक तो निवास—स्थान की अपेक्षा दूसरी अनुभावकी अपेक्षा। इनका निवास—स्थान ब्रह्मलोकमें जहाँपर दूसरे सामान्य देव रहते हैं, वहाँपर नहीं है, किन्तु ब्रह्मलोकके अन्तमें चारों तरफ आठों दिशाओंमें—चार दिशा और चार विदिशाओंमें है। इसीलिये इनको लोकान्तिक कहते हैं। क्योंकि जिस प्रकार साधुओंके निवास—स्थान शहरके बाहर बने हुए होते हैं, उसी प्रकार इनके भी ब्रह्मलोकके अन्तमें—बाहर आठ दिशाओंमें आठ निवास—स्थान बने हुए हैं। उन्हींमें ये उत्पन्न होते है, और उन्हींमें ये रहते हैं। अतएव निवास—स्थानकी अपेक्षा विशेषता है[१]। अथवा लोक शब्दका अर्थ जन्म मरण जरारूप संसार भी है, उसका

१—लोको ब्रह्मलोकस्तस्यान्तं बाह्यप्रदेशःतत्र वसन्ति तत्रभवा इति वा लौकान्तिकाः। २—मध्य लोकमें असंख्यात द्वीप समुद्रोंमेंसे एक अरुणवर नामका भी समुद्र है। उसमेंसे अत्यंत सघन अन्धकारका पटल निकलता है। वह ऊपर ब्रह्मलोकतक चला गया है। वह इतना निविड है, कि एक देवभी उसमेसे निकलनेमें घबड़ा जाता है। वह अंधकार ऊपर जाकर ब्रह्मलोकके नीचे अरिष्ट विमानके प्रस्तारमें अक्षपाटकके आकार आठ श्रेणियोंमें विभक्त हो गया है। इन्हीं श्रेणियोंमेंसे दो दो श्रेणियोंके मध्यमें सारस्वत आदि एक एक लोकान्तिक देवका निवास—स्थान है। आठ दिशाओंमें रहनेवालोंके आठ भेद यहाँ बताये हैं, परन्तु शास्त्रोंमें नौ भेद हैं। आठोंके मध्यमें एक अरिष्ट विमान और है।

अन्त इन्होंने कर दिया है, इसलिये भी इनको लोकान्तिक कहते है। क्योंकि इन्होंने कर्मोंके क्षयका अभ्यास कर लिया है, अब ये मनुष्य-पर्यायको धारण करके नियमसे मुक्त होनेवाले हैं। अतएव अनुभावकी अपेक्षासे भी इनमें विशेषता है। आठ दिशाओंमें रहनेके कारण ही लोकान्तिकोंके आठ भेद हैं। अर्थात् लोकान्तिकोंकी आठ जाति हैं। एक एक जातिके लोकान्तिक एक एक नियत दिशामें रहते हैं। उन आठ भेदोंके नाम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतः[1] ॥२६॥

भाष्यम्—एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासङ्ख्यम्। तद्यथा-पूर्वोत्तरस्यां दिशिसारस्वताः, पूर्वस्यामादित्याः, इत्येवं शेषाः।

अर्थ—ये सारस्वत आदि आठ प्रकारके देव ब्रह्मलोककी पूर्वोत्तरादिक दिशाओंमें क्रमसे प्रदक्षिणारूपसे रहते है। जैसे कि पूर्वोत्तर दिशामें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, इसी प्रकार शेष वह्नि आदिके विषयमें समझना चाहिये।

भावार्थ—पूर्व और उत्तर दिशाके मध्यमें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, पूर्व और दक्षिणके मध्यमें वन्हि, दक्षिणमें अरुण, दक्षिण और पश्चिमके मध्यमें गर्दतोय, पश्चिममें तुषित, पश्चिम और उत्तरके मध्यमें अव्यावाध, और उत्तर दिशामें मरुत् नामक लोकान्तिक देवोंका निवासस्थान है। आठोंके मध्यमें अरिष्ठ नामका एक विमान और है। इस प्रकार कुल मिलाकर लोकान्तिकोंके नौ भेद हैं, और शास्त्रोंमें नौ भेद ही बताये हैं। यहाँपर ग्रन्थकारने जो आठ भेद गिनाये है, वे दिग्वर्तियोंके है। ब्रह्मलोकके बाहर आठ दिशामें रहनेवाले आठ ही है।

ऊपर यह बात बता चुके हैं, कि अच्युतपर्यन्त कल्पोंके देव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके है, और ग्रैवेयक तथा अनुत्तरवासी सभी देव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टियोंके लिये यह नियम है, कि जिनका सम्यक्त्व छूटा नहीं है, ऐसे भव्यजीव ज्यादः से ज्यादः सात आठ भव और कम से कम दो तीन भव संसारमें बिताकर अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। यह सामान्य नियम सभीके लिये है, वही विजयादिक अनुत्तरवासियोंके लिये भी समझा जा सकता था। परन्तु उनमें कुछ विशेषता है। अतएव उस विशेषताको बतानेके लिये ही सूत्र करते हैं:—

सूत्र—विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—विजयादिष्वनुत्तरेषु विमानेषु देवा द्विचरमा भवन्ति। द्विचरमा इति ततश्च्युताः परं द्विर्जनित्वा सिध्यन्तीति। सकृत् सर्वार्थसिद्धमहाविमानवासिनः, शेषास्तु भजनीयाः॥

[1]—"व्यावाधारिष्ठमरुतः" इति "व्यावाधारिष्ठाश्चेति च पाठान्तरे।

अर्थ—विजयादिक पाँच अनुतर विमान जो बताये हैं, उनमेंसे सर्वार्थसिद्धको छोड़कर बाकी चार विमानोंके देव द्विचरम हैं। द्विचरम कहनेका अभिप्राय यह है, कि इन विमानोंसे च्युत होकर दो बार जन्म धारण करके निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमानके देव एक भव धारण करके ही सिद्ध हो जाते हैं। बाकी सम्यग्दृष्टियोंके लिये आगमोक्त सामान्य नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेना चाहिये—

भावार्थ—इस कथनसे कोई यह समझ सकता है, कि एक जीव जो विजय वैजयन्त जयन्त या अपराजितमेंसे किसी भी विमानमें उत्पन्न हुआ और वहाँकी आयु पूर्ण करके मनुष्य हुआ। यह एक जन्म हुआ। पुनः दूसरा जन्म धारण करके मनुष्य भवसे फिर मनुष्य होकर—मोक्षको प्राप्त हुआ करता है। परन्तु यहाँपर नियम जो बताया है, उसका ऐसा अभिप्राय नहीं है। उसका आशय यह है, कि विजयादिक विमानोंसे दो जन्म धारण करके मोक्षको जाया करते हैं। अर्थात् एक जीव विजयादिकमें उत्पन्न होकर मनुष्य हुआ, मनुष्य होकर फिर विजयादिकमें गया, विजयादिकसे पुनः मनुष्य होकर मुक्त होता है। इसके सिवाय दो जन्म धारण करनेका अभिप्राय ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, कि इनको अवश्य ही दो जन्मधारण करने पड़ें। परिणामोंके अनुसार एक भव धारण करके भी मुक्त हो सकते हैं। क्योंकि दोका नियम उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है।[1]

भाष्यम्—अत्राह–उक्तं भवता जीवस्यौदयिकेषु भावेषु तिर्यग्योनि–गतिरिति। तथा स्थितौ " तिर्यग्योनीनां च " इति। आस्रवेषु " माया तैर्यग्योनस्य " इति। तत्के तिर्यग्योनय इति? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न–दूसरे अध्यायके छठे सूत्रका व्याख्यान करते हुए जो जीवके औदयिक भाव गिनाये हैं, उनमें आपने तिर्यग्योनि गतिका भी उल्लेख किया है। तीसरे अध्यायके अन्तमें आयुकी स्थितिका वर्णन करते हुए सूत्र १८ " तिर्यग्योनीनां च " में भी तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख किया है। इसी प्रकार छट्ठे अध्यायमें आस्रवके प्रकरणमें " माया तैर्यग्योनस्य " (सूत्र १७) में भी इसका नामोल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक स्थलोंपर तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख करके भी अभीतक यह नहीं बताया, कि वे तिर्यग्योनि कौन हैं? अर्थात्–संसारी जीव चार गतियोंमें विभक्त हैं–नारक तैर्यग्योन मानुष और देव। इनमेंसे

१—द्विचरमताका अर्थ कोई कोई ऐसा करते हैं, कि–विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्य हुआ, और मनुष्यसे फिर सर्वार्थसिद्धिमें गया। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होकर सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। परन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि इससे सर्वार्थसिद्धिका अतिशय प्रकट होता है, न कि विजयादिको का। सर्वार्थसिद्धिके देव एक मनुष्य भव धारण करके मोक्षको जाते हैं, यह नियम है। विजयादिके दवोंको प्रतनुकर्मवाला लिखा है यथा–" अणुत्तरोववादियाणं देवा णं भंते! केवइएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववादियत्तेण उववन्ना? गोयमा! जावतिअन्नं छट्ठभत्तीए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेइ एवतिएणं कम्मावसेसेण अणुत्तरो ववाइयत्ताए उववन्ना॥ "

नारक मानुष और देवोंका अभीतक वर्णन किया गया है, परन्तु तैर्यग्योन भेदका नामोल्लेख करनेके सिवाय और कुछ भी वर्णन नहीं किया, अतएव कहिये, कि तैर्यग्योन किनको समझना? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—औपपातिकेभ्यश्च नारकदेवेभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथोक्तेभ्यः शेषा एकेन्द्रियादयस्तिर्यग्योनयो भवन्ति ॥

अर्थ—उपपात जन्मवाले नारक और देव, तथा गर्भज और सम्मूर्छन दोनों प्रकारके मनुष्य इनके सिवाय जितने भी संसारी जीव बचे—एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त वे सब तिर्यग्योनि कहे जाते हैं।

भावार्थ—तिर्यग्योनि किन किन जीवोंको समझना सो यहाँपर बताया है। देवादिकोंके समान तिर्यग्योनि जीवोंके आधार—निवासस्थानका भी वर्णन करना चाहिये। परन्तु उसका वर्णन किया नहीं है, क्योंकि वे सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रह रहे हैं। यद्यपि प्रधानतया तिर्यग्लोक—मध्यलोकमें ही इनका आवास है, फिर भी सामान्यसे स्थावर कायका सद्भाव सर्वत्र ऊर्ध्व और अधोलोकमें भी पाया जाता है। तिर्यग्लोकमें मुख्य आवास रहनेके कारण ही इनकी तिर्यग्योनि संज्ञा है[1]।

भाष्यम्—अत्राह-तिर्यग्योनिमनुष्याणां स्थितिरुक्ता। अथ देवानां का स्थितिरिति? अत्रोच्यते—

अर्थ—**प्रश्न**—तिर्यग्योनि और मनुष्योंकी जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुकी स्थितिका प्रमाण तीसरे अध्यायके अन्तमें बता चुके हैं। अतएव उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु देवोंका प्रकरण चल रहा है, और उनकी आयुकी स्थिति जघन्य या उत्कृष्ट कैसी भी अभीतक बताई भी नहीं है। अतएव कहिये कि देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लियेही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—स्थितिः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—स्थितिरित्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यते ॥

अर्थ—यह अधिकार-सूत्र है। अतएव इसका अभिप्राय इतना ही है, कि यहाँसे आगे स्थितिका वर्णन करेंगे। अर्थात् "वैमानिकानां" सूत्रसे लेकर अबतक वैमानिक देवोंका अधिकार चला आ रहा था। परन्तु वहींपर यह बात कही जा चुकी है, कि स्थितिके

1—यहाँपर इस सूत्रके करनेसे लाघव होता है, अतएव देवोंके प्रकरणमें भी तिर्यग्योनिका स्वरूप बता दिया है।

प्रकरणसे पहले पहले यह अधिकार समझना । यहाँसे अब स्थितिका प्रकरण शुरू होता है । अतएव वैमानिकोंका ही सम्बन्ध यहाँसे न समझकर सामान्य देवोंका सम्बन्ध समझना चाहिये । यदि यही बात है, तो देवोंके चार निकायोंमें से सबसे पहले देवनिकाय—भवनवासियोंकी स्थितिका ही पहले वर्णन करना चाहिये । सो ठीक है—भवनवासी भी दो भागोंमें विभक्त हैं—एक तो महामन्दरमेरुकी अवधिसे दक्षिण अर्धके अधिपति दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति । स्थिति भी दो प्रकारकी है—जघन्य और उत्कृष्ट । इनमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अधिपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—भवनेषु तावद्भवनवासिनां दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धं परा स्थितिः । द्वयोर्यथोक्तयोर्भवनवासीन्द्रयोः पूर्वो दक्षिणार्धाधिपतिः पर उत्तरार्धाधिपतिः ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे जो दक्षिण अर्धके अधिपति हैं, उन भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्यकी है । पहले कहे अनुसार भवनवासियोंके दो इन्द्रोंमेंसे—चमर बलि आदिमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अधिपति हैं, और दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति हैं ।

भावार्थ—असुरेन्द्रोंकी स्थिति आगे चलकर इसी प्रकरणमें बतावेंगे अतएव उस भेदको छोड़कर शेष भवनवासियोंमेंसे दक्षिण अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति—आयुका-प्रमाण डेढ़ पल्य समझना चाहिये ।

क्रमानुसार उत्तर अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण कितना है, सो बताते हैं—

सूत्र—शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—शेषाणां भवनवासिष्वाधिपतीनां द्विपल्योपमे पादोने परा स्थितिः । के च शेषाः ? उत्तरार्धाधिपतय इति ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे शेष अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पाद—चतुर्थ भाग कम दो पल्यकी उत्कृष्ट स्थिति है । प्रश्न—शेषसे किनको लेना या समझना चाहिये ? उत्तर—महामन्दरमेरुकी अवधिसे उत्तर अर्धके जो अधिपति हैं उनको, अथवा यों कहिये कि पूर्वसूत्रमें जिनका निर्देश किया जा चुका है, उनसे जो बाकी बचे, वे सभी भवनवासी शेष शब्दसे लिये जाते हैं । हाँ, असुरेन्द्रोंकी स्थितिका वर्णन आगेके सूत्रमें स्वतन्त्ररूपसे करेंगे अतएव उत्तरार्धाधिपतियोंमेंसे असुरेन्द्र बलिका यहाँपर ग्रहण नहीं समझना ।

भावार्थ—असुरेन्द्र बलिके सिवाय सभी उत्तरार्धाधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पौने दो पल्यकी है ।

अब दोनों असुरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—असुरेन्द्रयोस्तुदक्षिणार्धाधिपत्युत्तरार्धाधिपत्योः सागरोपममधिकं च यथा सङ्ख्यम् परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—असुरेंद्र दो हैं—चमर और बलि । दक्षिण अर्धके अधिपति चमर और उत्तर अर्धके अधिपति बलि हैं । इनकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर और एक सागरसे कुछ अधिक है ।

भावार्थ—सागरका प्रमाण पहले बता चुके हैं, तदनुसार चमरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरकी है, और उत्तरार्धाधिपति बलिराजकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरसे कुछ अधिक है । यहाँपर भावनेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति सामान्यसे बताई है । विशेष कथन " व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः " इस वाक्यके अनुसार आगमसे समझ लेना चाहिये । यथा—असुरकुमारियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साढ़े चार पल्यकी है । बाकी नागकुमारी प्रभृति सम्पूर्ण भवनवासिनियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम एक पल्यकी है । इत्यादि ।

इस प्रकार भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया । अब जघन्य स्थितिका वर्णन करना चाहिये और उसके बाद क्रमानुसार व्यन्तर और ज्योतिष्कोंकी स्थितिका वर्णन करना चाहिये । परन्तु ऐसा करनेमें गौरव होता है, अतएव ग्रन्थलाघवके लिये इस विषयको आगेके लिये छोड़कर पहले वैमानिक निकायकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये प्रस्तावरूप सूत्रको कहते हैं:—

सूत्र—सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—सौधर्ममादिं कृत्वा यथाक्रममित ऊर्ध्वं परा स्थितिर्वक्ष्यते ।

अर्थ—अब यहाँसे आगे वैमानिक देवोंकी—सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान-तकके सभी देवोंकी आयुकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे बतावेंगे । अर्थात—इस सूत्रके द्वारा केवल इस बातकी प्रस्तावना की है, कि अब वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया जायगा ।

अब प्रतिज्ञानुसार वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतानेके लिये सबसे पहले सौधर्म और ऐशान आदि कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—सागरोपमे ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—सौधर्मे कल्पे देवानां परा स्थितिर्द्वे सागरोपमे इति ।

अर्थ—सबसे पहले सौधर्म कल्पमें देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है ।

भावार्थ—यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र अथवा सामानिक देवोंकी अपेक्षासे समझनी चाहिये। शेष सामान्य दूसरे देवोंकी स्थिति जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्टके मध्यमें अनेक भेदरूप है ।

अब ऐशान कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—अधिके च ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—ऐशाने द्वे सागरोपमे अधिके परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—ऐशान कल्पवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है, और कुछ अधिक है।

भावार्थ—यह भी इन्द्र और सामानिकोंकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये। तथा इस सूत्रमें यद्यपि ऐशान कल्पका नाम नहीं लिया है, फिर भी यथासङ्ख्य-क्रमसे ऐशानका ही बोध होता है। क्योंकि पहले प्रस्तावनारूप सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख किया है। अन्यथा पहले सूत्रमें सौधर्म कल्पका सम्बन्ध भी नहीं लिया जा सकता।

क्रमानुसार सनत्कुमार कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—सप्त सनत्कुमारे ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—सनत्कुमारे कल्पे सप्त सागरोपमाणि परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—सनत्कुमार कल्पमें रहनेवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरकी है। यह भी स्थिति इन्द्रादिकोंकी है।

माहेन्द्र कल्पसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पोंके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥३७॥

भाष्यम्—एभिर्विशेषादिभिरधिकानि सप्त माहेन्द्रादिषु परा स्थितिर्भवति। सप्तेति वर्तते। तद्यथा-माहेन्द्रे सप्त विशेषाधिकानि। ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्त दशेत्यर्थः। लान्तके सप्तभिरधिकानि सप्त चतुर्दशेत्यर्थः। महाशुक्रे दशभिरधिकानि सप्त सप्तदशेत्यर्थः। सहस्रारे एकादशभिरधिकानि सप्त अष्टादशेत्यर्थः। आनतप्राणतयोस्त्रयोदशभिरधिकानि सप्त विंशतिरित्यर्थः। आरणाच्युतयोः पञ्चदशभिरधिकानि सप्त द्वाविंशतिरित्यर्थः ॥

अर्थ—पूर्व सूत्रसे इस सूत्रमें सप्त शब्दकी अनुवृत्ति आती है। अतएव इस सूत्रका अर्थ यह होता है, कि माहेन्द्र आदि कल्पवर्त्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति इस सूत्रमें बताये गये विशेषादिकोंसे अधिक सात सागर प्रमाण क्रमसे समझनी चाहिये। अर्थात्—माहेन्द्र कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे कुछ अधिक है। ब्रह्मलोकवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन अधिक सात सागर अर्थात् दश सागर प्रमाण है। लान्तक विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् चौदह सागर प्रमाण है। महाशुक्र विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दश सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् सत्रह सागर प्रमाण है। सहस्रार कल्पवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति ग्यारह सागरसे अधिक सातसागर अर्थात् अठारह सागर प्रमाण है। आनत और प्राणत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेरह सागरसे

अधिक सात सागर अर्थात् बीस सागर प्रमाण है । आरण और अच्युत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति पंद्रह सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् बाईस सागर प्रमाण है । यहाँपर आनत और प्राणत कल्पकी पृथक् पृथक् स्थिति न बताकर इकट्ठी बताई है । इसी प्रकार आरण और अच्युतकी भी इकट्ठी ही बताई है। इसका कारण यह है, कि ये दो दो कल्प एक एक इन्द्रके द्वारा भोग्य है ।

कल्पातीत देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं:-

सूत्र—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेनाधिका स्थितिर्भवति नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । आरणाच्युते द्वाविंशतिर्ग्रैवेयकेषु पृथगेकैकेनाधिका त्रयोविंशतिरित्यर्थः । एवमेकैकेनाधिका सर्वेषु नवसु यावत्सर्वेषामुपरि नवमे एकत्रिंशत् । सा विजयादिषु चतुर्ष्वप्येकेनाधिका द्वात्रिंशत् । साप्येकेनाधिका[1] सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदिति ॥

अर्थ—आरण और अच्युत कल्पके ऊपर नव ग्रैवेयक और विजयादिक चार तथा सर्वार्थसिद्ध इनमें क्रमसे एक एक सागर अधिकाधिक उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण समझना । आरण अच्युत कल्पमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है, यह बात ऊपरके सूत्रकी व्याख्यामें बता चुके हैं । इसके ऊपर नव ग्रैवेयकोंमें पृथक् पृथक्—एक एक ग्रैवेयकमें एक एक सागर अधिक अधिक होनेसे उन उन ग्रैवेयकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण होता है । अर्थात् पहले ग्रैवेयककी तेईस सागर, दूसरे ग्रैवेयककी चौबीस सागर, तीसरे ग्रैवेयककी पचीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । इसी प्रकार अन्तिम ग्रैवेयक तक एक एक सागरका प्रमाण बढ़ता गया है । अन्तिम—नवमें ग्रैवेयककी उत्कृष्ट स्थिति इकतीस सागरकी है । ग्रैवेयकोंके ऊपर चारों विजयादिकोंमें एक ही सागरकी वृद्धि है । अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त और अपराचित इन चारों ही विमानवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बत्तीस सागरकी है । इसके ऊपर सर्वार्थसिद्धमें एक सागर और बढ़ जाती है । अर्थात् सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंकी उत्कृष्ट[2] स्थिति तेतीस सागरकी है ।

१—साप्येकेनाधिका त्वजघन्योत्कृष्टा इति पाठान्तरम् साधीयः । २—सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागरकी स्थिति अजघन्योत्कृष्ट है, यह बात आगे चलकर लिखी है, तथा आगमका नियम भी ऐसा ही है । परन्तु यहाँ भाष्यकारके लेखसे यह बात प्रकट नहीं होती । एक एक सागरकी क्रमसे वृद्धि बतानेसे सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागर उत्कृष्ट स्थिति सिद्ध होती है, और आगे बताये हुए "परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा" सूत्रके द्वारा सर्वार्थसिद्धमें जघन्य ३२ सागरकी स्थिति सिद्ध होती है । उस सूत्रकी भाष्यके साथ "अजघन्योत्कृष्टासर्वार्थसिद्ध इति" ऐसा जो पाठ है, वह कासस्थ है । वह पाठ भाष्यकारका मालूम नहीं होता ।

भावार्थ—सर्वार्थसिद्धके देवोंकी स्थितिमें यह विशेषता समझनी चाहिये, कि वहाँपर जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद नहीं है। एक ही भेद है, जिसका कि प्रमाण तेतीस सागर है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धमें जितने भी देव होते हैं, सबकी आयुकी स्थिति तेतीस सागर ही हुआ करती है।

भाष्यम्—अत्राह-मनुष्यतिर्यग्योनिजानां परापरे स्थिती व्याख्याते। अथौपपातिकानां किमेकैव स्थितिः परापरे न विद्येते इति। अत्रोच्यतेः—

अर्थ—प्रश्न-पहले मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी जो स्थिति बताई है, वह दो प्रकारकी बताई है—उत्कृष्ट और जघन्य। यहाँपर औपपातिक जन्मवालोंकी जो स्थिति बताई है, वह एक ही प्रकारकी है—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है। उसमें उत्कृष्ट और जघन्य ऐसे दो भेद नहीं है। सो क्या वह एक ही प्रकारकी है—उसमें जघन्योत्कृष्ट भेद हैं ही नहीं? या और ही कुछ बात है? इसके उत्तरमें आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—सौधर्मादिष्वेव यथाक्रममपरा स्थितिः पल्योपममधिकं च। अपरा जघन्या निकृष्टेत्यर्थः। परा प्रकृष्टा उत्कृष्टेत्यनर्थान्तरम्। तत्र सौधर्मेऽपरा स्थितिः पल्योपममैशाने पल्योपममधिकं च।

अर्थ—अब जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं। वह भी क्रमसे सौधर्मादिकके विषयमें ही समझनी चाहिये। सौधर्म और ऐशानमें जघन्य स्थिति क्रमसे एक पल्य और एक पल्यसे कुछ अधिक है। अर्थात् सौधर्म कल्पमें जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पल्य है, और ऐशान कल्पमें एक पल्यसे कुछ अधिक है। अपर जघन्य और निकृष्ट शब्दोंका एक ही अर्थ है। तथा पर प्रकृष्ट और उत्कृष्ट शब्दोंका एक अर्थ है[1]।

सूत्र—सागरोपमे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—सानत्कुमारेऽपरा स्थितिर्द्वे सागरोपमे ॥

अर्थ—सानत्कुमार कल्पमें रहने वाले देवोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दो सागरोपम है।

सूत्र—अधिके च ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रे जघन्या स्थितिरधिके द्वे सागरोपमे ॥

अर्थ—माहेन्द्रकल्पवर्ती देवोंकी जघन्यस्थितिका प्रमाण दो सागरोपमसे कुछ अधिक है।

१—स्थिति शब्द स्त्रीलिङ्ग है। अतएव उसके विशेषणरूपमें आनेपर ये शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो जाते हैं। जैसा कि अपरा जघन्या आदि मूलमें पाठ दिया गया है।

यहाँसे आगे जघन्य स्थितिका क्या हिसाब है, सो बताते हैं—

सूत्र—परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रात्परतः पूर्वा परा (पूर्वा) ऽनन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति । तद्यथा-माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या स्थितिर्भवति, ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तके जघन्या । एवमा सर्वार्थसिद्धादिति । (विजयादिषुचतुर्षु परा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साऽजघन्योत्कृष्टा सर्वार्थसिद्ध इति)

अर्थ—माहेन्द्र कल्पसे आगेके कल्पोंमें जघन्य स्थितिका प्रमाण इस प्रकार है, कि पहले कल्पकी जो उत्कृष्ट स्थिति होती है, वही आगेके कल्पकी जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है। जैसे कि—माहेन्द्र कल्पमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण सात सागरसे कुछ अधिक है, वही आगेके कल्प—ब्रह्मलोकमें जघन्य स्थितिका प्रमाण है। इसी प्रकार ब्रह्मलोकमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण जो दश सागरोपम है, वही आगेके कल्प—लान्तकमें जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है। इसी तरह आगेके सम्पूर्ण कल्पोंमें सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त यही क्रम समझना चाहिये (विजयादिक चार विमानोंमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तेतीस[1] सागर है, वही आगेके विमान सर्वार्थसिद्धमें जघन्य स्थितिका प्रमाण है। किन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानकी स्थितिमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है। वहाँ तेतीस सागरकी ही स्थिति है।)

उपपात जन्मवालोंकी जघन्य स्थितिके विषयमें प्रश्न करते हुए पूछा था, कि इनकी स्थिति एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है या क्या? उपपात जन्म नारक—जीवोंका भी है, और उनकी भी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन पहले कर चुके हैं, किन्तु अभीतक जघन्य स्थितिका वर्णन नहीं किया है, अतएव उनके विषयमें भी यही प्रश्न है। परन्तु यहाँपर देवोंकी ही जघन्य स्थिति-का अभीतक उल्लेख किया है। इसलिये यहाँपर नारकजीवों की भी जघन्य स्थिति बताना आवश्यक है। इसके सिवाय अन्यत्र उसके वर्णन करनेमें ग्रन्थ—गौरव और यहाँपर वर्णन करनेमें ग्रन्थका लाघव होता है। क्योंकि उपर्युक्त सूत्रमें बताया हुआ ही क्रम नारक—जीवों-की जघन्य स्थितिके विषयमें है। अतएव अप्रकृत भी नारक—जीवोंकी जघन्य स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

१—इस सूत्रमें बताये हुए नियमके अनुसार विजयादिकमें जघन्य ३१ सागर और उत्कृष्ट ३२ सागर स्थिति सिद्ध होती है। परन्तु यहाँ कांसस्थ पाठमें ३३ सागर किस तरह बताई, सो समझमें नहीं आता। दूसरी बात यह है, कि यह पाठ भाष्यकारका मालूम भी नहीं होता। भाष्यकारको सर्वार्थसिद्धमें जघन्य ३२ सागरकी स्थिति इष्ट है, ऐसा मालूम होता है। जैसा कि टीकाकारने भी लिखा है कि—" भाष्यकारेण तु सर्वार्थसिद्धेऽपि जघन्या द्वात्रिंशत् सागरोपमाण्यधीता, तत्र विद्म. केनाभिप्रायेण । आगमस्तावदयं—" सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते ! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! अजहण्णुक्कोसेणं तित्तीसं सागरोवमाइं ठिई पन्नता । (प्रज्ञा० प० ४ सूत्र १०२)। सूत्र ३८ के भाष्यमे दिये हुए अजघन्योत्कृष्टा पाठसे टीकाकारका समाधान हो सकता है, परन्तु वह पाठ कहीं मिलता है, और कहीं नहीं। संभव है कि उन्हें यह पाठ न मिला हो, अथवा इसको उन्होंने प्रक्षिप्त—क्षेपक समझा हो।

सूत्र—नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—नारकाणां च द्वितीयादिषु भूमिषु पूर्वा पूर्वा परा स्थितिरनन्तरा परतः परतोऽपरा भवति। तद्यथा—रत्नप्रभायां नारकाणामेकं सागरोपमं परा स्थितिः। सा जघन्या शर्कराप्रभायाम्। त्रीणि सागरोपमाणि परास्थितिः शर्कराप्रभायां सा जघन्या वालुका प्रभायामिति। एवं सर्वासु। तमःप्रभायां द्वाविंशतिः सागरोपमाणि परा स्थितिः सा जघन्या महातमःप्रभायामिति॥

अर्थ—नारक-भूमियोंमें भी नारक जीवोंकी जघन्य स्थितिका क्रम वही है, जो कि पूर्व सूत्रमें देवोंके विषयमें बताया है। अर्थात् पहली पहली भूमिमें नारक-जीवोंकी जो अव्यवहित परा—उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण है, वही आगे आगेकी अव्यवहित भूमिमें जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है। यह क्रम द्वितीयादिक भूमियोंमें रहनेवाले नारकोंके विषयमें ही है। जैसे कि पहली भूमि—रत्नप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक सागरोपम है, वही आगेकी अव्यहित दूसरी भूमि—शर्कराप्रभाके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है। शर्कराप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तीन सागर है, वही आगेकी अव्यवहित तीसरी भूमि वालुकाप्रभामें नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है। यही क्रम अन्ततक—सातवी भूमितक सभी भूमियोंके विषयमें समझना चाहिये। इस क्रमके ही अनुसार छट्ठी भूमिमें जो उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बाईस सागरोपम है, वही छट्ठेसे अव्यवहित आगेकी—सातवीं भमिके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण समझना चाहिये।

भावार्थ—इस स्थितिके विषयमें यह बात विशेषरूपसे जाननेकी है, कि सातवीं भूमिमें पाँच बिल—नरक हैं, जिनमेंसे चार चारों दिशाओंमें हैं, और एक चारोंके मध्यमें है, जिसको अप्रतिष्ठान नरक कहते हैं। चार दिशाओंके जो चार बिल हैं, उनमें जघन्य २२ सागर और उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण स्थिति है। किन्तु मध्यके अप्रतिष्ठान नरकमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नही है। वहाँपर उत्पन्न होनेवाले या रहनेवाले नारकोंकी अजघन्योत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी ही है।

इस सूत्रमें द्वितीयादिक भूमियोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताया है, किन्तु पहली भूमिकी जघन्य स्थितिका प्रमाण अज्ञात ही रह जाता है, अतएव उसको भी बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—प्रथमायां भूमौ नारकाणां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः।

अर्थ—पहली भूमि—रत्नप्रभामें उपपन्न नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका है।

स्थितिके प्रकरणको पाकर भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्कोंकी स्थितिका भी वर्णन करना चाहते हैं। किंतु भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहले बता चुके हैं, जघन्य स्थिति अभीतक नहीं बताई है, अतएव उसीका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—भवनेषु च ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—भवनवासिनां च दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार (१००००) वर्षका है।

क्रमानुसार व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—व्यन्तराणां च ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां च देवानां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ।

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका ही है।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति अभीतक नहीं बताई है, अतएव उसको भी यहाँपर बताते हैं—

सूत्र—परा पल्योपमम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां परा स्थितिः पल्योपमं भवति ॥

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्योपम है।

क्रमानुसार ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४८ ॥

भाष्यम्— ज्योतिष्काणां देवानामधिकं पल्योपमं परा स्थितिर्भवति ।

अर्थ—ज्योतिष्क निकायके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्यसे कुछ अधिक है। अधिकका प्रमाण इस प्रकार है—चन्द्रमाका एक लाख वर्ष अधिक, और सूर्यका एक हजार वर्ष अधिक। ज्योतिष्क देवियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण आधा पल्य और पचास हजार वर्ष है।

इस सूत्रमें बताये हुए ज्योतिष्कोंके सिवाय ग्रहादिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—ग्रहाणामेकम् ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—ग्रहाणामेकम् पल्योपमं[1] स्थितिर्भवति ।

अर्थ—ग्रहोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्योपम है।

१—पल्योपमं परा स्थितिरिति पाठान्तरम्।

सूत्र—नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नक्षत्राणां देवानां पल्योपमार्धं परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र जातिके ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति आधा पल्य प्रमाण है ।

सूत्र—तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—तारकाणां च पल्योपमचतुर्भागः परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—प्रकीर्णक ताराओंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्यका चतुर्थ भाग है ।

ताराओंकी जघन्य स्थिति बताते हैं:—

सूत्र—जघन्या त्वष्टभागः ॥ ५२ ॥

भाष्यम्—तारकाणां तु जघन्या स्थितिः पल्योपमाष्टभागः ॥

अर्थ—ताराओंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पल्यका आठवाँ भाग मात्र है ।

सूत्र—चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ५३ ॥

भाष्यम्—तारकाभ्यः शेषाणां ज्योतिष्काणां चतुर्भागः पल्योपमस्यापरा स्थितिरिति ॥

इति श्रीतत्त्वार्थसंग्रहे अर्हत्प्रवचने देवगतिप्रदर्शनो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अर्थ—ताराओंसे शेष जो ज्योतिष्क देव है, उनकी अपरा—जघन्या स्थिति पल्यका एक चतुर्थ भाग है ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें देवगतिका जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

तत्त्वोंका नामनिर्देश करते समय ग्रन्थकी आदिमें सात तत्त्व गिनाये थे, उनमें सबसे पहला जीव तत्त्व था। गत चार अध्यायोंमें निर्देश स्वामित्वादि अनुयोगोंके द्वारा तथा लक्षण विधानादिके द्वारा उसका वर्णन किया। अब उसके अनन्तर क्रमानुसार अजीव तत्त्वका वर्णन होना चाहिये। अतएव इस अध्यायमें उसीका वर्णन करेंगे। इसी आशयको भाष्यकार प्रकट करते हैं—

भाष्यम्—उक्ता जीवाः, अजीवान् वक्ष्यामः।

अर्थ—जीव तत्त्वका वर्णन गत चार अध्यायोंमें किया जा चुका है। अब उसके अनन्तर यहाँपर अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे।

भावार्थ—जो तीनों कालमें द्रव्य प्राण और भाव प्राणोंको धारण करता है, उसको जीव कहते हैं[1]। उसके चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं[2]। उसका लक्षण दोनों प्रकारका साकार और अनाकार उपयोग है। इत्यादि विषयोंकी अपेक्षा जीव तत्त्वका वर्णन सामान्यतया पूर्ण हुआ। उसके अनन्तर निर्दिष्ट अजीव तत्त्व है। कालको साथ लेकर गिननेसे अजीव द्रव्यके पाँच भेद होते हैं। इनके विषयमें की गई प्रतिज्ञाके[3] अनुसार इन अजीव द्रव्योंके वर्णनका अवसर प्राप्त है। उनमेंसे एक काल द्रव्यको छोड़ कर शेष चार धर्मादिक द्रव्योंके स्वरूप और भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते हैं।—

सूत्र—अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः पुद्गलास्तिकाय इत्यजीवकायाः। तान् लक्षणतः परस्ताद्वक्ष्यामः। कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये अजीव काय है। इनका लक्षण आगे चलकर लिखेंगे। यहाँपर काय शब्दका ग्रहण जो किया है, सो प्रदेश और अवयवोंका बहुत्व दिखानेके लिये, अथवा अद्धारूप समयका निषेध दिखानेके लिये है।

भावार्थ—अजीव द्रव्य पाँच हैं–धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और काल। पाँचों ही द्रव्य अस्तिरूप–सत् हैं। अतएव उनके साथ अस्ति[4] शब्दका प्रयोग किया जाता है। दूसरी बात

१—जीवति जीविष्यति अजीवीत् इति जीवः। द्रव्य प्राण १० हैं–५ इन्द्रिय ३ योग १ आयु १ श्वासोच्छ्वास। भाव प्राण चेतनारूप है, संसारी जीवोके दोनो ही प्राण पाये जाते है। सिद्धोंके एक भावप्राण ही रहता है। २—नारकी तिर्यंच मनुष्य और देव। ३—जीवके अनन्तर अजीव द्रव्यका और उसमे धर्मादिक ४ का काल द्रव्यके साथ साथ वर्णन आगे करेंगे, ऐसी आचार्यने प्रथम प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार। ४—यह अस्ति क्रिया–अस् धातुके लट् लकारका प्रयोग नहीं है, किन्तु अव्यय है।

यह है, कि धर्मादिक चार द्रव्योंके प्रदेश बहुत हैं, और काल द्रव्यमें यह बात नहीं है, वह एक प्रदेशी ही है, अतएव काय शब्दके द्वारा उसका भेद दिखाया है, यहाँपर काय शब्दका अर्थ प्रदेश और अवयवोंका बहुत्व विवक्षित है। अतएव धर्मादिक चार द्रव्योंमें यह अर्थ घटित होता है, और काल द्रव्यमें घटित नहीं होता, इस बातको दिखानेके लिये ही काय शब्दका प्रयोग किया है।

धर्मादिक पाँचो ही द्रव्य अजीव भी हैं। क्योंकि उनमें जीवत्व-चैतन्य नहीं पाया जाता। जीवसे सर्वथा विरुद्ध अथवा जीवका सर्वथा अभाव ऐसा अजीव शब्दका अर्थ यहाँपर अभीष्ट नहीं है, किन्तु ये द्रव्य जीवरूप नहीं हैं, इतना ही अर्थ अभीष्ट है।

इस कथनसे धर्मादिक चार द्रव्योंमें अजीवत्व और कायत्व दोनों ही धर्म पाये जाते हैं, अतएव उनके लिये अजीव काय शब्दका प्रयोग किया है, क्योंकि ये अजीव भी हैं, और काय भी हैं। अर्थात् अजीव काय शब्दमें कर्मधारय[3] समास माना है[4]। कर्मधारय समास जिन पदोंमें हुआ करता है, उनकी वृत्ति परस्पर एक दूसरेको छोड़कर भी रहा करती है। जैसे कि "नीलोत्पल"। नील और उत्पल शब्दका कर्मधारय समास है, अतएव इन दोनों शब्दोंकी परस्परमें एक दूसरेको छोड़कर भी वृत्ति पाई जाती है। नीलको छोड़कर उत्पल शब्द रक्तोत्पल आदिमें भी रहता है, और उत्पल शब्दको छोड़कर नील शब्द वस्त्रादिकके साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार अजीव काय शब्दके विषयमें समझना चाहिये। अजीव शब्दको छोड़कर काय शब्दकी वृत्ति जीवमें पाई जाती है[5], और कायको छोड़कर अजीव शब्दकी वृत्ति काल द्रव्यमें भी पाई जाती है।

धर्म और अधर्म शब्दसे पुण्य पापको अथवा वैशेषिकादिकोंके माने हुए गुण विशेषको

१-काय शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है-चीयते इति कायः। काय शब्दसे शरीरावयवीका ग्रहण होता है, उसीके उपमा सादृश्यकी अपेक्षासे जिसमें बहुतसे अवयव या प्रदेश पाये जाते हैं, उनको भी काय शब्दके द्वारा ही कह दिया जाता है, अतएव धर्मादिक और पुद्गलके साथ काय शब्दका प्रयोग किया गया है।

२-प्रतिषेध दो प्रकारका हुआ करता है-प्रसज्य और पर्युदास। इनका लक्षण इस प्रकार है—" प्रतिषेधोऽर्थनिविष्ट, एक वाक्यं विधेः परः। तद्वानस्वपदोक्तश्च पर्युदासोऽन्यथेतरः॥" अर्थात् जिसमें सर्वथा निषेध पाया-जाय, उसको प्रसज्य और जिसमें सदृश पदार्थका ग्रहण हो, उसको पर्युदास कहते है। अस्तित्वादि गुणोंकी अपेक्षा जीव द्रव्य और धर्मादिक अजीव द्रव्योंमें सादृश्य पाया जाता है।

कोई कोई कहते हैं, कि जीवनामकर्मके उदयसे प्राणोंका धारण हुआ करता है। यहाँपर अजीव शब्दसे उस जीवनाम कर्मका ही निषेध अभीष्ट है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि आगममें कोई भी जीवनामकर्म नहीं माना है। इसके सिवाय एक दोष यह भी आवेगा, कि यदि जिनके जीवनामकर्मका उदय नहीं है, वे अजीव हैं, ऐसा अर्थ माना जाय, तो सिद्ध भी अजीव ठहरेंगे.

३—अजीवाश्च ते कायाश्च। ४-राहोःशिर- शिलापुत्रकस्य शरीरम्, की तरह अभेदमें षष्ठी माननेसे षष्ठी-तत्पुरुष समास भी हो सकता है। यथा-अजीवानां कायाः अजीवकायाः इति। ५-बहुप्रदेशी होनेसे जीव काय तो है, और इसी लिये पंचास्तिकायमें वह परिगणित है, परन्तु अजीव नहीं है, और काल द्रव्य काय नहीं है, अजीव है।

नहीं समझना चाहिये । किन्तु ये स्वतन्त्र द्रव्य हैं, जैसा कि आगेके सूत्रमें बताया जायगा । पुण्य पाप तो कर्मके भेद हैं, जिनका कि पुद्गल द्रव्यके भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

धर्मादिक चारोंकी द्रव्यता सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये द्रव्य हैं, अथवा पर्याय है । अतएव इस सन्देहकी निवृत्तिके लिये सूत्र करते है—

सूत्र—द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्तीति । उक्तं हि "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु, सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य " इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त सूत्रमें बताये हुए धर्मादिक चार और अनन्तर चार अध्यायोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे जीव द्रव्य हैं । अर्थात् पाँचोंकी ही द्रव्य संज्ञा है । जैसा कि पहले अध्यायके सूत्र " मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु " और " सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य " में द्रव्य शब्दका प्रयोग किया गया है ।

भावार्थ—द्रव्यका लक्षण आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र ३१ द्वारा बतावेंगे । वैशेषिकादि मतवालोंका कहना है, कि द्रव्य शब्दसे द्रव्यत्व जातिका ग्रहण हुआ करता है । जाति यह सामान्य नामका एक पदार्थ[1] है, अतएव द्रव्यत्व भी एक सामान्य पदार्थ ही है । और इस द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे ही द्रव्य कहा जाता है । परन्तु यह अभिमत ठीक नहीं है । क्योंकि सामान्य नामका पदार्थ पदार्थसे या द्रव्यसे भिन्न है, या अभिन्न है ? इनमेंसे किसी भी एक पक्षके लेनेपर सामान्य नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नही होता, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट करेंगे ।

इस सूत्रमें जो पाँच द्रव्य गिनाये हैं, उनके विषयमें तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं ।—ये कभी भी अपने स्वभावसे च्युत होते हैं या नहीं ? पाँच यह संख्या कभी विघटित होती है या नहीं ? और ये पाँचो ही द्रव्य मूर्त हैं अथवा अमूर्त ? इन तीनों ही प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये सूत्र करते हैं ।

सूत्र—नित्यावस्थितान्यरूपाणि च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति । तद्भावाव्ययं नित्यमिति । वक्ष्यते अवस्थितानि च । न हि कदाचित्पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति । अरूपाणि च, नैषां रूपमस्तीति । रूपं मूर्तिर्मूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शादय इति ॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त सूत्र द्वारा बताये हुए द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं, और अरूप हैं । नित्य शब्दका अभिप्राय आगे चलकर " तद्भावाव्ययम् नित्यम् " इस सूत्रके द्वारा बतावेंगे, अर्थात् वस्तुका जो भाव—स्वभाव है, उसके व्यय न होनेको नित्य कहते हैं । अतएव धर्मादिक

१—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः ।

चार और जीव इनमेंसे कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, कि जो अपने स्वरूपको छोड़ देता हो। धर्म द्रव्य अधर्मादिकरूप नहीं हो सकता, अधर्म द्रव्य धर्मादिकरूप नहीं हो सकता, इसी तरह आकाश शेष धर्मादिरूप नहीं हो सकता, न पुद्गल शेष द्रव्यरूप हो सकता है, और न जीवद्रव्य ही शेष द्रव्यरूप हो सकता है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वरूपको कायम रखता है–कोई भी द्रव्य कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होता, अतएव इस कथनसे पहले प्रश्नका उत्तर हो जाता है।

द्रव्यास्तिक नयको प्रधानतया लक्ष्यमें रखकर आचार्यने नित्य शब्दके द्वारा वस्तुके ध्रौव्य अंशका प्रतिपादन किया है। अतएव एकान्तवादरूप नित्यत्व नहीं समझना चाहिये। द्रव्योंके समान उनके गुण भी नित्य हैं, वे भी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि मुख्यतया द्रव्योंका और गौणतया द्रव्योंके आश्रित रहनेवाले गुणोंका अस्तित्व ध्रुव है।

दूसरे प्रश्नका उत्तर अवस्थित शब्दके द्वारा दिया है। अर्थात् द्रव्योंकी संख्या अवस्थित है। वह न कभी कम होती है और न अधिक। क्योंकि सभी द्रव्य अनादिनिधन हैं, और उनका परिणमन परस्परमें कभी भी एकका दूसरे रूप नहीं हुआ करता। सभी द्रव्य लोकमें अवस्थित रहकर परस्परमें सम्बन्ध रहते हैं। सम्बद्ध होनेपर भी कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता, और न दूसरे द्रव्यको अपने रूप ही परिणमाता है। अतएव अस्तिकायोंकी पाँच संख्या अवस्थित है।

तीसरे प्रश्नका उत्तर अरूप शब्दके द्वारा दिया है। यह विशेषण वास्तवमें धर्म अधर्म आकाश और जीव इन चारका ही है, पुद्गलका नहीं है। यही कारण है, कि अग्रिम सूत्रके द्वारा धर्मादिककी रूपवत्ताका निषेध किया जायगा। यहाँपर रूप शब्दका अर्थ मूर्ति है। रूप रस गन्ध स्पर्श इन गुणोंको और इन गुणोंसे युक्त द्रव्यको भी मूर्ति कहते हैं[५]।

१—काल द्रव्यका आगे चलकर वर्णन करेंगे, अतएव उसका यहाँपर ग्रहण नहीं किया है। कालको सम्मिलित करनेसे छह द्रव्य होते हैं। इस अपेक्षासे छहो द्रव्योंके विषयमें यह नियम समझना चाहिये। २–"नेर्ध्रुवे त्यप्" (सिद्ध० अ० ६ पा० ३ सूत्र १७) इति नित्यानि ध्रुवाणीत्यर्थः।

३ कालको साथ गिननेसे छह द्रव्य हैं। कोई कोई नित्यावस्थित ऐसा एक ही शब्द रखकर और नित्य शब्दको अवस्थितका विशेषण मानकर उसका अर्थ ऐसा करते हैं, कि जैसे किसीसे कहा जाय, कि यह मनुष्य नित्य प्रजल्पित है, उसका अर्थ यह होता है, कि यह प्रायः बोलता ही रहता है, इसी प्रकार नित्यावस्थित शब्दका भी यही अर्थ है, कि ये द्रव्य नित्य अवस्थित रहते हैं। अर्थात् नित्य शब्दका अर्थ आभीक्ष्ण्य है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। ऐसा माननेपर भाष्यकी संगति नहीं होती।

४—रूपिणः पुद्गलाः इस सूत्रके द्वारा। इसके अर्थकी निषेधपरता आगे मालूम होगी। विना विधिके निषेध नहीं हो सकता, अतएव यहाँपर पाँचों ही द्रव्योंका अरूपाणि ऐसा विशेषण दिया है। कोई कोई अरूपीणि ऐसा पाठ करते हैं, और कोई कोई इन् प्रत्यय न करके मत्वर्थीय मतुप् प्रत्ययको मानते हैं।

५—"गुणा रूपादयः पुंसि गुणि लिङ्गास्तु तद्वति।" कोई कोई यहाँपर रूप शब्दसे केवल रूप को ही लेते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि चारों गुणोंका साहचर्य है। इनमेंसे कोई भी एक गुण शेष तीन गुणोंको छोड़कर नहीं रह सकता।

उपर्युक्त सूत्रमे नित्य अवस्थित और अरूप ऐसे तीन विशेषण दिये हैं, वे सामान्यतया पाँचों ही विशेष्यरूप द्रव्योंके सिद्ध होते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है, अतएव सामान्य विधिके अपवादरूप कथनको करनेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—रूपिणः पुद्गलाः॥ ४॥

भाष्यम्—पुद्गला एव रूपिणो भवन्ति। रूपमेषामस्त्येषु वास्तीति रूपिणः।

अर्थ—उक्त धर्मादिक पाँच द्रव्योंमेंसे एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसे है, कि जो रूपी हैं। रूपी शब्दका अर्थ रूपवाला है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे बताई है—एक तो सम्बन्धकी अपेक्षासे दूसरी अधिकरणकी अपेक्षासे। सम्बन्धकी अपेक्षामें रूप और रूपवान्में कथंचित् भेद दिखाया है, और अधिकरणकी विवक्षामें कथंचित् इनमें अभेद है, ऐसा अभिप्राय प्रकट किया है। क्योंकि जिनेन्द्रभगवान्के प्ररूपित तत्त्वएकान्तात्मक नहीं अनेकान्तरूप हैं, और इसी लिये कदाचित् सम्बन्ध अथवा अधिकरण दोनोंमेंसे किसी भी अपेक्षामें दोनों अर्थ भी सङ्गत हो सकते हैं। क्योंकि रूपादि गुण द्रव्यसे भिन्न न कभी हुए न हैं, और न होंगे, और इनका भेद-व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध ही है, जैसे कि आमका पीला रंग, पीले आमका मीठा रस, मीठे आमकी सुगन्ध, सुगन्धित आमका स्निग्ध स्पर्श इत्यादि।

भावार्थ—इस सूत्रके द्वारा दो अर्थ व्यक्त होते हैं। एक तो धर्मादिकके साथ साथ पुद्गल भी अरूपी सिद्ध होते थे, उसकी निवृत्ति, दूसरा अनन्त पुद्गलोंके साथ रूपित्वका नित्यतादात्म्य। पहला अर्थ करते समय रूपिणः पुद्गला एव अर्थात् रूपी द्रव्य पुद्गल ही है, अन्य नहीं ऐसा अवधारणरूप अर्थ करना चाहिये। दूसरा अर्थ करते समय पुद्गला रूपिण एव अर्थात् सब पुद्गल रूपी ही है, ऐसा अवधारण करना चाहिये। क्योंकि वैशेषिकादि मत-वालोंने रूपादि रहित भी पुद्गल माने हैं[1]। उसके निराकरणके लिये ऐसा अवधारण आवश्यक है। वास्तवमे कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, जो कि रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त न हो, सभीमें चारों गुण पाये जाते हैं[2]। यह दूसरी बात है, कि किसीमें कोई गुण व्यक्त हो, किसीमें अव्यक्त[3]।

१—उत्पत्ति क्षणे द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति, ऐसा उनका सिद्धान्त है। तथा उन्होने पृथ्वीमें चारों गुण, जलमें तीन गुण, अग्निमें दो गुण, और वायुमें एक ही गुण माना है। पृथिवी आदिके परमाणु भी भिन्न भिन्न ही माने हैं। २—जिनमें जो गुण दिखाई नहीं पड़ता, उसके अस्तित्वका ज्ञान अनुमान द्वारा उसमें हो जाता है। जैसे कि वायुः रूपवान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। अतएव प्रत्येक पुद्गलमें रूप रस गंध स्पर्श चारों ही गुण मानने चाहिये। ३—यदि यह बात नहीं मानी जायगी, और एक गुणवाली दो गुणवाली तीन गुणवाली द्रव्य भी यदि मानी जायगी, तो प्रत्यक्ष विरोध भी आवेगा। देखा जाता है, कि वायुसे जलकी उत्पत्ति होती हैं, जलसे मोती आदि पृथ्वीकी और पृथ्वीसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। वायु आदिकमे जो गुण नहीं होंगे, वे जलादिक कार्यद्रव्यमें कैसे आसकते हैं? क्योंकि यह सिद्धान्त है कि "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।"

तथा पृथिवी जल अग्नि और वायुको भिन्न भिन्न द्रव्य और उनके परमाणुओंको सर्वथा भिन्न भिन्न जो बताया है, सो भी ठीक नहीं है। ये सब एक पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय हैं।

इस सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग जो किया है, सो बहुत्व संख्याको दिखानेके लिये है। क्योंकि मूलमें पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं, अणु और स्कन्ध। इनके भी उत्तरभेद अनेक हैं, जैसा कि आगेके कथनसे मालूम होगा। परन्तु कोई भी भेद ऐसा नहीं है, जो रूपादि युक्त न हो[1]। रूपादिके साथ पुद्गल द्रव्यका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषता दिखानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ५ ॥

भाष्यम्—आ आकाशाद् धर्मादीन्येकद्रव्याण्येव भवन्ति। पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि इति ॥

अर्थ—पूर्वोक्त सूत्रमें धर्मादिक द्रव्य जो गिनाये हैं, उनमेंसे धर्मसे लेकर आकाश पर्यन्त धर्म अधर्म और आकाश ये तीन जो द्रव्य हैं, वे एक एक हैं। बाकीके पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं।

भावार्थ—धर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक है। जो लोककी बराबर असंख्यातप्रदेशी होकर भी अखण्ड है। उसकी समान जातिका—गतिमें सहकारी दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी एक ही है। वह भी लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक ही अखण्ड द्रव्य है। उसकी भी समान जातिका—स्थितिमें सहकारी और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। सामान्यसे आकाश एक अखण्ड अनन्त प्रदेशी है। विशेष अपेक्षासे उसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है, अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। वास्तवमें ये दो भेद आकाशके उपचारसे हैं। आकाश एक अखण्ड द्रव्य ही है, और उसके समान भी अवगाहन देनेवाला दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। इस प्रकार ये तीनों द्रव्य एक एक ही हैं। किंतु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है। जीव भी अनन्त हैं, और पुद्गल भी अनन्त है, तथा प्रत्येक जीव और प्रत्येक पुद्गलकी सत्ता स्वतन्त्र और भिन्न भिन्न है।

१—रूपादिगुणवत्ता अथवा मूर्ति (रूपादि चारों गुणोके समूहको मूर्ति कहते हैं) यह पुद्गलका सामान्य लक्षण है। लक्षण अपने लक्ष्यको छोड़कर कभी नहीं रह सकता। अन्यथा वह लक्षण ही नहीं माना जा सकता। पुद्गलमें चारों गुणोका अस्तित्व किस तरह सिद्ध होता है, सो पहले वता चुके हैं। २—यहाँपर अनन्तसे मतलव अक्षयानन्तका है, क्योंकि जीव पुद्गल आकाश कालके समय आदि अक्षयानन्तराशिमें ही गिने गये हैं। अक्षयानन्तका लक्षण इस प्रकार है—सत्यपि व्ययसद्भावे, नवीनवृद्धेरभाववत्त्वंचेत्। यस्य क्षयो न नियतः, सोऽनन्तो जिनमते भणितः॥ जैन-सिद्धान्तमें अद्वैतादि मत-वालोंकी तरह एक ही जीव या उसको विभु नहीं माना है, और न अणुरूप ही माना है।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषताको वतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आ आकाशादेव धर्मादीनि निष्क्रियाणि भवन्ति । पुद्गलजीवास्तु क्रियावन्तः । क्रियेति गतिकर्माह ॥

अर्थ—धर्मादिक–आकाशपर्यन्त तीनों ही द्रव्य निष्क्रिय हैं । किन्तु पुद्गल और जीव ये दोनों द्रव्य क्रियावान् हैं । यहाँपर क्रिया शब्दसे गति कर्मको लिया है ।

भावार्थ—क्रिया दो प्रकारकी हुआ करती हैं । एक तो परिणामलक्षणा दूसरी परिस्पन्दलक्षणा । अस्ति भवति आदि क्रियाएं जोकि वस्तुके परिणमनमात्रको दिखाती हैं, उनको परिणामलक्षणा कहते हैं । जो एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रतक वस्तुको लेजानेमें अथवा उसका आकारान्तर बनानेमें कारण है, उसको परिस्पन्दलक्षणा क्रिया कहते है । यदि प्रकृतमें परिणामलक्षणा क्रिया ली जाय, तो धर्मादिक द्रव्योंके अभावका प्रसङ्ग आता है । क्योंकि कोई भी द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं हो सकता । तदनुसार धर्मादिकमें भी कोई न कोई परिणमन पाया ही जाता है । अस्ति भवति गत्युपग्रहं करोति आदि क्रियाओंका संभव व्यवहार धर्मादिकमें भी होता ही है । अतएव परिस्पन्दलक्षणा क्रियाका ही धर्मादिकमें निषेध समझना चाहिये[२]। जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय हैं; क्योंकि ये गतिमान् हैं, और इनके अनेक आकाररूप परिणमन होते हैं । धर्मादिक द्रव्योंका जो आकार है, वह अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक वही रहेगा । अर्थात् जीव पुद्गलके समान धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यका न तो आकारान्तर ही होता है, और न क्षेत्रान्तरमें गमन ही होता है ।

भाष्यम्—अत्राह––उक्तं भवता प्रदेशावयवबहुत्वं कायसंज्ञामिति । तत् क एष धर्मादीनां प्रदेशावयवनियम इति ? अत्रोच्यते ।––सर्वेषां प्रदेशाः सन्ति अन्यत्र परमाणोः । अवयवास्तु स्कन्धानामेव । वक्ष्यते हि—" अणवः स्कन्धाश्च । सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।

अर्थ—**प्रश्न**—आपने इसी अध्यायकी आदिमें काय संज्ञाके द्वारा प्रदेश और अवयवोंके बहुत्वको बताया है । अतएव इस विषयमें यह जाननेकी आवश्यकता है, कि धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेश और अवयवोंके लिये नियम क्या और कैसा है ? **उत्तर**—एक परमाणुके सिवाय-

---

१–अवगाहणादओ णणु गुणत्तओ च्चेव पत्तधम्मव्व । उप्पादादिसभावा तह जीवगुणावि को दोसो ॥ अवगाढारं च विणा कत्तोऽवगाहोत्ति तेण संजोगो । उप्पत्ती सोऽवस्सं गच्चुवकारादओ चेवं ॥ ण य पज्जयतो भिण्णं दव्वमिहेगं ततो जतो तेण । तण्णासंमि कहं वा नभादओ सव्वहा णिच्चा ॥ (विशेषावश्यके नमस्कारनिर्युक्तौगाथा–२८२१–२३)

२–निष्क्रियाणि च तानीति परिस्पन्दविमुक्तितः । सूत्रितं त्रिजगद्व्यापिरूपाणं स्पन्दहानितः ॥ १ ॥ सामर्थ्यात्सक्रियौ जीवपुद्गलाविति निश्चयः । .जीवस्य निष्क्रियत्वे हि न क्रियाहेतुता तनौ ॥२॥ नन्वेवं न क्रियत्वेपि धर्मादीना व्यवस्थितेः । नस्युः स्वयमभिप्रेता जन्मस्थानव्ययक्रियाः ॥ ७ ॥ इत्यपास्तं परिस्पन्दक्रियायाः प्रतिषेधनात् । उत्पादादिक्रियासिद्धेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ९ ॥ (श्रीविद्यानन्दिस्वामी, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्)

सभी द्रव्योंके प्रदेश हुआ करते हैं। किन्तु अवयव स्कन्धोंके ही हुआ करते हैं। जैसा कि " अणवः स्कन्धाश्च " और " सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते " इनके द्वारा अभिप्राय स्पष्ट करेंगे।

भावार्थ—इसी अध्यायके प्रारम्भके–पहले ही सूत्रमें " अजीवकाया " शब्दका प्रयोग किया है, और उसमें काय शब्दका अर्थ–" प्रदेशावयवबहुत्व " ऐसा किया है, जिसका अभिप्राय प्रदेशोंका बहुत्व और अवयवोंका बहुत्व होता है। परन्तु प्रदेश और अवयवोंके विषयमें कोई भी अभीतक नियम नहीं बताया है। अतएव पूँछनेवालेका आशय यह है, कि प्रदेश किसको कहते हैं, और अवयव किसको कहते हैं? तथा धर्मादिक द्रव्योंमेंसे किसके कितने किस प्रकारसे समझना? उत्तर–धर्म अधर्म आकाश और जीव तथा पुद्गल द्रव्यके भी प्रदेश हुआ करते हैं। परमाणुके प्रदेश–निषेधका अभिप्राय यह है, कि उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं होते, क्योंकि निरवयव पुद्गल द्रव्यांशको एकप्रदेशी माना है[1]। जितनेमें एक मूर्तिमान् द्रव्य–परमाणु आ जाय, उतने भागको प्रदेश कहते है। जो स्वभावसे ही पृथक् पृथक् हो सकें, अथवा प्रयोगपूर्वक जो पृथक् पृथक् किये जा सकें, या हो सकें, उनको अवयव कहते हैं। धर्म अधर्म आकाश और जीव इनमें प्रदेश हैं, परन्तु अवयव नहीं हैं, क्योंकि ये अखण्ड द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य दो प्रकारके हैं–अणु और स्कन्ध। अणु भी दो प्रकारके हैं–द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु[3]। स्कन्धके द्व्यणुकादिके भेदसे अनेक भेद हैं। इनमेंसे परमाणुके लिये भाष्य-कारने प्रदेशका निषेध किया है, इसका यह अर्थ नहीं है, कि स्कन्धोंके प्रदेश होते हैं। क्योंकि ऊपरके कथनसे यह बात तो स्पष्ट ही हो चुकी, कि प्रदेश अखण्ड द्रव्यके हुआ करते हैं। और स्कन्धोंमें भेद तथा संघात दोनों बातें पाई जाती हैं। अतएव स्कन्धोंके लिये अवयव शब्दका प्रयोग हुवा करता है, और धर्मादिकके लिये प्रदेश शब्दका प्रयोग हुआ करता है, जो द्रव्य-परमाणु है, उसके प्रदेश नहीं है, ऐसा ही कहा जाता है, क्योंकि उसके एक ही प्रदेश माना है, दो आदिक नहीं। भावपरमाणुके लिये यह नियम नहीं है[4]।

इस कथनसे धर्मादिकके बहुत प्रदेश हैं, यह बात मालूम हुई, परन्तु वे कितने कितने हैं, सो नहीं मालूम हुवा। अतएव उनकी इयत्ता बतानेके लिये सूत्र करते है।—

१—यहाँपर पर्यायांश परमाणुका ग्रहण नहीं समझना। क्योंकि इन्होंने प्रशमरति श्लोक २०८ में लिखा है, कि "परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः।" २—"निरवयवः खलु देशः खस्य क्षेत्रप्रदेश इति दृष्टः," ३–पुद्गल द्रव्यके सबसे छोटे खण्डको द्रव्यपरमाणु और उसके रूपादि पर्यायांशोंको भाव परमाणु कहते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें परमाणुके दो भेद नहीं माने हैं। गुणांशोंको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।

४—" नाणोः " इस सूत्रके द्वारा अणुके प्रदेशोका जो निषेध किया है, उसका तात्पर्य पूर्वसूत्रमें उल्लिखित प्रदेशोंके निषेध करनेका है। पहले सूत्रमें संख्यात असंख्यात और अनन्तका उल्लेख है। किन्तु एक प्रदेश तीनों-मेंसे किसीमें भी नहीं आता, क्योंकि संख्यात राशि दोसे शुरू होती है। एकको संख्यामें न लेकर संख्याके वाच्यमे लिया है। ५–जैसा कि प्रशमरतिका वाक्य पहले दिया गया है।

सूत्र—असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—प्रदेशो नामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाह इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त पाँच द्रव्योंमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं, अर्थात् प्रत्येक द्रव्यके असंख्यात असंख्यात प्रदेश[1] हैं। धर्मद्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है, और अधर्म द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी ही है। प्रदेश शब्दसे आपेक्षिक और सबसे सूक्ष्म परमाणुका अवगाह समझना चाहिये।

भावार्थ—परमनिरुद्ध निरवयव देशको प्रदेश कहते हैं। इसका स्वरूप समझनेमें द्रव्यपरमाणुकी अपेक्षा है। क्योंकि उसकी अपेक्षासे ही प्रदेशका स्वरूप आगममें बताया है[2]। जितने देशको एक द्रव्य परमाणु रोकता है, उसको प्रदेश कहते है। सबसे सूक्ष्म कहनेका अभिप्राय यह है, कि जितने क्षेत्रमें एक द्रव्यपरमाणुका अवगाहन होता है, उतने ही क्षेत्रमें अनेक परमाणुओंका तथा तन्मय स्कन्धका भी अवगाहन हुआ करता है, और हो सकता है[3]। परन्तु कोई भी एक परमाणु ऐसा नहीं है, कि दो प्रदेशोंका अवगाहन करता हो। अतएव परमाणुके सबसे सूक्ष्म अवगाहको ही प्रदेश समझना चाहिये। दूसरी बात यह भी है, कि धर्म अधर्म आकाश और जीवोंके प्रदेश आपेक्षिक होकर भी सूक्ष्म ही हैं न कि स्थल।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि अवगाह गुण और अवगाहन देनेका कार्य आकाशका ही है, अतएव प्रदेश भी वास्तवमें आकाशके ही हो सकते है, न कि धर्मादिकों के? सो ठीक है। यदि ऐसा भी माना जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। प्रदेशका स्वरूप मालूम हो जानेपर धर्मादिकके प्रदेशोंकी भी इयत्ता मालूम हो सकती है। क्योंकि लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उन्हींमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके भी प्रदेश व्याप्त होकर अवगाह कर रहे हैं—रह रहे हैं। अतएव धर्म और अधर्म दोनों ही द्रव्योंके प्रदेश बराबर हैं, यही बात यहाँपर व्यक्त की गई है।

असंख्यात प्रदेशका प्रकरण उपस्थित है, और जीवके भी उतने ही प्रदेश माने हैं जितने कि धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्यके हैं, अतएव उसके भी प्रदेशोंकी संख्याका नियम बतानेके लिये सूत्र करते हैंः—

सूत्र—जीवस्य ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एकजीवस्य चासङ्ख्येयाः प्रदेशा भवन्तीति ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शनरूप उपयोग स्वभाववाले जीवद्रव्य अनन्त है। उनमेंसे प्रत्येक

१—लोककी बराबर असंख्यात प्रदेशी धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य दोनो ही हैं। २—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। ३—" सव्वाणुठ्ठाणदाणरिहं।" (द्रव्यसंग्रह)

जीवके प्रदेश कितने हैं ? तो उनका भी प्रमाण असंख्यात ही है। जितने प्रदेश लोकाकाश और धर्म तथा अधर्म द्रव्यके हैं, उतने ही प्रदेश एक एक जीव द्रव्यके भी हैं।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि धर्म और अधर्म द्रव्यके अनंतर पठित क्रमके अनुसार आकाश द्रव्यके प्रदेश बताने चाहिये, सो न बताकर उससे पहले जीव द्रव्यके प्रदेशोंको बतानेका क्या कारण है ? उत्तर—इस क्रम-भंगका कारण यह है, कि इसके द्वारा पहले समान संख्यावाले द्रव्यके प्रदेशोंको बता दिया जाय। प्रश्न—यदि यही बात है, तो एक योग करना ही उचित था—पूर्वसूत्रमें ही धर्म अधर्मके साथ एक जीव द्रव्यका भी पाठ कर देना चाहिये था, सो न करके पृथक् क्यों किया ? उत्तर—इसका कारण यह है, कि इस सामर्थ्यसे आचार्यका अभिप्राय जीव द्रव्यके एक संकोच विकास स्वभावको भी साथमें बतानेका है। अन्यथा यह भ्रम हो सकता था, कि धर्म अधर्मके समान जीव द्रव्यके प्रदेश भी सम्पूर्ण लोकमें सतत फैले हुए ही रहते होंगे। परन्तु यह बात नहीं है, धर्म और अधर्म द्रव्यके प्रदेश सतत लोकमें विस्तृत ही रहते हैं—जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं—न घटते हैं न बढ़ते हैं। किन्तु जीवके प्रदेश संकुचित और विस्तृत हुआ करते हैं। क्योंकि जीव शरीरप्रमाण रहा करता है। जब हाथीके शरीरमें जीव रहता है, तब उसके वे सम्पूर्ण प्रदेश हाथीके शरीरके बराबर हो जाते हैं, और जब जीव उस शरीरसे निकलकर चींटीके शरीरमें पहुँचता है, तब उसके वे ही सब प्रदेश संकुचित होकर चींटीके शरीरके आकार और प्रमाणमें हो जाते हैं। यदि चींटीके शरीरसे निकलकर हाथीके शरीरमें जाता है, तब वे ही प्रदेश विस्तृत होकर हाथीके शरीरप्रमाण हो जाते हैं। इसी तरह सम्पूर्ण जीवोंके विषयमें समझना चाहिये।

क्रमानुसार आकाश द्रव्यके प्रदेशोंकी इयत्ता बताते हैं:—

सूत्र—आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—लोकालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः। लोकाकाशस्य तु धर्माधर्मैकजीवैस्तुल्याः॥

अर्थ—सूत्रमें आकाश शब्दका सामान्यतया पाठ किया है। अतएव लोक या अलोक दोनोंके पृथक् पृथक् प्रदेशोंको न बताकर दोनोंके समुदायरूपमें ही बताते हैं, कि लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंके मिलकर अनन्त[2] प्रदेश हैं। यदि विभागकी अपेक्षा रखकर

१—समुद्घात अवस्थामें शरीरके बाहर भी जीवके प्रदेश निकल जाते हैं। फिर भी जीवको शरीरप्रमाण ही कहा जाता है, क्योंकि समुद्घातके अनंतर प्रदेशोंके संकुचित होकर शरीरप्रमाण हो जानेपर ही मरण हुआ करता है। २—यहाँपर अनन्त शब्दसे अक्षयानन्त राशि ही लेनी चाहिये।

देखा जाय, तो लोकाकाशके प्रदेश धर्म द्रव्यके अथवा अधर्म द्रव्यके यद्वा एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी बराबर हैं ।

भावार्थ—विशेष दृष्टिसे यदि देखा जाय, तो जीव और अजीव द्रव्यका आधारभूत लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है । अर्थात् बाकीका अलोकाकाश अनन्त-अपर्यवसान है, क्योंकि अनन्तमेंसे असंख्यातके कम हो जानेपर भी अनन्त ही शेष रहते हैं । धर्म अधर्म एक जीव द्रव्य और लोकाकाश इन चारोंके प्रदेश बिलकुल समान हैं, किसीके भी न कुछ कम है न अधिक ।

क्रमानुसार पुद्गल द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं—

सूत्र—संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च पुद्गलानां प्रदेशा भवन्ति । अनन्ता इति वर्तते ।

अर्थ—इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे अनन्त शब्दकी अनुवृत्ति आती है । अतएव इसका आशय यह है, कि पुद्गल द्रव्यके प्रदेश संख्यात असंख्यात और अनन्त इस तरह तीनों ही प्रकारके होते हैं ।

भावार्थ—जिसमें पूरण गलन स्वभाव पाया जाय, उसको पुद्गल कहते हैं । इनकी परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त अनेक विचित्र अवस्थाएं हैं । संख्यात परमाणुओंका स्कन्ध संख्यात प्रदेशी, असंख्यात परमाणुओंका स्कन्ध असंख्यात प्रदेशी, और अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध अनन्त प्रदेशी कहा जाता है । यद्यपि सूत्रमें अनन्त प्रदेशिताका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु च शब्दके द्वारा पूर्वसूत्रसे अनन्त शब्दका अनुकर्षण होता है ।

अणु और स्कन्ध इस तरह पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं । जब कि अणु भी पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि वह भी परण गलन स्वभावको धारण करनेवाला है, तो पुद्गल द्रव्यके प्रकरणमें उसके भी प्रदेश बताने चाहिये । किन्तु यहाँपर स्कन्धोंके ही प्रदेश बताये हैं । सो क्या अणुके प्रदेश ही नहीं है? यदि यही बात है, तब तो उसको असद्रूप कहना चाहिये । यदि हैं तो कितने हैं? संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंके होनेपर वह अणु नहीं कहा जा सकता । किन्तु पुद्गल द्रव्यके प्रदेश तीन ही प्रकारके बताये है, सो तीनोंमें से यदि किसी भी प्रकारके प्रदेश नहीं माने जायँगे, तो अणुमें पुद्गलत्वके अभावका प्रसङ्ग आवेगा । **उत्तर**—अनेक द्रव्य परमाणुओंके द्वारा जिस प्रकार घटादिक पुद्गलस्कन्ध सप्रदेश है, उस प्रकार परमाणु नहीं है, । वह किस प्रकारका है, सो बतानेके लिये सूत्र करते है—

सूत्र—नाणोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—अणोः प्रदेशा न भवन्ति । अनादिरमध्योऽप्रदेशो हि परमाणुः ।

अर्थ—परमाणुके प्रदेश नहीं होते । उसके आदि मध्य और प्रदेश इनमेंसे कुछ भी नहीं हैं ।

भावार्थ—यहाँपर प्रदेशोंका जो निषेध किया है, सो द्रव्यरूप प्रदेशोंका ही है, तथा इसका भी अभिप्राय यह है, कि परमाणु स्वयं प्रदेशरूप है—एक प्रदेशवान् है, उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं हैं । अर्थात् द्वितीयादिक प्रदेशोंका ही निषेध है, न कि एक प्रदेशात्मकताका। इसी लिये उसके आदि और मध्यका भी निषेध किया है । क्योंकि जो अनेक प्रदेशी होगा उसीमें आदि मध्य विभाग हो सकते है । जो एक प्रदेशी है, वह अपना एक प्रदेश ही रखता है, फिर उसमें आदि मध्यका विभाग कैसे हो सकता है ?

धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य आकाशके समान आत्मप्रतिष्ठ—निराधार हैं, अथवा आधारकी अपेक्षा नहीं रखते हैं ? उत्तर—निश्चयनयसे सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ हैं,—आधारकी अपेक्षा नहीं रखते । अतएव धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य भी वास्तवमें अपने आधारपर ही स्थित हैं । किन्तु व्यवहारनयसे देखा जाय तो—

सूत्र—लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अवगाहिनामवगाहो लोकाकाशे भवति ॥

अर्थः—प्रवेश करनेवाले पुद्गलादिकोंका अवगाह—प्रवेश लोकाकाशमें होता है ।

भावार्थः—कहींपर भी समा जानेको या स्थान-लाभ करनेको अवगाह कहते हैं, सभी द्रव्य लोकाकाशमें ठहरे हुए हैं । परन्तु उनका ठहरना दो प्रकारका है ।—सादि और अनादि । सामान्यतया सभी द्रव्य अनादिकालसे लोकाकाशमें ही समाये हुए है । किन्तु विशेष दृष्टिसे जीव और पुद्गलका अवगाह सादि कहा जा सकता है । क्योंकि ये दोनों ही द्रव्य सक्रिय—गतिशील है, इनमें क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हुआ करता है । अतएव इनका लोकाकाशके भीतर ही कभी कहीं और कभी कहीं अवगाह होता है । परन्तु धर्म अधर्म द्रव्य ऐसे नहीं है । वे नित्यव्यापी हैं । अतएव उनका अवगाह सम्पूर्ण लोकमें सदा तदवस्थ रहता है—नित्य है ।

धर्मादिक द्रव्य लोकमें किस प्रकार व्याप्त हैं, और कितने भागमें व्याप्त हैं, यह बात सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इसी बातको बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहो भवतीति ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यका अवगाह पूर्ण लोकाकाशमें है ।

भावार्थ—अवगाह दो प्रकारसे सम्भव हो सकता है—एक तो पुरुषके मनकी तरह, दूसरा दूध पानीकी तरह । इनमेंसे दूध पानीकासा अवगाह प्रकृतमें अभीष्ट है, यह बात कृत्स्न शब्दके द्वारा बताई है । अथवा जिस प्रकार आत्मा शरीरमें व्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार धर्म अधर्म भी लोकाकाशमें व्याप्त होकर अनादिकालसे रह रहे हैं । ऐसा कोई भी लोकका प्रदेश नहीं है, जहाँपर धर्म या अधर्म द्रव्य न हो ।

पुद्गल द्रव्यके अवगाहका स्वरूप बताते हैं:—

सूत्र—एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अप्रदेशसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां पुद्गलानामेकादिष्वाकाशप्रदेशेषु भाज्योऽवगाहः । भाज्यो विभाष्यो विकल्प्य इत्यनर्थान्तरम्[1] । तद्यथा—परमाणोरेकस्मिन्नेव प्रदेशे, द्व्यणुकस्यैकस्मिन् द्वयोश्च । त्र्यणुकस्यैकस्मिन् द्वयोस्त्रिषु च, एवं चतुरणुकादीनां संख्येयासंख्येयप्रदेशस्यैकादिषु संख्येयेषु असंख्येयेषु च, अनन्तप्रदेशस्य च ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य चार प्रकारके है—अप्रदेश, संख्येयप्रदेश, असंख्येयप्रदेश और अनन्तप्रदेश । इनका लोकमें अवगाह जो होता है, सो एकसे लेकर संख्यात अथवा असंख्यात प्रदेशोंमें यथायोग्य समझ लेना चाहिये । भाज्य विभाष्य और विकल्प्य इन शब्दोंका एक ही अर्थ है, कि एकसे लेकर असंख्यात पर्यन्त जितने प्रदेशोंके भेद सम्भव है, और अप्रदेशसे लेकर अनन्त प्रदेशतक जितने स्कन्धोंके भेद सम्भव है, उनका यथायोग्य अवगाह्य अवगाहन समझ लेना चाहिये । यथा—जो परमाणु—अप्रदेश है, उसका अवगाह एक ही प्रदेशमें होता है, क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशरूप ही है । अतएव उसका अवगाह दो आदिक प्रदेशोंमें नहीं हो सकता । द्व्यणुकका अवगाह एक प्रदेशमें भी हो सकता है, और दो प्रदेशोंमें भी हो सकता है । त्र्यणुकका अवगाह एक प्रदेशमें भी हो सकता है, दोमें भी हो सकता है और तीनमें भी हो सकता है । इसी प्रकार चतुरणुकादिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । किन्तु इतनी विशेषता है, कि जो संख्यात या असंख्यात प्रदेशवाले स्कन्ध है, वे एकसे लेकर यथायोग्य संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन करते हैं; संख्यात प्रदेशी स्कन्ध असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं कर सकता है । अनन्त प्रदेशवाला स्कन्ध एकसे लेकर असंख्यात तक प्रदेशोंमें आ सकता है । वह अनन्त प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं करता । क्योंकि लोकके प्रदेश असंख्यात ही है न कि अनन्त ।

भावार्थ—पुद्गल द्रव्यमें जो अणु द्रव्य है उनका एक ही प्रदेशमें, किन्तु स्कन्धोंका योग्यतानुसार एकसे लेकर असंख्यात तक प्रदेशोंमें अवगाहन हुआ करता है । इस विषयमें यह शंका हो सकती है, कि एक प्रदेशमें संख्यात असंख्यात या अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंका समावेश किस तरह हो सकता है । अथवा लोक जब असंख्यात प्रदेशी ही है, तब उसमें अनन्तानन्त

१—धातूनामनेकार्थत्वात् ।

पुद्गल प्रभृति द्रव्य किस तरह समा सकते हैं। थोड़े क्षेत्रमें अधिक प्रमाणवाली वस्तु कैसे आ सकती है। क्या एक घटमें सम्पूर्ण समुद्रोंका जल आ सकता है ? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि परिणमन विशेषके द्वारा ऐसा भी संभव हो सकता है, कि छोटे क्षेत्रमें अधिक प्रमाण-वाली वस्तु आ जाय। जैसे कि एक मन रुई की जगहमें कई मन लोहा या पत्थर आ सकता है। अथवा एक ही कमरेमें अनेक दीपकोंका प्रकाश समा सकता है, उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

जीव द्रव्यका अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है, सो बताते हैं:—

सूत्र—असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—लोकाकाशप्रदेशानामसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति, आ सर्वलोकादिति ॥

अर्थ—लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उनके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्तमें जीवोंका अवगाह हुआ करता है।

भावार्थ—यह कथन प्रत्येक जीवकी अपेक्षासे है। प्रत्येक जीवका अवगाह्य-क्षेत्र कमसे कम लोकका असंख्यातवाँ भाग[1] और ज्याद: से ज्याद: सम्पूर्ण लोकतक हो सकता है। सूत्रमें "जीवानाम्" ऐसा बहुवचन जो दिया है, सो जीव अनन्त हैं, इसलिये दिया है। कोई एक जीव एक समयमें लोकके एक असंख्यातवें भागको रोकता है, तो वही जीव दूसरे समयमें अथवा कोई दूसरा जीव लोकके दो असंख्यातवें भागोंको रोकता है, कभी तीन चार आदि भागोंको या संख्येय भागोंको अथवा सम्पूर्ण लोकको भी रोकता है। संपूर्ण लोकमें व्याप्ति समुद्घातकी अपेक्षासे है। क्योंकि जब केवली भगवान् समुद्घात करते हैं, उस समय उनकी आत्माके प्रदेश क्रमसे दंड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण हुआ करते हैं[2]।

भाष्यम्—अत्राह-को हेतुरसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवतीति। अत्रोच्यते—

अर्थ—**प्रश्न**—जब कि जीवके प्रदेश लोकाकाशकी बराबर हैं, तब उसको भी धर्म द्रव्यकी तरह पूर्ण लोकमें ही रहना चाहिये। समान संख्यावाले प्रदेश जिन द्रव्योंके हों, उनके

१—क्योंकि अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना मानी है।

२—पहले दण्ड समुद्घातमें केवलीके प्रदेश ऊर्ध्व और अधो दिशाकी तरफ निकलकर लोकके अन्ततक और विष्कम्भमें शरीर प्रमाण ही फैलकर दण्डाकार परिणत होते हैं। दूसरे समयमें वे ही प्रदेश चौड़े होकर वातवलयको छोड़कर लोकके अन्ततक जाकर कपाटके आकारमें बन जाते हैं। तीसरे समयमें वे ही प्रदेश वातवलयके सिवाय पूर्ण लोकमें फैल जाते हैं, उसको प्रतर कहते हैं। चौथे समयमें जब वे ही प्रदेश फैलकर सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हो जाते हैं, तब लोकपूर्ण समुद्घात कहा जाता है। पीछे उसी क्रमसे चार ही समयमें संकुचित होते हैं, लोकपूर्णसे प्रतर, प्रतरसे कपाट, कपाटसे दण्ड, और दंडसे शरीराकार हो जाते हैं। आयुकर्मकी स्थितिके बराबर शेष कर्मोंकी स्थितिको करने के लिये यह समुद्घात होता है।

क्षेत्रको विषम संख्यावाला क्यों होना चाहिये ? अतएव जीवका अवगाह लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें होता है, इसका क्या कारण है ?

सूत्र–प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

भाष्यम्––जीवस्य हि प्रदेशानां संहारविसर्गाविष्टौ प्रदीपस्येव । तद्यथा–तैलवर्त्यग्न्युपादानवृद्धः प्रदीपो महतीमपि कूटागारशालां प्रकाशयत्यण्वीमपि । माणिकावृतः माणिकां द्रोणावृतो द्रोणमाढकावृतश्चाढकं प्रस्थावृतः प्रस्थं पाण्यावृतः पाणिमिति । एवमेव प्रदेशानां संहारविसर्गाभ्यां जीवो महान्तमणुं वा पञ्चविधं शरीरस्कन्धं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदायं व्याप्नोतीत्यवगाहत इत्यर्थः । धर्माधर्माकाशजीवानां परस्परेण पुद्गलेषु च वृत्तिर्न विरुध्यतेऽमूर्तत्वात् ।

अर्थ––दीपकके समान जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें संहार और विसर्ग अर्थात् संकोच और विस्तारका स्वभाव माना है, यही कारण है, कि उसका अवगाह लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें भी हो सकता है ।

भावार्थ––तेल बत्ती और अग्निरूप उपादान कारणोंके द्वारा उत्पन्न और वृद्धिको प्राप्त हुआ जो दीपक घरकी बड़ी बड़ी शालाओंको प्रकाशित करता है, वही छोटे छोटे कमरोंको भी प्रकाशित करता है । मानीसे आवृत मानीको, द्रोणसे आच्छादित द्रोणको, आढकसे ढका हुआ आढक को, और प्रस्थसे आवृत प्रस्थ को, तथा हाथसे ढका हुआ हाथ को प्रकाशित करता है । इसी प्रकार जीव भी अपने प्रदेशोंके संहार विसर्ग–संकोच विस्तारके कारण मोटे और छोटे पञ्चविध शरीर स्कन्धको व्याप्त किया करता है–धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीवके प्रदेश समूहका अवगाहन किया करता है । धर्म अधर्म आकाश और जीव द्रव्य परस्परमें भी अवगाहन कर सकते है, और इन सबका अवगाह पुद्गलोंमें भी हो सकता है । इनकी यह अवगाहवृत्ति विरुद्ध–प्रमाणबाधित या असंगत नहीं हैं; क्योंकि ये अमूर्त द्रव्य हैं ।

भावार्थः––जीवका स्वभाव ही ऐसा है, कि अवगाहके योग्य जितने बड़े शरीरानुसार क्षेत्रको वह पाता है उतनेमें ही अवगाह कर लेता है । जब वह शरीर रहित हो जाता है, तब उसका प्रमाण अन्त्य शरीरसे तीसरे भाग कम रहता है । किंतु सशरीर अवस्थामें असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकतकमें निमित्तके अनुसार व्याप्त हुआ करता है । कभी तो महान् अवकाशको छोड़कर थोड़े अवकाशको संकुचित होकर घेरता है । और कभी थोड़े अवकाशको छोड़कर महान् अवकाशको विस्तृत होकर घेरता है । जघन्य अवकाशका प्रमाण लोकका असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट प्रमाण सम्पूर्ण लोक है । इसके मध्यकी अवस्थाएं अनेक हैं ।

दीपकका दृष्टान्त जो दिया है, सो संकोचविस्तार स्वभावको दिखानेके लिये है, उसका यह अभिप्राय नहीं है, कि जिस प्रकार दीपक सम्पूर्ण लोकको व्याप्त नहीं कर

सकता, उसी प्रकार आत्मा भी नहीं कर सकता, अथवा जिस प्रकार दीपक अनित्य है, उसीप्रकार आत्मा भी अनित्य है, इत्यादि। क्योंकि दृष्टान्तमें और दार्ष्टान्तमें सर्वथा समानता नहीं हो सकती। अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्तका भेद ही नहीं रह सकता। अथवा स्याद्वाद–सिद्धान्तके अनुसार दीपकादिक भी सर्वथा अनित्य ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार आकाश सर्वथा नित्य नहीं है, उसी प्रकार दीपक सर्वथा अनित्य नहीं है। क्योंकि जैनधर्ममें सभी वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक मानी है।

भाष्यम्—अत्राह–सति प्रदेशसंहारविसर्गसम्भवे कस्मादसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति नैकप्रदेशादिष्विति? अत्रोच्यते—सयोगत्वात्संसारिणाम्, चरमशरीरत्रिभागहीनावगाहित्वाच्च सिद्धानामिति ॥

अर्थ—**प्रश्न**–जब कि जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारका संभव है, फिर लोकके असंख्यातवें भागादिकमें ही उनके अवगाहका क्या कारण है? एक प्रदेशादिकमें भी उनका–जीवोंका अवगाह क्यों नहीं हो सकता? **उत्तर**—इसका कारण यह है, कि जितने संसारी जीव हैं वे, सब सयोग–सशरीर हैं, और जो सिद्ध जीव हैं, वे चरम शरीरसे त्रिभागहीन अवगाहको धारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—जब जीवका स्वभाव संकुचित और विस्तृत होनेका है, और विस्तृत होकर लोकपर्यन्त विस्तृत हो भी जाता ही है, तो उसका संकोच भी अन्त्यपरिमाण–एक प्रदेशतक क्यों नहीं होता? इसका उत्तर–यह है, कि यद्यपि जीवमें संकुचित विस्तृत होनेका स्वभाव है, फिर भी उस स्वभावकी अभिव्यक्ति परनिमित्तसे ही हुआ करती है, और वह परनिमित्त पंचविध शरीर है। संसारी जीव इन शरीरोंसे आक्रान्त है। शरीरप्रमाण ही उसका अवगाह हो सकता है। शरीर पौद्गलिक होनेपर भी स्कन्धरूप है, वह एक दो तीन आदि प्रदेशोंमें नहीं रह सकता। वह कमसे कम अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रमें ही रह सकता है। क्योंकि शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग ही है। सिद्ध जीवोंका आकार जिस शरीरसे उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, उससे त्रिभाग कम रहता है। क्योंकि सिद्ध जीव कर्म और नोकर्मसे सर्वथा रहित है। फिर उनके लिये ऐसा कोई कारण शेष नहीं रहता, कि जिसके वश उनके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार हो सके, इसी लिये शरीरसे छूटते समय उनका जितना प्रमाण होता है, उतना ही तदवस्थ बना रहता है। विना निमित्तके फिर संकोच विस्तार हो भी कैसे सकता है। अतएव जीवोंका अवगाह एक आदि प्रदेशोंमें नहीं, किंतु असंख्येय भागादिकमें ही संभव है।

भाष्यम्—अत्राह–उक्तं भवता धर्मादीनस्तिकायान् परस्ताल्लक्षणतो वक्ष्याम इति। तत् किमेषां लक्षणमिति? अत्रोच्यते ॥

१—शरीरके भीतर जो पोलका भाग है, जिसमें कि वायु भरी रहती है, उतना भाग संकुचित होकर कम हो जाता है।

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले कहा था, कि धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण आगे चलकर कहेंगे। सो अब कहिये कि उनका क्या लक्षण है ?

उत्तरः—

सूत्र—गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—गतिमतां गतेः स्थितिमतां स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथा सङ्ख्यम्। उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारणम् हेतुरित्यनर्थान्तरम् । उपकारः प्रयोजनं गुणोऽर्थ इत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—गतिमान् पदार्थोंकी गतिमें और स्थितिमान् पदार्थोंकी स्थितिमें उपग्रह करना—निमित्त बनना—सहायता करना क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है। उपग्रह निमित्त अपेक्षा कारण और हेतु ये पर्यायवाचक शब्द हैं। तथा उपकार प्रयोजन गुण और अर्थ इन शब्दोंका एक ही अर्थ है।

भावार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य गतिमान् हैं। जिस समय ये गमनरूप क्रियामें परिणत होते है, उस समय इनके उस परिणमनमें बाह्य निमित्त कारण धर्म द्रव्य हुआ करता है, और जिस समय ये स्थित होते हैं, उस समय इनकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य बाह्य सहायक हुआ करता है। ये दोनों ही द्रव्य उदासीन कारण हैं, न कि प्रेरक। प्रेरणा करके किसी भी द्रव्यको ये न तो चलाते हैं, न ठहराते है। यदि ये प्रेरक कारण होते, तो बड़ी गड़बड़ उपस्थित होती। न तो कोई पदार्थ गमन ही कर सकता था, न ठहर ही सकता था। क्योंकि धर्म द्रव्य यदि गमन करनेके लिये प्रेरित करता, तो उसका प्रतिपक्षी अधर्म द्रव्य उन्हीं पदार्थोंको ठहरनेके लिये प्रेरित करता।

इसी प्रकार यदि ये द्रव्य लोक मात्रमें व्याप्त न होते, तो युगपत् सम्पूर्ण लोकमें जो पदार्थोंका गमन और अवस्थान हुआ करता है, सो नहीं बन सकता था। तथा ये द्रव्य आकाशके समान अनन्त भी नहीं है। यदि अनन्त होते, तो लोक और अलोकका विभाग नहीं बन सकता था। तथा लोकका प्रमाण और आकार ठहर नहीं सकता था।

धर्म और अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय हैं, फिर भी उनके उपकार प्रदर्शनके द्वारा आपने

१—गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी। तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥ १८ ॥
२—ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी। छाया जह पहियाणं गच्छन्ता णेव सो धरई ॥१९॥ (द्रव्यसंग्रह)

३—लोकालोकविभागौ स्तः लोकस्य सान्तत्वात्, लोकः सान्तः मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात् प्रासादादिवत्। इस अनुमान परम्परासे लोककी सान्तता और सान्त लोकके सिद्ध होनेसे लोकालोकका विभाग सिद्ध होता है। परन्तु लोककी सान्ततामें और उसके प्रमाण तथा आकारके बने रहनेमें कोई न कोई बाह्य निमित्त भी अवश्य चाहिये। वे ही धर्म और अधर्म द्रव्य हैं।

उनका अस्तित्व जो बताया सो ठीक है। इसी प्रकार इनके अनन्तर जिसका पाठ किया है उस आकाशका भी उपकार क्या है, सो बताना चाहिये। अतएव सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—अवगाहिनां धर्माधर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः। धर्माधर्मयोरन्तः प्रवेशसम्भवेन पुद्गलजीवानां संयोगविभागैश्चेति।

अर्थ—अवगाह करनेवाले धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य है। इनको अवगाह देना आकाशका उपकार है। इनमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्यके अवगाहमें उपकार अन्तःप्रवेशके द्वारा किया करता है, और पुद्गल तथा जीवोंके अवगाहमें संयोग और विभागोंके द्वारा भी उपकार किया करता है।

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य पूर्ण लोकमें इस तरहसे सदा व्याप्त बने रहते हैं कि उनके प्रदेशोंका लोकाकाशके प्रदेशोंसे कभी भी विभाग नहीं होता। अतएव इनके अवगाहमें आकाश जो उपकार करता है, सो अन्तः अवकाश देकर करता है, किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है। क्योंकि ये अल्पक्षेत्र—असंख्येय भागको रोकते है, और क्रियावान् है।—एक क्षेत्रसे हटकर दूसरे क्षेत्रमें पहुँचते हैं। अतएव इनके अवगाहमें संयोग विभागोंके द्वारा आकाश उपकार किया करता है। तथा अन्तः अवकाश देकर भी उपकार किया करता है। च शब्दके द्वारा जीव पुद्गलोंका उपकार दोनों प्रकारका होता है, यह सिद्ध किया है।

यद्यपि "लोकाकाशेऽवगाहः" इस सूत्रमें आकाशका स्वरूप या लक्षण पहले बता चुके हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अवगाह देना उसका कार्य है। अतएव पुनः यहाँ उसके बतानेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यहाँपर उसके उल्लेख करनेका कारण है, और वह यह कि "लोकाकाशेऽवगाहः" इस सूत्रमें तो अवगाही पदार्थोंका प्राधान्य है, जिसका आशय यह है, कि जीव पुद्गलोंका अवगाह कहाँपर है? तो लोकाकाशमें। इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि अवगाह स्वभाव आकाशका ही है। अतएव यही बात यहाँपर इस सूत्रके द्वारा बताई है, कि आकाशका स्वभाव पदार्थोंको अवगाह देना है, और यही उसका लक्षण है।

बहुतसे लोग आकाशका लक्षण शब्द मानते हैं[1]। कोई प्रधानके विकारको आकाश कहते है[2]। परन्तु ये सभी कल्पनाएं मिथ्या है। शब्द पुद्गलकी पर्याय है, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, और जैसा कि उसके गुण स्वभावसे सिद्ध होता है। शब्द यदि आकाशका गुण होता, तो इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता था, और न मूर्त पदार्थके द्वारा रुक सकता था। एवं न मूर्त पदार्थके द्वारा उत्पन्न ही हो सकता था। अतएव यह पुद्गलकी

१—वैशेपिक—यथा—" शब्दगुणकमाकाशम् "। २—सांख्य।

ही पर्याय है । जो प्रधानका विकार मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि नित्य निरवयव और निष्क्रिय प्रधानका अनित्य सावयव और सक्रिय शब्दरूप परिणमन कैसे हो सकता है ।

यहाँपर यह शंका भी हो सकती है, कि अवगाह द्विष्ठ धर्म है । अतएव जिस प्रकार आकाशमें वह कहा जाता है, उसी प्रकार अवगाही जीव पुद्गलमें भी कहा जा सकता है, परन्तु यह शंका ठीक नहीं है; क्योकि यहाँपर अधेयकी प्रधानता नहीं है, आधार ही की प्रधानता है । अतएव आकाशका ही लक्षण मानना उचित है ।

क्रमानुसार पुद्गल द्रव्यका उपकार बताते है:—

सूत्र—शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

भाष्यम् । पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङ्मनः प्राणापानाविति पुद्गलानामुपकारः । तत्र शरीराणि यथोक्तानि । प्राणापानौ च नामकर्मणि व्याख्यातौ । द्वीन्द्रियादयो जिह्वेन्द्रियसंयोगात् भाषात्वेन गृह्णन्ति नान्ये, संज्ञिनश्चमनस्त्वेन गृह्णन्ति नान्ये इति। वक्ष्यते हि-" सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति ॥

अर्थ—शरीर वचन मन और प्राणापान यह पुद्गल द्रव्यका उपकार है । औदारिक आदि शरीर पाँच प्रकारके हैं, इनका स्वरूप पहले बता चुके हैं । प्राणापानका नामकर्मके प्रकरणमें व्याख्यान किया है । द्वीन्द्रिय आदि जीव जिह्वा इन्द्रियके द्वारा भाषारूपसे पुद्गलोंको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नहीं करता । जो संज्ञी जीव है, वे मन रूपसे उनको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नही करता । यह बात आगे चलकर भी कहेंगे, कि सकषायताके कारणसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है ।

भावार्थ—पुद्गल स्कन्धोंके सामान्यतया २२ भेद है । जिनमेंसे ५ भेद ऐसे हैं, जोकि खासकर जीवके ग्रहण करनेमें आते हैं । वे पाँच भेद दो भागोंमें विभक्त है कार्माणवर्गणा— और नोकर्मवर्गणा । जिनसे ज्ञानावरणादिक आठ कर्म बनते है, उनको कार्माणवर्गणा कहते हैं, जिनसे शरिर पर्याप्ति और प्राण बनते हैं, उनको नोकर्मवर्गणा कहते है । इसके चार भेद है—आहारवर्गणा भाषावर्गणा मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा । कार्माणवर्गणाओंको योगमें प्रवृत्त सकषाय जीव ग्रहण किया करता है, यह बात आगे चलकर लिखेंगे । शरीरके योग्य पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण संसारी जीवमात्रके हुआ करता है । प्राणापान पर्याप्त जीवोंमें ही पाया जाता है । भाषावर्गणाका ग्रहण द्वीन्द्रियादिक जीव ही किया करते हैं । जिससे हृदयस्थ अष्टदल कमलके आकारका द्रव्य मन बना करता है, उन मनोवर्गणाओंका ग्रहण संज्ञी जीवके ही हुआ करता है । इन कर्म और नोकर्मोंके

१—ऊष्मगुणः सन्दीपः स्नेहवर्त्या यथा समादत्ते । आदाय शरीरतया परिणमयति चाथ तत्स्नेहम् । तद्वत् रागादिगुणः स्वयोगवर्त्यात्मदीप आदत्ते । स्कन्धानादाय तथा परिणमयति तांश्च कर्मतया ॥ २—नोकर्मके विषयमें औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन ही कर्मोंकी प्रधानता है । ये तीनों, शरीर और प्राणापान आहारवर्गणाके द्वारा बना करते हैं ।

ऊपर ही संसारके कार्यमात्र निर्भर हैं, और इनकी सिद्धि पुद्गल द्रव्यसे ही होती है। अतएव यह पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यहाँपर उपकारका मतलब कारणपना बतानेका है। परन्तु धर्मादिककी तरह पुद्गल द्रव्य उदासीन कारण नहीं है, प्रेरक भी है।

भाष्यम्—किञ्चान्यत्—

अर्थ—ऊपर जो पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, उसके सिवाय और भी उसके उपकार हैं। अर्थात् शरीरादिकके सिवाय और और आकार या प्रकारके द्वारा भी पुद्गल द्रव्य निमित्त बना करता है। किस किस प्रकारसे बनता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:-

सूत्र—सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

भाष्यम्—सुखोपग्रहो दुःखोपग्रहो जीवितोपग्रहश्च मरणोपग्रहश्चेति पुद्गलानामुपकारः। तद्यथा—इष्टाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः सुखस्योपकाराः। अनिष्टा दुःखस्य। स्नानाच्छादनानुलेपनभोजनादीनि विधिप्रयुक्तानि जीवितस्यानपवर्तनं चायुष्कस्य। विषशस्त्राग्न्यादीनि मरणस्य, अपवर्तनं चायुष्कस्य।

अर्थ—सुखमें निमित्त बनना, दुःखमें निमित्त बनना, जीवनमें निमित्त बनना, और मरणमें निमित्त बनना यह सब भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यथा-इष्ट रूप स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द सुखके निमित्त है। ये ही विषय यदि अनिष्ट हों, तो दुःखके निमित हुआ करते हैं। विधिपूर्वक जिनका सेवन किया गया है, ऐसे स्नान आच्छादन अनुलेपन और भोजन आदि जीवनके निमित हैं, और आयुका अनपवर्तन भी उसका निमित्त है। इसी प्रकार विष शस्त्र अग्नि आदि पदार्थ और आयुका अपवर्तन मरणका निमित्त है।

भावार्थ—संसारमें कोई भी पदार्थ इष्ट ही हो, या अनिष्ट ही हो यह बात नहीं है। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट प्रतीत होता है, तो किसीको अनिष्ट। अथवा किसी एक व्यक्तिको जो पदार्थ कभी इष्ट मालूम होता है, उसीको वही पदार्थ कालान्तरमें अनिष्ट भी प्रतीत होता है। अतएव यह निश्चय है, कि स्वभावसे कोई भी पदार्थ न इष्ट है, और न अनिष्ट[1]। जो पदार्थ रागके विषयभूत हुआ करते हैं, उनको इष्ट कहते है, और जो द्वेषके विषय हुआ करते हैं उनको अनिष्ट कहते हैं। यही कारण है, कि जीवके ग्रहणमें आनेवाले पाँचों ही इन्द्रियोंके विषय-स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकारके माने है, तथा बताये हैं, और क्रमसे सुख तथा दुःखके निमित्त कहे गये है।

यदि स्नानादिका विधिपूर्वक सेवन न किया जाय, तो वे ही कदाचित् अपायके कारण भी हो जाते हैं, परन्तु देश काल मात्रा और अपनी प्रकृतिके अनुरूप जो स्नान भोजन गमन शयन

१—तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य। निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा॥ (प्रशमरति श्लोक ५२)

आसन आदि किया जाता है, वह प्राण–धारणमें उपकारी होता है, और इसीलिये वह जीवनका निमित्त बनता है। आयुकर्मकी लम्बी स्थितिका विष शस्त्र अग्नि–प्रहार मंत्र–प्रयोग आदिके द्वारा कम हो जानेको अपवर्तन कहते है। जिस आयुका बन्धकी विशेषताके कारण अपवर्तन नहीं हो सकता, वह भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। एवं च जिसका अपवर्तन हो सकता है, उसमें भी पुद्गलका ही उपकार है। जीवनमें जो सहायक हैं, उनसे विरुद्ध स्वभाव रखनेवाले पुद्गल मरणके उपकारक समझने चाहिये।

पहले सूत्रमें शरीरादिके द्वारा पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, और इस सूत्रमें सुखादिके द्वारा बताया है। इस प्रकार विभाग करनेका कारण यह है, कि सुखादिकमें कर्मके उदयकी अपेक्षा है, और शरीरादिकमें पुद्गलोंके ग्रहणमात्रकी अपेक्षा है[1]। जैसे कि सुखमें सातावेदनीयकर्मके उदयकी और दुःखमें असातावेदनीयकर्मके उदयकी अपेक्षा है। जीवनमें आयुकर्मके उदयकी और मरणमें उसके अभावकी अपेक्षा है।

भाष्यम्—अत्राह—उपपन्नं तावदेतत् सोपक्रमाणामपवर्तनीयायुषाम् । अथानपवर्त्यायुषां कथमिति? अत्रोच्यते—तेषामपि जीवितमरणोपग्रहः पुद्गलानामुपकारः । कथमिति चेत् तदुच्यते—कर्मणः स्थितिक्षयाभ्याम् । कर्म हि पौद्गलमिति । आहारश्च त्रिविधः सर्वेषामेवोपकुरुते । किं कारणम्? शरीरस्थित्युपचयबलवृद्धिप्रीत्यर्थं ह्याहार इति ॥

अर्थ—**प्रश्न**–जिनके आयुकर्मका अनशन अथवा रोग आदिकी बाधासे अपक्षय होता हो, या अन्य किन्हीं कारणोंसे अपवर्तन होता हो, उनके लिये पुद्गल द्रव्यका उपकार माना जाय, यह तो ठीक है, परन्तु जिनकी आयु अनपवर्त्य है, ऐसे देव नारक चरमशरीरी उत्तम पुरुष और भोग भूमियोंके जीवन और मरणमें पुद्गलका उपकार किस तरह माना जा सकता है? **उत्तर**–जो अनपवर्त्य आयुके धारक है, उनके जीवन और मरणमें भी पुद्गल द्रव्यका उपकार है।

प्रश्न—जब उनकी आयु न बढ़ सकती है, और न घट सकती है, फिर पुद्गल द्रव्य उसमें क्या उपकार करते हैं? **उत्तर**–कर्मकी स्थिति और क्षयके द्वारा उनके भी पुद्गल उपकार किया करते हैं। क्योंकि ज्ञानावरणादिक सभी कर्म पौद्गलिक हैं। आयुकर्म भी पौद्गलिक ही है। देवादिकोंका जीवन मरण कर्मके उदय और क्षयकी अपेक्षासे ही हुआ करता है। अतएव उनके

१—टीकाकारने विभागका कारण यही लिखा है। यथा—"सुखादीनामुदयापेक्षत्वात् प्राच्यानां ग्रहणमात्र विषयत्वात्।" परन्तु यह हेतु हमारी समझमे ठीक नहीं आया, क्योकि कर्मका उदय दोनोंमें ही निमित्त है। सुखादिक में यदि वेदनीयादिके उदयकी अपेक्षा है, तो शरीर योग्य पुद्गलोंके ग्रहणमें भी शरीरनामकर्म और बंधन संघातादिके उदयकी अपेक्षा है। श्लोकवार्तिककार श्रीविद्यानन्दि आचार्यने इस विभागका कारण ऐसा बताया है, कि शरीरादिकमें पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयकी अपेक्षा है, और सुखादिकमे जीव विपाकी कर्मोंकी अपेक्षा है, तथा आयुकर्मको भी उन्होंने कथंचित् जीवविपाकी माना है।

भी पुद्गलोंका उपकार सिद्ध है। इसके सिवाय तीन प्रकारको आहार जो माना है, वह तो प्राणिमात्रके लिये उपकारक है। इसका कारण? कारण यह है, कि शरीरकी स्थिति रक्षा और वृद्धि तथा बलकी वृद्धि और प्रीति[2] आदि आहारके द्वारा ही सिद्ध हुआ करते हैं।

भावार्थ—वास्तवमें जीव अमूर्त है, और इसीलिये अदृश्य है। संसारी जीवोंका एक क्षेत्रावगाह कर्मनोकर्मरूप पुद्गलके साथ हो रहा है, और उसके निमित्तसे ही सब कार्य होते हैं। संसारी प्राणियोंको सुख दुःखका अनुभव जो होता है, वह भी पुद्गलाश्रित ही है, क्योंकि उनको जो सुख अथवा दुःख होता है वह कर्मजनित और सेन्द्रिय तथा शरीराधीन होता है न कि आत्मसमुत्थ। सुखादिके होनेमें अन्तरङ्ग कारण कर्मोदय और बाह्य कारण नोकर्म तथा तीन प्रकारका आहार प्रभृति है। अतएव सुखादिकमें भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार मानना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—गृह्णीमस्तावद्धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवद्रव्याणामुपकुर्वन्तीति। अथ जीवानां क उपकार इति? अत्रोच्यते।—

अर्थ—प्रश्न—धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल जीवोंका उपकार करते हैं, यह बात समझे, परन्तु जीव द्रव्य किस तरह उपकार करते हैं? वे दूसरे जीवोंका ही उपकार करते हैं, या क्या? अथवा धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल निरन्तर पर पदार्थोंका अनुग्रह करते हैं सो समझे। सभी धर्मादिक द्रव्य जीवोंका उपकार करते है, धर्म अधर्म और आकाश पुद्गल द्रव्यका उपकार करते हैं, आकाश द्रव्य धर्म अधर्म और पुद्गलका उपकारक है। इस प्रकार ये द्रव्य पर पदार्थोंका जो अनुग्रह करते हैं, सो हमारी समझमें आया, परन्तु जीव द्रव्य क्या उपकार करता है सो अभीतक नहीं मालूम हुआ। अतएव उसीको कहिये कि उसका क्या उपकार है? उत्तर—

सूत्र—परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—परस्परस्य हिताहितोपदेशाभ्यामुपग्रहो जीवानामिति ॥

अर्थ—जीवोंका उपकार परस्परमें—एक दूसरेके लिये हित और अहितका उपदेश देनेके द्वारा हुआ करता है।

१—ओज-आहार लोमाहार और प्रक्षेपाहार। जिस तरह घीमें पड़ा हुआ पूआ सब तरफसे घीको खींचता है, उसी प्रकार गत्यन्तरसे गर्भमें आया हुआ जीव अपर्याप्त अवस्था और जन्मकालमें सभी प्रदेशोंके द्वारा शरीर योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है, इसको ओज-आहार कहते हैं। पर्याप्त अवस्थामें त्वगिन्द्रियके द्वारा जो ग्रहण होता है, उसको लोमाहार कहते हैं। ग्रास लेकर जो भोजनरूपसे ग्रहण होता है, उसको कवलाहार या प्रक्षेपाहार कहते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें छह प्रकारका आहार माना है।—नोकर्म आहार, कर्म आहार, कवलाहार, लेप्याहार ओज-आहार, और मानस-आहार। यथा—णोकम्म कम्महारो, कवलाहारो य लेप्पमाहारो। ओजमणोविय कमसो, आहारोछब्विहोणेओ ॥ २—स्थितिका अर्थ अवस्थान, रक्षाका अर्थ बाधक कारणोंकी निवृत्ति, वृद्धिका अर्थ आरोहण-बढ़ना है, उपचयका अर्थ मांस मज्जाका पोषण, बलका अर्थ उत्साह शक्ति, प्राणका अर्थ सामर्थ्य, और प्रीतिका अर्थ मानसिक प्रसन्नता है।

भावार्थ—भविष्यमें और वर्तमानमें जो शक्य है, युक्त है और न्याय्य है, उसको हित समझना चाहिये, और जो इसके विपरीत है, उसको अहित समझना चाहिये । प्रत्येक जीव परस्परको हिताहितका उपदेश देकर अनुग्रह किया करता है । जैसा उपदेशके द्वारा जीवोंका उपकार होता है, वैसा धनदानादिके द्वारा नहीं हो सकता । अतएव उसीको यहाँ-पर मुख्यतया उपकाररूपसे बताया है । यहाँपर उपकारका अर्थ निमित्त है, इसलिये अहितो-पदेश अथवा अहितानुष्ठानको भी यहाँ उपकार शब्दसे ही कहा है । पहले यद्यपि उपयोग जीवका लक्षण बताया जा चुका है, परन्तु वह अन्तरङ्ग लक्षण है, और यह परस्परोपकारिता उसका बाह्य लक्षण है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथ कालस्योपकारः क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—**प्रश्न**—पंचास्तिकायरूप धर्मादिक द्रव्योंका उपकार क्या है, सो मालूम हुआ । परन्तु अकायरूप जो काल द्रव्य माना है, उसका अभीतक उपकार नहीं बताया । अतएव कहिये कि उसका क्या उपकार है ?

भावार्थ—अभीतक सूत्रद्वारा जिनका उल्लेख किया गया है, वे धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पाँच ही द्रव्य है । जबकि कालको अभीतक द्रव्यरूपसे बताया ही नहीं है, तब उसके उपकारके विषयमें प्रश्न करना युक्तिसंगत कैसे कहा जा सकता है । यह ठीक है, परन्तु आगे चलकर "कालश्च" ऐसा सूत्र भी कहेंगे । उस सूत्रके द्वारा जिसका उल्लेख किया जायगा उस कालका जबतक असाधारण लक्षण या उपकार नहीं बताया जाय, तबतक यह नहीं मालूम हो सकता, कि वह धर्मादिकमें ही अन्तर्भूत है, अथवा पदार्थान्तर है । और इसी लिये यह प्रश्न किया गया है, कि कालका क्या उपकार है ? उत्तरः—

सूत्र—वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

भाष्यम्—तद्यथा-सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः । वर्तना उत्पत्तिः, स्थितिरथ गतिः प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थः । परिणामो द्विविधः-अनादिरादिमांश्च । तं परस्ताद् वक्ष्यामः । क्रिया गतिः, सा त्रिविधा-प्रयोगगतिः विस्रसागतिः मिश्रिकेति । परत्वापरत्वे त्रिविधे-प्रशंसा-कृते, क्षेत्रकृते, कालकृते इति । तत्र प्रशंसाकृते परो धर्मः परं ज्ञानमपरोऽधर्मः अपरमज्ञान-मिति । क्षेत्रकृते एकदिक्कालावस्थितयोर्विप्रकृष्टः परो भवति, सन्निकृष्टोऽपरः । कालकृते द्विरष्टवर्षाद् वर्षशतिकः परोभवति, वर्षशतिकाद्द्विरष्टवर्षोऽपरो भवति । तदेवं प्रशंसाक्षेत्र-कृते परत्वापरत्वे वर्जयित्वा वर्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकार इति ॥

अर्थ—जो कार्यके द्वारा अनुमानसे सिद्ध है, और जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा, उस कालका उपकार वर्तना परिणाम क्रिया और परत्वापरत्व है । वह इस प्रकारसे है, कि-प्रथम समयके आश्रयसे होनेवाली गति स्थिति उत्पत्ति और वर्तना ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । कालके आश्रयसे सम्पूर्ण पदार्थोंका

जो वर्तन होता है, उसको वर्तना कहते हैं। परिणाम दो प्रकारका है—अनादि और आदिमान्। इसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा। क्रिया शब्दसे यहाँपर गति ली गई है। वह तीन प्रकार की है—प्रयोगगति, विस्रसागति, और मिश्रगति। परत्वापरत्व तीन प्रकारका है—प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत, और कालकृत। धर्म महान् है, ज्ञान महान् है, अधर्म निकृष्ट है, अज्ञान निकृष्ट है, इसी प्रकारसे किसी भी वस्तुकी प्रशंसा या निन्दा करनेको प्रशंसाकृत परत्वापरत्व समझना चाहिये। एक समयमें एक ही दिशामें ठहरे हुए दो पदार्थोंमेंसे जो दूरवर्ती है, उसको पर कहा जाता है, और जो निकटवर्ती है, उसको अपर कहा जाता है। इसका नाम क्षेत्रकृत परत्वापरत्व है। सोलह वर्षकी उमरवालेसे सौ वर्षकी उमर वाला पर—बड़ा कहा जाता है, और सौ वर्षकी उमरवालेसे सोलह वर्षकी उमरवाला अपर—छोटा समझा जाता है। इसीको कालकृत परत्वापरत्व कहते हैं। इनमेंसे प्रशंसाकृत और क्षेत्रकृत परत्वापरत्वको छोड़कर बाकीका कालकृत परत्वापरत्व और वर्तना परिणाम तथा क्रिया यह सब कालद्रव्यका उपकार है।

भावार्थ—सभी पदार्थ अपने अपने स्वभावके अनुसार वर्त रहे हैं, और सदा वर्तते हैं। किंतु इसको वर्तानेवाला काल द्रव्य है। कालकी यह प्रयोजक शक्ति ही वर्तना[1] शब्दके द्वारा यहाँ बताई है। किन्तु धर्मादिक द्रव्य जिस तरह उदासीन कारण माने हैं, उसी प्रकार काल द्रव्य भी उदासीन प्रयोजक है। किन्तु पदार्थोंके वर्तनमें वह बाह्य निमित्त कारण है अवश्य। यदि काल कारण न माना जायगा, तो बड़ी गड़बड़ उपस्थित होगी। क्योंकि हर एक पदार्थके क्रमभावी परिणमन युगपत् उपस्थित होंगे। अन्तरङ्ग और कालके सिवाय बाकी सब बाह्य कारणोंके मिल जानेपर फिर कौन ऐसी शक्ति है, कि जो भविष्य परिणमनोंको नहीं होने देती। अतएव काल भी एक कारणभूत द्रव्य मानना पड़ता है।

वर्तना आदिक कालके उपकार है—असाधारण लक्षण हैं। क्योंकि यदि काल न हो, तो द्रव्योंका वर्तन ही नहीं हो सकता, और न उनका परिणमन हो सकता, न गति हो सकती और न परत्वापरत्वका व्यवहार ही बन सकता है।

भात बनानेके लिये चावलोंको बटलोईमे डाल दिया, बटलोईमें पानी भरा हुआ है, नीचे अग्नि जल रही है, इत्यादि सभी कारणोंके मिल जानेपर भी पाक प्रथम क्षणमें ही सिद्ध नहीं होता, योग्य समय लेकर ही सम्पन्न हुआ करता है। फिर भी यदि प्रथम क्षणमें भी उस पाकका कुछ भी अंश सिद्ध हुआ नहीं माना जायगा, तो द्वितीयादिक क्षणोंमें भी वह नहीं माना जा

१—वर्तन्ते पदार्थाः, तेषां वर्तयिता कालः। स्वयमेव वर्तमानाः पदार्था वर्तन्ते यया सा कालाश्रया प्रयोजिका वृत्तिः वर्तना। वृतुधातोः "ण्याश्रयोयुच्" (पा० अ० ३ पाद ३ सूत्र १०७) इतियुच। अथवा वृत्तिर्वर्तनशीलता अनुदात्तेतश्च हलादेः" (पा० अ० ३ पाद २ सूत्र १४९) इतियुच्। अर्थात्—प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णीतैक समयस्वसत्तानुभूतिः वर्तना।

सकता । अतएव पाककी वृत्ति-वर्तना प्रथम क्षणसे ही होती है। इसी लिये वर्तनाको प्रथम समयाश्रया कहा है । इसी प्रकार प्रतिक्षणकी वर्तनाके विषयमें समझना चाहिये । क्षणवर्ती पर्याय या परिवर्तन इतना सूक्ष्म है, कि वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, और इसी लिये उसके आकार आदिका कोई वर्णन भी नहीं कर सकता, जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है, किन्तु स्थूल परिवर्तनको देखकर उसका अनुमान होता है । वह अनुमानगम्य परिवर्तन अपनी सत्ताका अनुभव करनेमें एक ही क्षण लगाता है । अतएव वर्तनाको अन्तर्नीतैकसमया कहा है ।

कोई कोई कहते हैं, कि वस्तुक्रिया अथवा पदार्थोंका वर्तन सूर्यकी गतिके आधीन है। उसीसे काल नामका सम्पूर्ण व्यवहार सिद्ध होता है । कालनामका कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है । सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्यकी गतिक्रियामें भी कालकी ही अपेक्षा है । अन्यथा उसका भी प्रतिसमय परिवर्तन क्रमसे नहीं हो सकता । इसके सिवाय जहाँपर सूर्यकी गति क्रिया नहीं पाई जाती, ऐसे स्वर्गादिकोंमें कालकृत व्यवहार किसतरह सिद्ध होगा ? अतएव काल भी एक द्रव्य मानना ही चाहिये ।

परिणामका स्वरूप आगे चलकर "तद्भावः परिणामः" इस सूत्रके प्रसङ्गमें कहेंगे । उसके सादि और अनादि भेदोंमें तथा तीनों प्रकारकी गतिमें और कालकृत परत्वापरत्वमें जो कालकी अपेक्षा पड़ती है, वह स्पष्ट ही है । अतएव उसके विषयमें विशेष आगम-ग्रंथोंसे जानना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति । पुद्गला इति च तन्त्रान्तरीया जीवान् परिभाषन्ते । स्पर्शादिरहिताश्चान्ये । तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते—एतदादिविप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थं विशेषवचनविवक्षयाचेदमुच्यते—

अर्थ—**प्रश्न**—आपने शरीरादिक पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं, ऐसा कहा है; परन्तु कितने ही मत-वाले पुद्गल शब्दसे जीवको कहते हैं[1] । उनके मतमें जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं । या यों कहिये कि जिस प्रकारका जीव द्रव्य उपयोग लक्षणवाला पुद्गलसे भिन्न आपने माना है, वैसा वे नहीं मानते। इसके सिवाय किसी किसीके मतमें जीव और पुद्गल दो माने तो हैं, परन्तु उन्होंने पुद्गलोंको स्पर्शादि गुणोंसे रहित भी माना है[2] । अतएव कहिये कि यह किस प्रकारसे है ? पुद्गलका स्वरूप कैसा माना जाय ? **उत्तर**—तुमने जिस विप्रतिपत्तिका उल्लेख किया है, उसका और उसी तरहकी और भी जो विप्रतिपत्ति इस विषयमें हैं, उन सबका निषेध करनेके लिये और पुद्गल द्रव्यका विशेषतया स्वरूप बतानेकी इच्छासे ही आगेका सूत्र किया जाता है:—

१—सर्वशून्यवादी नास्तिक अथवा बार्हस्पत्यसिद्धान्तवाले । २—वैशेषिकोंने पृथ्वी आदिको क्रमसे चार गुण तीन गुण दो गुण और एक गुणवाला माना है ।

सूत्र—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

भाष्यम्—स्पर्शः रसः गन्धः वर्ण इत्येवंलक्षणाः पुद्गला भवन्ति। तत्र स्पर्शोऽष्टविधः—कठिनो मृदुर्गुरुर्लघुः शीत उष्णः स्निग्धोरूक्ष इति। रसः पञ्चविधः—तिक्तः कटुः कषायोऽम्लो मधुर इति। गन्धो द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च। वर्णः पञ्चविधः—कृष्णो नीलो लोहितः पीतः शुक्ल इति॥

अर्थ—सभी पुद्गल स्पर्श रस गन्ध वर्णवान् हुआ करते है। कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, कि जिसमें इन चारोंमेंसे एक भी गुण न पाया जाता हो। अतएव यह पुद्गल द्रव्यका लक्षण समझना चाहिये। जिसमें यह लक्षण नहीं पाया जाता, उसको पुद्गल भी नहीं कह सकते। जीवमें यह लक्षण नहीं रहता, अतएव जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं।

इन चार गुणोंके उत्तरभेद अनेक है, फिर भी उन सबका जिनमें अन्तर्भाव हो सकता है, ऐसे मूलभेद इस प्रकार हैः—स्पर्श आठ प्रकारका है, कठिन मृदु (कोमल) गुरु (भारी) लघु (हलका) शीत उष्ण स्निग्ध (चिकना) रूक्ष (रूखा)। रस पाँच प्रकारका है—तिक्त (चरपरा) कटु (कडुआ) कषाय (कसेला) अम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा)। गंध दो प्रकारकी है—सुरभि (सुगंध) और (असुरभि) दुर्गंध। वर्ण पाँच प्रकारका है-कृष्ण नील रक्त पीत और शुक्ल। इस प्रकार चार गुणोंके २० भेद अथवा पर्याय हैं। हरएक समयमें इनमें से चारों गुणोंके यथासम्भव भेद प्रत्येक पुद्गल द्रव्यमें पाये जाते हैं। कठिनादिक भेदोंका अर्थ प्रसिद्ध है, अतएव उसके यहाँ बतानेकी आवश्यकता नहीं है।

भाष्यम्—किञ्चान्यत्—

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके गुण ऊपर जो बताये हैं, उनके सिवाय उसके और भी धर्म प्रसिद्ध हैं। उन्हींकी अपेक्षासे सूत्र करते हैंः—

सूत्र—शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

भाष्यम्—तत्र शब्दः षड्विधः—ततो विततो घनः शुषिरः संघषो भाषा इति। बन्धस्त्रिविधः—प्रयोगबन्धो विस्रसाबन्धो मिश्रबन्ध इति। स्निग्धरूक्षत्वाद् भवतीति वक्ष्यते। सौक्ष्म्यं द्विविधं-अन्त्यमापेक्षिकं च। अन्त्यं परमाणुष्वेव, आपेक्षिकं च द्व्यणुकादिषु सङ्घातपरिणामापेक्षम् भवति। तद्यथा—आमलकाद् बदरमिति। स्थौल्यमपि द्विविधम्—अन्त्यमापेक्षिकं च। संघातपरिणामापेक्षमेव भवति। तत्रान्त्यम् सर्वलोकव्यापिनि महास्कन्धे भवति, आपेक्षिकं बदरादिभ्य आमलकादिष्विति। संस्थानमनेकविधम्-दीर्घह्रस्वाद्यनित्थंत्वपर्यन्तम्। भेदः पञ्चविधः—औत्कारिकः चौर्णिकः खण्डः प्रतरः अनुतटं[1] इति। तमश्छायातपोद्योताश्च परिणामजाः। सर्व एवैते स्पर्शादयः पुद्गलेष्वेव भवन्तीत्यतः पुद्गलास्तद्वन्तः।

१—अनुचट इति वा पाठः।

अर्थ—शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तम छाया आतप और उद्योत ये दश भी पुद्गल द्रव्यके ही धर्म हैं । शब्दादिकका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है—जिसके द्वारा अर्थका प्रतिपादन हो, अथवा जो ध्वनिरूप परिणत हो, उसको शब्द कहते हैं । सामान्यतया यह छह प्रकारका होता है—तत वितत घन शुषिर संघर्ष और भाषा । मृदङ्ग भेरी आदि चर्मके वाद्यों द्वारा उत्पन्न हुए शब्दको तत कहते है । सितार सारङ्गी आदि तारके निमित्तसे बजनेवाले वाद्योंके शब्दको वितत कहते हैं । मजीरा झालर घंटा आदि कांसेके शब्दको घन कहते हैं । बीन शंख आदि फूंक अथवा वायुके निमितसे वजनेवाले वाद्योंके शब्दको शुषिर कहते हैं । काष्ठादिके परस्पर सङ्घातसे होनेवाले शब्दको सङ्घर्ष कहते हैं । वर्ण पद वाक्य रूपसे व्यक्त अक्षररूप मुखद्वारा बोले हुए शब्दको भाषा कहते हैं ।

अनेक पदार्थोंका एक क्षेत्रावगाहरूपमें परस्पर सम्बन्ध हो जानेको बन्ध कहते हैं । यह तीन प्रकारका है—प्रयोगबन्ध विस्रसाबन्ध और मिश्रबन्ध । जीवके व्यापारसे होनेवाले बन्धको प्रायोगिक कहते हैं, जैसे कि औदारिक शरीरवाली बनस्पतियोंके काष्ठ और लाखका हो जाया करता है । जो प्रयोगकी अपेक्षा न करके स्वभावसे ही हो, उसको विस्रसाबन्ध कहते हैं । यह दो प्रकारका हुआ करता है—सादि और अनादि । बिजली मेघ इन्द्रधनुषआदिके रूपमें परिणत होनेवालोंको सादि विस्रसाबन्ध कहते हैं । धर्म अधर्म आकाशका जो बन्ध है, उसको अनादि विस्रसाबन्ध[1] कहते हैं । जीवके प्रयोगका साहचर्य रखकर अचेतन द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसको मिश्रबन्ध कहते हैं, जैसे कि स्तम्भ कुम्भ आदि ।

सूक्ष्मताका अर्थ पतलापन या लघुता आदि है । यह दो प्रकारका होता है, अन्त्य और आपेक्षिक । परमाणुओंमें अन्त्य सूक्ष्मता पाई जाती है और द्व्यणुकादिकमें आपेक्षिक सूक्ष्मता रहती है । आपेक्षिक सूक्ष्मता संघातरूप स्कन्धोंके परिणमनकी अपेक्षासे हुआ करती है, जैसे कि आमलेकी अपेक्षा बदरीफलमें सूक्ष्मता पाई जाती है । अतएव यह सूक्ष्मता अनेक भेदरूप है ।

स्थूलताका अर्थ मोटापन अथवा गुरुता है । इसके भी दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक । आपेक्षिक स्थूलता सङ्घातरूप पुद्गल स्कन्धोंके परिणमन विशेषकी अपेक्षासे ही हुआ करती है । अन्त्य स्थूलता सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाले महास्कन्धमें रहा करती है, और आपेक्षिक स्थूलता अपेक्षाकृत होती है, जैसे कि बदरीफलकी अपेक्षा आमलेमें स्थूलता पाई जाती है । अतएव सूक्ष्मताके समान इसके भी बहुत भेद हैं ।

१—किन्हीं भी दो द्रव्योंका सम्बन्धमात्र बन्ध शब्दका अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है । यहाँ पुद्गलके उपकारका प्रकरण है, अतएव इसमे यह बन्ध नहीं ग्रहण करना चाहिये । जैसा कि टीकाकारने भी लिखा है ।

संस्थान नाम आकृतिका है। यह दो प्रकारकी है—आत्मपरिग्रह और अनात्मपरिग्रह। आत्मपरिग्रह संस्थान अनेक प्रकारका है। यथा—पृथिवीकायिक जीवोंके शरीरका आकार मसूर अन्नके समान हुआ करता है[१]। जलकायिक जीवोंके शरीरका आकार जलबिन्दुके समान होता है। अग्निकायिक जीवोंके शरीरका आकार सूचीकलापके समान हुआ करता है। वायुकायिक जीवोंके शरीरका आकार पताकाके समान होता है। और वनस्पतिकायिक जीवोंके शरीरका आकार कोई निश्चित नहीं होता। अतएव उसको अनित्थंभूत कहते हैं। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंके शरीरका आकार हुंडक होता[२] है। पञ्चेन्द्रिय जीवोंके शरीरका आकार संस्थाननामकर्मके उदयके अनुसार छह प्रकारका हुआ करता है।—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक[३]।

अनात्मपरिग्रह आकार भी अनेक प्रकारका है—गोल त्रिकोण चतुष्कोण आदि। सामान्यतया पुद्गलके आकार दीर्घ ह्रस्वसे लेकर अनित्थन्त्व पर्यन्त बहु भेदरूप हैं। तथा उनके उत्तरभेद भी अनेक है। उनका यथासम्भव अन्तर्भाव मूल भेदों में कर लेना चाहिये।

भेद शब्दका अर्थ विश्लेष है। परस्परमें संयुक्त हुए अनेक पदार्थोंके पृथक् पृथक् हो जानेको भेद कहते हैं। यह पाँच प्रकारका होता है——औत्कारिक—चौर्णिक—खण्ड—प्रतर—अणुचटन। लकड़ी वगैरहके चीरनेसे या किसीके आघातसे जो भेद होता है, उसको औत्कारिक कहते हैं। गेंहू वगैरहको दलने या पीसनेसे जो भेद होता है, उसको चौर्णिक कहते हैं। मट्टी वगैरहको फोड़कर जो भेद किया जाता है, उसको खण्ड कहते हैं। मेघपटलकी तरह बिखरकर भेद हो जानेको प्रतर कहते हैं, और ईख वगैरह या फल वगैरहके ऊपरसे छिल का उतार कर भेद करनेको अणुचटन कहते हैं।

प्रकाशके विरोधी और दृष्टिका प्रतिबन्ध करनेवाले पुद्गल परिणामको तम—अन्धकार कहते हैं। किसी भी वस्तुमें अन्य वस्तुकी आकृतिके अंकित हो जानेको छाया कहते है। यह दो प्रकार की हुआ करती है—प्रकाशके आवरणरूप और प्रतिबिम्बरूप। जिसकी प्रभा उष्ण हो, ऐसे प्रकाशको आतप कहते है। जिसकी प्रभा ठंडी—आल्हादक हो, उसको उद्योत कहते है[४]।

१—मसूराम्बुपृषत् सूचीकलापध्वजसंनिभाः। धरातेजो मरुत्कायाः नानाकारास्तरुत्रसाः ॥ ५७ ॥ –तत्त्वार्थसार २—जिस शरीरके आङ्गोपाङ्ग किसी नियत आकार और नियत परिमाणमें न हों। ३—छह संस्थानोंका लक्षण इस प्रकार है–"तुल्लं वित्थडवहुलं, उस्सेह वहुं च मडहकोट्ठं च। हिट्ठिल्लिकाय मडहं, सव्वत्थासंठियं हुडं॥" जिसके आङ्गोपाङ्ग सामुद्रिक-शास्त्रके अनुसार यथाप्रमाण हों, उसको समचतुरस्र कहते हैं। जो ऊपरसे भारी नीचे हलका हो उसको न्यग्रोधपरिमण्डल कहते हैं। जो ऊपर हलका नीचे भारी हो, उसको स्वाति कहते हैं। जिसकी पीठपर कुछ भाग निकला हो, उसको कुब्जक कहते हैं। लघु शरीरको वामन कहते हैं। जिसका आकार अनियत हो, उसको हुंडक कहते हैं। ४—मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ ॥

तम छाया आतप और उद्योत पुद्गल द्रव्यके परिणमन विशेषके द्वारा ही निष्पन्न हुआ करते है। अतएव ये भी उसीके धर्म हैं। न भिन्न द्रव्य हैं, और न भिन्न द्रव्यके परिणाम हैं। शब्दादिकके समान ये भी पुद्गल ही हैं, क्योंकि उक्त स्पर्शादिक सभी गुण पुद्गलोंमें ही रहा करते हैं, और इसीलिये पुद्गलोंको तद्वान्–रूप रस गंध स्पर्शवान् कहा गया है।

भावार्थ—रूपादिक पुद्गलके लक्षण हैं। जो जो पुद्गल होते हैं, वे वे रूपादिवान् अवश्य होते हैं, और जो जो रूपादिवान् होते हैं, वे वे पुद्गल हुआ करते हैं। अतएव शब्दादिक या तम आदिकको भी पुद्गलका ही परिणाम बताया है। क्योंकि इन विषयोंमें अनेक मतवालोंका मतभेद है। कोई शब्दको आकाशका गुण, कोई विज्ञानका परिणाम, और कोई ब्रह्मका विवर्त मानते है। किंतु यह सब कल्पना मिथ्या है। न्याय–शास्त्रोंमें इस विषयपर अच्छी तरह विचार किया है। शब्द मूर्त है, यह बात युक्ति अनुभव और आगमके द्वारा सिद्ध है। यदि वह आकाशका गुण होता, तो नित्य व्यापक होता, और मूर्त इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता था, न दीवाल आदि मूर्त पदार्थोंके द्वारा रुक सकता था[1]। इससे और आगमके कथनसे सिद्ध है, कि शब्द अमूर्त आकाशका गुण नहीं, किंतु मूर्त पुद्गलका ही परिणाम है।

इसी प्रकार तमके विषयमें भी मतभेद है। कोई कोई तमको द्रव्यरूप न मानकर अभावरूप मानते हैं। सो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार तमको प्रकाशके अभावरूप कहा जा सकता है, उसी प्रकार प्रकाशको तमके अभावरूप कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है, कि तुच्छाभाव कोई प्रमाणसिद्ध विषय नहीं है। अतएव प्रकाशके अभावरूप भी यदि माना जाय, तो भी किसी न किसी वस्तुस्वरूप ही उसको कहा जा सकता है। उसके नील वर्णको देखनेसे प्रत्यक्ष द्वारा ही उसकी पुद्गल परिणामता सिद्ध होती है। अतएव तम भी पुद्गलका ही परिणाम है, यह बात सिद्ध है। इसी प्रकार अन्य परिणमनोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—किमर्थं स्पर्शादीनां शब्दादीनां च पृथक् सूत्रकरणमिति? अत्रोच्यते—स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा एव भवन्ति। शब्दादयस्तु स्कन्धेष्वेव भवन्त्यनेकनिमित्ताश्चेत्यतः पृथक् करणम्॥ त एते पुद्गलाःसमासतो द्विविधा भवन्ति॥ तद्यथा—

अर्थ—प्रश्न—स्पर्शादि गुणोंसे युक्त पुद्गलोंको, और शब्दादि रूपमें परिणत होनेवाले पुद्गलोंको पृथक् पृथक् सूत्रके द्वारा बतानेका क्या कारण है? अर्थात् दोनों विषयोंका उल्लेख

1—आजकल लोकमें भी देखा जाता है, कि शब्दकी गति इच्छानुसार चाहे जिधरको की जा सकती है, और आवश्यकता अथवा निमित्तके अनुसार उसको रोक कर भी रक्खा जा सकता है। जैसे कि ग्रामोफोनकी चूड़ीमें चाहे जैसा शब्द रोककर रख सकते हैं, और उसको चाहे जब व्यक्त कर सकते हैं। टेलीग्राम या वायरलेस–वे तारके तारके द्वारा इच्छित दिशा और स्थानकी तरफ उसकी गति भी हो सकती है।

करनेवाला यदि एक ही सूत्र कर दिया जाता, तो क्या हानि थी ? अथवा एक सूत्र न करके पृथक् पृथक् सूत्र करनेमें क्या लाभ है ? उत्तर—स्पर्शादिक गुण परमाणुओंमें और स्कन्धोंमें दोनोंमें ही रहा करते हैं, परन्तु वे अनेक प्रकारके परिणमनोंकी उत्पत्तिके अनुसार ही प्रादुर्भूत हुआ करते हैं। किन्तु शब्दादिक स्कन्धों में ही रहा करते हैं, परमाणुओंमें नहीं रहते। तथा इनकी प्रादुर्भूति अनेक निमित्तोंसे हुआ करती है। अर्थात् शब्दादिक द्व्यणुकादिक स्कन्धोंमें न होकर अनन्त परमाणुओंके स्कन्धोंमें ही रहा करते हैं, और अनेक निमित्तोंसे उनकी प्रादुर्भूति हुआ करती है। इस भेदको दिखानेके लिये ही पृथग्योग किया है—भिन्न भिन्न दो सूत्र किये है। उक्त सूत्रोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी पुद्गल संक्षेपमें दो प्रकारके हैं। वे दो भेद कौनसे हैं, सो बतानेके लिये सूत्र करते हैं:—

सूत्र—अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

भाष्यम्—उक्तं च-"कारणमेव तदन्त्य, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगन्धवर्णो द्विःस्पर्शः कार्योलिङ्गश्च ॥" इति तत्राणवोऽबद्धाः, स्कन्धास्तु बद्धा एवेति ॥

अर्थ—पुद्गल दो प्रकारके हैं—अणु और स्कन्ध। अणुका लक्षण पूर्वाचार्योंने इस प्रकार किया है—"कारणमेव तदन्त्यम्" इत्यादि। अर्थात् वस्तु दो भागोंमें विभक्त हो सकती है—कारणरूपमें और कार्यरूपमें। जिसके होनेपर ही किसीकी उत्पत्ति हो, और न होनेपर नहीं ही हो, उसको कारण कहते हैं, और जो इसके विपरीत है, उसको कार्य कहते हैं। तदनुसार परमाणु कारणरूप ही है; क्योंकि उसके होनेपर ही स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। यदि परमाणु न हों, तो स्कन्ध—रचना नहीं हो सकती है। किन्तु परमाणुसे छोटा और भाग नहीं होता। अतएव परमाणु कारण द्रव्य ही है, और द्व्यणुकसे लेकर अचित्त महास्कन्ध पर्यन्त जितने भेद हैं, वे सब कार्य द्रव्य हैं। परमाणु सबसे अन्त्य है। परमाणुके अनन्तर और कोई भेद नहीं होता। वह इतना सूक्ष्म है, कि हम लोग उसको आगमके द्वारा ही जान सकते हैं। उसके आकारका कभी विनाश नहीं होता, न वह स्वयं कभी नष्ट होता है, द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे उसका आकार तदवस्थ रहता है, अतएव उसको नित्य माना है, उससे छोटा और कुछ भी नहीं होता, इसलिये उसको परमाणु कहते हैं। उक्त पाँच प्रकारके रसोंमेंसे कोई भी एक प्रकारका रस, दो प्रकारके गन्ध में से

१—दिगम्बर-सम्प्रदायमें परमाणुको कार्यरूप भी माना है। क्योंकि स्कन्धोंके भेदसे उसकी उत्पत्ति होती है। उससे स्कन्ध होते हैं, इसलिये कारणरूप भी है। यथा—"स्कन्धस्यारम्भका-यद्वदणवस्तद्वदेवहि। स्कन्धोऽणूनां भिदारम्भानियमस्यानभीक्षणात् ॥" परमाणूना कारणद्रव्यत्वनियमादसिद्धमेवेति चेन्न तेषां कार्यत्वस्यापि सिद्धेः।... नहि स्कन्धस्यारम्भकाः परमाणवो न पुनः परमाणोः स्कन्ध इतिनियमो दृश्यते। तस्यापि भिद्यमानस्य सूक्ष्मद्रव्यजनकत्वदर्शनात् भिद्यमानपर्यन्तस्य परमाणुजनकत्वसिद्धेः ॥" (तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक)। इस बातको टीकाकार सिद्धसेनगणीने भी स्वीकार किया है। "भेदादणु." इस सूत्रकी टीकामें लिखा है, कि द्रव्यनय और पर्यायनयसे कोई विरोध नहीं है।

कौनसी भी एक गन्ध, पाँच प्रकारके वर्णोंमेंसे कोई भी एक वर्ण, और शेष चार प्रकारके स्पर्शोंमेंसे दो प्रकारके स्पर्श–शीत उष्णमेंसे एक और स्निग्ध रूक्षमेंसे एक, ये गुण उस परमाणुमें रहा करते हैं। हमारी दृष्टिके विषय होनेवाले जितने भी स्थूल कार्य हैं, उनको देखकर उसका बोध होता है, क्योंकि यदि परमाणु न होते, तो इन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती थी। अतएव कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता है। परमाणु अनुमेय है, और उसके कार्य लिङ्ग-साधन है। इसी लिये परमाणुको कार्य–लिंग कहा है।

पुद्गलके इन दो भेदोंमेंसे जो अणु हैं, वे अबद्ध हुआ करते हैं, वे परस्परमें असंश्लिष्ट रहा करते हैं। जब उन परमाणुओंका संश्लेश होकर संघात बन जाता है, तब उसको स्कन्ध कहा करते हैं। स्कन्ध भी दो प्रकारके हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर स्कन्धोंमें आठो प्रकारका ही स्पर्श रहा करता है, परन्तु सूक्ष्म स्कन्धोंमें उक्त चार प्रकारका ही स्पर्श रहता है।

भाष्यम्—अत्राह—कथं पुनरेतद् द्वैविध्यं भवतीति? अत्रोच्यते—स्कन्धास्तावत्—

अर्थ—प्रश्न—जब सभी पुद्गल द्रव्यपनेकी अपेक्षा समान हैं, तब उनमें ये दो भेद–परमाणु और स्कन्ध होते किस कारण से हैं? **उत्तर**—इसका कारण यह है, कि इनमें से जो स्कन्धरूप पुद्गल है वे—

सूत्र—संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भाष्यम्—सङ्घाताद् भेदात् सङ्घातभेदादित्येतेभ्यस्त्रिभ्यः कारणेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते द्विप्रदेशादयः। तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः सङ्घातात् द्विप्रदेशः, द्विप्रदेशस्याणोश्च सङ्घातात् त्रिप्रदेशः, एवं संख्येयानामसंख्येयानां च प्रदेशानां सङ्घातात् तावत्प्रदेशाः। एषामेव भेदात् द्विप्रेशपर्यन्ताः। एत एव च संघातभेदाभ्यामेकसामयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अन्यसंघातेनान्यतो भेदेनेति ॥

अर्थ—स्कन्धोंकी उत्पत्तिमें तीन कारण हैं–सङ्घात भेद और संघातभेद। इन तीन कारणोंसे द्विप्रदेशादिक स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। यथा–दो परमाणुओंके सङ्घातसे द्विप्रदेश स्कन्ध उत्पन्न होता है, द्विप्रदेश स्कन्ध और अणुके सङ्घातसे त्रिप्रदेशस्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंके संघातसे उतने ही प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी प्रकार भेदके विषयमें समझना चाहिये। बड़े स्कन्धका भेद होकर छोटा स्कन्ध उत्पन्न होता है, और इस तरहसे भेदके द्वारा सबसे छोटे द्विप्रदेश स्कन्ध पर्यन्त उत्पन्न हुआ करते हैं। कभी कभी एक ही समयमें संघात

१—स्पर्श गुणके ८ भेद बताये हैं। उनमेंसे ४ सत्पर्यायरूप हैं और ४ आपेक्षिक हैं। जो सत्पर्यायरूप हैं, उनमेंसे–शीत उष्ण स्निग्ध रूक्षमेंसे अविरुद्ध दो धर्म युगपत् परमाणुमें रहते हैं, और जो आपेक्षिक धर्म हैं उनकी कोई विवक्षा नहीं है। हलका भारी नरम कठोर ये चार धर्म अपेक्षाकृत हैं, परमाणुमें ये नहीं रहते।

२—एकशब्दः समानार्थे। तद्यथा–"तेनैकदिक्" (पा. अ. ४ पा. ३ सूत्र ११२)

और भेद दोनोंके मिल जानेसे—संयुक्त कारणके द्वारा द्विप्रदेशादिक स्कन्धोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। क्योंकि कभी कभी ऐसा भी होता है, कि एक तरफसे भेद होता है, और उसी समयमें दूसरी तरफसे संघात भी होता है इस तरह एक ही समयमें दोनों कारणोंके मिल जानेसे जो स्कंध बनते है, वे संघात भेद मिश्रकारणजन्य कहे जाते है।

भाष्यम्—अत्राह—अथ परमाणुः कथमुत्पद्यते इति? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने स्कन्धोंकी उत्पत्ति किस तरह होती है, सो बताई परन्तु परमाणुके विषयमें अभीतक कुछ भी नहीं कहा। अतएव कहिये कि उनकी उत्पाति किस तरहसे होती है? जिन कारणोंसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति बताई, उन्हीं कारणोंसे परमाणुओंकी भी उत्पत्ति होती है, अथवा किसी अन्य प्रकारसे होती है? **उत्तर—**

सूत्र—भेदादणुः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—भेदादेव परमाणुरुत्पद्यते, न सङ्घातादिति ॥

अर्थ—स्कन्धोंकी उत्पत्तिके लिये तीन कारण जो बताये हैं, उनमेंसे परमाणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है, न कि सङ्घातसे।

भावार्थ—पहले परमाणुको कारणरूप ही कहा है। परन्तु वह कथन द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे है। पर्यायनयकी अपेक्षासे वह कार्यरूप भी होता है। क्योकि उसकी द्व्यणुकादिकसे भेद होकर उत्पत्ति भी होती है। अतएव इसमें कोई भी पूर्वापर विरोध न समझना चाहिये। जब द्व्यणुकका भेद होकर दोनों परमाणु जुदे जुदे होते हैं, तब पहली अवस्था नष्ट होती है, और परमाणुरूप दूसरी अवस्था प्रकट होती है। उस अवस्थान्तरको किसीन किसी कारणसे जन्य अवश्य ही मानना पड़ेगा, उसका कारण भेद ही है। नियमरूप अर्थ पृथक् सूत्र करनेसे ही सिद्ध होता है।

" संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते " इस सूत्रमें स्कन्धोकी उत्पत्तिके जो तीन कारण बताये, सो ठीक, परन्तु स्कन्ध दो प्रकारके होते है—चाक्षुष और अचाक्षुष। दोनों ही प्रकारके स्कन्धोंकी कारणता समान है, अथवा उसमें कुछ अन्तर है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अचाक्षुषास्तु यथोक्तात् सङ्घातात् भेदात् सङ्घातभेदाच्चेति ॥

अर्थ—दो प्रकारके स्कन्धोंमेंसे जो चाक्षुष है, वे भेद और संघात दोनोंसे निष्पन्न होते हैं। बाकीके जो अचाक्षुष है, वे पूर्वोक्त तीनों ही कारणोंसे उत्पन्न होते हैं—संघातसे होते, भेदसे होते, और संघातभेदके मिश्रसे भी होते हैं।

भावार्थ—जो चक्षुरिन्द्रियके विषय हो सकते हैं, उनको चाक्षुष कहते हैं। जो जो भेद और संघातसे उत्पन्न होते हैं, वे सब चाक्षुष ही होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि अनन्तानन्त परमाणुओंके संयोगविशेषसे बद्ध होकर बननेवाले ऐसे अचाक्षुष स्कन्ध भी हुआ करते है, जिनकी कि उत्पत्ति भेद और संघात दोनोंसे ही हुआ करती है। अतएव नियम यह है, कि स्वतःही परिणमन विशेषके द्वारा चाक्षुषत्वरूप परिमणमन करनेवाले जो बादर स्कन्ध हैं, वे भेदसंघातसे ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि सूक्ष्मरूप परिणत अचाक्षुष स्कन्धमेंसे जब कुछ परमाणु भिन्न होकर निकल जाते हैं, और कुछ नवीन आकर मिलते है, तभी परिणाति विशेषके द्वारा वह सूक्ष्मतासे उपरत होकर स्थूलताको धारण किया करता है। बन्धनकी विशेषता स्निग्ध रूक्ष गुणके अविभागप्रतिच्छेदोंके तारतम्यके अनुसार हुआ करती है। जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

भाष्यम्—अत्राह—धर्मादीनि सन्तीति कथं गृह्यत इति ? अत्रोच्यते—लक्षणतः। किञ्च सतो लक्षणमिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले आपने धर्मादिक द्रव्योंका उल्लेख किया है, और उनका उपकार बताकर पुद्गलके भेद तथा स्कन्धोंकी उत्पत्तिके कारण भी बताये है। परन्तु अभीतक यह नहीं मालूम हुआ, कि उनकी सत्ताका ग्रहण कैसे हो? अर्थात्—धर्मादिक द्रव्य हैं, यह कसे मालूम हो? अथवा प्रत्येक द्रव्यका उपकार बताकर विशेष लक्षण तो बताया, परन्तु अभीतक सब द्रव्योंमें व्याप्त होकर रहनेवाला सामान्य लक्षण नहीं बताया, सो कहिये कि वह क्या है ? यद्वा धर्मादिक द्रव्य सत्तामात्र है ? या विकारमात्र हैं ? अथवा उभयरूप है ? मतलब यह कि धर्मादिक द्रव्योंका सामान्य सत् स्वरूप कैसे मालूम हो ? उत्तर—लक्षणके द्वारा उसका परिज्ञान हो सकता है। प्रश्न—यदि यही बात है। तो उस लक्षण को ही कहिये कि जिसके द्वारा सामान्य सत् स्वरूपका बोध हो सकता हो। अर्थात् द्रव्यमात्रमें व्यापक सामान्य सत्का बोधक लक्षण क्या है, सो ही कहिये। उत्तर—

सूत्र—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २९ ॥

भाष्यम्—उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च सतो लक्षणम्। यदिह मनुष्यत्वादिना पर्यायेण व्ययत आत्मनो देवत्वादिना पर्यायेणोत्पादः एकान्तध्रौव्ये आत्मनि तत्तथैकस्वभावतयाऽवस्थाभेदानुपपत्तेः। एवं च संसारापवर्गभेदाभावः। कल्पितत्वेऽस्य निःस्वभावतयानुपलब्धिप्रसङ्गात्। सस्वभावत्वेत्वेकान्तध्रौव्याभावस्तस्यैव तथा भवनादिति। तत्तत्स्वभावतयाविरोधाभावात्तथोपलब्धिसिद्धेः। तद्भ्रान्तत्वे प्रमाणाभावः। योगिज्ञानप्रमाणाभ्युपगमे त्वभ्रान्तस्तदवस्थाभेदः। इत्थं चैतत्। अन्यथा न मनुष्यादेर्देवत्वादीति। एवं यमादिपालनानर्थक्यम्। एवं च सति "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" "शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधा-

---

१ चक्षुष इमे चाक्षुषाः। "तस्येद" मित्यण् (पाणिनीय अ० ४ पाद ३ सूत्र १२०)

नानि नियमाः" इति आगमवचनं वचनमात्रम्। एवमेकान्ताऽध्रौव्येऽपि सर्वथातद्भावापत्तेः तत्त्वतोऽहेतुकत्वमेवावस्थान्तरमिति सर्वदा तद्भावाभावप्रसङ्गः अहेतुकत्वाविशेषात्। न हेतु स्वभावतयोर्ध्वं तद्भावः तत्स्वभावतयैकान्तेन ध्रौव्यसिद्धेः। यदा हि हेतोरेवासौस्वभावो यत्तदनन्तरं तद्भावस्तदा ध्रुवोऽन्वयस्तस्यैव तथाभवनात्। एवं च तुलोन्नामावनामवद्धेतु-फलयोर्युगपद्व्ययोत्पादसिद्धिरन्यथा तत्तद्व्यतिरिक्तेतरविकल्पाभ्यामयोगात्। तन्न। मनुष्या देर्देवत्वमित्यायातं मार्गवैफल्यमागमस्येति। एवंसम्यग्दृष्टिःसम्यक्संकल्पः सम्यग्वाक् सम्यङ्-मार्गः सम्यगार्जव-सम्यग्व्यायामः सम्यक्स्मृति- सम्यक्समाधिरिति वाग्वैयर्थ्यम्। एवं घट व्ययवत्या मृदःकपालोत्पादभावात् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।एकान्तध्रौव्ये तत्तथैकस्वभाव तयावस्थाभेदानुपपत्तेः। समानं पूर्वेण। [1]एवमेतद्व्यवहारतः तथा मनुष्यादिस्थितिद्रव्यमधिकृ-त्यदर्शितम् निश्चयतस्तु प्रतिसमयमुत्पादादिमत्तथा भेदसिद्धेः अन्यथातदयोगात् यथाहः—

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्॥ १॥
नरकादिगतिविभेदो भेदः संसारमोक्षयोश्चैव।
हिंसादिस्तद्धेतुः सम्यक्त्वादिश्च मुख्य इति॥ २॥
उत्पादादियुते खलु वस्तुन्येतदुपपद्यते सवम्।
तद्रहिते तदभावात् सर्वमपि न युज्यते नीत्या॥ ३॥
निरुपादानो न भवत्युत्पादो नापि तादवस्थ्येऽस्य।
तद्विक्रिययाऽपि तथा त्रितययुतेऽस्मिन् भवत्येषः॥ ४॥
सिद्धत्वेनोत्पादो व्ययोऽस्य संसारभावतो ज्ञेयः।
जीवत्वेन ध्रौव्यं त्रितययुतं सर्वमेवं तु॥ ५॥

अर्थ—सत्‌का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है। अर्थात् जिसमें ये तीनों बातें पाई जाँय, उसको सत् समझना चाहिये। जैसा कि देखनेमें भी आता है, कि जिस आत्माका मनुष्यत्वकी अपेक्षासे व्यय होता है, उसीका देवत्व आदि पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद हुआ करता है। इससे सिद्ध है, कि प्रत्येक वस्तुमें व्यय उत्पाद और ध्रौव्य हर समय पाया जाता है। आत्मत्वका ध्रौव्य मनुष्यत्वका व्यय और देवत्वका उत्पाद तीनोंका समय एक ही है। अतएव सत्‌का लक्षण ही उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है। यदि आत्मामें एकान्तरूपसे ध्रौव्य ही माना जायगा तो, जो उसका स्वभाव है, उस एक स्वभावमें ही वह सदा स्थित रह सकता है, उसकी अवस्थामें भेद नहीं हो सकता, और अवस्थामें भेद हुए विना संसार और मोक्षका भेद भी नहीं बन सकता। यदि इस भेदको कल्पित माना जायगा, तो जीवको निःस्वभाव ही कहना पड़ेगा। क्योंकि संसार और मोक्ष ये जीवके ही तो स्वभाव है। जब इन स्वभावोंको या इनके भेदको कल्पित कहा जायगा तो, स्वभाववान्—जीवको भी कल्पित—

१—यह भाष्यका व्याख्यान श्रीहरिभद्रसूरिकी वृत्तिमें है, सिद्धसेनगणीकी व्याख्यामें नहीं। क्योंकि इस सूत्रके भाष्यका पाठ दो तरहसे पाया जाता है। इस भाष्यका कुछ पाठ सिद्धसेनकी वृत्तिमें भी मिलता है, तथा भाष्यके आदि वाक्यके पाठमें कुछ कुछ अंतर भी मिलते हैं, परन्तु उसके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है।

निःस्वभाव ही कहना पड़ेगा । जीवके निःस्वभाव माननेपर उसकी उपलब्धिका भी अभाव मानना पड़ेगा । यदि जीवको सस्वभाव मानोगे तो, एकान्तरूपसे उसका ध्रौव्य स्वभाव ही नहीं बन सकता । क्योंकि जीव ही तो अपने स्वभावके अनुसार तत्तत् अवस्थारूप हुआ करता है—संसार और मोक्षरूप परिणत हुआ करता है । उस उस स्वभावके द्वारा जीवकी उपलब्धि होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उस उस प्रकारसे उपलब्धिका होना सिद्ध है । यदि उसको भ्रान्त कहा जाय, तो इसके कोई प्रमाण नहीं है । योगिज्ञानके प्रमाण माननेपर तो जीवकी अवस्थाका यह भेद भी अभ्रान्त ही मानना पड़ेगा । अतएव वह अवस्थाका भेद अभ्रान्त ही सिद्ध होता है, और इसी प्रकार मानना चाहिये । अन्यथा मनुष्य आदि पर्यायोंसे देवत्व आदि पर्यायका धारण नहीं बन सकता, और इसी लिये यम नियमादिका पालन करना भी निरर्थक ही ठहरता है, और इनके निरर्थक सिद्ध होनेपर आगमके ये वचन भी वचनमात्र ही ठहरते है ।—व्यर्थ ही सिद्ध होते है कि—"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।" "शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः" । अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनको यम कहते हैं, और शौच संतोष तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इनको नियम कहते हैं । यदि वस्तु ध्रौव्य स्वरूप ही है, ऐसा माना जाय तो, आत्माकी अवस्थासे अवस्थान्तर तो हो ही नहीं सकती, फिर इन यम नियमरूप कारणोंका उल्लेख किस लिये है ? अतएव सिद्ध है, कि आत्मा ध्रौव्यस्वरूप ही नहीं है । पर्यायस्वरूप—उत्पाद व्ययात्मक भी है । अतएव देव मनुष्य सिद्ध संसारी आदि अवस्थाओंका होना भी कल्पित नहीं है, प्रमाणतः सिद्ध है ।

इसी प्रकार एकान्ततः ध्रौव्यका यदि अभाव माना जायगा—केवल ध्रौव्य रहित उत्पाद व्ययात्मक ही सत् है, ऐसा माना जाय, तो सर्वथा सत्के अभावका ही प्रसङ्ग आता है, और तत्त्वतः एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका होना निर्हेतुक ही ठहरता है, अर्थात् ध्रौव्य स्वभावके विना सत्के अभाव और असत्की उत्पत्तिका प्रसङ्ग आता है । अथवा सर्वदा तद्भाव और अभावका ही प्रसङ्ग आता है, क्योंकि निर्हेतुकता दोनों ही जगह समान है । हेतुस्वभावताके कारण यदि मनुष्यसे देवत्वादिका होना माना जाय, तो वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि हेतु स्वभाव माननेपर एकान्ततः ध्रौव्यकी सिद्धि हो जाती है । एकके अनन्तर दूसरे भावके होनेका स्वभाव जब हेतुपूर्वक मान लिया, तो अन्वय भी ध्रुव ही सिद्ध हुआ । क्योंकि वही तो उत्तर पर्यायरूप परिणत हुआ करता है, इस कथनसे व्यय और उत्पादकी भी युगपत् सिद्धि होती है । जिस प्रकार तराजूका उन्नाम और अवनाम एक साथ ही हुआ करता है—एक तरफसे तराजूकी डंडी जिस समय ऊँची होती है, उसी समय दूसरी तरफसे वह नीची भी होती है । एक तरफसे जब नीची होती, उसी समय दूसरी तरफसे ऊँची भी हुआ ही करती है । इसी प्रकार व्यय और उत्पादके

१—योगदर्शन । क्योंकि ये दोनों सूत्र योगदर्शनके ही हैं ।

विषयमें समझना चाहिये। एकके साथ ही दूसरा भी जरूर होता है। क्योंकि ये दोनों परस्परमें हेतु और फल हैं। पूर्वपर्यायके व्ययके विना उत्तरपर्यायका उत्पाद नहीं मिल सकता। अतएव दोनोंको एकक्षणवर्ती ही मानना चाहिये। अन्यथा हेतुसे फल या सत्से उसकी अवस्थाएं भिन्न है ? अथवा सर्वथा अभिन्न हैं ? इन दोनों ही पक्षोंमें अनेक दोषोकी सम्भावना है। इसलिये मनुष्यादिसे देवत्वादिका होना बन नहीं सकता, और इसलिये आगममें देवत्वादिके यमनियमादिरूप मार्गका जो वर्णन किया है, सो व्यर्थ ही ठहरता है। इसी तरहसे "सम्यग्दृष्टिःसम्यक्संकल्पः सम्यग्वाग् सम्यङ्मार्गः सम्यगार्जवः सम्यग्व्ययामः सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिः" इस वचनको भी वैयर्थ्य ही आता है। क्योंकि सत्से अवस्थाओंका सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद ही माननेपर कार्य कारणका भेद ही जब नहीं बनता, तो किसीभी एकान्त पक्षके लेनेपर इन कारणोंका उल्लेख करना निरर्थक ही ठहरता है। इसलिये मानना चाहिये, कि सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे प्रतिक्षणयुक्त रहा करता है। घट पर्यायके व्ययसे युक्त मृत्तिकाका ही कपालरूपमें उत्पाद हुआ करता है, अतएव घटके व्यय कपालके उत्पाद और मृत्तिकाके ध्रौव्यका एक ही क्षण है, और इसी लिये सत्की युगपत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मकता सिद्ध है। एकान्तसे ध्रौव्य स्वभावके माननेपर सत्का जैसा भी एक स्वभाव कहा जायगा, उसी स्वभावमें वह सदा अवस्थित रहेगा, उसकी अवस्थाओंमें भेदका होना नहीं बन सकता, और दूसरे एकान्त पक्षके विषयमें ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिये। यहाँपर मनुष्य देव आदिकी स्थिति द्रव्यकी अपेक्षा लेकर जो सत्के अनुसार स्वभावको दिखाया है, सो सब व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे देखा जाय, तो वस्तुमें प्रतिक्षण उत्पादादिक हुआ करते हैं, और वैसा होनेपर ही अवस्थासे अवस्थान्तरका होना सिद्ध हो सकता है। अन्यथा—प्रतिक्षण उत्पादादिके माने विना न तो वस्तुका वस्तुत्व ही सिद्ध हो सकता है, और न लोक—व्यवहारही घटित हो सकता है। जैसा कि कहा भा है कि—

सम्पूर्ण व्यक्ति—पदार्थ मात्रमें क्षण क्षणमें अन्यत्व हुआ करता है, और फिर भी कोई विशेषता नहीं होती, यह बात निश्चित है। क्योंकि चिति और अपचिति—वृद्धि और ह्रास अथवा उत्पाद और व्यय दोनोंका सदा सद्भाव रहनेसे उनमे आकृति—आकार विशेषरूप व्यक्ति और जाति—सामान्य आकार दोनों धर्मोंका सदा अवस्थान सिद्ध है ॥ १ ॥ इस वस्तु—स्वभावके अनुसार ही नरकादिक गतियोंका भेद और संसार मोक्षका भी भेद सिद्ध है। इनके कारण मुख्यतया क्रमसे हिंसादिक और सम्यक्त्वादिक है। अर्थात् नरकादि गतियोंके मुख्य कारण हिंसा आदिक हैं, और मोक्षके मुख्य कारण सम्यक्त्व आदि है ॥ २ ॥ वस्तुको उत्पादादि स्वभावसे युक्त माननेपर ही ये सब भेद आदिक अथवा कारणोंका वर्णन निश्चितरूपसे बन सकता है, अन्यथा नहीं। उत्पादादिसे रहित वस्तुके माननेपर वस्तुका ही अभाव सिद्ध होता है। अत एव ये सब भेद और कारण

भी निश्चयसे नहीं बन सकते ॥ ३ ॥ विना उपादान कारणके वस्तुका उत्पाद नही हो सकता, और न वस्तुको सर्वथा तदवस्थ---ध्रौव्यस्वभाव माननेपरही वह बन सकता है। उत्पादादि विकृतिके एकान्त पक्षमें भी यही बात समझनी चाहिये। अतएव वस्तुको त्रयात्मक ही मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा होनेपर ही उत्पादादिक हो सकते हैं ॥ ४ ॥ एक संसारी जीव सिद्ध पर्यायको धारण करता है, इसमें सिद्ध पर्यायका उत्पाद और संसार भावका व्यय समझना चाहिये, और जीवत्व दोनों अवस्थाओंमें रहा करता है, अतएव उसकी अपेक्षासे ध्रौव्य भी है। इस प्रकार जीवमें या सिद्ध अवस्थामें त्रयात्मकता सिद्ध है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके विषयमें त्रयात्मकताको घटित कर लेना चाहिये[1] ॥ ५ ॥

भाष्यम्—उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं चैतत्त्रितययुक्तं सतो लक्षणम्। अथवा युक्तं समाहितं त्रिस्वभावं सत्। यदुत्पद्यते यद्व्येति यच्च ध्रुवं तत्सत्, अतोऽन्यदसदिति ॥

अर्थ---उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त रहना ही सत्का लक्षण है। अथवा युक्त शब्दका अर्थ समाहित--समुदित करना चाहिये। अर्थात् सत्का लक्षण त्रिस्वभावता ही है। जो उत्पन्न होता है, और जो विलीन होता है, तथा जो ध्रुव--सदा स्थिर रहा करता है, उसको सत् कहते हैं। यही सत्का लक्षण है। इस स्वभावसे जो रहित है, उसको असत् समझना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—गृह्णीमस्तावदेवंलक्षणं सदिति; इदं तु वाच्यं तत् किं नित्यमाहोस्विदनित्यम्? अत्रोच्यते—

अर्थ---प्रश्न---यहाँपर सत्का लक्षण जो बताया है, सो तो समझे, परन्तु यह तो कहिये कि वह सत् नित्य है, अथवा अनित्य?

भावार्थ---जब कि युगपत् तीनों धर्मोंको सत् का लक्षण बता दिया, फिर नित्यानित्यात्मकताके लिये प्रश्न शेष नहीं रहता। परन्तु पूछनेवालेका आशय यह है, कि पहले द्रव्योंके तीन सामान्य स्वरूप बताये है-नित्य अवस्थित और अरूप, और यहाँपर प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन स्वरूप बताये है। तथा देखनेमें आता है, कि कोई द्रव्य--सत् तो नित्य है, जैसे कि आकाश, और कोई सत् अनित्य होते है, जैसे कि घटादिक। अतएव सन्देह होता है, कि सत्को कैसा समझा जाय, नित्य अथवा अनित्य? यदि नित्यानित्यात्मक माना जाय, तो पहले जो नित्यस्वरूप कहा है, उसका क्या अर्थ है? उत्तर---

सूत्र—तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—यत् सतो भावान्न व्येति न व्येष्यति तन्नित्यमिति ॥

1---हरिभद्रसूरिकी वृत्तिमें जो भाष्य पाया जाता है, उसके अनुसार यहाँ तक अर्थ किया गया है।

2---सिद्धसेनगणीकी वृत्तिमें जिस भाष्यकी व्याख्या की गई है, वह इस प्रकार है

अर्थ—नित्य शब्दका अर्थ है, सत्के भाव—भवन—परिणमनका अव्यय—अविनाश। जो सत्के भावसे न नष्ट हुआ है और न होगा, उसको नित्य कहते हैं।

भावार्थ—नित्य शब्दकी सिद्धि पहले बता चुके हैं। इस सूत्रमें तत् शब्दसे सत् लिया है, और भाव शब्दसे परिणमन। यदि नित्यसे मतलब सर्वथा अविनाशका होता, तो तदव्ययं नित्यम्" ऐसा ही सूत्र कर दिया जाता। परन्तु भाव शब्दके प्रयोगसे मालूम होता है, कि परिणमनका अविनाश ही नित्य शब्दसे अभीष्ट है। इस कथनसे कूटस्थनित्यता अथवा सर्वथा अविकारिताका निराकरण हो जाता है। अथवा कथंचित् अनित्यात्मकता भी सिद्ध हो जाती है।

अथवा भाव शब्दका अर्थ स्वात्मा भी होता है। वस्तुका जो भाव है—निजस्वरूप है, उसके न छोड़नेको नित्य कहते हैं[2]। पर यह शुद्ध द्रव्यास्तिकनयका विषय है, जोकि संपूर्ण अवस्थाओंमें निर्विकाररूप है।

यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये परस्परमें विरुद्ध स्वभाव हैं। जो अनित्य है, उसीको नित्य अथवा जो नित्य है, उसीको अनित्य कैसे कहा जा सकता है? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि ये धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं। लोक-व्यवहारमें भी यह बात देखी जाती है, कि जिसका एक अपेक्षासे सत् या नित्य कहकर व्यवहार करते है, तो उसीका दूसरी अपेक्षासे असत् अथवा अनित्य कहकर व्यवहार करते हैं। अथवा द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिकनयकी युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है, कि ये धर्म—सत्त्व और असत्त्व अथवा नित्यत्व अनित्यत्व अपेक्षासे सिद्ध हैं। इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्पितानर्पितसिद्धेः॥ ३१॥

भाष्यम्—अर्पितानर्पितसिद्धेः। सच्च त्रिविधमपि नित्यं चोभे अपि अर्पितानर्पितसिद्धेः। अर्पितव्यावहारिकमनर्पितव्यावहारिकं चेत्यर्थः। तत्र सच्चतुर्विधं, तद्यथा—द्रव्यास्तिकं, मातृकापदास्तिकं, उत्पन्नास्तिकं, पर्यायास्तिकमिति। एषामर्थपदानि द्रव्यं वा द्रव्ये वा द्रव्याणि वा सत्। असन्नाम नास्त्येव द्रव्यास्तिकस्य। मातृकापदास्तिकस्यापि मातृकापदं वा मातृकापदे वा मातृकापदानि वा सत्। अमातृकापदं वा अमातृकापदे वा अमातृकापदानि वाऽसत्। उत्पन्नास्तिकस्य उत्पन्नं वा उत्पन्ने वा उत्पन्नानि वा सत्। अनुत्पन्नं वाऽनुत्पन्ने वाऽनुत्पन्नानि वाऽसत्। अर्पितेऽनुपनीते न वाच्यं सदित्यसदिति वा। पर्यायास्तिकस्य सद्भावपर्याये वा, सद्भावपर्याययोर्वा सद्भावपर्यायेषु वा आदिष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वा सत्। असद्भावपर्याये वा, असद्भावपर्याययोर्वा, असद्भावपर्यायेषु वा, आदिष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वाऽसत्। तदुभयपर्याये वा, तदुभयपर्याययोर्वा, तदुभयपर्यायेषु वा, आदिष्टं द्रव्यं वा, द्रव्ये वा, द्रव्याणि वा, न वाच्यं सदसदिति वा। देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति।

---

१ "नेर्ध्रुवे त्यप्"। (सि० अ० ६ पाद ३ सूत्र १७) २—स चासौ भावश्च तद्भावस्तस्याव्ययम्। अथवा ऐसा भी अर्थ होता है, कि अयो—गमनं, विरुद्धोऽयो व्ययः, न व्ययोऽव्ययः। अर्थात् तद्भावके विरुद्ध गमनका निषेध।

अर्थ—अर्पित और अनर्पित अपेक्षाओंसे उन धर्मोकी—सत् और असत्की अथवा नित्यत्व अनित्यत्वकी सिद्धि होती है, अतएव उनके युगपत् एक वस्तुमें रहनेमें कोई विरोध नहीं है। निर्दिष्ट परिग्रहीत या विवक्षित धर्मको अर्पित कहते हैं, और उससे जो विपरीत है, उसको अनर्पित कहते हैं। उक्त धर्मोंमेंसे एक समयमें एक विवक्षित रहता है, और दूसरा अविवक्षित रहता है, अतएव कोई विरोध न आकर वस्तु-तत्त्वकी सिद्धि होती है।

सत् तीन प्रकारका बताया है—उत्पाद व्यय ध्रौव्य। नित्यके दो भेद हैं—अनाद्यनन्त नित्यता और अनादि सान्त नित्यता। ये तीनों ही प्रकारके सत् और दोनों ही प्रकारके नित्य, अर्पित और अनर्पितके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। क्योंकि विवक्षा और अविवक्षा प्रयोजनके अधीन है। कभी तो प्रयोजनके वश उक्त धर्मोंमेंसे किसी भी एक धर्मकी विवक्षा होती है, और कभी प्रयोजन न रहनेके कारण उसीकी अविवक्षा हो जाती है। अतएव एक कालमें वस्तु सदसदात्मक नित्यानित्यात्मक और भेदाभेदात्मक आदि सप्रतिपक्ष धर्मोंसे युक्त सिद्ध होती है। जिस समयमें सदसदात्मक है, उसी समयमें वह नित्यानित्यात्मक आदि विशेषणोंसे भी विशिष्ट है। जो सत् है, वह असत् आदि विकल्पोंसे शून्य नहीं है, और जो असत् है, वह सदादि विकल्पोंसे रहित नहीं है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही सप्रतिपक्ष धर्मसे विशिष्ट है। प्रतिपक्षी धर्मसे शून्य सर्वथा माना जाय, तो मूल विवक्षित धर्मकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। परन्तु उन धर्मोंका व्यवहार विवक्षाधीन है। कभी किसी धर्मकी विवक्षा होती है, कभी नहीं होती। जब होती है, तब वही धर्म प्रधान हो जाता है, शेष धर्म गौण हो जाते हैं। प्रधान—विवक्षित धर्मके वाचक शब्दके द्वारा उस वस्तुका निरूपणादि व्यवहार हुआ करता है। उस समयमें गौण धर्मका व्यवहार नहीं हुआ करता। जब गौण धर्म विवक्षित होता है, तब वह प्रधान हो जाता है, और उसके सिवाय अन्य समस्त धर्म अविवक्षित हो जाते हैं। उस समयमें उस धर्मके वाचक शब्दके द्वारा वस्तुका व्यवहार हुआ करता है। प्रधान—विवक्षित धर्मके सिवाय शेष सम्पूर्ण गौण धर्म गम्यमान हुआ करते हैं। किन्तु एक धर्मके द्वारा वस्तुका व्यवहार करते समय शेष धर्मोका अभाव नहीं माना जाता, न उनका अपलाप ही किय

१—दूसरे व्यक्तिके लिये उसी समयमें वह गौण धर्म ही प्रधान हो सकता है।—उदाहरण—तीन व्यक्ति एक समयमें एक सोनेवालेकी दुकानपर पहुँचे। एक सोनेका घट लेनेके लिये, दूसरा मुकुट लेनेके लिये, तीसरा सुवर्ण लेनेके लिये। दुकानदारके पास एक सोनेका घट रक्खा हुआ था। इसको उसने जिस समय तोड़कर मुकुट बनाना शुरू किया, उसी समय तीनों ग्राहक उसकी दुकानपर पहुँचे। घट टूटने और मुकुट बननेकी अवस्थाको देखकर तीनोंके हृदयमें एक साथ तीन भाव पैदा हुए, शोक-मोह और माध्यस्थ्य। इन भावोंकी उत्पत्ति निर्हेतुक नहीं हो सकती। अतएव सिद्ध होता है, कि वस्तुमें युगपत् तीनों धर्म—उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाये जाते हैं। अतएव भगवान् समन्तभद्र आचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है कि—

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयं। शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥५९॥" तृ० प०

जा सकता है। अतएव वस्तुको सप्रतिपक्षधर्मात्मक माना है, और इसीलिये उसके दो प्रकार भी किये हैं कि—अर्पितव्यावहारिक और अनर्पितव्यावहारिक। एक धर्मका त्याग दूसरे धर्मके त्यागको भी बताता है, तथा एक धर्मका ग्रहण दूसरे धर्मकी भी सत्ताका बोधक होता है।

ऊपर दो धर्मोकी अपेक्षा है—सत् और नित्य। इनके दो धर्म प्रतिपक्षी हैं—असत् और अनित्य। इनमेंसे सत् चार प्रकारका है—द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, उत्पन्नास्तिक, और पर्यायास्तिक। इनमेंसे पहले दोनों भेद द्रव्यास्तिक नयके विषय हैं, और अन्तके दोनों भेद पर्यायास्तिक नयके विषय हैं। जिसमे दूसरे स्वभावोंका साङ्कर्य नहीं पाया जाता, और जो न दूसरी समस्त विशेषताओंको ग्रहण ही करता है, ऐसे एक अभिन्न शुद्धप्रकृतिक संग्रह नयके विषयभूत द्रव्यमात्रको ही जो अस्तिरूपसे मानता है, उसको द्रव्यास्तिक कहते हैं। अतएव द्रव्यास्तिकको शुद्धप्रकृतिक कहा जा सकता है। परन्तु यह नैगमनयके विषयको भी ग्रहण करता है, और नैगममें संग्रह व्यवहार दोनोंका प्रवेश है, अतएव उसको शुद्धाशुद्धप्रकृतिक भी कह सकते हैं। किंतु जो संग्रह नयका अभिप्राय है, उसको द्रव्यास्तिक और जो व्यवहारनयका अभिप्राय है, उसको मातृकापदास्तिक ग्रहण करता है। द्रव्यास्तिकके द्वारा प्रायः लोकव्यवहार सिद्ध नहीं हुआ करता। क्योंकि उसका विषय अभिन्न द्रव्य है। लोकव्यवहार प्रायः भेदके आश्रयसे ही हुआ करता है। इसी लिये प्रायः लोक-व्यवहारकी सिद्धि मातृकापदास्तिकके द्वारा ही हुआ करती है।

धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पाँचो ही अस्तिकाय द्रव्यत्वकी अपेक्षा समान हैं। तो भी इनके स्वभाव परस्परमें भिन्न हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो सकता। तथा भिन्न रहकर ही ये लोक-व्यवहारके साधक हैं। अभिन्न शुद्ध द्रव्य व्यवहार—साधनमें समर्थ नहीं हो सकती। अतएव मातृकापदास्तिक कुछ स्थूल व्यवहारयोग्य विशेषताको प्रधानरूपसे ग्रहण करता है।

जिस प्रकार वर्ण पद वाक्य प्रकरण आदिका जन्मस्थान मातृका है, उसी प्रकार समस्त सामान्य और विशेष पर्यायोंके आश्रय धर्मादिक अस्तिकाय हैं, जोकि व्यवहारसिद्धिमें मूलकारण हैं। अतएव उनको ही मातृका कहते हैं। व्यवहार योग्य होनेसे इन मातृकापदोंको ही जो अस्तिरूपसे मानता है, उसको मातकापदास्तिक कहते हैं।

उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों पर्यायनयके भेद है, यह बात ऊपर कह चुके हैं। पर्यायनय भेदको ही प्रधान मानकर वस्तुका बोध और व्यवहार कराती है। ध्रौव्यसे अविशिष्ट रहते हुए भी उत्पाद और व्यय, भेद अथवा पर्यायके विषय है। उनमेंसे स्थूल अथवा सूक्ष्म सभी उत्पादोंको विषय करनेवाला उत्पन्नास्तिक है। कोई भी उत्पाद विना विनाशके नहीं हो सकता, न रह सकता है। दोनोंका परस्परमें अविनाभाव है। क्योंकि यह नियम है, कि जो उत्पत्तिमान् है, वह नियमसे विनश्वर भी है, अथवा जितने उत्पाद हैं, उतने ही विनाश भी हैं।

अतएव उत्पन्नको ही जो विनष्टरूपसे ग्रहण करता है, पर्याय–भेद–विनाशलक्षण है, ऐसा मान कर ही जो वस्तुका व्यवहार करता है, उसको पर्यायास्तिक कहते हैं ।

अब क्रमसे इनके अर्थपदोंको कहते हैं ।–द्रव्यास्तिकका विषयभूत सत् तीन तरहसे कहा जा सकता है–एकत्व संख्या विशिष्ट द्रव्य, द्वित्व संख्या विशिष्ट द्रव्य, अथवा बहुत्व संख्या विशिष्ट द्रव्य । क्योंकि जब द्रव्यसे शुद्ध प्रकृतिमात्रको ही लेते हैं, तो वह एक ही है । अतएव एकत्व विशिष्ट कहा है । परन्तु यह बात ऊपर बता चुके है, कि अभिन्न द्रव्य व्यवहारका साधन नहीं हो सकता । व्यवहार-भेदके ही आश्रित है । भेदका कारण द्वित्वादि संख्या है । इसके लिये यदि यहाँ केवल द्वित्व संख्या ही दिखायी जाती, तो भी काम चल सकता था, परंतु यहाँ द्वित्व संख्याके साथ साथ बहुत्व संख्या भी दिखाई है, उसका कारण यह है, कि वचनत्रयके द्वारा जिसका प्रतिपादन हो जाय, उस द्रव्यसे फिर कोई भी सत् शेष नहीं रहता । द्रव्यार्थिकका विषय असन्नाम नहीं है । क्योंकि जो नाम है, वह सत्‌की अपेक्षासे ही होता है, और जो सत् है, उसका कोई न कोई नाम अवश्य होता है । संज्ञा और संज्ञी परस्परमें सापेक्ष है । उनमेंसे कोई भी एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकता,

मातृकापदास्तिकके अर्थपद भी इसी तरहसे समझ लेने चाहिये । एकत्व विशिष्ट मातृका पद, द्वित्व विशिष्ट मातृकापद, और बहुत्व विशिष्ट मातृकापद सत् हैं, तथा एकत्व विशिष्ट अमातृकापद, द्वित्व विशिष्ट अमातृकापद और बहुत्व विशिष्ट अमातृकापद असत् हैं ।

भावार्थ—मातृकापदास्तिकका लक्षण धर्मास्तिकायादिकका उद्देश मात्र है । क्योंकि वह व्यवहारनयका अनुसरण करता है, और व्यवहारनय कहता है, कि संज्ञा लक्षण आदि भेदसे शून्य द्रव्यमात्र लौकिक जीवोंके लिये बुद्धिगोचर नहीं हो सकता । अतएव भेदका आश्रय लेना ही पड़ता है । द्रव्यास्तिकके वर्णनमें भी वह छूट नहीं जाता । द्रव्यमात्र ही सत् है, ऐसा कहते हुए एकत्वादि सङ्ख्याका वैशिष्ट्य भी बताना ही पड़ता है । अतएव भेदको मानकर धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकायका संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजन आदिकी विवक्षा दिखाते हुए वर्णन करना मातृकापद ही सत् है । इन अस्तिकायोंमेंसे जब एककी विवक्षा हो, तब एकत्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, जब दोकी विवक्षा हो, तब द्वित्व विशिष्ट मातृकापद सत् हैं, और जब तीन आदिकी विवक्षा हो, तब बहुत्व विशिष्ट मातृकापद सत् है, ऐसा समझना चाहिये ।

कोई भी वस्तुका धर्म प्रतिपक्ष भावको छोड़कर नहीं रह सकता, यह बात ऊपर बता चुके है । तदनुसार धर्मास्तिकायादिके भेदको विषय करनेवाले मातृकापदके विपक्षको अमातृकापद दिखाता है । वह कहता है, कि धर्मास्तिकाय है, इतना कहनेसे ही काम नहीं चलता, इसके साथ यह भी कहना चाहिये, कि जो धर्मास्तिकाय है, वह अधर्मास्तिकाय नहीं हो सकता,

और जो अधर्मास्तिकाय है, वह धर्मास्तिकाय नहीं हो सकता। क्योंकि ये परस्परमें व्यावृत्त-स्वभावको रखते हैं। अथवा धर्मास्तिकायादिसे भिन्न और कुछ भी नहीं है, यह कहना भी अमातृकापद है। क्योंकि अमातृकापद व्यावृत्तिको प्रकट करता है। धर्मादिक सभी अस्तिकाय सामान्य विशेषरूप अनेक धर्मात्मक हैं, और इसी लिये वे कथंचित् अनपोहरूप तथा कथंचित् अपोहरूप हैं, और वे सभी मातृकापदास्तिक कहे जाते हैं।

इस प्रकार द्रव्यास्तिक और मातृकापदास्तिकके द्वारा द्रव्यार्थिकनयका अभिप्राय बताया। अब क्रमानुसार पर्यायार्थ नयका आशय क्या है, सो बताते हैं:—

उत्पन्नास्तिक और पर्यायास्तिक ये दोनों ही पर्यायार्थ नयके आशयका अनुसरण करते हैं, यह पहले बता चुके हैं। पर्यायार्थका मूल ऋजुसूत्र है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान क्षणमात्र ही धर्मादि द्रव्यको मानता है, उसकी दृष्टिमें भूत भविष्यत् असत् हैं। वर्तमान क्षण अनेक हैं। उनमेंसे जहाँ एककी विवक्षा हो, वहाँ एकत्वविशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है, जहाँ दो की विवक्षा हो वहाँ द्वित्व विशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है, और जहाँ तीन आदिकी विवक्षा हो, वहाँ बहुत्व विशिष्ट उत्पन्नास्तिक सत् है। इसके सिवाय भूत या भविष्यत् जो अनुत्पन्न द्रव्यास्तिक अथवा मातृकापदास्तिक हैं, वे सब असत् हैं। वे भी क्रमसे एकत्व संख्याविशिष्ट, द्वित्व संख्याविशिष्ट और बहुत्व संख्याविशिष्ट हैं, और वे सभी अनुत्पन्न असत् हैं।

इस उपर्युक्त कथनसे यह सूचित हो जाता है, कि धर्मादिक द्रव्य स्यात्[1] सत् हैं, स्यात् असत् हैं, स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य हैं। यह सब द्रव्यार्थ और पर्यायार्थनयकी मुख्यता तथा गौणताकी विवक्षानुसार सिद्ध हो जाता है। जिस नयकी विवक्षा होती है, वह नय और उसका विषय सत् हुआ करता। परन्तु जब वही विवक्षित नहीं होता, तब असत् समझा जाता है। अतएव दोनों ही नय और उनके विषय कथंचित् सत् और कथंचित् असत् हैं।

जिस समयमें सत् और असत्—अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंसे युक्त वस्तु है, यह बात तो विवक्षित हो, परन्तु उन दोनोंका क्रमसे वर्णन करना विवक्षित न हो, उस समयमें उस वस्तुको न सत् कह सकते है, न असत् ही कह सकते है। उस समय सप्तभंगीका[2] तीसरा विकल्प—अवक्तव्य प्रवृत्त होता है। उसकी अपेक्षासे वस्तु अवक्तव्य है।

१—अनेकान्तवादको सूचित करनेवाला यह निपातशब्द हैं। "अनेकान्ते च विवादौ स्यान्निपातः शुभे क्वचित् ॥" (धनञ्जयनाममाला) २—"प्रश्नवशादेकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।" (तत्त्वार्थ राजवार्तिक) मूलभंग अस्तित्व धर्मकी अपेक्षा एक और उसके प्रतिपक्षी नास्तित्वधर्मकी अपेक्षा दूसरा तथा दोनों धर्मोंका एक कालमे वर्णन न कर सकनेकी अपेक्षा तीसरा अवक्तव्य भंग प्रवृत्त होता है। इन तीनोंके चार सयोगी भंगोंको मिलाकर सात भंग हो जाते हैं। किसी भी वस्तुका वर्णन इन सात भंगोंके द्वारा ही हो सकता है। अर्थात् प्रश्नके वशसे एक ही वस्तुमें अविरोधरूपसे विधिप्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं। इसका विशेष वर्णन वस्तु सप्तभंगका विषय है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उनमेंसे जब जो धर्म विवक्षित हो, उसके आश्रयसे उपस्थित सप्तभंगीतरंगिणी आदिमें देखना चाहिये।

इस प्रकार ऊपर सप्तभंगीके पहले तीन विकल्प बताये है—सत् असत् और अवक्तव्य । ये तीनों ही विकल्प द्रव्य और पर्याय दोनों ही अपेक्षासे घटित हो सकते हैं । द्रव्य—नयका अभिप्राय रखनेवाले द्रव्यास्तिक और मातृकापदास्तिकका आश्रय लेकर तीनों विकल्पोंका स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार समझना चाहिये । पर्यायका स्वरूप पहले कह चुके हैं, कि—" तद्भावः परिणामः ।" अर्थात् द्रव्यके—सत्के भवनको परिणाम कहते हैं । पर्यायके मूलभेद दो हैं—सहभावी और क्रमभावी । इनके उत्तरभेद अनेक हैं । देव मनुष्य आदिक अथवा ज्ञानदर्शनादिक आत्माकी सद्भाव पर्याय हैं, शेष धर्मादिक द्रव्योंमें होनेवाली पर्यायोंको असद्भाव पर्याय कहते हैं । इसी प्रकार वर्तमान कालसम्बन्धी पर्यायोंको सद्भाव पर्याय और भूत भविष्यत कालसम्बन्धी पर्यायोंको असद्भाव पर्याय समझना चाहिये । आत्मादिक पदार्थ पर्यायोंके समूह रूप हैं । इनमेंसे कभी अनन्त स्वपर पर्याय स्वभाव द्रव्य सत्तारूपसे एक विवक्षित होता है, कभी चेतन अचेतनके भेदसे दो भेदरूप विवक्षित होता है, तो कभी बहु भेदरूप विवक्षित होता हैं, क्योंकि शक्ति अनन्त है । विवक्षित भंगकी अपेक्षा सत् और शेष भंगकी अपेक्षा असत् समझना चाहिये । अतएव उक्त तीनों विकल्पोंमेंसे पहले विकल्प सत्का स्वरूप पर्यायास्तिककी अपेक्षासे इस प्रकार है कि—एक रूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायके विषयमें या दो भेदरूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायोके विषयमें अथवा बहु भेदरूपसे विवक्षित सद्भाव पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट द्रव्य या द्वित्वविशिष्ट द्रव्य अथवा बहुत्व संख्या विशिष्ट द्रव्य सत् होता है । दूसरे विकल्प—असत्का स्वरूप असद्भाव पर्यायकी अपेक्षा इस प्रकार है-एक भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव पर्यायके विषयमें या दो भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव पर्यायोंके विषयमें अथवा बहु भेदरूपसे विवक्षित असद्भाव पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट द्रव्यको या द्वित्व विशिष्ट द्रव्यको अथवा बहुत्व विशिष्ट द्रव्यको असत् समझना चाहिये । इसी प्रकार तीसरे अवक्तव्य विकल्पके सम्बन्धमें समझना चाहिये । यथा—जातिकृत एकत्वकी अपेक्षा उक्त सद्भावपर्याय और असद्भावपर्याय इन दोनोंके विषयमें, अथवा स्वपर पर्यायभेदकृत द्वित्वकी अपेक्षा उक्त दोनों पर्यायोंके विषयमें, यद्वा पर्याय विशेषकृत बहुत्वकी अपेक्षा उक्त उभय पर्यायोंके विषयमें आदिष्ट—अर्पित एकत्व विशिष्ट द्रव्यको या द्वित्व विशिष्ट द्रव्योंको अथवा बहुत्व विशिष्ट द्रव्योंको एक कालमें न सत् कह सकते हैं, और न असत् कह सकते हैं ।

इस प्रकार सप्तभंगीके यह पहले तीन विकल्पोंका स्वरूप है । यह सकलादेशकी अपेक्षासे है । शेष चार विकल्पोको विकलादेशकी अपेक्षासे स्वयं समझ लेना चाहिये । क्योंकि वे

१—"सकलादेशः प्रमाणाधीनः, एकगुणमुखेनाशेषवस्तुकथन सकलादेशः ।" एक गुण, अथवा पर्यायके द्वारा समस्त वस्तुके ग्रहण करनेको प्रमाण अथवा सकलादेश कहते हैं। और "विकलादेशो नयाधीनः।" अर्थात् अंशरूपसे वस्तुके ग्रहण करनेको विकलादेश अथवा नय यद्वा देशादेश कहते हैं। अतएव सप्तभंगी दो प्रकारकी मानी है—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी। वह भी तीन तीन प्रकारसे प्रवृत्त हुआ करती है—ज्ञानरूपसे, वचनरूपसे और अर्थरूपसे।

इन तीन विकल्पोंके ही संयोगरूप हैं। यथा—स्यादस्तिनास्ति १, स्यादस्त्यवक्तव्यः २, स्यान्नास्त्यवक्तव्यः ३ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यः ४।

भावार्थ—द्रव्यार्थ और पर्यायार्थनयकी गौण मुख्य प्रवृत्तिके द्वारा प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्वादि धर्म अविरोध रूपसे सिद्ध हो सकते हैं। तदनुसार जीवादिक सभी द्रव्योंके सामान्य विशेष स्वरूपके विषयमें नयोंको विधिपूर्वक अर्पित या अनर्पित करके सब धर्मोंको यथासम्भव सिद्ध करलेना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता संघातभेदेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते इति। तत् किं संयोगमात्रादेव संघातो भवति, आहोस्विदस्ति कश्चिद्विशेष इति? अत्रोच्यते–सति संयोगे बद्धस्य संघातो भवतीति॥ अत्राह–अथ कथं बन्धो भवतीति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले आपने स्कन्धोंकी उत्पत्तिके कारणोंको बताते हुए कहा था, कि संघात भेद और संघातभेदके द्वारा स्कन्धोंकी उत्पत्ति हुआ करती है। उसमें यह समझमें नहीं आया, कि संघात किस तरह हुआ करता है। पुद्गलोंके संयोगमात्रसे ही हो जाया करता है अथवा उसमें कुछ विशेषता है? उत्तर—संयोग होनेपर जो पुद्गल बद्ध हो जाते हैं—जो कि एक क्षेत्रावगाहको प्राप्तकर एकत्वरूप परिणमन करानेवाले संश्लेष विशेषको प्राप्त हो जाते हैं, संघात उन्हींका हुआ करता है। संयोगमात्रसे संघात नहीं हुआ करता। प्रश्न—जिन पुद्गलोंका बन्ध हो जाता है, उन्हींका यदि संघात होता है, तो फिर यह भी बताना चाहिये कि वह बंध किस तरह हुआ करता है? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः॥ ३२॥

भाष्यम्—स्निग्धरूक्षयोः पुद्गलयोः स्पृष्टयोर्बन्धो भवतीति॥ अत्राह–किमेष एकान्त इति, अत्रोच्यते—

अर्थ—जब स्निग्ध अथवा रूक्ष पुद्गल आपसमें स्पृष्ट होते है, तब उनका बन्धरूप परिणमन हुआ करता है।

भावार्थः—पहले पुद्गलके स्पर्शादिक गुणोंको बताते हुए स्पर्शके आठ भेद बतला चुके हैं।[1] उन्हींमें एक स्नेह और एक रूक्ष भेद भी है। चिक्कणताको स्नेह और उसके विपरीत परिणामको रूक्ष कहते हैं। अंशोंके तारतम्यकी दृष्टिसे इनके अनन्त भेद हो सकते हैं। एक गुणस्नेहसे[2] लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त और अनन्तानन्त गुणस्नेहवाले पुद्गल हुआ करते हैं। इसी प्रकार रूक्षगुणके विषयमें भी समझना चाहिये। इन गुणोंके कारण पुद्गल आपसमें मिलनेपर—केवल संयोगमात्र नहीं, किन्तु परस्परमें प्रतिघातरूप होनेपर बन्ध पर्यायको प्राप्त हुआ

१—अध्याय ५ सूत्र २६। २—यहाँपर गुणशब्दका अर्थ अविभागप्रतिच्छेद है। किसी भी शक्तिके सबसे छोटे अंशको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।

करते है । जिनमें पूरण और गलन पाया जाय, उनको ही पुद्गल कहते हैं । पूरकत्व—पूरणधर्मकी अपेक्षा संघात, और गलन धर्मकी अपेक्षा भेद हुआ करता है । इस प्रकारसे जब परिणति विशेष पैदा करनेवाला सर्वात्म संयोगरूप उनका बन्ध होता है, तभी उनका संघात कहा जाता है ।

प्रश्न—पुद्गलोंके बन्धमें आपने उनके स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणको कारण बताया सो ठीक, परन्तु क्या यह एकान्त है, कि जहाँपर ये गुण होंगे, वहाँपर नियमसे बन्ध हो ही जायगा? या इसमें भी कोई विशेषता है? इसका उत्तर देनेके लिये आगेके सूत्र द्वारा विशेषताका प्रतिपादन करते हैं:—

सूत्र—न जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—जघन्यगुणस्निग्धानां जघन्यगुणरूक्षाणां च परस्परेण बन्धो न भवति ॥

अर्थ—जिनमें स्नेहका जघन्य गुण पाया जाता है, अथवा जो रूक्षके जघन्य गुणको धारण करनेवाले हैं उन पुद्गलोंका, परस्परमें बन्ध नहीं हुआ करता ।

भावार्थ—जघन्य शब्दसे एक संख्या और गुण शब्दसे शक्तिका अंश लेना चाहिये । जो पुद्गल ऐसे हैं, कि जिनमें एक ही अंश स्नेहका अथवा रूक्षका पाया जाता है, उनका परस्परमें बन्ध नहीं हुआ करता । परस्परसे यहाँ मतलब सजातीयका है । किन्तु आगे चलकर विसदृशका भी बन्ध होता है ऐसा कहेंगे । तदनुसार एक गुणवाले परमाणुका किसी भी स्निग्ध या रूक्षगुणवाले के साथ बन्ध नहीं हो सकता । अर्थात् एक स्नेहगुणवालेका न तो दो तीन चार आदि संख्यात अथवा असंख्यात या अनन्त गुण स्निग्ध पुद्गलके साथ ही बन्ध होगा और न ऐसे ही रूक्ष गुणवाले पुद्गलके साथ बंध होगा ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता जघन्यगुणवर्जानां स्निग्धानां रूक्षेण रूक्षाणां च स्निग्धेन सह बन्धो भवतीति । अथ, तुल्यगुणयोः किमत्यन्तप्रतिषेध इति? अत्रोच्यते—न जघन्यगुणानामित्यधिकृत्येदमुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जघन्य गुणवालेको छोड़कर बाकी स्नेह गुणवाले पुद्गलोंका रूक्ष पुद्गलोंके साथ और इसी प्रकार जघन्यगुणके सिवाय शेष रूक्ष गुणवाले पुद्गलोंका स्निग्ध पुद्गलोंके साथ बन्ध होता है, यह बात आपने कही है । सो क्या तुल्य गुणवालोंके बन्धका सर्वथा प्रतिषेध ही है? उत्तर—तुल्य गुणवाले स्निग्धाधिकरण और रूक्षाधिकरणके बन्धका एकान्तरूपसे निषेध ही है । और यह निषेध "न जघन्यगुणानाम्" सूत्रके अधिकारसे ही सिद्ध है । इसी सम्बन्धको लेकर आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—गुणसाम्ये सति सदृशानां बन्धो न भवति । तद्यथा—तुल्यगुणस्निग्धस्य तुल्यगुणस्निग्धेन, तुल्यगुणरूक्षस्य तुल्यगुणरूक्षेणेति ।

अत्राह–सदृशग्रहणं किमपेक्षत इति । अत्रोच्यते–गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीति।

अर्थ—स्निग्ध रूक्ष गुणोंकी समानताके द्वारा जो सदृश है, उनका बन्ध नहीं हुआ करता । यथा—तुल्य गुणस्निग्धका तुल्य गुणस्निग्धके साथ एवं तुल्य गुणरूक्षका तुल्य गुणरूक्षके साथ बन्ध नहीं होता ।

भावार्थ—यहाँपर सदृशता क्रियाकृत समताकी अपेक्षासे नहीं, किन्तु गुणकृत समताके निमित्तसे समझनी चाहिये । तथा यह सामान्योपन्यास है, अतएव सभी समगुणवालोंके पारस्परिक बन्धका निषेध समझना चाहिये । जिस प्रकार एक स्निग्ध गुणवालेके साथ एक स्निग्ध गुणवालेका बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार दो स्निग्ध गुणवालेका दो स्निग्ध गुणवालेके साथ बन्ध नहीं होता, और तीन स्निग्ध गुणवालेका तीन स्निग्ध गुणवालेके साथ बंध नहीं होता । इसी तरह अनन्तगुण स्निध पर्यन्त सभी समान संख्यावालोंके विषयमें समझना चाहिये । तथा यही क्रम रूक्षके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये ।

प्रश्न—इस सूत्रमें गुणसाम्य और सदृश इस तरह दो शब्दाका प्रयोग किया है । परन्तु जिनमें समान गुण होंगे, वे नियमसे सदृश होंगे ही, फिर व्यर्थ ही सूत्रमें सदृश शब्दका प्रयोग करनेकी क्या आवश्यकता है ? **उत्तर**—यहाँपर सदृश शब्दके प्रयोग करनेका दूसरा ही अभिप्राय है । वह इस बातको दिखाता है, कि गुणकृत वैषम्यके रहनेपर भी जो सदृश हैं, उनका परस्परमें बन्ध हुआ करता है ।

भाष्यम्—अत्राह—किमविशेषेण गुणवैषम्ये सदृशानां बन्धो भवतीति? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—**प्रश्न**—आपने कहा है, कि गुण वैषम्यके होनेपर सदृश पुद्गलोंका बन्ध होता है । सो यह अविशेषरूपसे होता ही है, या इसका कोई विशेष अपवाद है । अर्थात्—जहाँ जहाँ सदृशोंमें गुणवैषम्य पाया जाय, वहाँ वहाँ बन्ध हो ही जाय, ऐसा नियम है, अथवा कहीं बन्ध नहीं भी होता ? **उत्तर**—सभी सदृश पुद्गलोंका बन्ध नहीं हुआ करता । किनका होता है सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—द्व्यधिकादिगुणानां तु सदृशानां बन्धो भवति । तद्यथा-स्निग्धस्य द्विगुणाद्यधिकास्निग्धेन, द्विगुणाद्यधिकस्निग्धस्य स्निग्धेन । रूक्षस्यापि द्विगुणाद्यधिकरूक्षेण, द्विगुणाद्यधिकरूक्षस्य रूक्षेण । एकादिगुणाधिकयोस्तु सदृशयोर्बन्धो न भवति । अत्र तुशब्दो व्यावृत्तिविशेषणार्थः प्रतिषेधं व्यावर्तयति बन्धं च विशेषयति ॥

अर्थ—जो सदृश पुद्गल दो अधिक गुणवाले हुआ करते हैं, उनका बन्ध हुआ करता है । यथा स्निग्धका दो गुण अधिक स्निग्धके साथ, दो गुण अधिक स्निग्धका स्निग्धके साथ बन्ध

हुआ करता है[1] । रूक्षका भी दो गुण अधिक रूक्षके साथ, और दो गुण अधिक रूक्षका रूक्षके साथ बन्ध होता है । जिनमें एक आदि गुण अधिक पाये जाते हैं, उन सदृशोंका बन्ध नहीं हुआ करता ।

इस सूत्रमें जो तु शब्द है, वह दो प्रयोजनोंको सिद्ध करता है—व्यावृत्ति और वैशिष्ट्य । अर्थात् वह प्रतिषेधकी तो व्यावृत्ति करता है, और बन्धकी विशेषताको दिखाता है ।

भावार्थ—पहले दो सूत्रोंके द्वारा जो बन्धका प्रतिषेध किया गया है, उसका यह निषेध करता है[2], और बन्धका विशेषण बनकर बताता है कि, गुणवैषम्य होते हुए भी जो दो गुण अधिक हैं, उन सदृशोंका बंध हुआ करता है[3] ।

भाष्यम्—अत्राह—परमाणुषु स्कन्धेषु च ये स्पर्शादयो गुणास्ते किं व्यवस्थितास्तेषु आहोस्विदव्यवस्थिता इति ? । अत्रोच्यते—अव्यवस्थिताः । कुतः ? परिणामात् । अत्राह— द्वयोरपि बध्यमानयोर्गुणवत्त्वे सति कथं परिणामो भवतीति ? उच्यते—

अर्थ—परमाणुओंमें तथा स्कन्धोंमें जो स्पर्शादिक गुण रहते हैं, या पाये जाते हैं, वे व्यवस्थित हैं, अथवा अव्यवस्थित ? अर्थात् नित्य हैं या अनित्य ? उत्तर—वे सब अव्यवस्थित हैं । परमाणुओंमें पाये जानेवाले स्पर्शादिक और स्कन्धोंमें पाये जानेवाले स्पर्शादिक तथा शब्दादिक सभी अनवस्थित है । प्रश्न—ऐसा कैसे ? अर्थात् आपका यह कथन केवल प्रतिज्ञामात्र समझना चाहिये, अथवा युक्तिसिद्ध ? यदि युक्तिसिद्ध है, तो वह युक्ति क्या है ? उत्तर— कारण यह है, कि पुद्गलपरमाणु अथवा स्कन्ध अपने द्रव्यत्वादि जातिस्वभावको न छोड़कर प्रतिक्षण परिणमन विशेषको प्राप्त हुआ ही करते हैं, और तदनुसार स्पर्शादिक सामान्य धर्मको न छोड़ते हुए भी वे स्पर्शादिकी उक्त विशेष अवस्थाओंको धारण किया ही करते हैं । इस परिणामकी दृष्टिसे उन स्पर्शादि गुणोंको अथवा शब्दादिकको अनवस्थित ही कहा जा सकता है । प्रश्न—जब बध्यमान दोनों पुद्गलोंमें गुणवत्ता समान है, तब परिणाम किस तरह होता है ? अर्थात् जिन दो पुद्गलोंका स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्वके कारण बंध होता है, उनकी गुणवत्ता जब समान है, उस अवस्थामें किसको परिणम्य और किसको परिणामक कहा जा सकता है ? कल्पना कीजिये, कि एक स्निग्ध परमाणुका दूसरे रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध हुआ । इनमेंसे कौन परिणमन करेगा और कौन करावेगा ? स्निग्ध परमाणु रूक्षको अपने रूप परिणमा लेगा अथवा रूक्ष परमाणु स्निग्धको रूक्ष बना लेगा ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

१—एक ही बातको दो बार कहनेमें कोई विशेषता नहीं है, परन्तु विशेष अर्थ न रहते हुए भी षष्ठयन्त और तृतीयान्त इस तरह वाक्यके प्रयोग दो तरहसे हो सकते हैं, इस बातको दिखानेके लिये ही आचार्येने दो प्रकारसे एक बातको कहा है । २—निषेधका निषेध सद्भावका ज्ञापक होता है, अतएव यह भी बंधके अधिकारको सूचित करता है । ३—" णिद्धस्स णिद्धेण दुआधिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुआधिएण । णिद्धस्स लुक्खेण उवेति बंधो जहण्णवज्जो विसमे समेवा ॥ (प्रज्ञा० गाथा २००) अथवा देखो गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा—६१४ ।

सूत्र—बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—बन्धे सति समगुणस्य समगुणः परिणामको भवति, अधिकगुणो हीनस्येति ॥

अर्थ—बन्ध होनेपर जो समान गुणवाला होता है, वह अपने समान गुणवालेका परिणामक हुआ करता है, और जो अधिक गुणवाला हुआ करता है, वह अपनेसे हीन गुणवालेका परिणामक हुआ करता है।

भावार्थ—कल्पना कीजिये, कि द्वि गुण स्निग्धका और द्वि गुण रूक्षका परस्परमें संघट्ट हुआ। यहाँपर कदाचित् स्निग्ध अपने स्नेह गुणके द्वारा रूक्ष गुणको आत्मसात् करता है[1], तो कदाचित् रूक्ष गुण अपने रूक्ष गुणके द्वारा सम गुणवाले स्निग्धको आत्मसात् कर सकता है। तथा जो अधिक गुणवाला होता है, वह अपनेसे हीनको अपनेरूप परणमा लेता है। जैसे कि त्रिगुण स्निग्ध अपनेसे हीन-एक गुणस्निग्धको अपनेरूप परणमा ले सकता है।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता द्रव्याणि जीवाश्चेति। तत् किमुद्देशत एव द्रव्याणां प्रसिद्धिराहोस्विल्लक्षणतोऽपीति? अत्रोच्यते-लक्षणतोऽपि प्रसिद्धिः तदुच्यतेः—

अर्थ—प्रश्न-आपने इसी अध्यायके प्रारम्भमें "द्रव्याणि जीवाश्च" इस सूत्रके द्वारा धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव इन पाँच द्रव्योंका या अस्तिकायोंका उल्लेख किया है, सो यह उल्लेख उद्देशमात्र[3] ही है, अथवा लक्षणद्वारा भी है। अर्थात् उक्त द्रव्योंकी प्रसिद्धि-स्वरूपका परिज्ञान सामान्यतया नाममात्रके द्वारा ही समझना चाहिये, अथवा इसके लिये कोई असाधारण लक्षण भी है? उत्तर—लक्षणके द्वारा भी इन द्रव्योंकी प्रसिद्धि होती है। वह लक्षण क्या है, जिसके कि द्वारा उनका परिज्ञान हुआ करता है, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः। भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः। तदुभयं यत्र विद्यते तद् द्रव्यम्। गुणपर्याया अस्य सन्त्यस्मिन् वा सन्तीति गुणपर्यायवत्।

१—सम गुणका बन्ध होता नहीं, फिर न मालूम ऐसा कथन भाष्यकारने कैसे किया। इसी शंकाका उत्तर देते हुए टीकाकारने लिखा है कि—"गुणसाम्ये तु सदृशानां बन्धप्रतिषेधः। इमौ तु विसदृशावेको द्विगुणस्निग्धोऽन्यो द्विगुणरूक्षः; स्नेहरूक्षयोश्च भिन्नजातीयत्वान्नास्ति सादृश्यम्।" अर्थात् सजातीयमें समगुणवालेके बन्धका निषेध है, न कि भिन्न जातीयमें। परन्तु बन्धका नियम दो गुण अधिकका है, और वह सजातीय विजातीय दोनोंमें ही होता है, जैसा कि "निद्धस्स निद्धेण दुआहिएण" आदि उक्त गाथाके द्वारा भी सिद्ध होता है। तदनुसार दो गुण अधिकका ही बंध होता है, चाहे वे बध्यमान दोनों पुद्गल, स्निग्ध स्निग्ध या रूक्ष रूक्ष हों, अथवा स्निग्ध रूक्ष हों। अतएव यह उदाहरण किस तरह दिया, या सम गुणकी परिणामकता किस तरह बताई, सो समझमें नहीं आती। २—"न जघन्यगुणानाम्" इस कथनके अनुसार एक गुणवालेका बंध नहीं होता, फिर भी यहाँपर उसका उल्लेख किया है, सो क्या आशय रखता है, कह नहीं सकते। ३—नाममात्रकथनमुद्देश।

अर्थ—शक्तिविशेषोंका ही नाम गुण है। परन्तु इनका लक्षण वाक्यके द्वारा वर्णन आगे चलकर "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इस सूत्रके व्याख्यानके अवसरपर करेंगे। भावान्तर और संज्ञान्तरको पर्याय कहते हैं। ये दोनों जिसमें रहें, उसको द्रव्य कहते हैं। अथवा गुण और पर्याय जिसके हों या जिसमें हों, उसको गुणपर्यायवत्—द्रव्य समझना चाहिये।

भावार्थ—द्रव्यका एक लक्षण कहा जा चुका है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" फिर भी दूसरा लक्षण जो यह बताया है, उसका प्रयोजन द्रव्य और उसके धर्मोंका विशेष परिज्ञान कराना है।

"गुणपर्यायवत्" इसमें मतुप् प्रत्ययको देखकर अथवा 'गुणपर्याया अस्य सन्त्यस्मिन्वा' इसमें षष्ठी सप्तमी निर्देशको देखकर यह नहीं समझना चाहिये, कि गुण और पर्यायसे द्रव्य कोई सर्वथा भिन्न चीज है, जिसमें कि ये दोनों वस्तु रहती हैं, जैसे कि घड़ेमें पानी रहा करता है। क्योंकि अभिन्नमें भी मतुबादि प्रत्यय या षष्ठी आदि निर्देश हुआ करता है, जैसे कि यह वृक्ष सारवान् है, सोनेकी अंगूठी, इत्यादि।

गुण और पर्याय ऐसा भेद-कथन भी आगममें जो पाया जाता है वह भी व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। वास्तवमें देखा जाय, तो पर्याय और गुण एक ही हैं[1]। द्रव्य की परिणितिविशेषको ही गुण अथवा पर्याय कहते हैं। जो परिणति द्रव्यसे युगपदवस्थायी—सहभावी है, उसको गुण और जो उससे अयुगपदवस्थायी—क्रमभावी है, उसको पर्याय कहते है। जैसे कि पुद्गलके रूप रस गंध स्पर्श आदि गुण हैं, और हरित पीत आदि तथा मधुर अम्ल आदि पर्याय हैं। पिंड घट कपाल आदि भी उसके पर्याय हैं। क्योंकि वे सहभावी नहीं हैं। एक संज्ञासे दूसरी संज्ञा होनेमें कारण एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका होना है, अतएव संज्ञान्तर और उसका निमित्त कारण भावान्तर दोनों पर्यायके ही स्वरूप हैं।

इस प्रकार द्रव्यका लक्षण बताया। यहाँ तक उपरिनिर्दिष्ट धर्मादिक पाँच द्रव्योंका अनेक अपेक्षाओंसे वर्णन किया है। इसमें सबके उपकारका वर्णन करते हुए कालद्रव्यके उपकारका भी वर्णन किया है। परन्तु वह काल भी द्रव्य है, ऐसा अभी तक कहा नहीं है। अतएव यह शंका हो सकती है, कि वह पाँच द्रव्योंसे भिन्न कोई छट्ठा द्रव्य है, अथवा पाँचोंमें ही अन्तर्भूत है, या और कोई बात है। अतएव इस शंकाको दूर करनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैः—

१—"दो पज्जवे दुगुणिए लभंति उ एगाओ दव्वाओ।" (आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ६४) तथा "तं तह जाणाति जिणो, अपज्जवे जाणणा नत्थि।" [आ० नि० गाथा १९४] एवं "दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइं दव्वाइं।" (आव० नि० गाथा १९३)

सूत्र—कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—एके त्वाचार्या व्याचक्षते-कालोऽपि द्रव्यमिति ॥

अर्थ—कोई कोई आचार्य कहते है कि-काल भी द्रव्य है।

भावार्थ—पहले वर्तना आदि उपकार जो वताया है, वह किसी उपकारकके विना नहीं कहा जा सकता या हो सकता। इसी प्रकार समय घड़ी घंटा आदि जो व्यवहार है, वह भी किसी उपादान कारणके विना नहीं हो सकता, तथा पदार्थोंके परिणमनमें क्रमवर्तित्वका कोई कारण भी होना चाहिये, और आगममें[1] छह द्रव्योंका उल्लेख भी है। इत्यादि कारणोंसे ही कुछ आचार्योंका कहना है, कि काल भी एक द्रव्य है।

इसका विशेष स्वरूप वतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—स चैष कालोऽनन्तसमयः। तत्रैक एव वर्तमानसमयः। अतीतानागतयोस्त्वानन्त्यम् ॥

अर्थ—ऊपर जिस कालद्रव्यका उल्लेख किया है, वह अनन्त समयरूप है। जिनमेंसे वर्तमान समय तो एक ही है, परन्तु भूत और भविष्यत समयोंका प्रमाण अनन्त है।

भावार्थ—अनन्त हैं, समय अर्थात् पर्याय या भेद जिसके उसको अनन्त पर्याय कहते हैं। उपर्युक्त काल द्रव्य, जोकि उपचरित नहीं, किन्तु पारमार्थिक है, अनन्त परम निरुद्ध पर्यायोंवाला है। इसी लिये उसमें उक्त द्रव्यका लक्षण "गुणपर्यायवत्" यह अच्छी तरह घटित होता है। उसमें सत्त्व ज्ञेयत्व द्रव्यत्व कालत्व आदि अनन्त अर्थपर्याय और वचनपर्याय पाये जाते है। और भूत भविष्यत् वर्तमान शब्दके द्वारा कहे जानेवाले वर्तना आदि परिणामविशेष भी पाये जाते है।

अनन्त शब्द संख्यावाची है, और समय शब्द परिणमनको दिखाता है। अतएव काल द्रव्य अनन्त परिणामी है, ऐसा समझना चाहिये। किन्तु वर्तमान परिणमन या समय एक ही कहा जा सकता है, और भूत भविष्यत्के अनन्त कहे जा सकते है। भूत समय अनादि सान्त हैं, और भविष्यत् समय साद्यनन्त है। यद्यपि अनन्तत्व दोनोंमें समान है, फिर भी अल्प बहुत्वकी अपेक्षा दोनोंमें अन्तर है। क्योंकि आगममें वह इस प्रकार बताया है, कि अभव्योंसे अनन्तगुणी सिद्ध राशि है, सिद्धोंसे असंख्यातगुणा भूतसमयोंकी राशिका प्रमाण है। भूतसमयोंकी राशिके प्रमाणसे अनन्तगुणी भव्यराशि है, और भव्यराशिसे अनन्तगुणा भविष्यत् समयोंकी राशिका प्रमाण है। यह अनन्तता सन्ततिकी अपेक्षासे है, और यह वर्तमानमें नहीं पाई जा सकती, इसलिये वर्तमान समय एक ही है।

१—"कति णं भंते! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए"। इत्यादि।

भाष्यम्—अत्राह-उक्तं भवता गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति । तत्र के गुणा इति? अत्रोच्यतेः-

अर्थ—प्रश्न-आपने द्रव्यका लक्षण बताते हुए कहा है, कि जिसमें गुण और पर्याय पाये जाँय, उसको द्रव्य कहते हैं । परन्तु यह नहीं मालूम हुआ, कि गुण किसको कहते हैं । अतएव कहिये कि वे गुण कौनसे हैं ?

भावार्थ—द्रव्यके लक्षणमें आये हुए गुणपर्याय शब्दोंका स्वरूप बतानेकी आवश्यकता है । पर्याय और गुण एक ही हैं, यह बात पहले बता चुके है, अतएव गुण शब्दके ग्रहणसे पर्यायका ग्रहण भी हो ही जाता है । इसीलिये पर्यायके विषयमें प्रश्न न करके गुणके विषयमें यहाँपर प्रश्न किया है । अथवा भेद विवक्षामें गुण और पर्याय भिन्न भी है । इस दृष्टिसे उसका भी प्रश्न होना चाहिये । परन्तु उसका स्वरूप भी आगेके सूत्रद्वारा बतावेंगे । क्रमानुसार पहले गुणका स्वरूप बताना चाहिये । इस बातको लक्ष्यमें लेकर ही प्रश्न उपस्थित किया गया है । अब ग्रन्थकार उसका उत्तर देनेके लिये गुणका लक्षण बतानेवाला सूत्र करते हैः—

सूत्र—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—द्रव्यमेषामाश्रय इति द्रव्याश्रयाः, नैषां गुणाः सन्तीति निर्गुणाः ॥

अर्थ—जिनका आश्रय द्रव्य है—जो द्रव्यमें रहते हैं, और जिनमें गुण नहीं रहते, स्वयं निर्गुण हैं, उनको गुण कहते है ।

भावार्थ—यहाँपर आश्रय शब्द आधारको बतानेवाला नहीं है, किंतु परिणामीको बताता है । स्थित्यंशरूप द्रव्य परिणामी है, क्योंकि वह अनेक परिणाम विशेषोंका कारण है । द्रव्य परिणमन करता है, इसलिये गुण और पर्याय परिणाम हैं, तथा द्रव्य परिणामी है । गुण स्वयं निर्गुण हैं । क्योंकि उनमें और गुण नहीं रहते । ज्ञानादिक या रूपादिकमें अन्य कोई भी गुण नहीं रहता ।

भाष्यम्-अत्राह-उक्तं भवता बन्धे समाधिकौ पारिणामिकाविति । तत्र कः परिणाम इति ? अत्रोच्यतेः—

अर्थ—यह बात आप कह चुके हैं, कि बंध होनेपर समगुण अपने समगुणका परिणमन करा देता है, और अधिक गुणवाला हीन गुणवालेका परिणमन करा देता है । इसमे परिणाम शब्दसे क्या समझना चाहिये? वे पुद्गल अपनेसे भिन्न परिणाम नामकी किसी वस्तुको उत्पन्न करते है ? अथवा स्वयं ही अपने स्वरूपको न छोड़ते हुए किसी विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैः—

१-पहले अध्यायके पाँचवें सूत्र द्वारा नामादि निक्षेपोका वर्णन करते हुए भाष्यकारने कहा था कि "भावतो द्रव्याणि धर्मादीनि सगुणपर्यायाणि प्राप्तिलक्षणानि वक्ष्यन्ते ।" इसमें भी प्राप्ति शब्दका अर्थ परिणाम ही है । अतएव इसका स्वरूप भी प्रतिज्ञानुसार बताना आवश्यक है । सो यह हेतु भी आगेके सूत्रद्वारा सिद्ध होता है ।

सूत्र—तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः॥ स द्विविधः।—

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव और काल इन पूर्वोक्त द्रव्योंके और उनके गुणोंके, जिनका कि लक्षण ऊपर बता चुके हैं, स्वभाव—स्वतत्त्वको परिणाम कहते हैं।

भावार्थ—तत् शब्दसे छहों द्रव्य और उनके गुणोंको समझना चाहिये। तथा भाव शब्दका अर्थ भवन—भूति—उत्पत्ति—आत्मलाभ या अवस्थान्तरको प्राप्त करना है। इसीको परिणाम कहते हैं। यह परिणाम द्रव्यसे या गुणसे सर्वथा भिन्न कोई वस्तु नहीं है, किन्तु उसीका स्वभाव है, अथवा स्व—निज तत्त्व ही है। क्योंकि द्रव्य ही अपने स्वरूपको न छोड़ता हुआ विशिष्ट अवस्थाको धारण किया करता है। जैसा कि लोकमें प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है।

यह परिणाम दो प्रकारका है—इसके दो भेद हैं। इन दो भेदोंको बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अनादिरादिमांश्च ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति॥

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश और जीव इन अरूपी द्रव्योंका परिणाम अनादि है[1]।

रूपी—मूर्त पदार्थोंका परिणाम अनादि है, या आदिमान्, इस बातके बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिरिति॥

अर्थ—जिसमें रूप रस गन्ध स्पर्श पाया जाय, उसको रूपी कहते हैं। अर्थात् पुद्गल द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम पाया जाता है, और वह अनेक प्रकारका है। अनेक भेद स्पर्श-परिणामादिकी अपेक्षा समझने चाहिये। स्पर्शके आठ भेद हैं, रस पाँच प्रकारका है, गन्ध दो तरहका है, और वर्णके पाँच प्रकार हैं, सो पहले गिना चुके हैं। इन भेदोंकी अपेक्षा तथा तरतम भावकी अपेक्षा यह आदिमान् परिणाम अनेक प्रकारका है।

भावार्थ—जन्मसे लेकर विनाश पर्यन्त विशेषताको रखनेवाला और स्वरूपके सामान्य—विशेष धर्मोंके अधिकारी तद्भावको आदिमान् परिणाम कहते हैं। भाष्यकार ने "तु" शब्दका

१—सूत्रमें जो च शब्द पड़ा है, उससे कालका भी ग्रहण होता है। अर्थात् कालमें भी अनादि परिणाम होता है। तथा अरूपी द्रव्योंमें अनादि परिणाम ही हो ऐसा नियम नहीं है। यह बात आगेके सूत्रकी व्याख्यासे मालूम हो जायगी, कि अरूपी द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम भी होता है।

उसकी विशेषता दिखाने लिये ही उल्लेख किया है । वह दिखाता है, कि पुद्गलोंमें सत्त्व द्रव्यत्व मूर्तत्व आदि अनादि परिणाम भी पाये जाते हैं। यदि कोई यह शंका करे, कि जब रूपी द्रव्योंमें अनादि परिणाम भी रहता है, तो अरूपी द्रव्योंमें आदिमान् परिणाम भी क्यों नहीं पाया जा सकता ? तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा भी माना ही है । जैसे जीवमें योग और उपयोगरूप आदिमान् परिणाम होता है, उसी प्रकार अन्य धर्मादिक द्रव्योंमें भी उसके रहनेको कौन रोक सकता है ।

ऊपर परिणामके दो भेद गिनाये हैं—अनादि और आदिमान् । उनमेंसे केवल अमूर्त द्रव्यका उद्देश करके उनमें आदिमान् परिणामको भी दिखानेके अभिप्रायसे आगे सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामावादिमन्तौ भवतः । स च पंचदशभेदः । स च द्वादशविधः । तत्रोपयोगः पूर्वोक्तः । योगस्तु परस्ताद् वक्ष्यते ॥

इति श्रीतत्त्वार्थसंग्रहे अर्हत्प्रवचने पञ्चमोऽध्यायः ॥

अर्थ—जीव यद्यपि अरूपी है, तो भी उनमें योग और उपयोग रूप आदिमान् परिणाम हुआ करते हैं । योगके पंद्रह भेद हैं, और उपयोग बारह प्रकारका है । इनमेंसे उपयोगका स्वरूप पहले बताया जा चुका है, और योगका वर्णन आगे चलकर करेंगे ।

भावार्थ—योग दो प्रकारका है—भावयोग और द्रव्ययोग । आत्माकी शक्ति विशेषको भावयोग कहते है, और मन वचन कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका जो परिस्पन्दन होता है, उसको द्रव्ययोग कहते हैं । प्रकृतमें योग शब्दसे द्रव्ययोगको ही समझना चाहिये । इसके पन्द्रह भेद हैं, यथा—औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिक-मिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, और कार्मणकाययोग, इस प्रकार सात काययोग और चार वचनयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय, तथा चार मनोयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय । उपयोग बारह प्रकारका है । यथा—पाँच सम्यग्ज्ञान—मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल, तीन मिथ्याज्ञान—कुमति कुश्रुत और विभङ्ग । तथा चार प्रकारका दर्शन, यथा—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन । इस प्रकार ये योग और उपयोग दोनों ही प्रकारके परिणाम आदिमान् हैं । फिर भी अमूर्त जीवमें पाये जाते हैं । क्योंकि आत्माका इस तरहका परिणमन करनेका स्वभाव है । भाष्यकारने अपि शब्दका प्रयोग करके समानताका बोध कराया है । अर्थात्—जिस प्रकार अणु आदिकमें आदिमान् परिणाम होता है, उसी प्रकार जीवमें भी होता है ।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका पंचम अध्याय समाप्त हुआ ॥

१—तु शब्दको समुच्चयार्थक माननेसे भी यह अर्थ प्रकट हो सकता है । २—अध्याय २ सूत्र ८, ९ । ३—छट्ठे अध्यायके प्रारम्भमें । ४—पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स । जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ गो० जी० का० ॥ २१५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही मोक्षमार्ग—रत्नत्रयके विषयभूत सात तत्त्व गिनाये थे । अब उनमेंसे क्रमानुसार तीसरे आस्रवतत्त्वका इस अध्यायमें वर्णन करेंगे । इसीके लिये भाष्यकार प्रथम सूत्रकी उत्पत्तिका कारण प्रकट करते हैं:—

भाष्यम्–अत्राह–उक्ता जीवाजीवाः । अथास्रवः क इत्यास्रवप्रसिद्ध्यर्थमिदं प्रक्रम्यते-

अर्थ—प्रश्न–जीव और अजीवका वर्णन तो हुआ । अब यह कहिये, कि आस्रव किसको कहते हैं ? इसके उत्तरमें आस्रवतत्त्वकी सिद्धिके लिये ही इस प्रकरणका प्रारम्भ करते हैं ।

भावार्थ—पहले अध्यायमें जीवादिक सात तत्त्व जो बताये थे, जिनके कि सम्बन्धसे ही इस ग्रन्थका नाम तत्त्वार्थाधिगम रक्खा गया है, उनमेंसे पहले जीवतत्त्वका वर्णन आदिके चार अध्यायोंमें किया गया है, और दूसरे अजीवतत्त्वका व्याख्यान पाँचवें अध्यायमें हो चुका है। अब दोनोंके अनन्तर क्रमानुसार आस्रवतत्त्वका निरूपण करना आवश्यक है । जीवका कर्मके साथ जो बंध होता है, उसके कारणको आस्रव कहते हैं । उसका स्वरूप क्या है ? इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

भाष्यम्—कायिकं कर्म वाचिकं कर्म मानसं कर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति । स एकशो द्विविधः ।—शुभश्चाशुभश्च । तत्राशुभो हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः, सावद्यानृतपरुषपिशुनादीनि वाचिकः, अभिध्याव्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानसः । अतो विपरीतः शुभ इति ॥

अर्थ—शरीर वचन और मनके द्वारा जो कर्म–क्रिया होती है, उसको योग कहते हैं । अतएव यह योग तीन प्रकारका हो जाता है–कायिक क्रियारूप, वाचिक क्रियारूप, और मानस क्रियारूप । इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं–एक शुभ दूसरा अशुभ । हिंसामें प्रवृत्ति करना अथवा हिंसामय प्रवृत्ति करना, चोरी करना, कुशील (मैथुन) सेवन करना आदि[1] अशुभ कायिक कर्म– अशुभ योग हैं । पापमय या पापोत्पादक वचन बोलना[2], मिथ्या भाषण करना, मर्मभेदी आदि कठोर वचन बोलना, किसीकी चुगली बुराई आदि करना, इत्यादि अशुभ वाचिक कर्म–अशुभ वचनयोग हैं । दुर्ध्यान या खोटा चिन्तवन, किसीके मरने मारनेका विचार, किसीको लाभ आदि होता हुआ देखकर मनमें उससे डाह करना–जलना, किसीके महान् और उत्तम गुणोंमें

१–हिंसा झूठ चोरी कुशील आदिका लक्षण आगे चलकर बतावेंगे । २–हिंसा कर, अमुकको मार डाल, चोरी कियाकर, इत्यादि पापमें प्रेरित करनेवाले सभी वचन सावद्य कहे जाते हैं ।

भी दोष प्रकट करनेका विचार करना, इत्यादि अशुभ मानसकर्म—अशुभ मनोयोग हैं। इनसे विपरीत जो क्रिया होती है, वह सब शुभ कही जाती है। जैसे कि पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करना, उनकी स्तुति करना और उनके निरूपित तत्त्वोंका चिन्तवन करना आदि।

यहाँपर आस्रवतत्त्वका व्याख्यान करनेके लिये इस प्रकरणका प्रारम्भ किया है, परंतु उसको न बताकर योगका लक्षण कहा है, अतएव आस्रव किसको समझना यह बतानेके लिये आगेका सूत्र करते हैं:—

सूत्र—स आस्रवः ॥ २ ॥

भाष्यम्—स एष त्रिविधोऽपि आस्रवसंज्ञो भवति। शुभाशुभयोः कर्मणोरास्रवणादास्रवः सरःसलिलावाहिनिर्वाहिस्रोतोवत् ॥

अर्थ—पूर्वसूत्रमें जिसका वर्णन किया गया है, वह तीनों ही प्रकारका योग आस्रव नामसे कहा जाता है। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मोंके आनेसे आस्रव हुआ करता है। जैसे कि तालाबका जल जिनके द्वारा बाहरको निकलकर जाता है, या बाहरसे उसमें आता है उस छिद्र या नालीके समान ही आस्रवको समझना चाहिये।

भावार्थ—कर्मोंके आनेके द्वारको अथवा बंधके कारणको आस्रव कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके योगों द्वारा ही कर्म आते और बंधको प्राप्त हुआ करते हैं, अतएव उन्हींको आस्रव कहते हैं। यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि पहले सूत्रके द्वारा तो योगका स्वरूप बताया और फिर इस दूसरे सूत्रके द्वारा उसी योगको आस्रव कहा, ऐसा करनेका क्या कारण है? ऐसा न कर यदि दोनोंकी जगह एक ही सूत्र किया जाता, तो क्या हानि थी? परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सभी योग आस्रव नहीं कहे जाते। कायादि वर्गणाके आलम्बनसे जो योग होता है, उसीको आस्रव कहते है। अन्यथा केवली भगवान्के समुद्घातको भी आस्रव कहना पड़ेगा। इसके सिवाय सैद्धान्तिक उपदेशके अपायका भी प्रसङ्ग आसकता है, तथा अनेक जीवोंको उसके अर्थ समझनेमें सन्देह भी हो सकता है। इत्यादि कारणोंको लक्ष्यमें लेकर अर्थकी स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके लिये दो सत्र करना ही उचित है।

ऊपर योगके दो भेद बताये है—शुभ और अशुभ। इसमेंसे पहले शुभयोगका स्वरूप बताते है।

सूत्र—शुभः पुण्यस्य ॥ ३ ॥

भाष्यम्—शुभो योग. पुण्यस्यास्रवो भवति ॥

अर्थ—शुभयोग पुण्यका अस्रव है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंमें दो भेद हैं--पुण्य और पाप। जिन कर्मोका फल जीवको अभीष्ट हो, उनको पुण्य और जिनका फल अनिष्ट हो, उनको पाप कहते हैं। अत-

एव उन कर्मोंका कारण—आस्रव भी दो प्रकारका है, और वह अपने अपने कार्यका कारण हुआ करता है। हिंसा आदि पापोंसे रहित प्रवृत्ति, सत्यवचन और शुभमनोयोगसे पुण्य कर्मोंका बन्ध होता है। सातावेदनीय, नरकके सिवाय ३ आयु, उच्चगोत्र और शुभ नामकर्म—मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रिय जाति आदि ३७, इस तरह कुल मिलाकर ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं। शेष सम्पूर्ण कर्म पाप हैं, जैसा कि आगे चलकर बतावेंगे।

क्रमानुसार दूसरे अशुभयोगका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—अशुभः पापस्य ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तत्र सद्वेद्यादि पुण्यं वक्ष्यते। शेषं पापमिति ॥

अर्थ—अशुभ योग पापका आस्रव है। ऊपर जो तीन प्रकारके हिंसा प्रवृत्ति प्रभृति अशुभ काययोग आदि गिनाये है, उनसे पाप कर्मका आस्रव होता है। इस विषयमें यह बात समझ लेनी चाहिये, कि आगे चलकर अध्याय ८ सूत्र २६ के द्वारा सातावेदनीयादि पुण्य कर्मोंको गिनावेंगे उनसे जो बाकी बचें, वे सब ज्ञानावरणादि पाप हैं।

योगके शुभ और अशुभ ये दो भेद स्वरूपभेदकी अपेक्षासे हैं। किन्तु स्वामिभेदकी अपेक्षासे भी उसके भेद होते हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैः—

सूत्र—सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स एव त्रिविधोऽपि योगः सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोरास्रवो भवति यथासङ्ख्यं यथासम्भवं च। सकषायस्य योगः साम्परायिकस्य अकषायस्येर्यापथस्यैवैकसमयस्थितेः ॥

अर्थ—पूर्वोक्त तीनों ही प्रकारका योग सकषाय और अकषाय दो प्रकारके जीवोंके हुआ करता है, वह यथाक्रमसे तथा यथासंभव सकषाय जीवके सांपरायिककर्मका आस्रव कहा जाता है, और अकषाय जीवके ईर्यापथकर्मका आस्रव कहा जाता है। इनमेंसे सकषाय जीवका योग जो सांपरायिककर्मका आस्रव होता है, उसकी स्थिति अनियत है। परन्तु अकषाय जीवके जो ईर्य्यापथकर्मका आस्रव होता है, उसकी स्थिति एक समयकी ही होती है।

भावार्थ—युगपत् कर्मोंका चार प्रकारका बंध हुआ करता है—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश। इनमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधका कारण योग है, और स्थितिबंध तथा अनुभागबंधका कारण कषाय है। जो सकषाय जीव हैं, उनका योग भी कषाययुक्त ही रहा करता है, अतएव उसके द्वारा जो कर्म आते है, उनकी स्थिति एक समयसे बहुत अधिक

१—" समंततः पराभूतिः संपरायः पराभवः। जीवस्य कर्मभिः प्रोक्तस्तदर्थं सांपरायिकम् ॥ (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) २—इनका स्वरूप आगे चलकर आठवें अध्यायमे बताया जायगा। ३—" जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति " (द्रव्यसंग्रह)।

पड़ा करती है। कर्मोंकी जघन्य और उत्कृष्ट जो स्थिति बताई है, उसमेंसे जिसके जितनी संभव हो, उतनी ही स्थिति कषायाध्यवसायस्थानके अनुसार पड़ जाती है। जैसे कि आर्द्र चर्म आदि किसी भी गीली वस्तुपर पड़ी हुई धूलि उससे चिपक जाती है[1]। किन्तु जो अकषाय जीव हैं, उनका योग भी कषाय रहित हुआ करता है, अतएव वह स्थितिबंधका कारण नहीं हुआ करता। उसके द्वारा जो कर्म आते हैं, उनमें एक समयसे अधिक स्थिति नहीं पड़ती। जैसे कि किसी शुष्क दीवालपर पत्थर आदि फेंका जाय, तो वह उससे चिपकता नहीं, किन्तु उसी समय गिर पड़ता है[2]। इस प्रकार जो जीव कषायरहित होते हैं, उनके योगके निमित्तसे कर्म आते अवश्य हैं। परन्तु उनमें स्थिति नहीं पड़ती। वे आत्म-लाभको प्राप्त करके ही निर्जीर्ण हो जाते हैं। इस स्वामिभेदके कारण फलमें भी भेद करनेवाले आस्रवोंके नाम भी क्रमसे भिन्न भिन्न हैं। सकषाय जीवके आस्रवको सांपरायिकआस्रव और अकषायजीवके आस्रवको ईर्य्यापथआस्रव कहते हैं।

उक्त दो भेदोंमेंसे पहले साम्परायिकआस्रवके भेद गिनाते हैं—

सूत्र—अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाःपञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वस्येति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्साम्परायिकस्याह। साम्परायिकस्यास्रवभेदाः पञ्च चत्वारः पञ्च पञ्चविंशतिरिति भवन्ति। पञ्च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाः। "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा," इत्येवमादयो वक्ष्यन्ते। चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः अनन्तानुबन्ध्यादयो वक्ष्यन्ते। पञ्च प्रमत्तस्येन्द्रियाणि। पञ्चविंशतिः क्रिया। तत्रेमे क्रियाप्रत्यया यथासङ्ख्यं प्रत्येतव्याः। तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः, कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः, दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा, आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

अर्थ—सूत्रमें जिस क्रमसे पाठ पाया जाता है, उसके अनुसार पहला—साम्परायिकआस्रव है। उसके उत्तरभेद ३९ हैं। यथा—पाँच अव्रत, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ और पच्चीस क्रिया। हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पाँच अव्रत हैं। इनमेंसे हिंसाका लक्षण इस प्रकार है—"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"। अर्थात् प्रमादके योगसे जो प्राणोंका व्यपरोपण—विराधन होता है, उसको हिंसा कहते हैं। इसका स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे। इसके साथ ही झूठ चोरी आदिका भी लक्षण उसी प्रकरणमें लिखा जायगा। कषाय चार प्रकारकी है—क्रोध मान माया और लोभ। इनके भी अनन्तानुबन्धी आदि जो उत्तरभेद हैं, उनका स्वरूप आगे चलकर बतावेंगे। इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और

१—कर्म मिथ्यादृगादीनामार्द्रचर्मणि रेणुवत्। कषायपिच्छिले जीवे स्थितिमाप्नुवदुच्यते। २ ईर्या योगगतिः सैव यथा यस्य तदुच्यते। कर्मेर्यापथमस्यास्तु शुष्ककुड्येऽश्मवाच्चिरम ॥

श्रोत्र। परन्तु प्रकृतमें इन्द्रिय शब्दसे प्रमादयुक्त जीवकी ही इन्द्रियोंको समझना चाहिये। यथा—सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया, प्रयोगक्रिया, समादानक्रिया, और ईर्यापथक्रिया ये पाँच, तथा कायक्रिया, अधिकरणक्रिया, प्रादोषिकीक्रिया, परितापनक्रिया, और प्राणातिपातक्रिया ये पाँच, दर्शनक्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रत्ययक्रिया, समंतानुपातक्रिया, और अनाभोगक्रिया ये पाँच, स्वहस्तक्रिया, निसर्गक्रिया, विदारणक्रिया, आनयनक्रिया, और अनवकाङ्क्षाक्रिया ये पाँच, और आरम्भक्रिया, परिग्रहक्रिया, मायाक्रिया, मिथ्यादर्शनक्रिया, तथा अप्रत्याख्यानक्रिया ये पाँच, इस तरह पाँच पंचकोंकी मिलाकर कुल पच्चीस क्रिया होती हैं। जोकि साम्परायिककर्मके बन्धमें कारण हैं।

भावार्थ—देव गुरु शास्त्रकी पूजा स्तुति आदि ऐसे कार्य करना, जोकि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति वृद्धि आदिमें कारण हैं, उनको सम्यक्त्वक्रिया कहते है। इसके विपरीत कुदेव कुगुरु कुशास्त्रकी पूजा स्तुति प्रतिष्ठा आदि करना मिथ्यात्वक्रिया है। किसी भी अच्छे या बुरे कामको सिद्ध करनेके लिये शरीरादिके द्वारा दूसरेको गमन आदि करनेमें प्रवृत्त करना इसको प्रयोगक्रिया कहते हैं। संयमीकी असंयमकी तरफ चारित्रका घात करनेवाली अभिमुखता हो जानेको समादानक्रिया कहते है। ईर्यापथकर्मको प्राप्त करनेके लिये जो तन्निमित्तक क्रिया की जाती है, उसको ईर्यापथक्रिया कहते हैं। दोषयुक्त पुरुषके उद्यमको कायिकीक्रिया कहते हैं। हिंसाके उपकरणोंको देना अधिकरणक्रिया है। क्रोधके आवेशमें आना प्रादोषिकीक्रिया है। दुःखोंके उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होना परितापनक्रिया है। आयु इन्द्रिय आदि प्राणोंके वियुक्त करनेको प्राणातिपातक्रिया कहते हैं। प्रमादी पुरुषका रागके वशीभूत होकर रमणीयरूपको देखनेका जो भाव होता है, उसको दर्शनक्रिया कहते हैं। इसी प्रकार स्पर्श योग्य वस्तुके स्पर्श करनेकी अभिलाषा होना स्पर्शनक्रिया है। प्राणिघातके अपूर्व उपकरण या अधिकरणकी प्रवृत्ति करना प्रत्ययक्रिया है। जहाँपर स्त्री पुरुष या पशु आदि बैठते हैं, उस जगह मलोत्सर्ग करनेको समंतानुपातक्रिया कहते हैं। विना देखी शोधी भूमिपर शरीरादिके रखनेको अनाभोगक्रिया कहते है। जो क्रिया दूसरेके द्वारा की जानी चाहिये, उसको स्वयं अपने हाथसे करना स्वहस्तक्रिया है। पाप-प्रवृत्तिमें दूसरोंको उत्साहित करने अथवा आलस्यके वश प्रशस्त कर्म न करनेको निसर्गक्रिया कहते हैं। किसीके किये गये सावद्यकर्मको प्रकाशित कर देना विदारणक्रिया है। आवश्यक आदिके विषयमें अर्हतदेवकी जैसी आज्ञा है, उसका अन्यथा निरूपण करनेको आनयनक्रिया कहते हैं। मूर्खता या आलस्यके वश आगमोक्त विधिमें अनादर करनेको अनाकाङ्क्षाक्रिया कहते है। छेदन भेदन आदि क्रिया करनेमें चित्तके आसक्त होनेको अथवा दूसरा कोई उस क्रियाको करे, तो हर्ष माननेको आरम्भक्रिया कहते हैं। चेतन अचेतन परिग्रहके न छूटनेके लिये प्रयत्न करनेको परिग्रहक्रिया कहते हैं। ज्ञान दर्शन

आदिमें वंचना (ठगाई) करनेको मायाक्रिया कहते हैं। मिथ्यादर्शन क्रियाके करनेमें प्रवृत्त जीवको प्रशंसा आदिके द्वारा दृढ़ करनेको मिथ्यादर्शनक्रिया कहते हैं । संयमका घात करनेवाले कर्म–चारित्रमोहके उदयसे खोटी क्रियाओंके न छोड़नेको अप्रत्याख्यानक्रिया कहते हैं ।

ये जो साम्परायिकआस्रवके भेद गिनाये हैं, उनमें कोई शुभ हैं और कोई अशुभ। शुभसे पुण्यका और अशुभसे पापका बंध होता है, यह बात पहले कहे अनुसार अच्छी तरह घटित कर लेनी चाहिये । यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि कर्म मूलमें आठ हैं, उनके उत्तर-भेद १४८ हैं। तथा विशेष दृष्टिसे उनके असंख्यात भेद भी बताये हैं। परन्तु यहाँपर साम्परायिकआस्रवके ३९ भेद ही गिनाये हैं। सो इनका कार्यकारण सम्बन्ध किस तरह बनता है? साम्परायिकआस्रवका एक एक भेद अनेक अनेक कर्मोके बन्धके लिये कारण है? अथवा इनके भी किन्हीं कारणोंसे अनेक उत्तरभेद होते हैं? इस शंकाको दूर करनेके लिये साम्परायिकआस्रवके भेदोंमें भी जिन जिन कारणोंसे विशेषता आती है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥७॥

भाष्यम्—साम्परायिकास्रवाणामेषामेकोनचत्वारिंशत्साम्परायिकाणां तीव्रभावात् मन्दभावाज्ज्ञातभावादज्ञातभावाद्वीर्यविशेषादधिकरणविशेषाच्च विशेषो भवति । लघुर्लघुतरोलघुतमस्तीव्रस्तीव्रतरस्तीव्रतम इति । तद्विशेषाच्च बन्धविशेषो भवति ॥

अर्थ—साम्परायिकबन्धमें जो कारण हैं, ऐसे उपर्युक्त इन उन्तालीस साम्परायिक-आस्रवोंके भी तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव और वीर्य तथा अधिकरणकी विशेष-तासे विशेष भेद हुआ करते है, अतएव वह कहीं लघु कहीं लघुतर कहीं लघुतम तथा कहीं इसके विपरीत तीव्र तीव्रतर तीव्रतम हुआ करता है, और इसीकी विशेषतासे बन्धनमें भी विशेषता होती है ।

भावार्थ—सकषाय जीवोंके अव्रत आदि स्वरूप जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति अथवा योगप्रवृत्ति हुआ करती है, वह सब जीवोंके एकसी नहीं हुआ करती। उसमें परस्पर अनेक-प्रकारसे तारतम्य है। इस तारतम्यके कारण तीव्रादिक भाव और वीर्य तथा अधिकरण हैं। क्रोधादि कषायोंके उद्रेकरूप परिणामोंको तीव्रभाव और इससे विपरीत होनेवाले भावोंको मन्दभाव कहते हैं। जाननेको अथवा जानकर प्रवृत्ति करनेको ज्ञातभाव और इसके विपरीत अज्ञान को अथवा मद या प्रमादके वशीभूत होकर विना सोचे समझे किसी कामके कर डालने-को अज्ञातभाव कहते है । वस्तुकी सामर्थ्यको वीर्य तथा प्रयोजनके आश्रयभूत पदार्थको

१.—" द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं परिसमाप्यते" ऐसा नियम है । तदनुसार तीव्रादि चारोंके साथ भाव शब्दको जोड़लेना चाहिये ।

अधिकरण कहते हैं। ये कारण सब जीवोंके एकसे नहीं हुआ करते। अतएव इन कारणोंके तारतम्यसे आस्रवमें तारतम्य और आस्रवके तारतम्यसे बन्धमें भी तारतम्य हुआ करता है।

भाष्यम्—अत्राह—तीव्रमन्दादयो भावा लोकप्रतीताः, वीर्यं च जीवस्य क्षायोपशमिकः क्षायिको वा भाव इत्युक्तम्। अथाधिकरणं किमिति? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—तीव्रभाव मन्दभाव ज्ञातभाव और अज्ञातभाव लोकमें प्रसिद्ध हैं। अतएव इनका अर्थ स्वयं समझमें आ सकता है—इनकी व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है। तथा वीर्य शब्दका अर्थ पहले बताया ही जा चुका है, कि वह वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न होनेवाला भाव है[1]। किन्तु अधिकरण शब्दका अर्थ अप्रसिद्ध है। लोकमें उसका सामान्यतया अर्थ आधार होता है, और कोई विशेष अर्थ आपने अभीतक बताया नहीं है, अतएव कहिये, कि इस प्रकरणमें अधिकरण शब्दसे क्या समझें? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—अधिकरणं द्विविधम्।—द्रव्याधिकरणं भावाधिकरणं च। तत्र द्रव्याधिकरणं छेदनभेदनादि शस्त्रं च दशविधम्। भावाधिकरणमष्टोत्तरशतविधम्। एतदुभयं जीवाधिकरणमजीवाधिकरणं च॥ तत्र—

अर्थ—अधिकरण के दो भेद है—१ द्रव्याधिकरण २ भावाधिकरण। छेदन भेदन आदि करनेको अथवा दश प्रकारके शस्त्रोंको द्रव्याधिकरण कहते हैं। भावाधिकरणके एक सौ आठ भेद हैं[2]। इन दोनोंको ही जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण भी कहते हैं।

भावार्थ—प्रयोजनके आश्रयको अधिकरण कहते हैं। वे दो ही प्रकारके हो सकते हैं। या तो जीवरूप या अजीवरूप। सामान्य जीव द्रव्य या अजीव द्रव्य हिंसादिका उपकरण होनेसे साम्परायिकआस्रवका कारण है, और इसलिये उसीको जीवाधिकरण या अजीवाधिकरण समझा जाय, सो बात नहीं है। यदि ये दो सामान्य द्रव्य अधिकरणरूपसे विवक्षित होते, तो सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग होता। परन्तु प्रकृतमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि—पर्यायकी अपेक्षासे ही अधिकरणको बताना अभीष्ट है। क्योंकि पर्यायशून्य द्रव्य अधिकरण नहीं हो सकता। वह जब अधिकरण होगा, तो किसी न किसी पर्यायसे युक्त ही होगा, जो जीवके भाव हिंसादिके उपकरण या आश्रय होते हैं, उनको जीवाधिकरण और जो बाह्य अजीव द्रव्य रूप होते है, उनको अजीवाधिकरण कहते हैं।

दो प्रकारके अधिकरणोंमें जो द्रव्याधिकरण या अजीवाधिकरण है, वह हिंसा आदिरूप अथवा उसके साधनस्वरूप है, और जीवाधिकरण जीवके परिणामरूप है, यह ठीक

१—अध्याय २ सूत्र ४-५। २—इनका स्वरूप आगेके सूत्रमें बतावेंगे।

है, परन्तु इससे इनका विशेष स्वरूप समझमें नहीं आता, अतएव क्रमानुसार दूसरे भावाधिकरण या जीवाधिकरणका जो स्वरूप अस्पष्ट है, पहले उसको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आद्यंसंरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—आद्यमितिसूत्रक्रमप्रामाण्याज्जीवाधिकरणमाह । तत्समासतस्त्रिविधम् ।—संरम्भः, समारम्भः, आरम्भ इति । एतत्पुनरेकशः कायवाङ्मनोयोगविशेषात् त्रिविधं भवति तद्यथा—कायसंरम्भः, वाक्संरम्भः, मनःसंरम्भः, कायसमारम्भः, वाक्समारम्भः, मनःसमारम्भः, कायारम्भः, वागारम्भः, मनआरम्भ इति । एतदप्येकशः कृतकारितानुमतविशेषात् त्रिविधं भवति । तद्यथा—कृतकायसंरम्भः, कारितकायसंरम्भः, अनुमतकायसंरम्भः, कृतवाक्संरम्भः, कारितवाक्संरम्भः, अनुमतवाक्संरम्भः, कृतमनःसंरम्भः, कारितमनःसंरम्भः, अनुमतमनःसंरम्भः, एवं समारम्भारम्भावपि । तदपि पुनरेकशः कषायविशेषाच्चतुर्विधम् ॥ तद्यथा—क्रोधकृतकायसंरम्भः, मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसंरम्भः, लोभकृतकायसंरम्भः, क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भः, मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारितकायसंरम्भः, क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः, लोभानुमतकायसंरम्भः, एवं वाङ्मनोयोगाभ्यामपि वक्तव्यम् । तथासमारम्भारम्भौ । तदेवं जीवाधिकरणं समासेनैकशः षट्त्रिंशद्विकल्पं भवति । त्रिविधमप्यष्टोत्तरशतविकल्पं भवतीति ॥

संरम्भः सकषायः, परितापनया भवेत्समारम्भः ।
आरम्भः प्राणिवधः, त्रिविधो योगस्ततो ज्ञेयः ॥

अर्थ—पहले सूत्रमें अधिकरणके जो दो भेद गिनाये हैं, उनमें पहला भेद जीवाधिकरण है । अतएव इस सूत्रमें आद्य शब्दसे उसीको समझना चाहिये । क्योंकि सूत्रमें पठित क्रमके प्रामाण्यसे उसीका ग्रहण हो सकता है । जीवाधिकरणके एकसौ आठ भेद हैं । वह इस प्रकारसे कि—संक्षेपसे मूलमें उसके तीन भेद है—संरम्भ समारम्भ और आरम्भ । इनमें भी प्रत्येकके योगकी अपेक्षासे—कायिक वाचिक और मानसिक योगकी विशेषतासे तीन तीन भेद होते हैं । यथा कायसंरम्भ वाक्संरम्भ मनःसंरम्भ कायसमारम्भ वाक्समारम्भ मनःसमारम्भ कायारम्भ वागारम्भ मनआरम्भ । इनमेंसे भी प्रत्येकके कृत करित और अनुमोदनाकी विशेषतासे तीन तीन भेद होते है । यथा कृतकायसंरम्भ कारितकायसंरम्भ अनुमतकायसंरम्भ कृतवाक्संरम्भ कारितवाक्संरम्भ अनुमतवाक्संरम्भ कृतमनःसंरम्भ कारितमनःसंरम्भ अनुमतमनःसंरम्भ । इस प्रकार संरम्भके ९ भेद है । इसी तरह समारम्भ और आरम्भके भी नौ नौ भेद समझ लेने चाहिये । इनमें भी प्रत्येकके क्रोधादि चार कषायोंकी विशेषतासे चार चार भेद होते हैं। यथा—क्रोधकृतकायसंरम्भ मायाकृतकायसंरम्भ मानकृतकायसंरम्भ लोभकृतकायसंरम्भ क्रोधकारितकायसंरम्भ मानकारितकायसंरम्भ मायाकारितकायसंरम्भ लोभकारितकायसंरम्भ क्रोधानुमत-

कायसंरम्भ मानानुमतकायसंरम्भ मायानुमतकायसंरम्भ लोभानुमतकायसंरम्भ। इस प्रकार काययोगकी अपेक्षा संरम्भके भेद गिनाये, इसी तरह वचनयोग और मनोयोगकी अपेक्षासे भी संरम्भके भेद समझ लेने चाहिये, और संरम्भके समान ही समारम्भ तथा आरम्भके विकल्प भी घटित कर लेने चाहिये। इस प्रकारसे जीवाधिकरणके संक्षेपसे मूलमें तीन भेद जो बताये थे, उनमेंसे एकके ३६ विकल्प होते हैं। तीनों भेदोंके सम्पूर्ण विकल्प मिलकर १०८ होते है।

योग तीन प्रकारका है। उनमेंसे जो केवल सकषाय हो, उसको संरम्भ कहते हैं, और जो परितापना–पीड़ा देने आदिके द्वारा प्रवृत्त हो, उसको समारम्भ कहते है, तथा प्राणिवधरूप प्रवृत्तिको आरम्भ कहते हैं।

भावार्थ—प्रमादी पुरुषको प्राणव्यपरोपण आदि कर्म करनेके विषयमें जो आवेश प्राप्त होता है, उसको संरम्भ कहते हैं। उस क्रियाके साधनोंका अभ्यास करनेको समारम्भ कहते हैं। तथा उस क्रियाकी प्रथम प्रवृत्तिको आरम्भ कहते हैं। ये तीनों भाव मन वचन और काय इन तीनोंके ही द्वारा हो सकते हैं। अतएव तीनोंका परस्परमें गुणा करनेपर ९ भंग होते हैं। तथा ये नौ हू भंग कृत कारित और अनुमोदना[1] इस तरह तीनो प्रकारसे संभव हैं। अतएव ९ को ३ से गुणा करनेपर २७ भंग होते हैं। ये सत्ताईसों भंग क्रोधादि चारों कषायोंके द्वारा हुआ करते हैं। अतएव २७ को ४ से गुणा करनेपर १०८ भंग होते हैं। अथवा हिंसादिरूप प्रवृत्ति मन वचन कायके भेदसे तीन प्रकारकी है, और वह तीन तरहसे—कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा हो सकती है, अतएव ३ का ३ से गुणा करनेपर ९ भंग होते हैं। तथा ये नौ हू भंग चारों कषायसे होनेके कारण ९ को ४ से गुणा करनेपर ३६ भंग होते हैं। इस तरह ३६ भंग संरम्भके ३६ समारम्भके और ३६ आरम्भके है। तीनोंके मिलकर १०८ विकल्प होते है। ये ही जीवाधिकरणके १०८ भेद है[2]। तीव्र मंद आदि भावोंकी अपेक्षा इनके भी उत्तरभेद अनेक–असंख्यात हो सकते हैं।

भाष्यम्—अत्राह—अथाजीवाधिकरणं किमिति? अत्रोच्यते—

अर्थ—**प्रश्न**—साम्परायिकआस्रवके भेदोंमेंसे जीवाधिकारणके भेद आपने गिनाये, परन्तु अधिकरणका दूसरा भेद जो अजीवरूप बताया था, उसके भेद अभीतक नहीं बताये और न उसका स्वरूप ही अभीतक मालूम हुआ है। अतएव कहिये कि अजीवाधिकरण शब्दसे क्या समझें, और उसके कितने भेद है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

---

१ हिंसादि कर्मको स्वयं करना कृत, दूसरेसे कराना कारित, दूसरेके द्वारा किये गयेकी प्रशंसा करना अनुमोदना है। २—अर्थात् जीवकी इस तरहसे १०८ भेदरूप प्रवृत्ति हमेशा रहा करती है। इन साम्परायिक[illegible] द्वारा कर्मका बंध भी हमेशा हुआ करता है। इन १०८ प्रकारोंसे नित्य बंधनेवाले कर्मोंकी निवृत्तिके लिये ही १०८ मनका की माला फेरी जाती है, यह पापके संवर और निर्जराका एक उपाय है।

सूत्र--निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाःपरम् ॥१०॥

भाष्यम्--परमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादजीवाधिकरणमाह । तत्समासतश्चतुर्विधम् । तद्यथा--निर्वर्तना निक्षेपः संयोगो निसर्ग इति । तत्र निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधम् ।-मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं च । तत्र मूलगुणनिर्वर्तनाः पञ्च,-शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च । उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठपुस्तचित्रकर्मादीनि । निक्षेपाधिकरणं चतुर्विधम् । तद्यथा-अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुःप्रमार्जितनिःक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणमिति। संयोगाधिकरणं द्विविधम् । भक्तपानसंयोजनाधिकरणमुपकरणसंयोजनाधिकरणं च । निसर्गाधिकरणं त्रिविधम् ।-कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणमिति ॥

अर्थ--इस सूत्रमें पर शब्द जो आया है, वह उक्त सूत्र (अ० ६ सूत्र ८)में पठित पाठक्रमके प्रामाण्यसे क्रमानुसार अजीवाधिकरणको बताता है । अतएव संक्षेपसे उस अजीवाधिकरणके ४ भेद हैं । यथा--निर्वर्तना निक्षेप संयोग और निसर्ग । इनमेंसे पहले निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद हैं--मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण । इनमेंसे मूलगुणनिर्वर्तना पाँच प्रकारकी है--शरीर वचन मन प्राण और अपान । उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठ पुस्त चित्रकर्म आदि अनेक प्रकारकी है । निक्षेपाधिकरणके चार भेद हैं । यथा अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण दुःप्रमार्जितनिक्षेपाधिकरण सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण । संयोगाधिकरण दो प्रकारका है ।--भक्तपानसंयोजनाधिकरण और उपकरणसंयोजनाधिकरण । निसर्गाधिकरणके तीन भेद हैं--कायनिसर्गाधिकरण वाङ्निसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण ।

भावार्थ--निर्वर्तना शब्दका अर्थ रचना करना अथवा उत्पन्न करना है । शरीर मन वचन और श्वासोच्छ्वासके उत्पन्न करनेको मूलगुणनिर्वर्तना कहते है । काष्ठपर किसी मनुष्यादिके आकारके उकेरनेको या मिट्टी पत्थर आदिकी मूर्ति बनानेको या वस्त्रादिके ऊपर चित्र खींचनेको उत्तरगुणनिर्वर्तना कहते हैं[1] । निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है, विना देखे ही किसी वस्तुके छोड़ देनेको अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप कहते हैं । दुष्टतासे अथवा यत्नाचारको छोड़कर उपकरणादिके रखने या डाल देने आदिको दुःप्रमार्जितनिक्षेप कहते हैं । शीघ्रता वश शरीर उपकरण या मलादिके सहसा-पृथिवी आदिको विना देखे शोधे ही छोड़ देनेको सहसानिक्षेप कहते है । जल्दी न रहते हुए भी यहाँ कोई जीव जन्तु है, या नहीं इसका विचार न कर उक्त शरीरादिको विना देखी शोधी भूमिपर रख देनेको अनाभोगनिक्षेप कहते हैं । किन्हीं दो वस्तुओंके जोड़ने अथवा परस्परमें मिलानेको संयोग कहते है । खाने पीनेकी ठंडी चीजोंमें और भी गरम दूसरी चीजोंके मिलानेको अथवा गरममें ठंडी मिलानेको भक्तपानसंयोजन कहते है । शीत

१--निर्वर्तनाके दो भेद इस तरहसे भी हैं--१-देह दुःप्रयुक्तनिर्वर्तना (शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना), २--उपकरणनिर्वर्तना (हिंसाके साधनभूत शस्त्रादिको तयार करना) ।

उपकरणादिको उष्ण पीछी आदिसे अथवा उष्ण स्पर्शयुक्त उपकरणादिकोंको शीत पीछी आदिसे शोधनेको उपकरणसंयोजन कहते हैं । निसर्ग नाम स्वभावका है। शरीर वचन और मनकी जैसी कुछ स्वभावसे ही प्रवृत्ति होती है, उसके विरुद्ध दूषित रीतिसे उनके प्रवर्तानेको कायनिसर्गाधिकरण वाङ्निसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण कहते हैं ।

यद्यपि ये अजीवाधिकरण भी जीवके द्वारा ही निष्पन्न होते हैं, परन्तु इनमें बाह्य द्रव्य-क्रियाकी प्रधानता है, और उससे असंबद्ध भी रहते हैं, अतएव इनको द्रव्याधिकरण या अजीवाधिकरण कहते हैं। जीवाधिकरण जीवपर्यायरूप ही हैं। यह दोनोंमें अन्तर है।

भाष्यम्—अत्राह उक्तं भवता सकषायाकषाययोर्योगः साम्परायिकेर्यापथयोरास्रव इति। सांपरायिकं चाष्टविधं वक्ष्यते। तत् किं सर्वस्याविशिष्ट आस्रव आहोस्वित्प्रतिविशेषोऽस्तीति। अत्रोच्यते-सत्यपि योगत्वाविशेषे प्रकृतिं कृतिं प्राप्यास्रवविशेषो भवति। तद्यथा

अर्थ—प्रश्न—सामान्यतया आस्रवके भेदोंको बताते हुए आपने कहा है, कि सकषाय जीवके योगको साम्परायिकआस्रव और अकषाय जीवके योगको ईर्यापथआस्रव कहते हैं[1]। साम्परायिकआस्रव आठ प्रकारका है, ऐसा आगे चलकर कहेंगे[2]। सो क्या वह सबके एकसा ही होता है? अथवा व्यक्तिभेदके अनुसार उसमें कुछ विशेषता भी है? उत्तर—यद्यपि योगत्व सबमें समानरूपसे ही रहता है, फिर भी प्रकृतिबंधरूप कर्मोंको पाकर उस आस्रवके अनेक भेद भी हो जाते हैं।

भावार्थ—सामान्य दृष्टिसे देखा जाय, तो सभी योग समान है। परन्तु विशेष दृष्टिसे देखा जाय, तो उसके अनेक उत्तरभेद भी होते हैं। क्योंकि वह अनेक कर्म प्रकृतियोंके बन्धमें कारण है। जहाँ कार्यभेद है, वहाँ कारणभेद भी रहता ही है। कर्मोंका बंध सामान्यतया चार प्रकारका है—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश[3]। इनमेंसे प्रकृतिबंध ज्ञानावरणादिके भेदसे आठ प्रकारका है[4]। आस्रवके विशेष भेदोंको दिखानेके लिये आगे क्रमसे आठों प्रकृतियोंके कारणोंको बताते हैं। उनमेंसे सबसे पहले ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मके कारणभूत आस्रवके विशेष भेदोंको दिखानेवाला सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आस्रवो ज्ञानस्य ज्ञानवतां ज्ञानसाधनानां च प्रदोषो निह्नवो मात्सर्यमन्तराय आसादन उपघात इति ज्ञानावरणास्रवा भवन्ति। एतैर्हि ज्ञानावरणं कर्म बध्यते। एवमेव दर्शनावरणस्येति।

१—अध्याय ६ सूत्र ५। २—अध्याय ६ सूत्र २६। ३—इनका स्वरूप आगे चलकर दिखाया जायगा। ४—जो कि आगेके सूत्रोंसे मालूम होंगे।

अर्थ—ज्ञान यद्वा ज्ञानवान् अथवा ज्ञानके साधनोंका प्रदोष निह्नव मात्सर्य अन्तराय आसादन और उपघात ज्ञानावरणकर्मका आस्रव होता है । अर्थात् इन कारणोंसे ज्ञानावरणकर्म बन्धको प्राप्त हुआ करता है । इसी प्रकार दर्शनावरणकर्मके विषयमें समझना चाहिये ।

भावार्थ—प्रदोषादिक छह कारण ऐसे हैं, कि जिनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण-कर्मका बन्ध हुआ करता है । ये छह यदि ज्ञान ज्ञानवान् और ज्ञानके साधनोंके विषयमें हों, तो ज्ञानावरणके बन्धके कारण होते हैं, और दर्शन द्रष्टा तथा उसके साधनोंके विषयमें हों, तो दर्शनावरणके बन्धके कारण हुआ करते हैं ।

तत्त्वज्ञानकी प्रशस्त कथनीको सुनकर भी उसकी प्रशंसा न करने या द्वेषवश मौन धारण करलेने आदि दूषित परिणामोंको प्रदोष कहते हैं । ज्ञानके छिपानेको निह्नव कहते हैं–जैसे कि किसी बुभुत्सुके पूछनेपर पूछे हुए तत्त्वका स्वरूप मालूम होनेपर भी कह देना, कि " मैं नहीं जानता " । ये भी पढ़ जायगा तो मेरे बराबर हो जायगा, और फिर मेरी कीर्ति कम हो जायगी, इत्यादि दुरभिप्रायसे किसीको पढ़ाना नहीं, और यदि कोई पढ़ता हो, तो उससे डाह करना आदि मात्सर्य है । ज्ञानाभ्यासमें विघ्न करना, पुस्तक फाड़ देना, अध्यापकसे लड़ाई झगड़ा करके उसको हटा देना, स्थानका विच्छेद कर देना, जिससे ज्ञानका प्रसार होता हो उसका विरोध करना, आदि अन्तराय कहा जाता है, दूसरेके द्वारा प्रकाशित होते हुए ज्ञानके रोक देनेको आसादन कहते हैं, और प्रशस्त ज्ञानमें भी दूषण लगा देनेको उपघात कहते हैं ।

इन छह कारणोंका स्वरूप यहाँपर ज्ञानके सम्बन्धको लेकर बताया गया है, इसी प्रकार दर्शनके सम्बन्धसे भी छहोंका स्वरूप समझ लेना चाहिये ।

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके अनन्तर वेदनीयकर्मके बन्धके कारणोंको बताना चाहिये । वेदनीयकर्मके दो भेद हैं–असाता और साता । अतएव इनमेंसे क्रमानुसार पहले असद्वेद्य बंधके कारणोंको बताते हैं—

सूत्र—दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

भाष्यम्—दुःखं शोकस्ताप आक्रन्दनं वधः परिदेवनमित्यात्मसंस्थानि परस्य क्रियमाणान्युभयोश्च क्रियमाणान्यसद्वेद्यस्यास्रवा भवन्तीति ।

अर्थ—दुःख शोक ताप आक्रन्दन वध और परिदेवन ये छह कारण आत्मसंस्थ हों, अपनेमें होनेवाले हों, या परमें किये गये हों, अथवा दोनोंमें किये जाँय असद्वेद्यकर्मके आस्रव हुआ करते हैं । अर्थात् इन कारणोंके निमित्तसे असाता वेदनीयकर्मका बंध हुआ करता है ।

भावार्थ—पीड़ारूप परिणामको अथवा जिसके होनेपर सुख शान्तिका अनुभव न होकर आकुलता या व्यग्रता उत्पन्न हो, उसको दुःख कहते है। इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर जो चित्तमें मलिनता या खेद उत्पन्न होता है, उसको या चिन्ता करनेको शोक कहते हैं। किसी बुरे कामके बन जानेपर जब निन्दा आदि होने लगे, या निन्दा न होनेपर भी उसके भयसे पीछेसे क्रोधादिका विशेष उदय होनेपर तीव्र अनुशय–संतापके होनेको ताप कहते हैं। परितापपूर्वक इस तरहसे रोना या विलाप करना, कि जिसमें अश्रुपात होने लगे, उसको आक्रन्दन कहते हैं। दश प्रकारके प्राणोंमेंसे किसीके भी नष्ट करनेवाली प्रवृत्ति करना या किसीको भी नष्ट करना इसको वध कहते हैं। तथा ऐसा रुदन करना, कि जिसको सुनते ही दूसरेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय, उसको परिदेवन कहते हैं। ये छहों कारण तीन प्रकारसे हो सकते है—स्वयं किये जाँय–अपने में ही उत्पन्न हों, या परमें हों, अथवा दोनोंके मिश्ररूप हों। परन्तु तीनोंमेंसे किसीभी तरहके क्यों न हों, इनसे असातावेदनीयकर्मका बन्ध हुआ करता है।

क्रमानुसार सद्वेद्यकर्मके बन्धके कारणोंको दिखाते हैं—

सूत्र—भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमितिसद्वेद्यस्य ॥ १३ ॥

भाष्यम्—सर्वभूतानुकम्पा अगारिष्वनगारिषु च व्रतिष्वनुकम्पाविशेषो दानं सरागसंयमः संयमासंयमोऽकामनिर्जरा बालतपो योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्यास्रवा भवन्ति॥

अर्थ—चारों ही गतिके प्राणिमात्रपर दया या कृपा रखनेको सर्वभूतानुकम्पा कहते हैं। अगारी-गृहस्थ–श्रावक–देशयति और अनगार अर्थात् ऋषि मुनि यति आदि सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागी इस तरह दोनों ही प्रकारके व्रतियोंपर विशेषरूपसे दया करनेको व्रत्यनुकम्पा कहते हैं। स्व और परका अनुग्रह करनेके लिये अपनी वस्तुका वितरण करना इसको दान कहते है। सरागसंयम नाम रागसहित संयमका है। पाँचों इन्द्रियों और छट्ठे मनको वश करना तथा छह कायके जीवोंकी विराधना न करनेको संयम कहते है। मोक्षकी इच्छासे अथवा रागसहित इसके पालन करनेको सरागसंयम कहते है। प्रयोजनीभूत विषयोंके सिवाय सम्पूर्ण विषयोंके त्यागको देशव्रत या संयमासंयम कहते हैं। विना इच्छाके अथवा व्रत धारण किये विना ही पराधीनता आदिके वश भोग या उपभोगरूप विषयोंके छूट जानेपर संक्लेश परिणामोंका न होना अर्थात् समपरिणामोंसे कष्टोंके सहन करनेको अकामनिर्जरा कहते है। मिथ्यादृष्टियोंके पंचाग्नि तप आदिको बालतप कहते है। शरीर और वचनकी क्रियाका लोकसम्मतरूपसे समीचीन अनुष्ठान करनेको योग कहते है। प्रतीकारकी शक्ति रहते हुए भी दूसरेके आक्रोश गाली आदिको सुनकर क्रोध न करना, इसको क्षान्ति कहते है। लोभ कषायके छोड़ने अथवा स्नानादिके द्वारा होनेवाली पवित्रताको शौच कहते है।

ये सब कारण या इनमेंसे एकादिके भी होनेपर सातावेदनीय कर्मका बंध हुआ करता है। मूल सूत्रमें छह कारणोंका ही उल्लेख है—भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि, योग, क्षान्ति और शौच। भूतों—चारों गतियोंके प्राणियोंमें व्रतियोंका भी समावेश होजाता है, फिर भी उनका जो विशेषरूपसे नामोल्लेख किया है, सो साधारण प्राणियोंकी अपेक्षा उनको विशेषरूपसे अनुकम्पाका विषय बतानेके लिये है। आदि शब्दसे संयमासंयम अकामनिर्जरा और बालतप आदिका ग्रहण समझना चाहिये।

वेदनीयकर्मके अनन्तर मोहनीयकर्म है। इसके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह। इनमेंसे क्रमानुसार पहले दर्शनमोहके बंधके कारणोंको बताते हैं:—

सूत्र—केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१४॥

भाष्यम्—भगवतां परमर्षीणां केवलिनामर्हत्प्रोक्तस्य च साङ्गोपाङ्गस्य श्रुतस्य चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य चतुर्विधानां च देवानामवर्णवादो दर्शनमोहस्यास्रवा इति ॥

अर्थ—परमर्षी भगवान् केवली, अर्हन्त भगवान्का प्ररूपित साङ्गोपाङ्ग श्रुत, चातुर्वर्ण्यसङ्घ, पञ्च महाव्रतोंका साधनरूप धर्म, तथा चार प्रकारके देव, इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहकर्मके बन्धका कारण है।

भावार्थ—जिनकी क्लेश-राशि नष्ट हो चुकी है, उनको ऋषि[1] कहते हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा परमर्षि हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य वैराग्य आदि अनेक महान् गुणोंके धारण करनेवालेको भगवान्[2] कहते है। जिनके केवलज्ञान प्रकट हो चुका है, उनको केवली कहते हैं। जिनके चार घातियाकर्म नष्ट हो चुके हैं, उनको अर्हन् कहते है, उन्होंने अपनी दिव्यध्वनिके[3] द्वारा जो मोक्षमार्गका तथा उसके विषयभूत तत्त्वोंका उपदेश दिया है, उसको श्रुत कहते हैं। इसके प्रकृतमें दो भेद है—अङ्ग और उपाङ्ग। अङ्गके बारह भेद है—आचाराङ्गादि। अङ्गोंसे शेष बचे हुए अक्षरोंके आश्रयसे अथवा अङ्गोंको ही उद्धृत करके इतर आचार्योंके द्वारा जिनकी रचना हुई है, उन शास्त्रोंको उपाङ्ग कहते हैं। दोनोंका समूहरूप श्रुत साङ्गोपाङ्ग कहा जाता है। ऋषि मुनि यति और अनगार इस तरह चार प्रकारके मुनियोंके समूहको अथवा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इन चारोके समूहको चातुर्वर्ण्य सङ्घ कहते है। धर्म शब्दसे प्रकृतमें हिंसादि पाँच महापापोंके सर्वथा त्यागरूप महाव्रतोंके अनुष्ठानको कहते है। देवोंके चार भेद भवनवासी

१—रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिण.। (यशस्तिलक) २—भग शब्दके अनेक अर्थ हैं, यथा—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस· श्रियः। वैराग्यस्यावबोधस्य षण्णाभग इतिस्मृत.॥ (धनंजय नाममाला)। ३—भगवान्की दिव्यध्वनि छह छह घड़ीके लिये चार समयोंमें प्रकट हुआ करती है, यथा—पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाय रत्तीए। छच्छयघडियाणिग्गद दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थे॥ उसका स्वरूप इस प्रकार हैं—"यत्सर्वात्महितं न वर्णमहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयं नो वाञ्छा कलितं" इत्यादि।

आदि पहले बता चुके हैं । इन सबके या इनमेंसे किसीके भी अवर्णवाद करनेसे दर्शनमोह-कर्मका आस्रव हुआ करता है । असद्भूत दोषोंका आरोपण करनेको अवर्णवाद कहते हैं ।

क्रमानुसार चारित्रमोहकर्मके बन्धके कारणोंको बताते हैं:—

सूत्र—कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१५॥

भाष्यम्—कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्यास्रवो भवति ॥

अर्थ—कषायके उदयसे जो आत्माके तीव्र-परिणाम होते है, उनसे चारित्रमोह-कर्मका आस्रव होता है ।

भावार्थ—राग द्वेष अथवा क्रोध मान माया लोभके वशीभूत होकर कभी कभी जीवके ऐसे ऐसे परिणाम हो जाते हैं, कि जिनसे वह धर्मको या उसके साधनोंको भी नष्ट करने लगता है, या उसके साधनमें अन्तराय उत्पन्न कर देता है, व्रती पुरुषोंको व्रतोंके पालनमें शिथिल बना देता है, अनर्थ या मद्यपान मांसभक्षण सरीखे महान् पापोंका भी समर्थन करने लगता है । ऐसे ऐसे काम करनेमें प्रवृत्त करानेवाले भाव ही तीव्र परिणाम कहे जाते हैं । इनके होनेपर चारित्रमोहकर्मका बन्ध हुआ करता है ।

मोहकर्मके अनन्तर आयुकर्म है । उसके चार भेद है । जिनमेंसे क्रमानुसार पहले नरक आयुके आस्रवके कारणोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ॥ १६॥

भाष्यम्—बह्वारम्भता बहुपरिग्रहता च नारकस्यायुष आस्रवो भवति ।

अर्थ—बहुत आरम्भ करना और बहुत परिग्रह धारण करना, इससे नरक आयुका आस्रव हुआ करता है ।

भावार्थ—बहुत्व दो प्रकारका होता है—संख्यारूप और वैपुल्यरूप । प्रकृतमें कोई विशेष उल्लेख नहीं है, अतएव दोनों प्रकारका लिया जा सकता है । "ये मेरा है" इस तरहके ममकाररूप संकल्पको परिग्रह कहते हैं, और इस तरहके संकल्पवश अनेक भोगोप-भोग सामग्रीके इकट्ठे करने या उसके साधनोंमें प्रवृत्त होनेको आरम्भ कहते है, इनकी अत्यधि-कता नरकायुके बंधका कारण है ।

तिर्यगायुके बंधके कारणोंको बताते हैः—

सूत्र—माया तैर्यग्योनस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—माया तैर्यग्योनस्यास्रवो भवति ।

अर्थ—मायाचार करना तैर्यग्योन आयुके बंधका कारण हुआ करता है ।

मनुष्य आयुके आस्रवको बताते हैं:—

सूत्र—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ॥१८॥

भाष्यम्—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्यायुष आस्रवो भवति।

अर्थ—अल्प आरम्भ करना और अल्प ही परिग्रह रखना तथा स्वभावकी मृदुता–कोमलता और आर्जव–सरलता ये सब मनुष्य आयुके बंधके कारण हैं:—

भावार्थ—यहाँपर अल्प शब्दसे प्रयोजनीभूतको लिया है, जितनेसे अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाय, उतना आरम्भ करना और उतना ही परिग्रह रखना। मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है। इसी प्रकार मार्दव और आर्जव भी उसके कारण है। मानके अभावको मार्दव और मायाचारके न करनेको आर्जव कहते हैं।

सामान्यसे सभी आयुओंके आस्रवके कारणोंको बताते हैं:—

सूत्र—निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषां नारकतैर्यग्योनमानुषाणामास्रवो भवति। यथोक्तानि च॥

अर्थ—नारक आयु तैर्यग्योन आयु और मनुष्य आयुके आस्रवके कारण ऊपर बता-चुके है, उन कारणोंसे उन उन आयुकर्मोंका आस्रव होता है। परन्तु उनके सिवाय एक सामान्य कारण शीलरहित व्रतोंका पालन करना है। इससे सभी आयुओंका आस्रव होता है।

भावार्थ—सर्व शब्दसे चारों आयुओंका ग्रहण होना चाहिये, परन्तु प्रकृतमें ऊपर कही हुई तीन ही आयुओंकी अपेक्षा ली गई है। किन्तु यह अर्थ इस तरह सूत्रके न करनेपर भी सिद्ध हो सकता था। अतएव इससे एक विशेष ज्ञापनसिद्ध अर्थ भी प्रकट होता है। वह यह कि भोगभूमिजोंकी अपेक्षा निःशील व्रतोंका पालन करना देवायुके आस्रवका भी कारण है।

भाष्यम्—अथ दैवस्यायुषः क आस्रव इति? अत्रोच्यते—

अर्थ—**प्रश्न**—आयुकर्मके चार भेद हैं। उनमेंसे तीनके आस्रवके कारण आपने ऊपर बताये। परन्तु देवायुके आस्रवको अभीतक नहीं बताया। अतएव कहिये कि उसका आस्रव क्या है? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य॥२०॥

भाष्यम्—संयमो विरतिर्व्रतमित्यनर्थान्तरम्। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति वक्ष्यते। संयमासंयमो देशविरतिरणुव्रतमित्यनर्थान्तरम्। देशसर्वतोऽणुमहती। इत्यपि वक्ष्यते। अकामनिर्जरा पराधीनतयानुरोधाच्चाकुशलनिवृत्तिराहारादिनिरोधश्च। बालतपः।—बालो मूढ इत्यनर्थान्तरम्, तस्य तपो बालतपः। तच्चाग्निप्रवेशमरुत्प्रपातजलप्रवेशादि। तदेवं सरागसंयमः संयमासंयमादीनि च दैवस्यायुष आस्रवा भवन्तीति॥

अर्थ—संयम विरति और व्रत ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। इसका लक्षण आगे चलकर "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" (अ० ७ सूत्र १) इस सूत्रके द्वारा बतावेंगे, कि हिंसा आदि पापोंसे उपरति होनेको व्रत कहते हैं। इस व्रतके राग सहित धारण करनेको सरागसंयम कहते हैं। संयमासंयम देशविरति और अणुव्रत ये तीनों शब्द पर्यायवाचक हैं। इस विषयमें भी आगे चलकर "देशसर्वतोऽणुमहती" (अ० ७ सूत्र २) इस सूत्र द्वारा बतावेंगे, कि हिंसादिके, एक देश—आंशिक त्यागको देशव्रत और सर्वथा त्यागको सर्वव्रत अथवा महाव्रत कहते हैं। पराधीनता—किसीके वशमें पड़कर अथवा किसीके अनुरोध—दबावसे आहारादिका निरोध होना और अकुशल निवृत्ति—आहारादिके छूट जानेसे दुःख न माननेको अकामनिर्जरा कहते है। बाल और मूढ़ शब्द भी समानार्थ है। उसके तपको बालतप कहते हैं। अर्थात् अग्निमें प्रवेश करना, वायुभक्षण करके रहना, पर्वतसे गिरना, नदी नद समुद्रादिमें प्रवेश करना आदि मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानहीन तप करनेको बालतप कहते हैं। इस प्रकारसे ये सब—सरागसंयम और संयमासंयम आदि देव आयुके आस्रव हुआ करते हैं।

भावार्थ—इनमेंसे किसी भी कारणके मिलनेपर देवायुका आस्रव हो सकता है।

भाष्यम्—अथ नाम्नः क आस्रव इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—आयुके अनन्तर नामकर्म है। अतएव क्रमके अनुसार उसके आस्रव बताने चाहिये। इसलिये कहिये कि किन किन कारणोंसे नामकर्मका आस्रव होता है ? उत्तर—नामकर्मके दो भेद हैं—अशुभ और शुभ। इनमेंसे अशुभनामकर्मके बंधके कारण इस प्रकार हैं—

सूत्र—योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—कायवाङ्मनोयोगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न आस्रवो भवतीति ॥

अर्थ—शरीर वचन और मन इनके द्वारा होनेवाले योगकी वक्रता—कुटिलता या विषमता, और विसंवाद ये अशुभनामकर्मके आस्रव हैं।

भावार्थ—मन वचन कायकी सरल—एकसी क्रिया न होकर विषम हो, मनके विचार कुछ और हों, और वचनसे कहे कुछ और, तथा शरीरसे कुछ और ही चेष्टा करे तो ऐसा करनेसे[1] तथा विसंवाद—साधर्मियोंके साथ झगड़ा करने, या अन्यथा प्रवृत्ति करनेसे अशुभनामकर्मका बंध हुआ करता है।

क्रमानुसार शुभ नामकर्मके आस्रवोंको बताते हैं—

सूत्र—विपरीतं शुभस्य ॥ २२ ॥

भाष्यम्—एतदुभयं विपरीतं शुभस्य नाम्न आस्रवो भवतीति। किं चान्यत्—

१—"मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्धिपापिनाम्"। (—क्षत्रचूडामणिः)

अर्थ—ऊपर अशुभ नामकर्मके आस्रवके दो कारण जो बताये हैं, उनसे ठीक विपरीत दो प्रकारकी प्रवृत्ति शुभनामकर्मका आस्रव हुआ करती है। अर्थात् मन वचन कायकी सरल—एकसी[1] वृत्ति और अविसंवाद—अन्यथा प्रवृत्ति न करनेसे शुभनामकर्मका आस्रव हुआ करता है।

इस प्रकार शुभ और अशुभ नामकर्मके आस्रव बताये। किन्तु नामकर्मकी प्रवृत्तियोंमें तीर्थंकरकर्म सबसे उत्कृष्ट और प्रधान है। जिसका कि उदय होनेपर अर्हन्त भगवान् मोक्षमार्ग-की देशनामें प्रवृत्त हुआ करते हैं। अतएव उस कर्मकी उत्कृष्टता दिखानेवाले उसके बंधके कारणोंको भी पृथक्रूपसे बतानेकी आवश्यकता है। इसी लिये आगेके सूत्रद्वारा ग्रन्थकार तीर्थं-करकर्मके आस्रवके कारणोंको बताते हैं—

सूत्र—दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ॥ २३ ॥

भाष्यम्—परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धिः, विनयसंपन्नता च, शीलव्रतेष्वात्यन्तिको भृशमप्रमादाऽनतिचारः, अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगः संवेगश्च। यथाशक्तितस्त्यागस्तपश्च, संघस्य साधूनां च समाधिवैयावृत्त्यकरणम्, अर्हस्त्वाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च परमभावविशुद्धियुक्ता भक्तिः, सामायिकादीनामावश्यकानां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणिः, सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गस्य निहत्य मानं करणोपदेशाभ्यां प्रभावना, अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बालवृद्धतपस्विशैक्षग्लानादीनां च सङ्ग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति, एते गुणाः समस्ता व्यस्ता वा तीर्थकरनाम्नआस्रवा भवन्तीति ॥

अर्थ—अत्यन्त प्रकर्ष अवस्थाको प्राप्त हुई दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शनकी विशेष शुद्धावस्था, विनयगुणकी पूर्णता, शील और व्रतोंमें अतीचार रहित प्रवृत्ति—पुनः पुनः और अतिशयिताके साथ इस तरहसे प्रवर्तन करना कि, जिसमें प्रमादका सम्बन्ध न पाया जाय। निरन्तर ज्ञानोपयोगका रखना, और संवेगगुणको धारण करना, संसार और उसके कारणोंसे सदा भयभीत रहना, यथाशक्ति—अपनी सामर्थ्यके अनुसार—सामर्थ्यसे न कम न ज्यादह त्याग और तप करना—दान देना और तपश्चरण करना, संघ[2] और साधुओंकी समाधि[3] तथा वैयावृत्य[4] करना, अरिहंत आचार्य बहुश्रुत और प्रवचनके विषयमें उत्कृष्ट भावोंकी विशुद्धिसे युक्त भक्तिका होना, सामायिक आदि आवश्यकोंका कभी भी परित्याग

१—" मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ " २—चातुर्वर्ण्य श्रमणको संघ कहते हैं। ३—मुनियोंके तपकी रक्षा करनेको साधु-समाधि कहते हैं। ४—गुणी पुरुषोंके ऊपर दुःख या विपत्ति आजानेपर उसको दूर करना, वैयावृत्य नामका गुण है। क्योंकि व्यावृत्तेर्भावः वैयावृत्यम्।

न हो इस तरहसे भावपूर्वक अनुष्ठान करना, सम्यग्दर्शन आदि जो मोक्षके मार्ग बताये हैं, उनका अच्छी तरह सन्मान करना, और दूसरोंको भी उपदेश देकर वैसा करनेके लिये समझाना, तथा हर तरहसे शारीरिक चेष्टा और उपदेशके द्वारा मोक्षमार्गके माहात्म्यको प्रकट करना, अरिहंत भगवान्के शासनका पालन करनेवाले श्रुतधर आदिके विषयमें प्रवचनवात्सल्यका पालन करना—अर्थात् श्रुतधर बाल वृद्ध तपस्वी शैक्ष ग्लान गणे आदिके साथ गौ का अपने बच्चेके साथ जैसा प्रेम हुआ करता है, उसी प्रकार प्रेम रखना, ये सोलह गुण हैं, जोकि सबके सब मिलकर अथवा इनमेंसे एक दो तीन चार आदि मिलकर भी तीर्थंकरनामकर्मके आस्रव हुआ करते हैं।

भावार्थ—इन सोलह कारणोंको ही षोडशकारणभावना भी कहते हैं, क्योंकि इनके निमित्तसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। इनमें पहला कारण—दर्शनविशुद्धि प्रधान है। उसके रहते हुए ही शेष १५ कारणोंमेंसे एक दो आदि जितने भी कारण होंगे, वे तीर्थंकर बंधके निमित्त हो सकते है। परन्तु दर्शनविशुद्धिके विना कोई भी कारण—गुण—तीर्थकरनामकर्मके बन्धका कारण नहीं बन सकता। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ही उसके बन्धका प्रारम्भक माना गया है।

नामकर्मके अनन्तर गोत्रकर्म है, उसके दो भेद हैं—नीचगोत्र और उच्चगोत्र। इनमेंसे पहले नीचगोत्रके आस्रव बताते हैं—

सूत्र—परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २४ ॥

भाष्यम्—परनिन्दात्मप्रशंसा सद्गुणाच्छादनमसद्गुणोद्भावनं चात्मपरोभयस्थं नीचैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति ॥

अर्थ—दूसरेकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरेके समीचीन भी गुणोंका आच्छादन करना, अपने असद्भूत गुणोंका भी उद्भावन करना, अथवा सद्गुणोंका आच्छादन और असद्गुणोंका उद्भावन अपने विषयमें हो या दूसरेके विषयमें हो, यद्वा दोनोंके विषयमें हो, नीचगोत्रका आस्रव हुआ करता है।

भावार्थ—अपने अयोग्य गुणों—दोषोंको भी लोकमें समीचीन गुण बतानेका प्रयत्न करना, इसके विपरीत दूसरेके समीचीन गुणोंको भी मिथ्या अथवा दोषरूप जाहिर करना, तथा इसकी मिश्ररूप—दोनों तरहकी प्रवृत्ति करना नीचगोत्रका आस्रव है।

१—प्रवचन शब्दका अर्थ दो प्रकारसे होता है—एकतो प्रकृष्टं च तद्वचनं च प्रवचनम्। दूसरा प्रकृष्टं वचनं यस्य स प्रवचनः। इसी लिये प्रवचन—श्रुत और श्रुतधर आदि दोनोंके विषयमे वात्सल्य रखना प्रवचनवात्सल्यगुण बताया है। श्रुतधर—उपाध्याय, तपस्वी—महान् उपवास आदि करनेवाला, शैक्ष—शिक्षाग्रहण करनेवाला, ग्लान—रोग आदिसे संक्लिष्ट, गण—स्थविरसंतति। "वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्संप्रकीर्तितम्। जैने प्रवचने सम्यक् श्रद्धानज्ञानवत्स्वपि ॥"
२—दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्यहेतवः। समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः ॥

क्रमानुसार उच्चगोत्रकर्मके आस्रवोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

भाष्यम्—उत्तरस्येति सूत्रक्रमप्रामाण्यादुच्चैर्गोत्रस्याह । नीचैर्गोत्रास्रवविपर्ययो नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकश्चोच्चैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति ।

अर्थ—सूत्रमें उत्तर शब्द जो आया है, उससे उच्चैर्गोत्रकर्मका ग्रहण समझना चाहिये। क्योंकि सूत्रमें पठित क्रम प्रमाण है। अतएव ऊपरके सूत्रमें जो नीचैर्गोत्रकर्मके आस्रव बताये हैं, उनसे विपरीत भाव और नीचैर्वृत्ति तथा अनुत्सेक ये उच्चगोत्रकर्मके आस्रव हैं।

भावार्थ—अपनी निन्दा करना, दूसरेकी प्रशंसा करना, दूसरेके असद्गुणोंका आच्छादन करना, अपने सद्भूत भी गुणोंका गोपन करना, दूसरेके सद्भूत गुणोंको प्रकट करना, नीचैर्वृत्ति रखना—सबके साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करना, किसीके भी साथ उद्धतताका व्यवहार न करना—गर्व रहित प्रवृत्ति रखना, ये गुण उच्चैर्गोत्रकर्मके बन्धके कारण हैं।—

क्रमानुसार अन्तरायकर्मके आस्रवको बताते हैं—

सूत्र—विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

भाष्यम्—दानादीनां विघ्नकरणमन्तरायस्यास्रवो भवतीति । एतेसाम्परायिकस्याष्टविधस्य पृथक् पृथगास्रवविशेषा भवन्तीति

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—दानादिकमें विघ्न करना अन्तरायकर्मका आस्रव है।

भावार्थ—अन्तराय कर्म ५ प्रकारका है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय। दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमें जिस कर्मके उदयसे सफलता न हो, वह अन्तरायकर्म है, उसका बन्ध भी इन विषयोंमें विघ्न उपस्थित करनेसे हुआ करता है। किसी दाताको दानसे रोकना, दाता और दानकी निन्दा करना, दानके साधनोंको नष्ट करना छिपाना, या पात्रका संयोग न होने देना आदि दानान्तरायाक आस्रव है। इसी प्रकार किसीके लाभमें विघ्न डालना लाभान्तरायका, भोगोंमें विघ्न करना भोगान्तरायका, उपभोगमें विघ्न करना उपभोगान्तरायका, और वीर्य—शक्तिसम्पादनमें विघ्न उपस्थित करना वीर्यान्तरायका आस्रव है।

ऊपर आठ प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्मोंके साम्परायिक आस्रवके भेद क्रमसे बताये हैं। क्योंकि यह सामान्य कथन है। अतएव इनके जो अवान्तर भेद हैं, उनके बन्धके कारण भी इसी नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेने चाहिये।

भावार्थ—कार्माणवर्गणाओंका आत्माके साथ जो एकक्षेत्रावगाह होकर कर्मरूप परिणमन होता है, उसका कारण योग और कषाय है। योग और कषायके निमित्तसे जीवके

मन वचन कायकी जैसी जैसी परिणति होती है, वह वह अपनी अपनी योग्यताके अनुसार आठ प्रकारके कर्मोंमेंसे जिस जिसके बन्धके लिये योग्य है, उस उसके होनेपर उसी उसी कर्मका बंध भी हो जाता है। किन्तु कमसे कम सात कर्मोंका और कदाचित् आठ कर्मोंका भी जीवोंके साम्परायिकबन्ध हमेशा हुआ करता है। अतएव यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि जब यहाँपर तत्तत्कर्मके आस्रव बताये हैं, तो उनसे तो यही बात सिद्ध होती है, कि इन इन आस्रव-कारणोंके होनेपर उन्हीं उन्हीं कर्मोंका बन्ध हो सकता है, जिनका कि यहाँपर उल्लेख किया गया है, दूसरे कर्मोंका नहीं। जैसे कि ज्ञानका प्रदोष या निन्हव होनेपर ज्ञानावरणकर्मका ही बन्ध हो सकता है, शेष कर्मोंका नहीं। ऐसी दशामें युगपत् सम्पूर्ण कर्मोंका बन्ध कैसे माना जा सकता है? उत्तर—यह साम्परायिकबन्धका प्रकरण है, साम्परायिकबन्धमें स्थितिकी प्रधानता है, क्योंकि स्थितिबन्ध कषायके आधीन है। अतएव इन आस्रवकारणोंको भी स्थितिके ही साथ सम्बद्ध करना चाहिये। अर्थात् इन इन कारणोंके होनेपर उन उन कर्मोंमें स्थितिबन्ध विशेष पड़ता है, जिनका कि यहाँपर उल्लेख किया गया है। आस्रव और बन्ध सामान्यतया शेष कर्मोंका भी हो सकता है, इसमें किसी भी तरहकी आपत्ति नहीं है।

यहाँपर जो आस्रवके कारण गिनाये हैं, वे प्रतीक मात्र अथवा उपलक्षणमात्र हैं, अतएव इनके समान और भी जो जो कारण शास्त्रोंमें बताये है, वे भी उन उन कर्मोंके बन्धमें कारण समझ लेने चाहिये।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका छट्ठा अध्याय समाप्त हुआ॥

१—आयुकर्मके बन्धके योग्य आठ अपकर्षकाल माने है। उसका बन्ध उन्हीं समयोंमें हुआ करता है शेष समयमें बाकीके सात कर्मोंका ही बंध हुआ करता है।

सप्तमोऽध्यायः ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता सद्वेद्यस्यास्रवेषु " भूतव्रत्यनुकम्पेति ? " तत्र किं व्रतं को वा व्रतीति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले गत छट्ठे अध्यायके १२ वें सूत्रमें " भूत व्रत्यनुकम्पा " शब्दका प्रयोग किया है । जिसका अभिप्राय यही था, कि भूत–प्राणिमात्रपर और खासकर व्रतियोंपर अनुकम्पा करनेसे सद्वेद्यकर्मका आस्रव होता है । व्रती शब्दका अर्थ व्रतोंको धारण करनेवाला होता है । अतएव यह भी बतानेकी आवश्यकता है, कि वे व्रत कौन हैं, कि जिनको धारण करनेवाला व्रती कहा जाता है, तथा व्रती भी किसको समझना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—हिंसाया अनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहाच्च कायवाङ्मनोभिर्विरतिर्व्रतम् । विरतिर्नाम ज्ञात्वाभ्युपेत्याकरणम् । अकरणं निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत वचन–मिथ्या भाषण, स्तेय–चोरी, अब्रह्म–कुशील, और परिग्रह, इन पाँच पापोंसे मन वचन और कायके द्वारा जो विरति होती है, उसको व्रत कहते है । विरतिका अर्थ होता है, कि जानकर और प्राप्तकरके इन कार्योंको न करना । न कराना, निवृत्ति, उपरम, और विरति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक है ।

भावार्थ—जो विषय मालूम ही नहीं है, या जिस विषयमें बालकवत् अज्ञान हैं, उसका त्याग भी कैसे किया जा सकता है । इसी प्रकार जो विषय प्राप्त ही नहीं हो सकता, उसका त्याग भी किस प्रयोजनका ? अतएव जिसको हम प्राप्तकर सकते है, और जानते हैं, फिर भी उसका छोड़ना, इसको व्रत कहते है ।

त्याग पापकर्मका ही हो सकता है, और करना चाहिये । प्रकृत में पाप पाँच गिनाये हैं, जिनका कि त्याग व्रत कहा जाता है । इन पाँचो पापोंका लक्षण आगे चलकर लिखा जायगा । इसके पहले त्यागरूप व्रत कितने प्रकारका है, और उसका स्वरूप क्या है ? सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

भाष्यम्—एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति ॥

अर्थ—ऊपर जो हिंसा झूठ चोरी आदि पाँच पाप गिनाये हैं, उनका एकदेश त्याग करना अणुव्रत, और सर्वात्मना त्याग करना महाव्रत कहा जाता है ।

भावार्थ—एकेन्द्रिय स्थावर जीव और त्रस जीवोंकी प्रयोजनके विना हिंसा न करना आदि, अथवा हिंसा आदिके सूक्ष्म भेदोंको छोड़कर वाकी स्थूल भेदोंका परित्याग करना अणुव्रत है। यह व्रत गृहस्थ श्रावकके हुआ करता है, और इन पापोंके सभी भंगोंका–सभी सूक्ष्म स्थूल भेदोंका परित्याग करना महाव्रत कहा जाता है। यह गृहनिवृत्त मुनियोंके हुआ करता है।

इन व्रतोंके धारण कर लेनेपर भी अनभ्यस्त जीव उनसे च्युत हो सकता है। अतएव उनकी स्थिरताका क्या उपाय है, सो वतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रम्—तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यार्थमेकैकस्य पञ्च पञ्च भावना भवन्ति। तद्यथा—अहिंसायास्तावदीर्यासमितिर्मनोगुप्तिरेषणासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरालोकितपानभोजनमिति ॥ सत्यवचनस्यानुवीचिभाषण क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानमभीरुत्वं हास्यप्रत्याख्यानमिति ॥ अस्तेयस्यानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारणं समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनमनुज्ञापितपानभोजनमिति ॥ ब्रह्मचर्यस्य स्त्रीपशुषण्डकसंशक्तशयनासनवर्जनं रागसंयुक्तस्त्रीकथावर्जनं स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियावलोकनवर्जनं पूर्वरतानुस्मरणवर्जनं प्रणीतरसभोजनवर्जनमिति ॥ आकिञ्चनस्य पञ्चानामिन्द्रियार्थानां स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दानां मनोज्ञानां प्राप्तौ गार्द्ध्यवर्जनममनोज्ञानां प्राप्तौ द्वेषवर्जनमिति ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार पाँच पापोंका त्यागरूप व्रत भी पाँच प्रकारका ही है। अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन व्रतोंमेंसे प्रत्येक व्रतकी स्थिरताके लिये पाँच पाँच प्रकारकी भावनाएं हैं, जिनके कि निमित्तसे ये व्रत स्थिर रह सकते, या रहा करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और आलोकितपान भोजन, ये पाँच अहिंसा व्रतकी भावनाएं है। अपने शरीरप्रमाण ३॥ हाथ भूमिको देखकर जिससे कि किसी भी जीवकी विराधना न हो, चलनेको ईर्यासमिति कहते है[1]। मनोयोगके रोकनेको अथवा रौद्रध्यानादि दुष्ट विचारोंके छोड़नेको मनोगुप्ति कहते हैं[2]। शास्त्रोक्त भोजनकी शुद्धिके पालन करनेको एषणासमिति कहते[3] है। देखकर और शोधकर किसी भी वस्तुके उठाने और रखनेको आदाननिक्षेपणसमिति कहते है। सूर्यके प्रकाशमें योग्य समयपर दृष्टिसे देख शोधकर भोजन पान करनेको आलोकितपान भोजन कहते है। इन पाँचोंका पालन करनेसे अहिंसा व्रत स्थिर रहता है।

१—मग्गुज्जो उवओगालंवणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो। सुत्ताणुवीचिभाणिया इरियासमिदी पवयणम्हि ॥ अथवा—स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरंप्रेप्सतः, श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते। मार्गे कौक्कुटिकेऽस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः, कारुण्येन शनैः पदानि ददत. पातुं प्रयात्यङ्गिनः ॥ २—विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्। स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥ सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा, भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥ ३—दिगम्बर–सम्प्रदायमें एषणासमितिके वदले वाग्गुप्ति मानी है। भैक्ष्य–शुद्धिको अचौर्यव्रतकी भावनाओंमें गिनाया है ॥

अनुवीचिभाषण—क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, निर्भयता, और हास्यका परित्याग, ये पाँच सत्यवचन व्रतकी भावनाएं हैं । शास्त्रोक्त और व्यवहारसे अविरुद्ध वचन बोलनेको अनुवीचिभाषण कहते हैं । बाकी चारोंका अर्थ स्पष्ट है । क्रोध लोभ भय और हास्यके निमित्तसे असत्य भाषा बोलनेमें प्रायः आती है । अतएव इनका त्याग करनेसे सत्य व्रत स्थिर रहता है ।

निरवद्य—हिंसा आदिसे अनुत्पन्न या निर्दोष अनिंद्य पदार्थका ही ग्रहण करना, अथवा उसीकी याचना करना, निरन्तर उसी प्रकारसे ग्रहण याचन करना, हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है, ऐसा समझकर उतने ही पदार्थको ग्रहण करना अथवा याचना करके धारण करना, जो अपने सधर्मा हैं, उन्हींसे याचना करना और उन्हींके पदार्थको ग्रहण करना, अनुज्ञा—स्वीकारता प्राप्त होजानेपर ही पान—भोजन करना—दाताने जिस वस्तुकी आज्ञा दे दी है, उसीका ग्रहण करना, ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएं हैं । इनका पालन करनेसे अचौर्य व्रत स्थिर रहता है ।

स्त्री पशु और नपुंसक इनका संसर्ग जिसमें पाया जाता है, ऐसे शयन आसनका त्याग करना । अर्थात् स्त्री आदिक जिनपर या जहाँपर सोते उठते बैठते हैं, उन वस्त्रोंपर या शय्या आदिपर नहीं बैठना चाहिए । रागपूर्वक स्त्रियोंकी कथा नहीं करना—स्त्रीविकथाका परित्याग करना । स्त्रियोंके मनोहर अङ्ग उपाङ्गोंको अथवा कटाक्षपातादि विकारोंको नहीं देखना—रागके वशीभूत होकर स्त्रियोंकी तरफ दृष्टि नहीं डालना । पहले जो रतिसंभोग आदि किये थे, उनका स्मरण न करना । गरिष्ठ तथा कामोद्दीपक पदार्थोंका या रसादिकका सेवन न करना । ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनायें हैं । इनका निरन्तर पालन करनेसे चतुर्थ—ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर रहता है ।

पाँच इन्द्रियोंके विषय भी पाँच हैं—स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द । पाँचों ही दो दो प्रकारके हुआ करते हैं—मनोज्ञ और अमनोज्ञ । मनोज्ञ विषयोंकी प्राप्तिके लिये चिन्तवन न करना अथवा प्राप्त हो जानेपर उनकी गृद्धि न करना । तथा अमनोज्ञ विषयोंकी प्राप्तिके विषय में द्वेष नहीं करना । ये पाँच अपरिग्रह व्रतकी भावनाएं हैं । इनके निरन्तर चिन्तन करनेसे परिग्रहत्याग व्रत स्थिर रहा करता है ।

इस प्रकार पाँचो व्रतोंकी क्रमसे ये पाँच भावनाएं हैं, जिनका कि पुनः पुनः भावन करनेसे ये व्रत स्थिर रहा करते हैं । ये एक एक व्रतकी विशेष विशेष भावनाएं हैं । इनके सिवाय सब व्रतोंकी सामान्य भावनाएं भी हैं या नहीं ? इस शंकाको दूर करनेके अभिप्रायसे और अग्रिम सूत्रकी उत्थानिका प्रकट करनेके लिये भाष्यकार कहते हैं:—

भाष्यम्—किं चान्यत्-

अर्थ—ऊपर प्रत्येक व्रतकी जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय सामान्यतया सभी व्रतोंको स्थिर करनेवाली भी भावनाएं हैं। उन्हींको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—हिंसादिषु पंचस्वास्रवेष्विहामुत्र चापायदर्शनमवद्यदर्शनं च भावयेत्। तद्यथा हिंसायास्तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयो नित्यानुबद्धवैरश्च। इहैव वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। तथानृतवाद्यश्रद्धेयो भवति। इहैव जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यस्तदधिकान् दुःखहेतून् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीत्यनृतवचनाद् व्युपरमः श्रेयान्। तथा स्तेनः परद्रव्यहरणप्रसक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवतीति। इहैव चाभिघातवधबन्धनहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणवध्ययातनमारणादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति स्तेयाद् व्युपरमः श्रेयान्। तथाऽब्रह्मचारी विभ्रमोद्भ्रान्तचित्तः विप्रकीर्णेन्द्रियो मदान्धो गज इव निरङ्कुशः शर्म नो लभते। मोहाभिभूतश्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किंचिदकुशलं नारभते। परदाराभिगमनकृतांश्च इहैव वैरानुबन्धालिङ्गच्छेदनवधबन्धनद्रव्यापहारादीन् प्रतिलभतेऽपायान् प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीत्यब्रह्मणो व्युपरमः श्रेयान् इति। तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव मांसपेशीहस्तोऽन्येषां क्रव्यादशकुनानामिहैव तस्करादीनां गम्यो भवति। अर्जनरक्षणक्षयकृतांश्च दोषान् प्राप्नोति। न चास्य तृप्तिर्भवतीन्धनैरिवाग्नेर्लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति। प्रेत्य चाशुभां गतिं प्राप्नोति, लुब्धोऽयमिति च गर्हितो भवतीति परिग्रहाद् व्युपरमः श्रेयान् ॥

अर्थ—हिंसा आदि पाँच पाप कर्मरूप जो ऊपर आस्रव बताये हैं, उनके विषयमें इस लोक और परलोकमें निरन्तर अपायदर्शन और अवद्यदर्शनका विचार करना चाहिये। अर्थात् इनके विषयमें सदा इसी प्रकारका विचार करते रहना चाहिये, कि ये हिंसादि पाँचों ही पाप कर्म इस लोकमें और परलोकमें भी अपाय तथा अवद्यके कारण हैं। इनके निमित्तसे इस लोकमें ही अनेक प्रकारके अपाय—क्लेश सहन करने पड़ते है, और परलोकमें भी इनके ही निमित्तसे बँधे हुए पाप कर्मके उदयसे दुर्गतियोंके नाना दुःख भोगने पड़ते हैं। इत्यादि। जैसे कि हिंसाके विषयमें प्रत्यक्ष ही लोकमें देखा जाता है, कि हिंस्र—हिंसा करनेवाला जीव नित्य ही ग्लानिका पात्र रहा करता है—उससे सब लोग उद्विग्न रहा करते हैं, अथवा स्वयं वह भी सदा भयसे कम्पित और अस्थिर तथा उद्विग्न चित्त रहा करता है। उससे अनेकं जीवोंका वैर बँध जाता है, और वे उसके शत्रु बन जाते है। किसीको भी मारनेवाला यहाँका यहीं बध—बन्धन आदि दुःखोंको प्राप्त हुआ करता है। फांसीपर लटकाया जाता है, बाँधकर जेलखानेमें डाल दिया जाता है, और अनेक तरहके भूख प्यास आदिक क्लेशोंको भी भोगता है। इस पापके निमित्तसे जो दुष्कर्म बँधता है, उसके उदयसे अशुभ गतियोंमें भी भ्रमण करना पड़ता है, और इस लोकके समान उन गतियोंमें भी निन्दाका पात्र बनना

पड़ता है । अतएव इस लोक और परलोकमें निन्दा दुष्कर्म और क्लेशोंकी कारणभूत हिंसाका व्युपरम—त्याग करना ही कल्याणका कारण है ।

मिथ्या वचन बोलनेसे जीव श्रद्धाका पात्र नहीं रहता। इसी लोकमें जिह्वा—छेदन आदि अनेक अशुभ दुःखमय फलोंको प्राप्त हुआ करता है। जिसके विषयमें झूठ बोला जाता है, उस व्यक्तिको महान् दुःख होता है, और वह उससे दुःखित होकर बद्धवैर—सदाके लिये वैर बाँध लेता है, अतएव उस झूठ वचनसे जितना उसको दुःख हुआ था, उससे भी अधिक दुःखके कारण कालान्तरमें उस जीवसे झूठ बोलनेवालेको प्राप्त हुआ करते हैं । इस मिथ्या भाषणके फलस्वरूप परलोकमें अशुभ गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है, और वहाँके दुःख भी भोगने पड़ते हैं। तथा इस लोक और परलोक दोनों ही जगह निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। अतएव इस महान् गर्ह्य अनृत वचनसे व्युपरत होना ही श्रेयस्कर है ।

दूसरेके द्रव्यका अपहरण करनेमें ही जिसकी बुद्धि आसक्त है—निरन्तर लीन रहती है, ऐसा चोर—चोरी करनेवाला मनुष्य सभीके लिये उद्वेगका पात्र बन जाता है। हरएक मनुष्य उससे डरता और सावधान रहा करता है। उसको राजा आदिसे भी अनेक प्रकारके क्लेश प्राप्त हुआ करते हैं । कभी मार पड़ती है, कभी बध भी हो जाता है, कभी बन्धनमें डाल दिया जाता है, कभी हाथ पैर कान नासिका और ऊपरके ओष्ठका छेदन कर दिया जाता है, कभी अङ्गोपाङ्गोंका विदारण भी किया जाता है, कभी उसके सर्वस्व—धन संपत्ति घर जमीन आदिको जप्त कर लिया जाता है। बध्य यातनाओंको प्राप्त होता तथा कभी कभी मरणको भी प्राप्त हो जाया करता है । इस दुष्कृत्यके निमित्तसे संचित पापकर्मके उदयसे परलोकमें नाना दुर्गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है । तथा दोनों ही लोकमें निन्दाका पात्र बनना पड़ता है । अतएव चोरीसे उपरति होना ही कल्याणका मार्ग है ।

जो अब्रह्म—कुशीलका सेवन करनेवाला है, वह मनुष्य विक्षिप्त चित्त बन जाता है—उसका हृदय अनेक प्रकारके विभ्रमोंसे उद्भ्रान्त रहा करता है। उसकी इन्द्रियाँ निर्बन्ध रहा करती हैं । वे लगाम घोड़ेकी तरह हर तरफको दौड़ा करती हैं, और इसीलिये वह मदान्ध हाथीके समान निरङ्कुश हो जाता है। किन्तु उसको सुखकी प्राप्ति नहीं हुआ करती । मोहसे वह इतना अभिभूत—आक्रान्त होजाता है, कि कर्तव्य और अकर्तव्यका कुछ भी विचार नहीं कर सकता, और इसी लिये ऐसा कोई भी अकुशल—बुरा काम नहीं है, जिसको कि वह न कर डालता हो । परस्त्रीसे गमन करनेवालोंको इसी लोकमें वैरानुबन्ध लिङ्गच्छेदन बध बन्धन और सर्वस्वका अपहरण आदि अनेक क्लेश प्राप्त हुआ करते हैं । परलोकमें दुर्गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता, और वहाँके दुःख भोगने पड़ते हैं । तथा दोनों ही लोकमें व्यभिचारीको निन्दाका पात्र बनना पड़ता है। इत्यादि कारणोंसे इस कुशीलका त्याग ही श्रेयस्कर है ।

जिस प्रकार गृद्ध आदि कोई भी पक्षी जिसके कि पंजेमें मांसका टुकड़ा लगा हुआ है, वह दूसरे मांसभक्षी पक्षियोंका शिकार बन जाता है—उससे वे पक्षी उस मांस–खण्डको लूट लेते हैं, और उसके लिये उसे अनेक प्रकारके त्रास भी देते हैं। उसी प्रकार परिग्रहवान् मनुष्य भी प्रत्यक्ष इसी लोकमें चोर डाकू आदिका निशान बन जाता है। धनके अर्जन–संचय और रक्षण तथा क्षय–नुकसान आदिके द्वारा जो दोष प्राप्त होते हैं, वे उसे सहन करने पड़ते हैं। फिर भी जिस प्रकार अग्निको ईंधनसे तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार परिग्रहीको भी धनसे संतोष नहीं होता। लोभसे इतना आक्रान्त हो जाता है, कि उसको यह कार्य है या अकार्य सो नजरमें ही नहीं आता। वह विवेकशून्य होजाता है। इन दुर्भावोंके निमित्तसे संचित पाप कर्मके उदयानुसार परलोकमें अनेक दुर्गतियोंमें प्राप्त हुआ करता है। तथा यह लोभी है, कंजूस है, इस तरहके वचन कह कह कर लोक उसकी निन्दा–अपकीर्ति भी किया करते हैं। अतएव इस दुःखद परिग्रहसे उपरम विरत होना ही कल्याणका मार्ग है।

इस प्रकारका निरन्तर विचार करनेसे अहिंसादि व्रत स्थिर रहा करते हैं, अतएव इनका हमेशा चिन्तवन करना चाहिये।

भाष्यम्—किं चान्यत्।

अर्थ—ऊपर जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, कि जिनके निमित्तसे उपर्युक्त व्रत स्थिर रहा करते है। उन्हींको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं।:—

सूत्र–दुःखमेव वा ॥ ५ ॥

भाष्यम्—दुःखमेव वा हिंसादिषु भावयेत्। यथा ममाप्रियं दुःखमेवं सर्वसत्त्वानामिति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। यथा मम मिथ्याभ्याख्यानेनाभ्याख्यातस्य तीव्रं दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति अनृतवचनाद् व्युपरमः श्रेयान्। यथा ममेष्टद्रव्यावियोगे दुःखं भूतपूर्वं भवति च तथा सर्वसत्त्वानामिति स्तेयाद्व्युपरमः श्रेयान्। तथा रागद्वेषात्मकत्वान्मैथुनं दुःखमेव। स्यादेतत् स्पर्शनसुखमिति तच्च न। कुतः? व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतवच्चाब्रह्म-व्याधिप्रतीकारत्वादसुखे ह्यस्मिन् सुखाभिमानो मूढस्य। तद्यथा तीव्रया त्वक्छोणितमांसानु-गतया कण्ड्वा परिगतात्मा काष्ठशकललोष्टशर्करानखशुक्तिभिर्विच्छिन्नगात्रो रुधिरार्द्रः कण्डू-यमानो दुःखमेव सुखमितिमन्यते। तद्वन्मैथुनोपसेवीति मैथुनाद् व्युपरमः श्रेयान्। तथा परि-ग्रहवानप्राप्तप्राप्तनष्टेषु कांक्षारक्षणशोकोद्भवं दुःखमेव प्राप्नोतीति परिग्रहाद् व्युपरमः श्रेयान्। इत्येवंभावयतो व्रतिनो व्रते स्थैर्यं भवति।

अर्थ—ऊपर हिंसादिकके विषयमें यह भावना करते रहनेको बताया है, कि ये इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखके कारण है। सो उस प्रकारका विचार पुनः पुनः करना चाहिये। अब यहाँ कहते हैं, कि इन उपर्युक्त हिंसादिक पाँच पापोंके विषयमें दुःखकी कारणताका ही नहीं किन्तु दुःखरूपताका भी विचार करना चाहिये। निरंतर इस प्रकारकी भी भावना करनी चाहिये, कि, ये हिंसादिक साक्षात् दुःखरूप ही हैं। जिस प्रकार दुःख मुझे अप्रिय है, उसी प्रकार सभी प्राणि-

योंको वह अनिष्ट है। प्राणोंका व्युपरम—घात—पृथक् करना मुझे ही नहीं जीवमात्रको अनिष्ट है। मेरे समान कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता, कि मुझे दुःखकी प्राप्ति हो, अथवा मेरे प्राणोंका घात हो। अतएव हिंसासे व्युपरति—हिंसाका त्याग ही कल्याणका कारण है।

मिथ्या भाषणसे जिस प्रकार मुझे दुःख होता है। यदि कोई मेरे विषयमें मिथ्या भाषण करता है, या किसीने किया है, तो उससे मुझे अति तीव्र दुःख होता है, और भूतकालमें भी हो चुका है, जिसका कि मुझे अनुभव है। इसी प्रकार प्राणिमात्रको मिथ्या भाषणसे दुःख हुआ करता है। मिथ्या भाषण मेरे समान जीवमात्रके लिये दुःखरूप है। अतएव अनृत वचनसे व्युपरम—उपरति होना ही कल्याणका मार्ग है। यदि मेरी किसी इष्ट वस्तुका वियोग हो जाय, तो उससे मुझे महान् दुःख होता है। इसी प्रकार प्राणिमात्रके विषयमें समझना चाहिये। सभीको अपनी अपनी प्रिय—इष्ट वस्तुका वियोग—अपहरण होजानेपर—चोरीमें चले जानेपर मर्मभेदी पीड़ा हुआ करती है। अतएव चोरीसे उपराम लेना ही श्रेयस्कर है।

मैथुन-कर्म—अब्रह्मका सेवन भी दुःखरूप ही है। क्योंकि वह राग द्वेषरूप है। तीव्र रागसे प्रेरित हुआ—रागान्ध मनुष्य ही इस तरहके दुष्कर्म करनेमें प्रवृत्त हुआ करता है। अतएव इस दुःखसे दूर रहना सुखरूप समझना चाहिये। प्रश्न—मैथुनकर्मको जो आपने दुःखरूप कहा सो ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुखरूप ही है। जो स्त्री और पुरुष मैथुनमें परस्पर प्रवृत्त होते हैं, वे उसको प्रिय अथवा इष्ट मानकर ही होते हैं, तथा उससे वे अपनेको सुखी भी मानते ही हैं, अतएव उसको दुःख किस तरह कहा जा सकता है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अब्रह्म वास्तवमें दुःख ही है। जो विवेकी हैं—विचारशील हैं, वे उसकी दुःखरूपताका ही अनुभव करते हैं, किन्तु जो मूढ़—अज्ञानी है, वे उसको दुःखरूप होते हुए भी सुखरूप ही मानते है। वे उसको प्राप्त कर उसमें सुखका अनुभव किया करते हैं। इस प्रकारका भ्रम भी उन्हें जो होता है, उसका कारण यह है, कि यह मैथुन—कर्म ऊपरसे दुःखरूप नहीं मालूम होता। विवेकी पुरुष जब विचार करते हैं, तब उन्हें मालूम होता है, कि इसका वास्तविक स्वरूप क्या है। यह अब्रह्म एक प्रकारकी व्याधिका प्रतीकारमात्र है। जिस प्रकार कोई दाद या खाजका रोगी खुजाते समय सुखका अनुभव करता है, परन्तु पीछे उसीसे उसको दुःखका भी अनुभव होता है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। देखते है कि जब खाजका सम्बन्ध त्वचासे रुधिरमें और रुधिरसे भी मांसतक पहुँच जाता है, तब वह अत्यंत तीव्र हो उठती है, ऐसे खाजसे पीड़ित मनुष्य काष्ठखण्ड अथवा पत्थर या कंकड़ अथवा नख शुक्ति सीप आदिके द्वारा उसका ऐसा घर्षण करता है कि जिससे उसका शरीर ही विच्छिन्न हो जाता, और रुधिरसे गीला हो जाया करता है। फिर भी जिस समय वह खुजाता है, उस समय उस दुःखको भी वह

सुखरूप ही मानता है। परन्तु उसका खाजके खुजानेको सुख समझना अज्ञान है। इसी प्रकार मैथुन सेवन करनेवालेके विषयमें समझना चाहिये। अन्तरङ्गमें वेदकर्मके उदयसे पीड़ित और बाह्यमें द्रव्यवेदके विकारोंसे त्रस्त हुआ जीव उसके प्रतीकारकी इच्छासे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त हुआ करता है, और मैथुन करते समय सुखका अनुभव करता है। परन्तु अन्तमें उसकी विरसताका ही अनुभव होता है। अतएव विवेकीजन इस लोक और परलोक दोनों ही भवमें दुःखके कारणभूत इस मैथुन-कर्मसे उपरत होनेको ही श्रेयस्कर समझते हैं।

परिग्रहवान् जीव जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक तो उसकी प्राप्तिकी इच्छासे दुःखी रहा करता है। प्राप्ति हो जानेपर यह नष्ट न हो जाय, इस अभिप्रायसे उसकी रक्षा करनेमें चिन्तित रहा करता है। यदि कदाचित् वह नष्ट हो जाय, तो उसके वियोगसे उत्पन्न शोकके द्वारा दग्धचित्त हो जाया करता है। इस प्रकार परिग्रहकी अप्राप्ति प्राप्ति और वियोग ये तीनों ही अवस्थाएं दुःखरूप ही हैं। परिग्रहासक्त मनुष्यको इसकी प्रत्येक अवस्थामें दुःखकी ही प्राप्ति हुआ करती है। अतएव परिग्रहसे विरत होना ही कल्याणका मार्ग है।

इस प्रकार हिंसादिक पाँचों पापोंके विषयमें निरन्तर दुःखरूपताका भावन--विचार करते रहनेवाले व्रती पुरुषके व्रतोंमें स्थिरता हुआ करती है।

भाष्यम्--किञ्चान्यत्।

अर्थ--ऊपर अहिंसादिक व्रतोंको स्थिर करनेवाली दो प्रकारकी भावनाएं बताई हैं। एक तो हिंसादिकमें दोनों भवके लिये दुःखोंकी कारणताका पुनः पुनः विचार और दूसरी साक्षात् दुःखरूपताकी भावना। इनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, कि जिनके निमित्तसे उपर्युक्त व्रत स्थिर रहा करते हैं। उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:--

सूत्र--मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि-सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ६ ॥

भाष्यम्--भावयेद्यथासङ्ख्यम्।--मैत्रीं सर्वसत्त्वेषु।--

क्षमेऽहं सर्वसत्त्वानाम्, क्षमयेऽहं सर्वसत्त्वान्।
मैत्री मे सर्वसत्त्वेषु, वैरं मम न केनचिद्॥ इति।

प्रमोदं गुणाधिकेषु। प्रमोदो नाम विनयप्रयोगो वन्दनस्तुतिवर्णवादवैयावृत्त्यकरणादिभिः सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोऽधिकेषु साधुषु परात्मोभयकृतपूजाजनितः सर्वेन्द्रियाभिव्यक्तो मनःप्रहर्ष इति। कारुण्यं क्लिश्यमानेषु। कारुण्यमनुकम्पा दीनानुग्रह इत्यर्थः। तन्महामोहाभिभूतेषु मतिश्रुतविभङ्गाज्ञानपरिगतेषु विषयतर्षाग्निना दन्दह्यमानमानसेषु हिताहितप्राप्तिपरिहारविपरीतप्रवृत्तिषु विविधदुःखार्दितेषु दीनकृपणानाथबालमोमुहवृद्धेषु सत्त्वेषु भावयेत्। तथाहि भावयन् हितोपदेशादिभिस्ताननुगृह्णातीति॥ माध्यस्थ्यमविनेयेषु। माध्यस्थ्यमौदासीन्यमुपेक्षेत्यनर्थान्तरम्। अविनेया नाम मृत्पिण्डकाष्ठकुड्यभूता ग्रहणधारणविज्ञानोहापोहवियुक्ता महामोहाभिभूता दुष्टावग्राहिताश्च। तेषु माध्यस्थ्यं भावयेत्। न हि तत्र वक्तुर्हितोपदेशसाफल्यं भवति॥

अर्थ—सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनेय इन चार प्रकारके जीवोंके विषयमें क्रमसे चार प्रकारकी भावना करनी चाहिये । अर्थात् सत्त्व[1]—प्राणिमात्रके विषयमें मैत्रीभावना, गुणाधिकोंके[2] विषयमें प्रमोदभावना, क्लिश्यमानोंके[3] विषयमें कारुण्यभावना, और अविनेय[4] जीवोंके विषयमें मध्यास्थ्यभावना रखनी चाहिये ।

किसीसे भी वैरभाव न रखनेको मैत्री[5] कहते हैं । यथा—

क्षमेऽहं सर्वसत्त्वानाम्, क्षमयेऽहं सर्वसत्त्वान् ।
मैत्री मे सर्वसत्वेषु, वैरं मम न केनाचित् ॥

अर्थात् मैं प्राणिमात्रपर क्षमा करता हूँ, और सभी प्राणियोंसे मैं क्षमा कराता हूँ, सभी प्राणियोंके विषयमें मेरा मैत्रीभाव है, मेरा किसीके भी साथ वैरभाव नहीं है । इस प्रकार अपने या परके अपराधोंका लक्ष्य करके अथवा विना अपराधके भी जो अनेक जीव किसीके साथ द्वेषभाव धारण कर शत्रुता उत्पन्न कर लेते हैं, वह इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखरूप या दुःखका कारण है, ऐसा समझकर उसको छोड़ना और पुनः पुनः वीतद्वेषता—निर्वैरताके उभय लोकसम्बन्धी गुणोंका चिन्तवन करना, इसको मैत्रीभावना कहते हैं ।

जो अपनेसे गुणोंमें अधिक हैं, उनको देखकर या उनका विचार करके हृदयमें प्रमोद—हर्ष होना चाहिये । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और समीचीन तप इन गुणोंके धारण पालन करनेमें जो अधिक है, ऐसे साधुओंके विषयमें मनमें ऐसे अतिशयित हर्षको धारण करना, जोकि समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाको देखकर प्रकट होता हो, तथा स्वयं की गई या दूसरेके द्वारा की गई अथवा दोनोंके द्वारा की गई पूजाके द्वारा उत्पन्न हो, एवं उनकी वन्दना स्तुति वर्ण-वाद–वर्णनीय गुणोंका निरूपण–प्रशंसा और वैयावृत्य करने आदिके द्वारा विनयगुणका प्रयोग करना इसको प्रमोद कहते हैं । यह प्रमोदभावना निरन्तर करनी चाहिए, कि ऐसे साधुपुरुषोंका कब समागम हो, कि जिनकी सेवामें मैं रत होकर अपनेको धन्य बनाऊं । तथा समागम प्राप्त होनेपर इस गुणसे प्रयुक्त होना चाहिये ।

जो क्लिश्यमान जीव हैं, उनमें कारुण्यभावना होनी चाहिये । जो दुःखित हैं, अनेक प्रकारके क्लेशोंको भोग रहे हैं, उनको देखकर हृदयमें करुणाभाव जागृत होना चाहिये । कारुण्य अनुकम्पा और दीनानुग्रह ये शब्द एक ही अर्थके वाचक है । जो महान् मोहसे ग्रस्त हैं, कुमति कुश्रुत और विभंगरूप अज्ञानसे परिपूर्ण हैं, विषयोंके सेवनकी तीव्र तृष्णारूप अग्निसे जिनका मन अत्यन्त दग्ध हो रहा है, वास्तविक हितकी प्राप्ति और अहितके परिहार करनेसे

१—अनादिकर्मबन्धनवशात्सीदन्तिइति सत्त्वाः । २—सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः । ३—असद्वेद्योदयापादितक्लेशा क्लिश्यमानाः ॥ ४—तीव्रमोहिनो गुणशून्या दुष्टपरिणामाः ॥ ५—परेषादुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री, ऐसा भी लक्षण बताया है । कितने ही भोले अज्ञानी लोक इस मैत्रीभावनाका अर्थ जीवमात्रके साथ खाने पीनेका समान व्यवहार करने लगते हैं, सो मिथ्या है ।

जो विपरीत हैं—अज्ञान अथवा कषायके कारण जिनकी प्रवृत्ति वास्तविक हितके प्राप्त और अहितके परिहार करनेमें विमुख है, और इसी लिये जो नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित हो रहे हैं, ऐसे दीन कृपण अनाथ बाल और अत्यंत मुग्ध वृद्धोंके विषयमें अथवा किसी भी तरहके क्लेशसे जो संक्लिष्ट हैं, उन प्राणिमात्रोंपर दयाभाव रखना चाहिये। अपने मनमें निरन्तर इस प्रकारका विचार करना चाहिये, कि ये प्राणी कब और किस तरहसे दुःखसे उन्मुक्त हों छूट जावें। जो प्रतिक्षण इस प्रकारकी भावना रखता है, वह जीव शक्त्यनुसार हितोपदेशादिके द्वारा उनका अनुग्रह भी करता है।

जो अविनेय हैं, उनके विषयमें माध्यस्थ्यभावना रखनी चाहिये। माध्यस्थ्य औदासीन्य और उपेक्षा ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं—एक ही अर्थको सूचित करते हैं। जो मृत्पिण्डके समान अथवा काष्ठ भींति आदिके समान जड़—अज्ञानी हैं, जो वस्तुस्वरूपके ग्रहण करने—समझनेमें और धारण करनेमें तथा विवेक शक्तिके द्वारा हिताहितका विवेचन करनेमें अथवा विशिष्ट बुद्धि प्रतिभा और ऊहापोह—तर्कशक्तिसे काम लेनेमें असमर्थ हैं, महान् मोहसे आक्रान्त हैं—दृढ़ विपरीत श्रद्धानी हैं, जिन्होंने द्वेषादिके वश होकर वस्तुस्वरूपको अन्यथा ग्रहण कर रक्खा है, अथवा जिनको दुष्ट भावोंका ग्रहण कराया गया है, वे सब अविनेय समझने चाहिये। ऐसे जीवोंके विषयमें माध्यस्थ्यभावना होनी चाहिये। उनसे न राग करना चाहिये और न द्वेष। क्योंकि यदि ऐसे व्यक्तियोंको हितोपदेश भी दिया जाय, तो भी वक्ताका वह श्रम सफल नहीं हो सकता।

इस प्रकार सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनेय प्राणियोंमें क्रमसे मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्यभावना रखनेसे उपर्युक्त अहिंसादिक व्रत स्थिर रहते हैं, और रागद्वेष कम होकर वीतरागता तथा हितोपदेशकताकी मात्रा बढ़ती है।

भाष्यम्—किं चान्यत्।

अर्थ—ऊपर अहिंसादिक व्रतोंको स्थिर रखनेके लिये जो भावनाएं बताई हैं, उनके सिवाय और भी भावनाएं हैं, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जगत्कायस्वभावौ च भावयेत् संवेगवैराग्यार्थम्। तत्र जगत्स्वभावो द्रव्याणामनाद्यादिमत्परिणामयुक्ताः प्रादुर्भावतिरोभावस्थित्यन्यतानुग्रहविनाशाः। कायस्वभावोऽनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारताऽशुचित्वमिति। एवं ह्यस्य भावयतः संवेगो वैराग्यं च भवति। तत्र संवेगो नाम संसारभीरुत्वमारम्भपरिग्रहेषु दोषदर्शनादरतिर्धर्मे बहुमानो धार्मिकेषु च धर्मश्रवणे धार्मिकदर्शने च मनःप्रसाद उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तौ च श्रद्धेति। वैराग्यं नाम शरीरभोगसंसारनिर्वेदोपशान्तस्य बाह्याभ्यन्तरेषूपाधिष्वनभिष्वङ्ग इति॥

अर्थ—संवेग और वैराग्यको सिद्ध करनेके लिये जगत्—लोक और शरीरके स्वरूपका चिन्तवन करना चाहिये। क्योंकि इनके स्वभावकी पुनः पुनः भावना करनेसे व्रतोंको स्थिर रखनेवाले संवेग और वैराग्य गुण प्रकट हुआ करते है, अतएव इन दोनोंके स्वभावकी भी भावना करनेकी आवश्यकता है। सम्पूर्ण द्रव्योंके समूहको जगत् या लोक कहते हैं। द्रव्योंके प्रादुर्भाव तिरोभाव स्थिति—उत्पाद व्यय ध्रौव्य, और भेद करना या भिन्न होना, अथवा भिन्न रहना, अनुग्रह करना या अनुग्रहीत बनना, दूसरेका विनाश करना अथवा स्वयं विनष्ट होना, आदि स्वभाव है। किन्तु वे कथंचित् अनादि और कथंचित् आदिमान् परिणामसे युक्त है। यही जगत्का स्वभाव है। इसका पुनः पुनः विचार करना चाहिये। अनित्यता—सदा एकसा न रहना अथवा नश्वरता, दुःखोंका हेतु—कारण बनना, निःसारता और अशुचित्व ये शरीरके स्वभाव हैं। क्योंकि कितना भी प्रयत्न किया जाय, शरीर स्थिर रहनेवाला नहीं है, तथा संसारी प्राणियोंको जो नाना प्रकारके दुःख भोगने पड़ते है, वे इसीके निमित्तसे प्राप्त होते और भोगनेमें आते हैं, शरीरके समस्त अङ्ग और उपाङ्गोंको तथा धातु उपधातुओंको यदि पृथक् पृथक् करके देखा जाय, तो इसमें सारभूत पदार्थ कुछ भी दृष्टिगत नहीं हो सकता। शरीरका प्रत्येक अंश अशुचि—अपवित्र है। इस प्रकार जगत् और शरीरके स्वभावकी भावना करनेसे संवेग और वैराग्य सिद्ध हुआ करते हैं।

संसारसे सदा भयभीत रहना, आरम्भ और परिग्रहके दोषोंको देखकर उनके विषयमें अरुचि रहना—उनके ग्रहण सेवनकी प्रीति न होना, धर्मके विषयमें अत्यंत आदर भावका होना, धार्मिक पुरुषोंके विषयमें तथा धर्मके स्वरूपका श्रवण करनेमें एवं धर्मात्माओंका दर्शन करनेपर चित्तमें हर्ष—प्रसन्नता होना, और उत्तरोत्तर गुणों—रत्नत्रयकी प्रतिपत्तिमें—प्राप्तिमे अथवा धर्मात्माओंके विशिष्ट गुण मालूम होनेपर उनके विषयमें श्रद्धा बुद्धिका होना संवेग कहा जाता है। तथा शरीर भोग और संसारसे ग्लानि होजानेके कारण जो उपशम भावको प्राप्त हो चुका है, ऐसे पुरुषका बाह्य और अभ्यन्तर उपधि—परिग्रहोंके विषयमें अभिष्वङ्ग—आसक्तिका न होना इसको वैराग्य कहते है।

भावार्थ—जगत्का स्वरूप मालूम हो जानेपर और उसका पुनः पुनः विचार करनेसे संसारसे भय होता है, क्योंकि वह जन्ममरणादिरूप नाना दुःखोंसे आकीर्ण है। एवं शरीरके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करनेसे वैराग्य होता है। क्योंकि जिन भोग उपभोग और उनके साधनोंके विषयमें जीवको राग भाव हुआ करता है, वे शरीराश्रित हैं, और शरीर अनित्य दुःखहेतु निःसार तथा अशुचि है। अतएव शरीरमेंसे आसक्ति हट जानेपर समस्त भोगोपभोगमेंसे ही राग भाव हट जाता है। इसलिये जगत्-स्वभावकी भावना संवेगकी और काय—स्वभावकी भावना वैराग्यकी जननी है। इन दोनो गुणोंके प्रकट होनेसे भी अहिंसादिक व्रत स्थिर रहा करते हैं।

भाष्यम्-अत्राह-उक्तं भवता हिंसादिभ्योविरतिर्व्रतमिति,तत्र का हिंसा नामेति।अत्रोच्यते-

अर्थ—प्रश्न-आपने ऊपर कहा था, कि हिंसादिक पाँच पापोंसे जीवकी जो निवृत्ति होती है, उसको व्रत कहते हैं। परन्तु जिनसे निवृत्ति होनी चाहिये, उन पापोंका स्वरूप जब तक मालूम न हो जाय, तबतक उनसे जीवकी निवृत्ति वास्तवमें कैसे हो सकती है। किन्तु उक्त हिंसा आदि पापोंका लक्षण अभीतक आपने बताया नहीं है। अतएव कहिये कि हिंसा किसको कहते है? इस प्रश्नके उत्तरमें हिंसा आदि पाँचों पापोंका क्रमसे लक्षण बतानेके अभिप्रायसे सबसे पहले हिंसाका लक्षण बतानेवाला सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

भाष्यम्—प्रमत्तो यः कायवाङ्मनोयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा। हिंसा मारणं प्राणातिपातः प्राणवधः देहान्तरसंक्रामणं प्राणव्यपरोपणमित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—जो कोई भी जीव प्रमाद[1]से युक्त होकर काययोग वचनयोग या मनोयोगके द्वारा प्राणों[2]का व्यपरोपण करता है, उसको हिंसा कहते हैं। हिंसा करना, मारना, प्राणोंका अतिपात–त्याग या वियोग करना, प्राणोंका वध करना, देहान्तरको संक्रम करा देना—भवान्तर–गत्यन्तरको पहुँचा देना, और प्राणोंका व्यपरोपण करना, इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है।

भावार्थ—यदि कोई जीव प्रमादी होकर ऐसा कार्य करता है–अपने या परके प्राणोंका व्यपरोपण करनेमें प्रवृत्त होता है, तो वह हिंसक–हिंसाके दोषका भागी समझा जाता है। प्रमाद छोड़कर प्रवृत्ति करनेवालेके शरीरादिके निमित्तसे यदि किसी जीवका वध हो जाय, तो वह उस दोषका भागी, नहीं समझा जाता। क्योंकि इस लक्षणमें प्रमादका योग मुख्य रूपसे बताया है।

भाष्यम्—अत्राह—अथानृतं किमिति। अत्रोच्यते।—

अर्थ—प्रश्न–आपने हिंसाका लक्षण तो बताया। परन्तु उसके अनन्तर जिसका पाठ किया गया है, उस अनृत–असत्यका क्या लक्षण है? उत्तर–

सूत्र—असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

भाष्यम्—असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च। तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम सद्भूतनिह्नवोऽभूतोद्भावनं च। तद्यथा—नास्त्यात्मा, नास्ति परलोक इत्यादि भूतनिह्नवः। श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा अङ्गुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा आदित्यवर्णो निःक्रिय इत्येवमाद्यमभूतोद्भावनम्। अर्थान्तरम् यो गां ब्रवीत्यश्वमश्वं च गौरिति। गर्हेति हिंसापारुष्यपैशुन्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेव भवतीति ॥

१—प्रमाद नाम असावधानताका है–इसके मूलभेद १५ हैं।–५ इन्द्रिय, ४ विकथा, ४ कषाय, १ निद्रा १ प्रणय। उत्तरभेद ८० हैं। विशेष स्वरूप जाननेके लिये देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३४–४४। २–इसका लक्षण आदि पहले बता चुके हैं।

अर्थ—इस सूत्रमें असत् शब्दके तीन अर्थ हैं—सद्भावका प्रतिषेध और अर्थान्तर तथा गर्हा—निन्दा । वस्तुके स्वरूपका अपलाप करनेको सद्भावका प्रतिषेध कहते हैं । यह दो प्रकारसे हुआ करता है—सद्भूत पदार्थका निषेध करके तथा असद्भूत पदार्थका निरूपण करके । जैसे कि–" नास्ति आत्मा "–आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, अथवा "नास्ति परलोकः"– परलोक–मरण करके जीवका भव धारण करना वास्तविक नहीं है, इत्यादि भूतनिह्नव है । क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता है । आत्मा और परलोक–जीवका भवान्तर धारण वास्तविक सिद्ध पदार्थ हैं–युक्तियुक्त और अनुभवगम्य हैं । इनका निषेध करना सद्भूतका अपलाप नामका मिथ्या वचन है । आत्माको श्यामाकतण्डुल–समाके चावलकी बरा– बर छोटे प्रमाणका बताना, अथवा अङ्गुष्ठके पर्वकी बराबर बताना, अथवा कहना, कि वह आदित्य- वर्ण है, निष्क्रिय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामके असत्य है । क्योंकि इस तरहके वचनोंके द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है, भिन्न अर्थको सूचित करना । जो पदार्थ है, उसको दूसरा ही पदार्थ बताना—वास्तविक न कहना अर्थान्तर है । जैसे कि कोई गौको कहे कि यह घोड़ा है, अथवा घोड़ेको कहे कि यह गौ है । तो इस तरहके वचनको अर्थान्तर नामका असत्य कहते हैं ।

गर्हा नाम निन्दाका है । अतएव जितने भी निन्द्य वचन है, वे सब गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिये । जैसे कि " इसको मार डालो " " मर जा " " इसे कसाईको दे दो " इत्यादि हिंसाविधायक वचन बोलना, तथा मर्मभेदी अपशब्द बोलना, गाली देना, कठोर वचन कहना, आदि परुष–रूक्ष शब्दोंका उच्चारण करना, एवं पैशून्य–किसीकी चुगली करना आदि गर्हित वचन है । जो गर्हित वचन हैं, वे कदाचित् सत्य भी हों, तो भी उनको असत्य ही मानना चाहिये । क्योंकि वे निन्द्य हैं ।

भावार्थ—पहले हिंसाका लक्षण बताते हुए सूत्रमें " प्रमत्तयोगात् " शब्दका पाठ किया है । उसकी अनुवृत्ति असत्यादिका लक्षण बतानेवाले सूत्रोंमें भी जाती है । अतएव प्रमा- दयुक्त जीवके जो वचन हैं, वे सभी असत्य समझने चाहिये । प्रमादपूर्वक कहे गये सत्य वच- न भी असत्य[1] है और प्रमादको छोड़कर कहे गये असत्य वचनभी सत्य हैं[2]।

सत् शब्दके दो अर्थ हैं–विद्यमान और प्रशंसा । अतएव असत् शब्दसे अविद्यमा- नता और अप्रशस्तता दोनों ही अर्थ लेने चाहिये । सद्भूतनिह्नव अभूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य है, और जो गर्हित वचन हैं, वे अप्रशस्त होनेसे असत्य हैं । तथा प्रमादका सम्बन्ध दोनों ही स्थानोंपर पाया जाता है ।

१–जैसा कि ऊपर उदाहरण दिया गया है । २–जैसे किसी बीमार बालकको बतासेमें दवा रखकर देते हैं, और कहते हैं, कि यह बतासा है, इसमें दवा नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह-अथ स्तेयं किमिति। अत्रोच्यते।

अर्थ—क्रमानुसार चोरीका लक्षण बताना चाहिये, अतएव प्रश्न उपस्थित होता है, कि स्तेय किसको कहते हैं? इसके उत्तरमें सूत्र कहते है।—

सूत्र—अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिगृहीतस्य तृणादेर्द्रव्यजातस्यादानं स्तेयम् ॥

अर्थ—स्तेय बुद्धिसे—चोरी करनेके अभिप्रायसे जिनका वह द्रव्य है, उनके विना दिये ही—उन की विना मंजूरीके तृण आदि कुछ भी वस्तु क्यों न हो, उसका परिग्रहण करलेना—उसको अपना लेना, अथवा ले लेना इसको चोरी कहते है।

भावार्थ—इस सूत्रमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है। अतएव प्रमादपूर्वक यदि किसीकी अदत्त वस्तुको ग्रहण करे, तो वह चोरी है। अन्यथा राजमार्गपर चलनेसे अथवा नदी झरना आदिका जल और मिट्टी भस्म आदिके ग्रहण करलेनेपर महान् मुनियोंको भी चोरीके दोषका प्रसङ्ग आवेगा।

भाष्यम्—अत्राह—अथाब्रह्म किमिति? अत्रोच्यते।—

अर्थ—प्रश्न—स्तेयके अनन्तर अब्रह्म—कुशीलका ग्रहण किया है। अतएव क्रमानुसार स्तेयके बाद उसका भी लक्षण बताना चाहिये, कि अब्रह्म कहते किसको है? इसका उत्तर सूत्र द्वारा देते हैः—

सूत्र—मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

भाष्यम्—स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं तदब्रह्म ॥

अर्थ—स्त्री और पुरुष दोनोंके मिथुन-भाव अथवा मिथुन-कर्मको मैथुन कहते हैं, उसीका नाम अब्रह्म है।

भावार्थ—मिथुन नाम युगलका है। प्रकृतमें स्त्री पुरुषका ही युगल लिया गया है, अथवा लेना चाहिये। दोनोंका परस्परमें संयोग या संभोगके लिये जो भाव विशेष होता है, अथवा दोनों मिलकर जो संभोग क्रिया करते हैं, उसको मैथुन कहते है, और मैथुन ही अब्रह्म है। इस सूत्रमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है। अतएव उस अभिप्रायसे जो भी क्रिया की जायगी, फिर चाहे वह परस्परमें दो पुरुष या दो स्त्री मिल कर ही क्यों न करें, अथवा अनङ्गक्रीड़ा आदि ही क्यों न हो, वह सब अब्रह्म ही है, और जो प्रमादको छोड़ कर क्रिया होती है, उसको मैथुन नहीं कहते। जैसे कि पिता भाई आदि लड़की बहिन आदिको गोदीमें लेते है, प्यार करते है, तो भी वह अब्रह्म नहीं कहा जाता। क्योंकि वहाँपर प्रमत्तयोग नहीं है।

भाष्यम्—अत्राह—अथ परिग्रहः क इति? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जिसका अन्तमें पाठ किया है, उस परिग्रहका क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर सूत्र द्वारा देते हैं।—

सूत्र—मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—चेतनावत्स्वचेतनेषु च बाह्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्च्छा परिग्रहः । इच्छा प्रार्थना कामोभिलाषः काङ्क्षा गार्द्ध्यं मूर्छेत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—चेतनायुक्त अथवा चेतनरहित जो बाह्य तथा अभ्यन्तर द्रव्य—पदार्थ हैं, उनके विषयमें जो मूर्छाभाव होता है, उसको परिग्रह कहते हैं । इच्छा प्रार्थना काम अभिलाषा काङ्क्षा गृद्धि और मूर्छा ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक है ।

भावार्थ—यहाँपर प्रमत्तयोग शब्दका सम्बन्ध रहनेके कारण जो रत्नत्रयके साधन हैं, उनके ग्रहण रक्षण आदिमें परिग्रहता नहीं मानी जाती । जो उसके साधन नहीं है, उन वस्तुओंके ग्रहण रक्षण करनेमें मूर्च्छा—परिग्रह समझना चाहिये । वे वस्तु चाहे सचेतन हों, चाहे अचेतन ।

स्त्री पुत्र दासी दास ग्राम गृह क्षेत्र धन धान्यादि बाह्य परिग्रह हैं, और मिथ्यात्व वेद कषाय आदि अन्तरङ्ग परिग्रह है । बाह्य पदार्थ अन्तरङ्ग मूर्छाके कारण हैं, इसलिये उनको भी परिग्रह ही कहा है ।

मूर्छा शब्द लोकमें वेहोशीके लिये प्रसिद्ध है, अतएव उसका विशिष्ट अर्थ बतानेके लिये ही पर्यायवाचक शब्दोंका उल्लेख किया है, जिससे मालूम होता है, कि इच्छा अथवा कामना आदिको मूर्छा कहते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह–गृह्णीमस्तावद् व्रतानि । अथ व्रती क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न–आपने व्रतोंका जो स्वरूप बताया, वह हमारी समझमें आ गया–उसको हम ग्रहण करते है । अब यह कहिये, कि व्रती किसको कहते हैं ? व्रतोंके धारण करने मात्र-से ही व्रती कहा जा सकता है, या और कोई विशेषता है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

भाष्यम्—मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यैस्त्रिभिर्वियुक्तो निःशल्यो व्रती भवति व्रतान्यस्य सन्तीति व्रती । तदेवं निःशल्यो व्रतवान् व्रती भवतीति ॥

अर्थ—मायाशल्य निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य इन तीनोंसे जो रहित है उसको निःशल्य कहते है । जो निःशल्य है, वही व्रती है । व्रती शब्दका अर्थ है, कि जो व्रतोंको धारण करता हो । इस लिये अर्थ यही समझना चाहिये कि जो निःशल्य है, और व्रतोंको भी धारण करनेवाला है, वही व्रती है ।

भावार्थ—शल्य शब्दका अर्थ कण्टक होता है। जो काँटे की तरहसे हृदयमें चुभनेवाला हो, उसको भी शल्य कहते हैं। माया निदान और मिथ्यात्व ये तीनों शल्य हैं। क्योंकि शल्य–काँटेकी तरहसे सदा हृदयमें खटकते रहते हैं। अतएव जबतक इनका त्याग नहीं किया जाय, तबतक व्रतोंके धारण कर लेनेपर भी व्रती नहीं माना जा सकता। जो माया निदान या मिथ्यात्वपूर्वक व्रतोंको धारण करता है, वह वास्तवमें व्रती नहीं है। इसी प्रकार केवल शल्यका परित्याग कर देने मात्रसे भी व्रती तबतक नहीं हो सकता, जबतक कि व्रतोंको धारण न किया जाय। अतएव जो शल्य रहित होकर व्रतोंको पालता है, वही व्रती है, ऐसा समझना चाहिये।

व्रतीके कितने भेद हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

भाष्यम्—स एष व्रती द्विविधो भवति। अगारी अनगारश्च। श्रावकः श्रमणश्चेत्यर्थः॥

अर्थ—ऊपर जिसका लक्षण बताया गया है, उस व्रतीके दो भेद है—एक अगारी[1] दूसरा अनगार[2]। इन्हींको क्रमसे श्रावक और श्रमण भी कहते है। अर्थात् अगारी और श्रावक एक बात है, तथा अनगार और श्रमण एक बात है।

भाष्यम्—अत्राह–कोऽनयोः प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते ॥—

अर्थ—प्रश्न–आपने व्रतीके जो ये दो भेद बताये—अगारी और अनगार इनमें अन्तर–विशेषता किस बातकी है ? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥

भाष्यम्—अणून्यस्य व्रतानीत्यणुव्रतः। तदेवमणुव्रतधरः श्रावकोऽगारव्रती भवति॥

अर्थ—जिसके उपर्युक्त व्रत अणुरूपमें–थोड़े प्रमाणमें हों, उसको अणुव्रत या अणुव्रती कहते है। इस प्रकार जो अणु–लघु प्रमाणवाले व्रतोंको धारण करनेवाला है, उस श्रावकको अगारी व्रती समझना चाहिये।

भावार्थ—उपर्युक्त अहिंसादिक व्रत दो प्रकारसे पाले जाते हैं। एक तो पूर्णरूपसे–एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवमात्रकी हिंसाका मन वचन कायके सम्पूर्ण भंगोंसे परित्याग करना आदि, और दूसरा एक देशरूपसे। अर्थात् प्रयोजनीभूत हिंसा आदिके सिवाय सम्पूर्णका परित्याग करना। जो हिंसा आदिका एकदेश रूपसे–स्थूल हिंसा आदिका त्याग करनेवाला है, उसको श्रावक अथवा अगारी व्रती, अणुव्रती, देशसंयत, देशयति आदि कहते हैं।

भाष्यम्—किं चान्यत्।—

अर्थ—अगारी और अनगारमे एक विशेपता बताई। इसके सिवाय उसमें और भी विशेपता है। उसको बतानेके लिये सत्र कहते है:—

१—अगारं गृहम् तदस्ति यस्यासौ अगारी गृहीत्यर्थः। २—न अगारम् गृहम् यस्य सः–गृहविरतो यतिरित्यर्थः।

सूत्र—दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोगातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ १६ ॥

भाष्यम्—एभिश्च दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः संपन्नोऽगारी व्रती भवति । तत्र दिग्व्रतं नाम तिर्यगूर्ध्वमधो वा दशानां दिशां यथाशक्ति गमनपरिमाणाभिग्रहः । तत्परतश्च सर्वभूतेष्वर्थतोऽनर्थतश्च सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः । देशव्रतं नामापवरकगृहग्रामसीमादिषु यथाशक्ति प्रविचाराय परिमाणाभिग्रहः । तत्परतश्च सर्वभूतेष्वर्थतोऽनर्थतश्च सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥ अनर्थदण्डो नामोपभोगपरिभोगावस्यागारिणो व्रतिनोऽर्थः । तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः । तदर्थो दण्डोऽनर्थदण्डः । तद्विरतिर्व्रतम् ॥ सामायिकं नामाभिगृह्य कालं सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः ॥ पौषधोपवासो नाम पौषधे उपवासः पौषधोपवासः । पौषधः पर्वेत्यनर्थान्तरम् । सोऽष्टमीं चतुर्दशीं पञ्चदशीमन्यतमां वा तिथिमभिगृह्य चतुर्थाद्युपवासिना व्यपगतस्नानालेपनगन्धमाल्यालंकारेण न्यस्तसर्वसावद्ययोगेन कुशसंस्तरफलकादीनामन्यतमं संस्तरमास्तीर्य स्थानं वीरासननिषद्यानां वान्यतममास्थाय धर्मजागरिकापरेणानुष्ठेयो भवति ॥ उपभोगपरिभोगव्रतं नामाशनपानखाद्यस्वाद्यगन्धमाल्यादीनामाच्छदनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादीनां च बहुसावद्यानां वर्जनम् । अल्पसावद्यानामपि परिमाणकरणमिति ॥ अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमोपेतं परयात्मानुग्रहबुद्ध्या संयतेभ्यो दानमिति ॥

अर्थ—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिकव्रत, पौषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगव्रत, और अतिथिसंविभागव्रत, ये सात उत्तरव्रत हैं । उपर्युक्त अगारी-श्रावक इन सात व्रतोंसे भी संपन्न-युक्त हुआ करता है । इनके लक्षण क्रमसे इस प्रकार हैं ।—तिर्यक्—तिरछी—पूर्वादि आठों दिशाओंमें तथा ऊर्ध्व और अधो दिशामें अपनी शक्तिके अनुसार गमनादि करनेका परिणामरूप नियम कर लेना, और उस मर्यादित क्षेत्रप्रमाण—दिङ्मर्यादासे बाहर जीवमात्रके विषयमें सार्थक अथवा निरर्थक-अर्थ-प्रयोजनके अनुसार यद्वा निःप्रयोजन समस्त सावद्य योगोंको छोड़ना यह दिग्व्रत है । अपवरक—कोठा या कमरा आदि एवं गृह ग्रामकी सीमा आदिके विषयमें शक्त्यनुसार गमनागमनके लिये परिणामका नियम करलेना, इसको देशव्रत कहते हैं । दिग्व्रतके समान इसमें भी मर्यादित क्षेत्रके बाहर प्राणिमात्रके विषयमें अर्थतः अथवा उसके विना सम्पूर्ण सावद्ययोगका परिहार हुआ करता है । इस श्रावक व्रतके धारण करनेवालेके जो उपभोग परिभोग होते हैं, उनको अर्थ कहते हैं । और उनके सिवाय जितने विषय हैं, वे सब अनर्थ समझने चाहिये । इस अनर्थके लिये जो दण्ड प्रवृत्ति हो उसको अनर्थदण्ड कहते हैं । तथा अनर्थदण्डसे विरति—उपरति होनेको अनर्थदण्ड व्रत कहते है । कालकी मर्यादा करके उतने समयके लिये समस्त सावद्य योगोंको छोड़ देनेका नाम सामायिक है । निन्द्य दोषयुक्त या पापवर्धक कार्यको अथवा आरम्भ परिग्रहरूप या भोगोपभोगरूप क्रियाओंको अवद्यकर्म कहते हैं, और उस तरहके कार्यके लिये जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति होती है, उसको सावद्ययोग कहते हैं ।

सामायिकके लिये जितने कालका प्रमाण किया हो, उतने कालतक सावद्ययोगका सर्वथा परित्याग करके आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिन्तवन और विधिपर्वक सामायिक पाठका उच्चारण आदि करना चाहिये।

पौषध नाम पर्व-कालका है। पौषद्य और पर्व दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। आहारका परित्याग करके धर्म-सेवन करनेके लिये धर्मायतन या निराकुल स्थानपर निवास करनेको **उपवास** कहते हैं। पौषध-पर्वकालमें जो उपवास किया जाय, उसको **पौषधोपवास** कहते हैं। अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णिमा पर्व-तिथियाँ है। पौषधोपवासकी विधि इस प्रकार है, कि जो चैतुर्थ आदि उपवास करनेवाला हो, उस श्रावकको इन पर्वतिथियोंमें से अन्यतम-किसी भी एक तिथिको अथवा सम्पूर्ण तिथियोंको आहारादिके त्यागका नियम करना चाहिये। स्नान उवटन गन्ध माला अलंकारका त्याग करके और समस्त सावद्ययोगको छोड़कर कुशासन-दर्भासन-चटाई अथवा लकड़ीके पट्टे आदिमेंसे किसी भी एक प्रकारके आसनपर वीरासन पद्मासन स्वास्तिकासन आदि अनेक आसनोंमेंसे रुचि और शक्तिके अनुसार किसी भी आसनसे वैठकर धर्म-सेवन करते हुए-पूजा जप स्वाध्यायमें रत रहकर जागरणके द्वारा-रात्रिको निद्रा न लेकर धर्म-सेवनके द्वारा ही पौषधकालको व्यतीत करना चाहिये।

भोजन पान आदि खाद्य पेय पदार्थोका, स्वाद्य-ताम्बूल-भक्षण आदिका, एवं गन्ध-माला आदि और भी उपभोगरूप मनोहर इष्ट विषयोंका, तथा आच्छादन पहरने योग्य वस्त्र अलंकार-भूषण, शय्या, आसन, मकान, यान-हाथी घोड़ा ऊंट आदिकी सवारी अथवा विमान आदि, और वाहन-वैलगाड़ी आदि सामान ढोनेवाली सवारी, इत्यादि परिभोगरूप पदार्थोका जो कि अति सावद्यरूप है, त्याग करना, और जो अल्प सावद्य हैं, उनका परिमाण कर लेना इसको **उपभोगपरिभोगव्रत** कहते है।

न्यायपूर्वक कमाये हुए अथवा संचित और देने योग्य अन्नपान आदि पदार्थोंका देश कालके अनुसार श्रद्धापूर्वक सत्कारके साथ क्रमसे आत्म-कल्याण करनेकी उत्कृष्ट बुद्धि-भावनासे संयत-साधुओंको वितरण-दान करना इसको **अतिथिसंविभाग** कहते है।

भावार्थ—ऊपर जो अहिंसादिक पॉच व्रत वताये है, उनको मूलव्रत कहते है, और उनके पोषक तथा उनमें निर्मलता आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले इन दिग्व्रत आदिको उत्तरव्रत कहते है। उत्तरव्रत सात हैं, जिनका कि यहाँपर लक्षण वताया गया है।

१—एक दिनकी दो भुक्ति हुवा करती हैं। अतएव पर्व दिनकी दो और पारणक तथा धारणक दिनकी एक एक इस तरह चार भुक्तिका जिसमें त्याग हो, उसको चतुर्थ कहते हैं। इसी तरह वेला तेला आदिको षष्ट अष्टम आदि कहते हैं। २—पहले तीनको गुणव्रत और अंतके चारको शिक्षाव्रत कहते हैं।

दिग्व्रतमें यावज्जीवनके लिये दशों दिशाओंका परिमाण कर लिया जाता है, कि मैं अमुक स्थानसे परे अपने भोगोपभोग अथवा आरम्भ आजीविका आदिके लिये नहीं जाऊँगा । अतएव परिमित क्षेत्रसे बाहरका उसको किसी भी प्रकारका पाप नहीं लगता । दिग्व्रतके भीतर प्रतिदिन अथवा कुछ दिनके लिये जो इस प्रकारका परिमाण कर लिया जाता है, कि आज अथवा इतने समय तक अथवा इतने दिन तक इतने क्षेत्रसे बाहर नहीं जाऊँगा, इसको देशावकाशिक कहते हैं। अनर्थदण्डव्रतका अर्थ ऐसा भी है, कि जिससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं, ऐसे पापबन्धके निमित्तभूत कार्यको करना अनर्थदण्ड है, और उसके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते है । समय नाम एकत्वका है । विधिपूर्वक एक आत्मस्वरूपका चिन्तवन करना, या एकत्वकी सिद्धिके लिये जो विधिविशेष किया जाता है, वह सब सामायिक है । पौषधोपवासके दिन स्नानादि सभी संस्कारोंका त्याग किया जाता है, इसका प्रयोजन यही है, कि ऐसा करनेसे निर्विकारता जागृत होती है, और धर्म-सेवनमें चित्त अप्रमत रहता है । जो एक बार भोगनेमें आवें, भोगनेमें आवें ऐसे भोजन पान इत्र माला आदि पदार्थोंको उपभोग और जो वार बार भोगनेमें ऐसे स्त्री गृह शय्या वस्त्र वाहन—सवारी आदि पदार्थोंको परिभोग कहते हैं । इनमेंसे जो अति सावद्य हैं, उनका सर्वथा त्याग और जो अल्प सावद्य हैं, उनका परिमाण भोगोपभोगव्रतमें किया जाता है । इसको भोगोपभोगपरिमाणव्रत भी कहते हैं । जिसकी कोई तिथि निश्चित नहीं है, अथवा जिनके किसी तिथिका प्रमाण नहीं है, अथवा जिन्होंने स्वयं गृह आरम्भ आदिका परित्याग कर दिया है, और इसी लिये जो स्वयं आहारके बनाने आदिमें प्रवृत्त न होकर गृहस्थोंके घरोंमें उसके लिये गमन करते हैं, उनको अतिथि कहते हैं। उनके आत्म—कल्याण—रत्नत्रय—धर्मको सिद्ध करनेके लिये और अपना भी कल्याण करनेके लिये न्यायोपार्जित और उनके योग्य वस्तुका दान करना, इसको अतिथिसंविभाग कहते हैं । इस व्रतके धारण करनेवालेको प्रतिदिन दानमें प्रवृत्त होना चाहिये ।

इन सातों ही व्रतोंको सप्तशील भी कहते हैं । इनके निमित्तसे मूलव्रत स्थिर होते, विशुद्ध होते और सगुण बनते हैं । अतएव अगारी व्रती—श्रावकोंको इनका भी पालन करना चाहिये ।

भाष्यम्—किं चान्यत् ।—

अर्थ—अगारी व्रतीको जिनका पालन करना चाहिये, ऐसे मूलव्रत और उत्तरव्रतोंका स्वरूप बताया । किन्तु इनके सिवाय भी जिसका उसे अवश्य आराधन करना चाहिये, उसका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।:—

सूत्र—मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥ १७ ॥

भाष्यम्—कालसंहननदौर्बल्योपसर्गदोषाद्धर्मावश्यकपरिहाणिं वाभितो ज्ञात्वावमौदर्यचतुर्थषष्ठाष्टमभक्तादिभिरात्मानं संलिख्य संयमं प्रतिपद्योत्तमव्रतसम्पन्नश्चतुर्विधाहारं प्रत्याख्याय यावज्जीवं भावनानुप्रेक्षापरः स्मृतिसमाधिबहुलो मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता उत्तमार्थस्याराधको भवतीति ॥

अर्थ—काल संहनन दुर्बलता और उपसर्ग आदिके दोषसे जब अच्छी तरह यह बात मालूम हो जाय, कि अब धर्मके पालन करनेमें तथा आवश्यक कार्योंके करनेमें हर तरहसे क्षति उपस्थित होनेवाली है, तो अवमौदर्य चतुर्थभक्त षष्ठभक्त या अष्टमभक्त आदि उपवासोंके द्वारा आत्माका संलेखन—संशोधन करना चाहिये, और संयमको धारण करके उत्तम व्रत—संलेखनाके द्वारा अपनेको पूर्ण करना चाहिये। इसके लिये यावज्जीवन चतुर्विध आहार खाद्य स्वाद्य लेह्य पेयका परित्याग करके अनित्यादि बारह भावनाओंका निरन्तर चिन्तवन करनेमें रत होना चाहिये। तथा देव गुरु शास्त्रादिके समीचीन पवित्र गुणोंका स्मरण करने और प्रायः समाधि-धारण करनेमें परायणता रखकर मारणान्तिकी संलेखनाका सेवन करना चाहिये। जो अगारी व्रती इसका सेवन करता है, वह उत्तमार्थका आराधक समझा जाता है।

भावार्थ—इसको सल्लेखनाव्रत या संलेखनामरण कहते है। किंतु इसमें समाधि-की प्रधानता है, अतएव इसका नाम समाधिमरण भी है। यह व्रत समस्त व्रतोंका फल-स्वरूप—सबको सफल बनानेवाला है। अतएव इसका अवश्य आराधन करना चाहिये। सूत्रकारने इसके लिये जोषिता शब्द दिया है। इसका आशय यह है, कि इस व्रतका प्रीति-पूर्वक सेवन करना चाहिये[1]। जिस समय यह मालूम हो जाय, कि अब हमारा मरण अवश्य-म्भावी है, अथवा दुष्काल या अन्य किसी प्रकारके काल—दोषसे यद्वा शारीरिक शक्ति—वीर्य और बल पराक्रमके कम हो जानेसे या किसी प्रकारके उपसर्ग आदिके होनेपर धर्माराधन और आवश्यक कार्यके साधनमें क्षति पड़ती नजर पड़े, तो आत्माका संलेखन—संशोधन करके विधिपूर्वक समाधिके साथ अथवा अरिहंतादि पंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करते हुए, प्राणोंका परित्याग कर देना चाहिये। इसीको **समाधिमरण** कहते है।

इस व्रतके करनेवालेको यावज्जीवनके लिये क्रमसे चतुर्विध आहारका त्याग करना चाहिये। पहले अवमौदर्य और उसके बाद क्रमसे शक्तिके अनुसार चतुर्थभक्त आदि उपवास धारण करना चाहिये, जिससे कि आत्माका कषायादि दोषोंके दूर हो जानेसे संशोधन हो जाय। पुनः संयमको धारण करके भावनाओंको भाते हुए परमेष्ठिस्मृति और समाधिमें प्रवृत्त होना चाहिये। इसकी विशेष विधि आगम—ग्रन्थोंसे जाननी चाहिये।

इसके अन्तमें नियमसे मरण होता है, अतएव इसको मारणान्तिकी कहते हैं, और इसके करनेमें काय तथा कषायका परित्याग किया जाता है, इसलिये इसका नाम संलेखना है।

---

१ जुष् धातुका अर्थ प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। २—प्रमाणसे कम भोजन पान करना।

दिग्व्रत आदिके साथ इसको भी पहले ही सूत्रमें यदि गिना देते, तो भी काम चल सकता था, परन्तु वैसा न करके पृथक् सूत्र करनेका आशय यह है, कि इसकी विशेषता प्रकट हो, और यह भी मालूम होजाय, कि समाधिमरण केवल अगारी—श्रावक ही नहीं करते, किन्तु अनगार भी किया करते हैं। तथा आगार भी सभी करते हों यह बात भी नहीं है। किसीके क्वचित् कदाचित् होता है, और किसीके कदाचित् नहीं भी होता।

भाष्यम्—एतानि दिग्व्रतादीनि शीलानि भवन्ति। निःशल्यो व्रतीति वचनादुक्तं भवति-व्रती नियतं सम्यग्दृष्टिरिति ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें दिग्व्रत आदि जो बताये हैं, उनको शील कहते हैं। उन सातोंकी शील—सप्तशील ऐसी संज्ञा है।

ऊपर यह बात भी बता चुके हैं, कि जो निःशल्य होता है, वही व्रती माना जाता है। इस कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि जो व्रती होता है, वह नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होता है।

उपर्युक्त व्रतोंका श्रावकको अतीचार रहित पालन करना चाहिये। इसके लिये यह जाननेकी आवश्यकता है, कि सम्यग्दर्शनसे लेकर संलेखना तकके कौन कौनसे अतीचार हैं। अतएव भाष्यकार कहते हैं, कि—

भाष्यम्—तत्र।—

अर्थ—उक्त सम्यग्दर्शन तथा व्रतोंमेंसे—

सूत्र—शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा संस्तवः इत्येते पञ्च सम्यग्दृष्टेरतीचारा भवन्ति। अतिचारो व्यतिक्रमः स्खलनमित्यनर्थान्तरम्। अधिगतजीवाजीवादितत्त्वस्यापि भगवतः शासनं भावतोऽभिप्रपन्नस्यासंहार्यमतेः सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रोक्तेषु अत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्येष्वर्थेषु यः संदेहो भवति एवं स्यादेवं न स्यादिति सा शंका। ऐहलौकिकपारलौकिकेषु विषयेष्वाशंसा काङ्क्षा। सोऽतिचारः सम्यग्दृष्टेः। कुतः? काङ्क्षितो ह्यविचारितगुणदोषः समयमतिक्रामति ॥ विचिकित्सा नाम इदमप्यस्तीदमपीति मतिविप्लुतिः। अन्यदृष्टिरित्यर्हच्छासनव्यतिरिक्तां दृष्टिमाह। सा द्विविधा। अभिगृहीता अनभिगृहीता च। तद्युक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैनयिकानां च प्रशंसासंस्तवौ सम्यग्दृष्टेरतिचार इति। अत्राह-प्रशंसासंस्तवयोः कः प्रतिविशेष इति। अत्रोच्यते-ज्ञानदर्शनगुणप्रकर्षोद्भावनं भावतः प्रशंसा। संस्तवस्तु सोपधं निरुपधं भूताभूतगुणवचनमिति ॥

अर्थ—शंका, काङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पाँच सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। अतीचार व्यतिक्रम और स्खलन ये शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।

जो भगवान अरहंतदेवके शासनको भाव—अन्तरङ्गसे स्वीकार करनेवाला है, और उनके उपदिष्ट जीव अजीव आदि तत्त्वोंके स्वरूपका जिसको ज्ञान है, किन्तु जिसकी मति अन्य दर्श-

नोंमें बताये हुए पदार्थोंकी तरफसे सर्वथा हटकर जिनोक्त पदार्थोंकी तरफ ही दृढरूपसे स्थिर नहीं हुई है, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुषको भी अर्हत् भगवानके उपदिष्ट अत्यन्त सूक्ष्म और ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें कि जिनको केवल आगमके द्वारा ही जाना जा सकता है, इस तरहका संदेह हो जाया करता है, कि ऐसा हो सकता है या नहीं, जो जिनभगवानने कहा है, वही ठीक है, अथवा अमुक प्रकारसे जो अमुक दर्शनकारने कहा है सो ठीक है, इत्यादि। इस तरहके संदिग्ध विचारको ही शंका कहते हैं। यह सम्यग्दर्शनका पहला अतीचार है।

इस लोकसम्बन्धी—स्त्री पुत्र धन धान्यादि और परलोकसम्बन्धी स्वर्गादि विभूति स्वरूप विषयोंकी अभिलाषा करनेको काङ्क्षा कहते हैं। यह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार है। क्योंकि काङ्क्षा रखनेवाला मनुष्य गुण दोषके विचारसे रहित हो जाया करता है, और विचारशून्य जीव समय—आगम—शासनका अतिक्रम—उल्लंघन कर दिया करता है।

यह भी ठीक है, और यह भी ठीक है, अर्थात् जिनभगवान्ने जो पदार्थोंका स्वरूप कहा है, वह भी यथार्थ है, और अन्य दर्शनकारोंने जो कहा है, वह भी यथार्थ है, इस तरहका जो मति—बुद्धिमें विप्लव—विभ्रम हो जाया करता है, उसको विचिकित्सा कहते हैं[1]। इस तरहके भ्रान्त विचारोंका होना भी सम्यग्दर्शनका अतीचार है।

अर्हद् भगवानके शासनसे भिन्न जितने भी दर्शन हैं, वे सब अन्यदृष्टि शब्दसे समझने चाहिये। अन्यदृष्टि दो प्रकारकी हुआ करती है।—अभिगृहीत और अनभिगृहीत। इसके धारक जीव सामान्यतया चार प्रकारके हैं।—क्रियावादी अक्रियावादी अज्ञानी और वैनयिक। इनकी प्रशंसा करना अन्यदृष्टिप्रशंसा नामका अतीचार है, और इनका संस्तव करना अन्यदृष्टिसंस्तव नामका अतीचार है।

प्रश्न—प्रशंसा और संस्तव इनमें क्या विशेषता है? **उत्तर**—अन्यदृष्टियोंके ज्ञान दर्शन गुणमें भावसे—केवल मनसे प्रकर्षताका उद्भावन करना इसको प्रशंसा कहते हैं। तथा सोपध—अभिगृहीत और निरुपध—अनभिगृहीत सद्भूत अथवा असद्भूत गुणोंकी वचनके द्वारा प्रकर्षताका उद्भावन करना, इसको संस्तव कहते है।

भावार्थ—अंशतः भङ्ग हो जानेको अतीचार कहते है[2]। सम्यग्दर्शन जो तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप है, उसका यदि प्रतिपक्षी कर्मका अन्तरङ्गमें उदय होनेपर अंशतः भंग हो जाय, तो उसको अतीचार समझना चाहिये। चार अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहकी एक, मिथ्यात्व अथवा मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व इस तरह तीन मिलाकर कुल पाँच अथवा सात

१—दिगम्बर-सम्प्रदायमें विचिकित्साका अर्थ ग्लानि किया है। साधुओंके बाह्य शरीरको धूलिधूसरित अथवा रोगादिसे ग्रस्त देखकर उनके आत्मिक गुणोंमें ग्लानि करना, इसको विचिकित्सा नामका अतीचार कहते हैं।

२—अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः। देशस्य भंगोह्यतिचार उक्तः भङ्गोह्यनाचार इह व्रतानाम्॥

प्रकृति सम्यक्त्वकी घातक हैं। इनका उपशम क्षय क्षयोपशम होनेपर क्रमसे औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ करता है। औपशमिक और क्षायिकसम्यग्दर्शनके होनेपर प्रतिपक्षी कर्मका अंशमात्र भी उदय नहीं हुआ करता। किन्तु क्षायोपशमिकमें सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहा करता है। अतएव उसके शंका आदिक दोष—अतीचार भी लगते हैं—सम्यग्दर्शनका अंशतः भंग हो जाया करता है। यह सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें तक रहा करता है। शंका आदि अतीचारोंका भी अर्थ अतत्त्व श्रद्धानके सम्बन्धको लेकर ही करना चाहिये।

पदार्थोंमें शंका दो कारणोंसे हुआ करती है—एक तो ज्ञानावरणकर्मके उदयसे दूसरी दर्शनमोहके उदयसे। जो दर्शनमोहके उदयसे शंका होती है, वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है। इसी प्रकार काङ्क्षा आदिके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये।

इस तरह सम्यग्दर्शनके अतीचारोंको बताकर क्रमसे पाँच अहिंसादिक व्रत और सात शीलके भी अतीचारोंकी संख्याको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—व्रतेषु पञ्चसु शीलेषु च सप्तसु पञ्च पञ्चातीचारा भवन्ति यथाक्रममिति ऊर्ध्वं यद्वक्ष्यामः।—तद्यथा:—

अर्थः—अहिंसा आदि पाँच व्रत और दिग्व्रत आदि सप्तशील इनके विषयमें भी इसी प्रकार क्रमसे पाँच पाँच अतीचार हुआ करते हैं। इन अतीचारोंका हम आगे चलकर क्रमसे वर्णन करेंगे। यथा—

प्रथम अहिंसा व्रतके अतीचारोंको बताने लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—बन्धवधविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२०॥

भाष्यम्—त्रसस्थावराणां जीवानां बन्धवधौ त्वक्छेदः काष्ठादीनां पुरुषहस्त्यश्वगोमहिषादीनां चातिभारारोपणं तेषामेव चान्नपाननिरोधः अहिंसाव्रतस्यातिचारा भवन्ति॥

अर्थ—त्रस और स्थावर जीवोंका बन्ध तथा वध करना, त्वचाका छेदन—वृक्षकी छाल आदिका उपाटना, पुरुष हाथी घोड़ा बैल भैंसा आदिके ऊपर प्रमाणसे ज्याद:—जितना वजन उनमें लेजानेकी शक्ति है, उससे अधिक लादना, और उन्हींके—पुरुष पशु आदिके अन्नपानका निरोध कर देना—समयपर उनको खानेको या पीनेको नहीं देना—अथवा कम देना, ये पाँच अहिंसा व्रतके अतीचार है।

भावार्थ—अभिमत स्थानमें जिसके निमित्तसे गमन न कर सके, उसको बंध कहते हैं। जैसे कि गौ भैंस घोड़ा हाथी आदिको बाँधकर रक्खा जाता है, अथवा बकरी वगैरहको बाड़ेमें

रोककर रखा जाता है, यद्वा तोता मैना आदि पक्षियोंको पिंजड़ेमें बंद करके रक्खा जाता है। जिससे प्राणीको पीड़ा हो, उसको वध कहते हैं। जैसे कि चाबुकसे या बेंतसे किसीको पीटना। वधका अर्थ यहाँपर प्राणापहार नहीं है। क्योंकि ऐसी अवस्थामें वध अतीचार न होकर अनाचार हो जायगा। शरीरके किसी अंग या उपांगको शरीरसे पृथक् करनेको छेद कहते हैं। जैसे कि वृक्षकी छाल उपाट ली जाती है। इस अतीचारसे अभिप्राय केवल वृक्षकी छाल उपाटनेका ही नहीं समझना, बहुतसे लोग कुत्तेकी पूँछ कान या घोड़ेकी पूँछ कटवा देते हैं, ये भी छेद नामका ही अतीचार है। अतिभारारोपण शब्दका अर्थ है, न्याय्य–भारसे अधिक बोझा लादना। जैसे कि इक्का आदिमें अधिक सवारियोंका बैठना। समयपर खानेको अन्न, पीनेको पानी न देना अन्नपाननिरोध नामका अतीचार है। इन पाँचोंको अहिंसाणुव्रतका अतीचार इसलिये कहा है, कि इनके करते हुए अहिंसाणुव्रतका सर्वथा भंग नहीं होता। क्रोधादि कषायके वश होकर इन क्रियाओंको करते हुए भी व्रतकी रक्षाका भी ध्यान रखता है। तथा अन्तरङ्ग और बाह्यमें क्रिया करनेमें भी इतनी सावधानी रखता है, कि कहीं मेरा व्रत भंग न हो जाय। यदि व्रतरक्षाकी अपेक्षाको छोड़कर और प्राणापहारके लिये ही इन क्रियाओंको करे, तो इन्हीं क्रियाओंको भंग अथवा अनाचार भी कहा जा सकता है।

सत्याणुव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—एते पञ्च मिथ्योपदेशादयः सत्यवचनस्यातिचारा भवन्ति। तत्र मिथ्योपदेशो नाम प्रमत्तवचनमयथार्थवचनोपदेशो विवादेष्वतिसंधानोपदेश इत्येवमादिः। रहस्याभ्याख्यानं नाम स्त्रीपुंसयोः परस्परेणान्यस्य वा रागसंयुक्तं हास्यक्रीडासङ्गादिभी रहस्येनाभिशंसनम्। कूटलेखक्रिया लोकप्रतीता। न्यासापहारो विस्मरणकृतपरनिक्षेपग्रहणम्। साकारमन्त्रभेदः पैशुन्यं गुह्यमन्त्रभेदश्च॥

अर्थ—इस सूत्रमें गिनाये गये मिथ्योपदेशादि पाँच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं। प्रमादयुक्त वचन बोलना, अयथार्थ वस्तुके निरूपण करनेवाले वचन कहना, विवादके समय अतिसंधान करना इत्यादि, ये सब मिथ्योपदेश हैं। दूसरोंको ऐसा करनेके लिये उपदेश देना भी मिथ्योदेश है। स्त्री पुरुष अथवा अन्य कोई व्यक्ति परस्परमें रहस्य–क्रिया कर रहे हों, तो उसका रागयुक्त होकर हास्य क्रीड़ा सङ्गादिके द्वारा रहस्य क्रियारूपसे प्रकट कर देना, रहस्याभ्याख्यान नामका अतीचार है। कूटलेखक्रिया शब्दका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध है। जैसे कि झूठा जमाखर्च करना, जाली तमस्सुख–टीप वगैरः लिखा लेना, किसीकी झूँठी बुराई करना, छापना, इत्यादि। भूलसे रह जानेवाली दूसरेकी धरोहरको ग्रहण कर लेना, न्यासापहार नामका अती-

चार है, चुगली खाना, गुप्त मन्त्रका विस्फोट—भंडाफोड़ कर देना, आदि साकारमंत्रभेद नामका अतीचार है ।

भावार्थ—अहिंसाणुव्रतके अतीचारोंके विषयमें जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उसी प्रकार इन अतीचारोंके विषयमें भी अंश भंगका अर्थ घटित कर लेना चाहिये । अर्थात् अन्तरङ्गमें दर्शनमोहका उदय होनेपर यदि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायमेंसे किसीका भी उदय होनेपर तत्पूर्वक यदि प्रमत्त वचनादिक होंगे, तभी वे अतीचार कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं । नहीं तो चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर छट्ठे गुणस्थान तक सभी मनुष्योंके हरएक वचन प्रमत्त वचन कहने होंगे, और क्षीणमोहगुणस्थान तकके जीवोंके समस्त वचन अयथार्थ वचन कहने होंगे, क्योंकि जबतक केवलज्ञान नहीं होता, तबतक—बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंके असत्य वचन माना है ।

अतिसंधानका अभिप्राय यह है, कि आगमके अर्थका उल्लंघन करना, और फिर उसके लिये दुराग्रह करना, अथवा असम्बद्ध बोलना या हठ करके प्रकरण विरुद्ध बोलना ।

रहस्याभ्याख्यान और साकारमन्त्रभेद इनमें शारीरिक चेष्टा और मानसिक भावोंकी अपेक्षा भेद है । एकान्तमें किये गये गुह्य कार्यको हास्यादिके वश जाहिर कर देना, रहस्याभ्याख्यान है[1]। आकार—इङ्गित चेष्टा आदिके द्वारा दूसरेके विचारोंको जान करके कि इन्होंने यह सलाह की है, उसको जाहिर कर देना साकारमन्त्रभेद है । जैसे कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके मन्त्रका विस्फोट कर देता है । तथा स्वरूपकी अपेक्षा भी दोनोंमें अन्तर है, और विषयकी अपेक्षा भी भेद है ।

अस्तेय—अचौर्याणुव्रतके अतीचार बताते हैं—

सूत्र—स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—एते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति । तत्र स्तेनेषु हिरण्यादिप्रयोगः । स्तेनैराहृतस्य द्रव्यस्य मुधक्रयेण वा ग्रहणं तदाहृतादानम् । विरुद्धराज्यातिक्रमश्चास्तेयव्रतस्यातिचारः । विरुद्धे हि राज्ये सर्वमेव स्तेययुक्तमादानं भवति । हीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारः कूटतुला कूटमानवञ्चनादियुक्तः क्रयो विक्रयो वृद्धिप्रयोगश्च । प्रतिरूपकव्यवहारो नाम सुवर्णरूप्यादीनां द्रव्याणां प्रतिरूपकक्रिया व्याजीकरणानि चेत्येते पञ्चास्तेयव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—स्तेनप्रयोग आदि जो इस सूत्रमें गिनाये हैं, वे पाँच अस्तेयाणुव्रतके अतीचार हैं । इनका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है ।

---

१ क्योंकि " रहसिभवं रहस्यं तस्याभ्याख्यानम् रहस्याभ्याख्यानं" ऐसी निरुक्ति है ।

चोरोंमें हिरण्यादिकके लेनदेनका व्यवहार करना। यह मालूम होते हुए कि यह चोर है-सदा चोरीका काम करनेवाला है, उसको किस्त देना अथवा ऐसा ही कोई दूसरा व्यवहार करना स्तेनप्रयोग नामका अतीचार है। चोर चोरी करके जो द्रव्य लावे, उसको विनामूल्य अथवा मूल्य देकर ले लेना तदाहृतादान नामका अतीचार है। विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका भी एक अस्तेय व्रतका अतीचार है। राज्यके विरुद्ध होनेपर सभी वस्तुका ग्रहण स्तेययुक्त हो जाता है। अर्थात् जिस विषयमें या जिस कार्यके करनेमें राज्य विरुद्ध है—राज्यकी आज्ञा उस कार्यके करनेकी नहीं है, फिर भी उसका—आज्ञाका उल्लंघन करके उस कार्यको करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। जैसे कि चोरीसे मादक या जहरीली वस्तुका बेचना, अथवा विना आज्ञा प्राप्त किये कोर्टके स्टाम्प आदि बेचना, या सरकारी हासिल—लगान दिये विना माल लाना, लेजाना आदि, यद्वा जिस देशसे जिस चीजके मगानेकी मनाई है, उस देशसे उस चीजको मँगाना, इत्यादि सब विरुद्धराज्यातिक्रम है। अतएव संक्षेपमें इतना कहना ही पर्याप्त है, कि जिस विषयमें राज्य विरुद्ध है, वह सभी कार्य स्तेययुक्त समझना चाहिये। कम ज्यादः तोलना, या नापना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतीचार है। झूठी तराजूसे तोलना, अथवा डंडी मारना या लेनेमें ज्यादः तोल लेना, और देते समय कम तोलकर देना, लेनेके दूसरे—ज्यादः और देनेके दूसरे कम बाँट रखना, इसी तरह पाली आदि माप झूठा—न्यूनाधिक रखना और उनसे देन लेन करना, अथवा धोखा देकर खरीद विक्री करना, अथवा अधिक दिन बताकर या और कोई धोखा देकर व्याज वगैरह बढ़ा लेना, इत्यादि सब हीनाधिकमानोन्मान नामका अतीचार है। प्रतिरूपकव्यवहार नाम उसका है, कि सोना चांदी आदि द्रव्योंमें उसके समान वस्तुको मिला देना, अथवा नकली चीजको धोखा देकर असलीकी तरह बेंचना। जैसे जो चीज सोनेकी नहीं है, उसको कपटप्रयोगके द्वारा ऊपरसे सोनेकी बनाकर बेचना, या सोनेमें घटिया चीज मिला देना, आदि प्रतिरूपकव्यवहार नामका अतीचार है। ये पाँचों ही अस्तेयव्रतके अतीचार है। इनमेंसे किसीके भी करनेपर अचौर्यव्रतके अंशका भंग होता है।

चतुर्थ व्रत—ब्रह्मचर्यके अतीचारोंको गिनाते हैं—

सूत्र—परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः ॥ २३ ॥

भाष्यम्—परविवाहकरणमित्वरपरिगृहितागमनमपरिगृहीतागमनमनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेश इत्येते पञ्च ब्रह्मचर्यव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—परविवाहकरण—दूसरोंके लड़के लड़कियोंका अथवा जिनका हमको कोई अधिकार नहीं है, उनका विवाह करना कराना, आदि ब्रह्मचर्यव्रतका पहला अतीचार है। विवाहिता व्यभिचारिणीसे गमन करना इत्वरपरिगृहीतागमन नामका अतीचार

है । व्यभिचारिणी अविवाहिता-कुमारी अथवा वेश्या आदिसे गमन करना अपरिगृहीतागमन नामका अतीचार है । काम सेवन करनेके जो अङ्ग हैं, उनके सिवाय अन्य अंगोंमें अथवा कृत्रिम अंगोंके द्वारा जो क्रीड़ा करना, या हस्तक्रिया आदि करना, अनङ्गक्रीडा, नामका अतीचार है । तीव्र कामवासनाका होना-अपनी स्त्री आदिमें भी अत्यन्त कामासक्ति रखना और उसके लिये कामवर्धक प्रयोग करना आदि तीव्र कामाभिनिवेश नामका अतीचार है । इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतके पाँच अतीचार हैं ।

परिग्रह परिमाण व्रतके अतीचारोंको बताते हैं:—

सूत्र—क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमः धनधान्यप्रमाणातिक्रमः दासीदासप्रमाणातिक्रमः कुप्यप्रमाणातिक्रम इत्येते पञ्चेच्छापरिमाणव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—क्षेत्र-खेत या जमीन और वास्तु-गृहके प्रमाणका उल्लंघन करना, हिरण्य-सुवर्ण-आदिके प्रमाणका अतिक्रम करना, धन-गौ आदिक पशु तथा धान्य-गेहूं चावल आदि खाद्य-सामग्रीके प्रमाणका उल्लंघन करना, दासी और दास-टहलनी आदि तथा नौकरोंके प्रमाणका अतिक्रम करना, इसी प्रकार कुप्य-वर्तन वस्त्र या अन्य फुटकर वस्तुओंके प्रमाणका उल्लंघन करना, ये क्रमसे पाँच इच्छापरिमाण-परिग्रहप्रमाण-अपरिग्रहव्रतके अतीचार हैं ।

भावार्थ—इन विषयोंका जितना प्रमाण किया था, उसको रागके वश होकर अधिक कर लेना-बढ़ा लेना, अथवा उसी तरहका कोई अन्य प्रयत्न करना अतीचार है । जैसे कि किसीने क्षेत्रका प्रमाण १०० बीघा किया था, पीछे उसका प्रमाण १२५ बीघा कर लेना । अथवा अपनी कम उपजाऊ भूमिको बदलकर अधिक उपजाऊ भूमि ले लेना । यद्वा किसीने ४ खेतका प्रमाण किया । प्रमाण करते समय ४ खेत ८० बीघा थे । पीछे उसने १९० बीघाके ४ खेत बना लिये । इसी तरह गृहके विषयमें समझना चाहिये । यह क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम नामका पहला अतीचार है । इसी तरह शेष चार अतीचारोंके विषयमें भी घटित कर लेना चाहिये । इन पाँचों ही विषयमें व्रतकी भंगाभंग प्रवृत्ति पाई जाती है, अतएव इनको अतीचार कहा है ।

अणुव्रतोंके अतीचारोंको बताकर क्रमानुसार सप्तशीलके अतीचारोंको भी बतानेके लिये उनमें सबसे पहले दिग्व्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि ॥ २५ ॥

भाष्यम्—ऊर्ध्वव्यतिक्रमः, अधोव्यतिक्रमः, तिर्यग्व्यतिक्रमः, क्षेत्रवृद्धिः, स्मृत्यन्तर्धानमित्येते पञ्च दिग्व्रतस्यातिचारा भवन्ति । स्मृत्यन्तर्धानं नाम स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानमिति ॥

अर्थ—ऊर्ध्व व्यतिक्रम—ऊर्ध्व दिशामें जितना प्रमाण किया है, उसको बिना बढ़ाये ही[1] कार्यवश उससे परे भी गमन करना, इसको ऊर्ध्वव्यतिक्रम नामका अतीचार कहते हैं। इसी-तरह अधो दिशामें जितना प्रमाण किया है, उससे परे भी गमन करना अधोव्यतिक्रम नामका अतीचार है। पूर्वादिक आठ दिशाओंमेंसे किसी भी दिशामें नियत सीमासे आगे गमन करना तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतीचार है। पहले जितना प्रमाण किया है, उसको फिर रागवश बढ़ा लेना, क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार है। यह अतीचार दो प्रकारसे हो सकता है, एक तो एक दिशाके नियत प्रमाणको घटाकर दूसरी तरफ बढ़ा लेनेसे, दूसरे किधरके भी प्रमाणको बिना घटाये ही इच्छित दिशाके प्रमाणको बढ़ा लेनेसे। नियत सीमाको भूल जाना—कहाँ तक या कितना प्रमाण किया था, सो प्रमाद अथवा अज्ञानादिके वश याद न रहना, इसको स्मृत्यन्तर्धान[2] नामका अतीचार कहते हैं।

देशव्रतके[3] अतीचारोंको बतानेकेलिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः॥२६॥

भाष्यम्—द्रव्यस्यानयनं प्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इत्येते पञ्च देशव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—नियत सीमासे बाहरकी वस्तुको किसी भी उपायसे—ऐसे उपायसे जोकि आगेके चार अतीचारोंमेंसे किसीमें भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता, मँगा लेना आनयन नामका अतीचार है। प्रेष्य—नौकर अथवा मजूर आदिके द्वारा सीमासे बाहर कोई भी कार्य करवाना, वहाँकी वस्तुको मँगवाना, अथवा कोई वस्तु या संदेश पहुँचाना आदि प्रेष्यप्रयोगनामका अती-चार है। केवल अपने शब्दको सीमाके बाहर पहुँचाकर—चिल्लाकर अथवा टेलीफोन तार आदिके द्वारा अपना काम निकालना शब्दानुपात नामका अतीचार है। अपना रूप दिखाकर सीमाके बाहर स्थित व्यक्तिको यह बोध करा देना, कि मै यहाँपर हूँ, या यहाँसे गमन नहीं कर सकता, आदि, और इस तरहसे अपना काम चला लेना, रूपानुपात नामका अतीचार है। सीमाके बाहर चिट्ठी तार भेजकर अथवा ढेला आदि फेंककर किसीको बोध कराकर काम चलाना, पुद्गलक्षेप नामका अतीचार है। इस तरह देशव्रतके ये पाँच अतीचार हैं।

अनर्थदण्डव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—कन्दर्पकौकुच्य[4]मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधि-कत्वानि ॥ २७ ॥

१—क्योंकि सीमा बढ़ा लेनेपर क्षेत्रवृद्धि नामका अतीचार हो जायगा। २—स्मृतेरन्तर्धानं तिरोभाव इत्यर्थः। ३—इसका नाम देशावकाशिक भी है। ४—कौत्कुच्यमिति वा पाठः।

भाष्यम्—कन्दर्पः कौकुच्यं मौखर्यमसमीक्ष्याधिकरणमुपभोगाधिकत्वमित्येते पञ्चानर्थदण्डविरतिव्रतस्यातिचारा भवन्ति। तत्र कन्दर्पो नाम रागसंयुक्तोऽसभ्यो वाक्प्रयोगो हास्यं च। कौकुच्यं नाम एतदेवोभयं दुष्टकायप्रचार संयुक्तम्। मौखर्यमसंबद्धबहुप्रलापित्वम्। असमीक्ष्याधिकरणं लोकप्रतीतम्। उपभोगाधिकत्वं चेति।

अर्थ—अनर्थदण्डविरतिव्रतके पाँच अतीचार हैं—कन्दर्प, कौकुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और उपभोगाधिकत्व।

रागयुक्त असभ्य हास्यके वचन बोलना इसको कन्दर्प कहते हैं। इन्हीं दोनों बातोंको—हास्य और सभ्यताके विरुद्ध रागपूर्ण भाषण को ही कौकुच्य कहते हैं, यदि वह शरीरकी दूषित चेष्टासे भी संयुक्त हो। विना सम्बन्धके अति प्रचुर बोलने—बड़बड़ानेको मौखर्य कहते हैं। असमीक्ष्याधिकरण शब्दका अर्थ लोकमें सबको मालूम है। उपभोगाधित्वका अर्थ भी प्रसिद्ध है।

भावार्थ—विना विचारके प्रयोजनसे अधिक क्रिया करनेको असमीक्ष्याधिकरण कहते हैं। यह तीन प्रकारसे हुआ करता है—मन वचन और कायके द्वारा। मनमें निरर्थक संकल्प विकल्प करना या मनोराज्यकी कल्पना करना, बेमतलब हरजगह कुछ न कुछ बोलना और शरीरसे निरर्थक कुछ न कुछ चेष्टा करते रहना। भोग या उपभोगरूप वस्तुओंका जितना प्रमाण किया है, उसके भीतर ही, परन्तु आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना उपभोगाधिकत्व नामका अतीचार है। इस प्रकार अनर्थदण्डविरति नामक व्रतके पाँच अतीचार हैं, जो कि उसका अंशतः घात करनेवाले दूषण समझकर छोड़ने चाहिये।

सामायिकव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥

भाष्यम्—कायदुष्प्रणिधानं वाग्दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानमनादरः स्मृत्यनुपस्थापनमित्येते पञ्च सामायिकव्रतस्यातिचारा भवन्ति॥

अर्थ—सामायिकव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर, और स्मृत्यनुपस्थापन।

सूत्रमें योग शब्दका प्रयोग किया है, जिसका कि अर्थ पहले बता चुके हैं, कि मन वचन कायकी क्रियाको योग कहते हैं। अतएव इसके तीन भेद हैं।—मन वचन और काय। दुष्प्रणिधान शब्दका अर्थ है, दुरुपयोग करना, अथवा इनका जिस तरह उपयोग करना चाहिये, उस तरहसे न करके अन्य प्रकारसे या दूषितरूपसे उपयोग करना। अतएव योगोंके इस उपयोगकी अपेक्षासे तीन अतीचार हो जाते हैं—कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, और मनोदुष्प्रणिधान।

सामायिकके समयमें शरीरको जिस प्रकारसे रखना चाहिये, उस तरहसे न रखना, कायदुष्प्रणिधान है, इसी तरह वचनका जिस प्रकार विसर्ग करना चाहिये, उस प्रकार न करना, वाग्दुष्प्रणिधान है,

तथा मनमें जो चिन्तवन आदि करना चाहिये, सो न करके अन्य रागादियुक्त दूषित विचारोंका अथवा संकल्प विकल्पोंका होना मनोदुष्प्रणिधान है । सामायिकमें आदर—भक्ति—रुचिका न होना, अतएव उसको ज्यों त्यों करके बेगारकी तरह परा कर देना, अनादर नामका अतीचार है । सामायिककी विधि या समय अथवा उसके पाठादिको भूल जाना, यद्वा सामायिक करनेकी ही याद न रहना, या आज सामायिक की है या नहीं, सो स्मरण न रहना, स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है । इस प्रकार सामायिकके पाँच अतीचार हैं, जिनको कि टालकर सामायिक करना चाहिये, जिससे कि उसका एक अंशतः भी भंग न हो ।

पौषधोपवासव्रतके अतीचारोंको गिनाते हैंः—

सूत्र—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २९ ॥

भाष्यम्—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिते उत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यादाननिक्षेपौ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितः संस्तारोपक्रमः, अनादरः स्मृत्यनुपस्थानमित्येते पञ्च पौषधोपवासस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—अप्रत्यवेक्षित—दृष्टिके द्वारा जिसको अच्छी तरहसे देखा नहीं है, और अप्रमार्जित—जिसको पिच्छी आदिके द्वारा भले प्रकार शोधा नहीं है, ऐसे स्थानपर मलमूत्रादिका परित्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है । इसी प्रकार विना देखे शोधे स्थानपर अथवा विना देखी शोधी वस्तुको यों ही रख देना, या उठा लेना अथवा पटक देना, या फेंकना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेप नामका अतीचार है । शयनासनके आश्रयभूत स्थानको या विस्तर आदिको विना देखे शोधे ही काममें ले लेना, उसपर बैठ जाना, लेट जाना या सो जाना, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तारोपक्रम नामका अतीचार है । पौषधोपवासके करनेमें भक्तिभावका न होना अनादर नामका अतीचार है । पौषध—पर्व दिनको भूल जाना, अथवा उस दिन उपवासकी याद न रहना, या उस दिनके विशेष कर्त्तव्यको याद न रखना स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है । इस तरह पौषधोपवास व्रतके पाँच अतीचार हैं ।

भावार्थ—उपवास आदि जो किया जाता है, सो प्रमादादि दोषोंको नष्ट कर रत्नत्रय-धर्मको जागृत करनेके लिये ही किया जाता है । अतएव पर्वके दिन उपवास धारण करनेवालेको अप्रमत्त होकर रुचिपूर्वक उत्साहके साथ विधियुक्त सम्पूर्ण कार्य करने चाहिये । प्रमाद अरुचि अथवा विधिके भूल जानेसे उसका अंशतः भंग हो जाता है । इसीसे ये पाँच अतीचार—दोष उपस्थित होते हैं । अर्थात् पौषधोपवास करनेवालेको भूमिको देख शोध करके ही मलोत्सर्ग करना चाहिये, अन्यथा—प्रमादवश वैसा न करनेपर पहला अतीचार होता है । इसी तरह पाँचों अतीचारोंके विषयमें समझना चाहिये ।

भोगोपभोगव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—सचित्तसम्बद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्काहाराः ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सचित्ताहारः सचित्तसम्बद्धाहारः सचित्तसंमिश्राहारः अभिषवाहारः दुष्पक्काहार इत्येते पञ्चोपभोगव्रतस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके पाँच अतीचार हैं, जो कि आहार करनेरूप हैं। यथा—सचित्ताहार, सचित्तसम्बद्धाहार, सचित्तमिश्राहार, अभिषवाहार, और दुष्पक्काहार।

चित्त सहित—सजीव—हरितकाय वनस्पतिका भक्षण करना, जिसके भक्षणका त्याग कर दिया है, उसको क्वचित् कदाचित् प्रमाद या अज्ञानके वशसे ग्रहण कर लेना, सचित्ताहार नामका अतीचार है। सचित्तसे जिसका सम्बन्ध हो रहा है, उसका भक्षण करना, जैसे कि हरितकाय केलेके पत्र आदिपर रक्खी हुई, या उससे ढँकी हुई वस्तुको ग्रहण करना, सचित्तसम्बद्ध नामका अतीचार है। अचित्तके साथ साथ मिली हुई सचित्त वस्तुको भी भक्षण कर लेना, सचित्तमिश्राहार नामका अतीचार है। गरिष्ठ पुष्ट और इन्द्रियोंको बलवान करनेवाला रसयुक्त पदार्थ अभिषव कहा जाता है। इस तरहके पदार्थोंका सेवन करना, अभिषवाहार नामका अतीचार है। जो योग्य रीतिसे पका न हो, ऐसे भोजनको दुष्पक्क कहते हैं। जैसे कि जली हुई या अर्धपक्क रोटी दाल आदि। इस तरहके पदार्थका भक्षण करना दुष्पकाहार नामका अतीचार है।

भावार्थ—प्रमादके योगसे इस तरहके छोड़े हुए अथवा परिमित पदार्थोंका ग्रहण कर लेना—भक्षण करना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका अतीचार है। ये पाँच भेदरूप हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। इनके निमित्तसे व्रतकी भंगाभंग अवस्था होती है। अतएव इनको अतीचार कहा है। क्योंकि वह व्रतको भंग करनेके लिये उसका भक्षण नहीं करता, किन्तु भोजनमें आजानेपर कदाचित् प्रमादसे उसका ग्रहण हो जाता है। अतएव उसकी प्रवृत्ति व्रतसापेक्ष है।

अतिथिसंविभागव्रतके अतीचारोंको बताते हैं—

सूत्र—सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अन्नादेर्द्रव्यजातस्य सचित्ते निक्षेपः सचित्तपिधानं परस्येदमिति परव्यपदेशः मात्सर्यं कालातिक्रम इत्येते पञ्चातिथिसंविभागस्यातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—अतिथिसंविभागव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, और कालातिक्रम।

अन्न आदि देने योग्य जो कोई भी वस्तु हो, उसको सचित्त पदार्थ—पत्र आदिके ऊपर रखकर देना, सचित्तनिक्षेप नामका अतीचार है। इसी तरह उस देय आहार्य—सामग्रीको सचित्त पत्र आदिसे ढँक कर देना, सचित्तपिधान नामका अतीचार है। यह हमारा नहीं है, दूसरेका है, ऐसा कहना, अथवा स्वयं दानमें प्रवृत्त न होकर दूसरेसे कहना कि तुम दान करो, यद्वा स्त्री-

पुत्र नौकर आदिसे दान देनेको कहना, परन्तु स्वयं न देना, परव्यपदेश नामका अतीचार है। दूसरे दाताओंसे ईर्ष्या करना मात्सर्य नामका अतीचार है। जो दानका समय है, उस समय न देकर—उस समयका उल्लंघन करके दानमें प्रवृत्त होना कालातिक्रम नामका अतीचार है। इस प्रकार अतिथिसंविभाग व्रतके पाँच अतीचार हैं।

पाँच अणुव्रत और सप्तशीलके अतीचारोंको कहनेके लिये जो पहले सूत्र द्वारा प्रतिज्ञा की थी, सो पूर्ण हुई। क्योंकि उनका वर्णन हो चुका। किन्तु उन व्रतोंके अन्तमें संलेखनाका भी वर्णन किया था, और यह अतीचारोंका प्रकरण है, अतएव उसके भी अतीचारोंको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानकरणानि ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुरागः, सुखानुबन्धो, निदानकरणमित्येते मारणान्तिकसंलेखनायाः पञ्चातिचारा भवन्ति ॥

अर्थ—मारणान्तिकी संलेखनाके भी पाँच अतीचार हैं—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, और निदानकरण।

भावार्थ—अपनी विभूति ऐश्वर्य या सुख—साधनको देखकर अथवा समाधिमरण करानेवाले आचार्य प्रभृति महान् पुरुषोंको अपनी सेवा करते हुए देखकर अधिक कालतक जीनेकी इच्छा रखना, यद्वा पुत्रादिकोंको असमर्थ देखकर अभी कुछ दिन और न मरता, तो अच्छा था, ऐसा भाव रखना, आदि जीविताशंसा नामका अतीचार है। इसके प्रतिकूल सामग्री उपस्थित होनेपर—दरिद्रता बीमारी अपकीर्ति या अन्य दुःखके साधन उपस्थित होनेपर जल्दी ही मर जाऊं तो ठीक है, ऐसा विचार करना मरणाशंसा नामका अतीचार है। इष्ट बन्धु बान्धव या स्नेहीजनोंमें अनुराग होना, अथवा अनुपस्थित होनेपर उनको देखनेकी इच्छा करना, मित्रानुराग नामका अतीचार है। भोगे हुए विषयोंका स्मरण करना, अथवा वर्तमान परिचारक आदिकी सेवामें सुखका अनुभव करना आदि सुखानुबन्ध नामका अतीचार है। आगामी विषयभोग या स्वर्गादिकी सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो, इस आशासे उसीके लिये समाधिमरण करना निदानकरण नामका अतीचार है।

इसप्रकार संलेखनामरणके पाँच अतीचार हैं। इन दोषोंसे रहित होकर उसका पालन करना चाहिये।

भाष्यम्—तदेतेषु सम्यक्त्वव्रतशीलव्यतिक्रमस्थानेषु पञ्चषष्टिष्वतिचारस्थानेषु अप्रमादो न्याय्य इति ॥

अर्थ—ऊपर जो सम्यक्त्व व्रत और शीलोंके अंशको खण्डित करनेवाले अतीचारोंके भेद बताये हैं, उनकी संख्या पैंसठ (६५) है। इन सभी अतीचार स्थानोंमें गृही व्रतिक श्रावकको प्रमाद रहित होना चाहिये।

भावार्थ—इनके रहते हुए सम्यक्त्वादिक पूर्ण नहीं हो सकते, और उनके पूर्ण हुए विना व्रतिकका पूर्णपद या पूर्ण फल प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव सागार यतिको यही उचित है कि वह सदा इतनी सावधानी रक्खे, और प्रमादरहित प्रवृत्ति करे, कि जिससे इन ६५ अतीचारोंमेंसे कोई भी अतीचार लगने न पावे[1]।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तानि व्रतानि व्रतिनश्च। अथ दानं किमिति? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने व्रतोंका और उनके पालन करनेवाले व्रतियोंका जो ऊपर स्वरूप बताया है, सो हमारी समझमें आगया है। अब यह कहिये, कि आपने कई स्थानोंपर दान शब्दका जो उल्लेख किया है, वह क्या है? उसका क्या स्वरूप है? इसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानवस्त्रादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम्॥

अर्थ—अपना और परका अनुग्रह—कल्याण करनेके लिये अपनी किसी भी अन्नपान वस्त्र आदि वस्तुका पात्रोंके लिये अतिसर्ग—त्याग करना इसको दान कहते हैं।

भावार्थ—ख्याति लाभ पूजा आदिको सिद्ध करनेके लिये नहीं, किन्तु पुण्य-सञ्चय अथवा कर्मोंकी निर्जराके द्वारा आत्म—कल्याण करनेके लिये तथा पात्रके रत्नत्रय—धर्मकी रक्षा और पुष्टिके लिये जो दिया जाता है, उसको दान कहते हैं। तथा वह देय—वस्तु योग्य और अपनी ही होनी चाहिये, अयोग्य या परकी वस्तुका दान नहीं हुआ करता।

दानमें जिन जिन कारणोंसे विशेषता उपस्थित होती है, उनको बतानेके लिये सूत्र करते हैं।—

सूत्र—विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद् दातृविशेषात्पात्रविशेषाच्च तस्य दानधर्मस्य विशेषो भवति। तद्विशेषाच्च फलविशेषः॥ तत्र विधिविशेषो नाम देशकालसंपच्छ्रद्धासत्कारक्रमाः कल्पनीयत्वमित्येवमादिः॥ द्रव्यविशेषोऽन्नादीनामेव सारजातिगुणोत्कर्षयोगः॥ दातृविशेषः प्रतिग्रहीतर्यनसूया, त्यागेऽविषादः अपरिभाविता, दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिसंधिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपधत्वमनिदानत्वमिति॥ पात्रविशेषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसम्पन्नता इति॥

तत्त्वार्थागमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे सप्तमोऽध्यायः समाप्तः॥

1—संलेखनाके ५ भेद जोड़नेसे ७० अतीचार होते हैं। परंतु संलेखनाको व्रतोंमें और इसीलिये यहाँ उसके अतीचारोंको भी गिनाया नहीं है, ऐसा मालूम होता है। किन्तु ऐसी हालतमें यह कथन संलेखनाके अतीचारोंसे पहले ही होना चाहिये था।

अर्थ—दान धर्ममें विशेषता चार कारणोंसे हुआ करती है—विधिकी विशेषतासे, द्रव्यकी विशेषतासे, दाताकी विशेषतासे, और पात्रकी विशेषतासे। इन विशेषताओंके कारण दानके फलमें भी विशेषता हुआ करती है। यहाँपर विशेषताका अर्थ अधिकता ही नहीं है, किन्तु तारतम्य है। अर्थात् विधि आदिकमें जैसा अन्तर पड़ता है, वैसा ही दानमें और उसके फलमें भी अन्तर पड़ता है—विधि आदिके अनुसार दान और उसका फल न्यूनाधिक हुआ करता है।

देश काल सम्पत्ति श्रद्धा और सत्कार, इनके क्रममें जो कुछ भेद हुआ करता है, उसके अनुसार विधिकी विशेषता हुआ करती है। वह अनेक प्रकारकी हो सकती है, जोकि स्वयं कल्पना करके समझी जा सकती है। अन्नपान आदि जो देय–सामग्री है, उसमें सारजातीय तथा अनेक गुणोंके उत्कर्षके सम्बन्धसे द्रव्यमें विशेषता हुआ करती है। दान ग्रहण करनेवाले पात्रमें असूयाका न होना—पात्रके दोष ढूँढ़ने या उससे स्पर्धा करनेकी दृष्टिका न होना, दान देनेमें विषाद—खेद—शोक आदिका न होना, तिरस्कारकी बुद्धि न होकर आदर अथवा प्रीतिका भाव होना, जो दान करना चाहता है, या दे रहा है, अथवा जिसने पहले दान किया है, उससे भी प्रीतिका करना, अपने उद्देश्यमें और दान देते समय जो भाव हों, उनमें निर्मलता—विशुद्धि रखना, दृष्टफल इस लोकसम्बन्धी—अथवा लौकिक विषयोंकी पूर्तिकी इच्छासे दानमें प्रवृत्त न होना, उपाधियोंसे रहित तथा निदानको छोड़कर दान करना, ये सब दाताकी विशेषताएं हैं। इनमें न्यूनाधिकता होनेसे दाता भी न्यूनाधिक दर्जेका समझा जाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इनके पालन करनेके कारण पात्रमें विशेषता हुआ करती है।

भावार्थ—पात्रको दान देनेकी जो रीति है, उसको विधि कहते है। नवधा भक्ति आदिके द्वारा जो दान दिया जाता है, उसका एकसरीखा सभी मनुष्य पालन नहीं कर सकते। ज्ञानके तारतम्य अथवा देश कालकी परिस्थितिमें अन्तर पड़ जानेसे उसमें भी अन्तर पड़ता ही है। यही विधिकी विशेषता है। इसी प्रकार किसी देशमें कोई व्यक्ति कुछ दे सकता है, कहीं कोई उस वस्तुको नहीं दे सकता, अतएव देश कालकी परिस्थितिवश अथवा शक्तिकी अयोग्यता आदिके कारण देय–सामग्रीमें जो अन्तर है, वही द्रव्यकी विशेषता है। दातामें मुख्यतया सात गुणोंका होना बताया है, उनमें न्यूनाधिकताका होना दाताकी विशेषता है, और रत्नत्रय—धर्मके धारण पालन या तपश्चरणादिमें जो अन्तर होता है, उसीसे पात्रकी विशेषता हुआ करती है। ये चारों ही विशेषताएं दान और उसके फलमें अनेक भेदोंको उत्पन्न करनेवाली है।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।
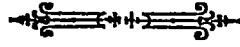
आस्रव–तत्त्वका व्याख्यान गत दो अध्यायों में हो चुका। उसके अनंतर क्रमानुसार बंधका वर्णन होना चाहिये। इस बातको लक्ष्यमे रखकर भाष्यकार कहते है कि—

भाष्यम्—उक्त आस्रवः, बंधं वक्ष्यामः तत्प्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यतेः—

अर्थ—आस्रव–तत्त्वका निरूपण हो चुका। अब यहाँसे बन्ध–तत्त्वका वर्णन करेंगे। अतएव उसको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैः—

सूत्र—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

भाष्यम्—मिथ्यादर्शनं अविरतिः प्रमादः कषाया योगा इत्येते पञ्च बन्धहेतवो भवन्ति। तत्र सम्यग्दर्शनाद्विपरीतं मिथ्यादर्शनम्। तद्द्विविधमभिगृहीतमनभिगृहीतं च। तत्राभ्युपेत्या सम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीनां त्रयाणां त्रिषष्ठानां कुवादिशतानाम्। शेषमनभिगृहीतम्। यथोक्ताया विरतेर्विपरीताविरतिः॥ प्रमादःस्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरो योगदुष्प्रणिधानं चैष प्रमादः। कषाया मोहनीये वक्ष्यन्ते। योगस्त्रिविधः पूर्वोक्तः। एषां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सति नियतमुत्तरेषां भावः। उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियमः इति॥

अर्थ—बन्धके कारण पाँच हैं–मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग। पहले सम्यग्दर्शनका स्वरूप बता चुके हैं, कि तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है। उससे जो विपरीत अवस्था हो, उसको मिथ्यादर्शन कहते हैं। अर्थात् मिथ्यादर्शन नाम अतत्त्व श्रद्धानका है। वह दो प्रकारका होता है, एक अभिगृहीत और दूसरा अनभिगृहीत। आज्ञानिक आदि तीन और तीनसौ साठ कुल मिलाकर तीन सौ त्रेसठ कुवादियों–मिथ्यादृष्टियोंको जो प्राप्त होकर–अतत्त्वोपदेशको पाकर असम्यग्दर्शनका ग्रहण होता है, उसको अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते है। अर्थात् दूसरेके उपदेशको सुनकर और ग्रहण करके जो अतत्त्व श्रद्धान होता है, उसको गृहीत अथवा अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते है। इसके सिवाय जो परोपदेशसे प्राप्त नहीं होता, अथवा जो अनादिकालसे जीवोंके लगा हुआ है, ऐसे अतत्त्व श्रद्धानको अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

पहले विरतिका स्वरूप बता चुके हैं। उसके न होनेको अविरति कहते हैं। अर्थात् हिंसा आदिरूप परिणति होना, या इसके त्यागका न होना अविरति है। मोक्षमार्गसंम्बन्धी विषयका स्मरण न रहना, उत्तम कार्योंके विषयमें अथवा उत्तम पुरुषोंके विषयमें अनादर भाव होना, उनमें भक्तिभाव का न होना, और मन वचन कायरूप योगोका ठीक उपयोग न होना–उनका अनुचित अथवा अयोग्य उपयोग करना, इत्यादि सब प्रमाद कहाता है।

कषायोंका स्वरूप आगे चलकर मोहनीयकर्मके स्वरूप और भेदोंका जहाँ व्याख्यान

किया जायगा, वहीं बतावेंगे। योगका स्वरूप पहले बता चुके हैं। वह तीन प्रकारका है— मानसिक, वाचनिक, और कायिक।

ये जो पाँच मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारण बताये हैं, उनमें पूर्व पूर्व कारणके होनेपर आगे आगेके कारणका सद्भाव नियत है—अवश्य रहता है। परंतु उत्तरोत्तर कारणके रहनेपर पूर्व पूर्वके कारणोंका रहना नियत नहीं है। यथा—जहाँपर मिथ्यादर्शन है, वहाँपर अविरति आदि चार कारण भी अवश्य रहेंगे, तथा जहाँपर अविरति है, वहाँपर आगेके प्रमाद कषाय और योग ये तीन हेतु भी अवश्य रहेंगे। किन्तु अविरतिके साथ यह नियम नहीं है, कि मिथ्यादर्शन भी रहे ही। इसी प्रकार प्रमादके साथ कषाय और योग तो अवश्य रहते हैं, परन्तु मिथ्यादर्शन और अविरतिके रहनेका नियम नहीं है इत्यादि। अर्थात् अविरति आदि उत्तरोत्तर कारणोंके साथ साथ मिथ्यादर्शनादि पूर्व पूर्वके कारण रहते भी हैं, और नहीं भी रहते। इसी तरह सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार बंधके कारणोंको बताकर बंध किसका होता है, किस तरहसे होता है, और उसका स्वामी कौन है, इन बातोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैः—

सूत्र—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते ॥२॥

भाष्यम्—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते। कर्मयोग्यानिति अष्टविधपुद्गलग्रहणकर्मशरीरग्रहणयोग्यानित्यर्थः। नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषादिति वक्ष्यते॥

अर्थ—कर्मके योग्य पुद्गलोंको कषाय सहित होनेके कारण संसारी जीव ग्रहण किया करता है। कर्मके योग्य ऐसा कहनेका आशय यह है, कि आठ प्रकारके पुद्गलोंका ग्रहण कर्मशरीर—कार्माणकायके ग्रहण करनेके योग्य हुआ करता है। जैसा कि आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र २५ की व्याख्यामें बतावेंगे, कि योग विशेषके निमित्तसे और जिनका कि कारण सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियाँ हैं, ऐसे अनन्तानन्त प्रदेश सब तरफसे आते हैं, और वे आत्माके प्रत्येक प्रदेशपर अवस्थित रहा करते हैं।

भावार्थ—अध्याय ८ सूत्र २५ में बताई हुई रीतिसे जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, वह कर्मके योग्य समझना चाहिये। इस ग्रहणका स्वामी कषायसहित जीव हुआ करता है, और उक्त पुद्गलोंमें जो कर्मरूप होनेकी योग्यता रखते हैं, उन्हींका जीवकी सकषायताके कारण ग्रहण हुआ करता है। यही कारण है, कि सूत्रमें सकषाय शब्दको जीव शब्दके साथ न जोड़कर पृथक् रक्खा है, और उसका हेतुरूपसे निर्देश किया है। इसी तरह 'कर्मयोग्यान्' ऐसा पाठ न करके 'कर्मणो योग्यान्' ऐसा जो पृथक् पृथक् निर्देश किया है, उसका भी कारण यह है, कि कर्म शब्दका दोनों तरफ सम्बन्ध हो जाता है, जिससे यह अभिप्राय निकलता है, कि जीव कर्मके निमित्तसे सकषाय हुआ करता है, और पुनः उस सकषायताके कारण कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण किया करता है।

पुद्गलोंके भेद अनेक हैं । उनमेंसे जिनमें यह योग्यता है, कि अष्टविध कर्मरूप परिणत हो सकते हैं, उन्हींको सकषाय–जीव ग्रहण किया करता है, और इस तरहके ग्रहणको ही प्रकृतमें बन्ध कहते हैं । इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—स बन्धः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स एष कर्मशरीर पुद्गलग्रहणकृतो बन्धो भवति ॥

अर्थ—ऊपर कार्मणशरीरके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण करना बताया है, उसीको बन्ध कहते हैं । भावार्थ–ऊपर लिखे अनुसार वक्ष्यमाण रीतिसे संसारी–जीवका कार्मणवर्गणाओंके ग्रहण करनेको प्रकृतमें बन्ध समझना चाहिये । सामान्यतया यह बन्ध एक ही प्रकारका है, किन्तु विशेष अपेक्षासे कितने भेद हैं, सो बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं कि—

भाष्यम्—स पुनश्चतुर्विधः ॥

अर्थ—उक्त कार्मणवर्गणाओंका ग्रहणरूप बन्ध चार प्रकारका है । यथाः—

सूत्र—प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्ध इति । तत्रः—

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध, इस तरह बन्धके कुल चार भेद हैं ।

भावार्थ—प्रकृति नाम स्वभावका है । जैसे कि नीमकी प्रकृति कटु–कड़वी और ईखकी प्रकृति मधुर होती है, उसी प्रकार कर्मोंकी भी प्रकृति होती है । ग्रहण की हुई कार्मणवर्गणाओंमें अपने अपने योग्य स्वभावके पड़नेको प्रकृतिबंध कहते हैं । जिस कर्मकी जैसी प्रकृति होती है, वह उसीके अनुसार आत्माके गुणोंको घातने आदिका कार्य किया करता है । एक समयमें बँधनेवाले कर्मपुद्गल आत्माके साथ कबतक सम्बन्ध रक्खेंगे, ऐसे कालके प्रमाणको स्थिति और उसके उन बँधनेवाले पुद्गलोंमें पड़ जानेको स्थितिबंध कहते हैं । बँधनेवाले कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिके तारतम्य पड़नेको अनुभागबंध कहते है, और उन कर्मोंकी वर्गणाओ अथवा परमाणुओंकी हीनाधिकताको प्रदेशबंध कहते हैं ।

जिस समय कर्मका बन्ध हुआ करता है, उस समयपर चारों ही प्रकारका बंध होता है । इनका विशेष स्वरूप और उत्तर भेदोंको बतानेके लिये आचार्य वर्णन करनेके अभिप्रायसे प्रथम प्रकृतिबंधके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सूत्र—आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्प्रकृतिबन्धमाह, सोऽष्टविधः । तद्यथा—ज्ञानावरण दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयम् आयुष्कं नाम गोत्रम् अन्तरायमिति । किंचान्यत्—

अर्थ—यहाँपर सूत्रमें आद्य शब्दका जो पाठ किया है, उससे प्रकृतिबन्धका ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि पूर्व सूत्रमें चार प्रकारके बन्धोंका जो उल्लेख किया है, उसमें सबसे पहले प्रकृति शब्दका ही पाठ है। अतएव उस क्रमके अनुसार पहला प्रकृतिबंध ही लिया जा सकता है। तदनुसार पहला प्रकृतिबंध आठ प्रकारका है। यथा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र, और अन्तराय।

भावार्थ—जो ज्ञानको आवृत–आच्छादित करे, उसको ज्ञानावरण और जो दर्शनको आवृत करे, उसको दर्शनावरण कहते हैं। अर्थात् जिस कर्मकी प्रकृति ही ऐसी है—बंधके समय उसमें ऐसा ही स्वभाव पड़ गया है, कि वह आत्माके ज्ञानगुणको आवृत करे, उसको ज्ञानावरण कहते हैं। इसी प्रकार दर्शनावरण आदिके विषयमें समझना चाहिये[1]। जो सुख दुखःका वेदन–अनुभव कराता है, उसको वेदनीय कहते हैं, जो आत्माको मोहित करता है, उसको मोहनीय कहते हैं। जो परभव तक आत्माके साथ जाता है, अथवा जो आत्माको पर-लोकमें ले जानेवाला है, उसको आयु अथवा आयुष्क कहते हैं। जिसके निमित्तसे जीवके अनेक संज्ञाकर्म हों, उसको नाम कहते हैं। जिसके निमित्तसे जीवका प्रशस्त अथवा अप्रशस्त व्यव-हार हो, उसको गोत्र कहते हैं, और जो विघ्न डालनेवाला है, उसको अन्तराय कहते हैं।

इनके उत्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—स एष प्रकृतिबन्धोऽष्टविधोऽपि पुनरेकशः पञ्चभेदः नवभेदः द्विभेदः अष्टाविं-शतिभेदः चतुर्भेद· द्विचत्वारिंशद्भेद· द्विभेदः पञ्चभेद इति यथाक्रमं प्रत्येतव्यम् ॥ इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः। तद्यथा—

अर्थ—ऊपर जो आठ प्रकारका प्रकृतिबन्ध बताया है, उनमेंसे प्रत्येकके उत्तरभेद क्रमसे इस प्रकार हैं।—ज्ञानावरणके पाँच भेद, दर्शनावरणके नौ भेद, वेदनीयके दो भेद, मोहनीयके अट्ठाईस भेद, आयुष्कके चार भेद, नाम कर्मके ब्यालीस भेद, गोत्रकर्मके दो भेद, और अन्तरायके पाँच भेद। इस प्रकार आठों कर्मोंके क्रमसे ये उत्तरभेद हैं। इन भेदोंको स्पष्टरूपसे बतानेके लिये आगे जैसा कुछ वर्णन करेंगे तदनुसार उनका विशेष स्वरूप समझना चाहिये। जैसे कि ज्ञानावरणके पाँच भेद कौनसे है? तथा दर्शनावरणके नौ भेद कौनसे हैं? इत्यादि। क्रमसे इस बातको बतानेके लिये पहले ज्ञानावरणके पाँच भेदोंको बतानेवाला सूत्र कहते हैं।—

१—सबका अर्थ नामके अनुसार समझ लेना चाहिये। यथा—ज्ञानमावृणोति, दर्शनमावृणोति, वेदयति इति वेदनीयम्, मोहयतीति मोहनीयम्, एति परभवमिति आयुः, नमतीति नाम, गूयते शब्द्यते इति गोत्रम्, अन्तः मध्ये एति इति अन्तरायम्। इनका विशेष खुलासा गोम्मटसार कर्मकाण्डमें देखना चाहिये।

सूत्र—मत्यादीनाम् ॥ ७ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरणं पञ्चविधं भवति। मत्यादीनां ज्ञानानामावरणानि पञ्चविकल्पांश्चैकश इति ॥

अर्थ—पहले प्रकृतिबन्ध-ज्ञानावरणकर्मके पाँच भेद हैं । क्योंकि ज्ञानके पाँच भेद—मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल पहले अध्यायमें बता चुके है । अतएव उनको आवृत करनेवाले कर्म भी पाँच ही हैं । अतएव ज्ञानके वाचक प्रत्येक मत्यादिक शब्दके साथ आवरण शब्दको जोड़ देना चाहिये । यथा—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, और केवलज्ञानावरण ।

इसप्रकार ज्ञानावरणके पाँच भेदोंको बताकर क्रमानुसार दर्शनावरणके नौ भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ॥ ८ ॥

भाष्यम्—चक्षुर्दर्शनावारणं, अचक्षुर्दर्शनावरणं, अवधिदर्शनावरणं, केवलदर्शनावरणं, निद्रावेदनीयम्, निद्रानिद्रावेदनीयम्, प्रचलावेदनीयम्, प्रचलाप्रचलावेदनीयम्, स्त्यानगृद्धिवेदनीयमिति दर्शनावरणं नवभेदं भवति ॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ भेद है ।—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रावेदनीय, निद्रानिद्रावेदनीय, प्रचलावेदनीय, प्रचलाप्रचलावेदनीय, और स्त्यानगृद्धिवेदनीय ।

भावार्थ—इस सूत्रमें दो वाक्य हैं । पहले वाक्यके साथ दर्शनावरण शब्दका प्रयोग करना चाहिये । किंतु दूसरे वाक्यके साथ उसका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि उसके अन्तमें वेदनीय शब्दका प्रयोग किया है । इसके अन्तमें पठित वेदनीय शब्दको वाक्यके प्रत्येक शब्दके साथ जोड लेना चाहिये । जैसे कि निद्रावेदनीय आदि ।

अब क्रमानुनार वेदनीय कर्मके दो भेदोंको बताने के लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्—सद्वेद्यं असद्वेद्यं च वेदनीयं द्विभेदं भवति ॥

अर्थ—वेदनीय कर्मके दो भेद है ।—सद्वेद्य—सातवेदनीय और असद्वेद्य-असात वेदनीय । भावार्थ—जिसके उदयसे सुखरूप अनुभव होता है, उसको सद्वेद्य कहते है, और जिसके उदयसे दुःखरूप अनुभव हो, उसको असद्वेद्य कहते है । संसारका कोई भी पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट । परन्तु ज्ञानावरणकर्मके उदयसे अज्ञानी हुआ और मोहनीयकर्म

के उदयसे मोहित हुआ जीव किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानता है । तथा वेदनीय-कर्मके उदयसे इष्टके लाभमें सुखका और अनिष्टके लाभमें दुःखका अनुभव करता है ।

क्रमानुसार मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेदोंको गिनाते हैं: —

सूत्र—दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाःहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः१०

भाष्यम्—त्रिद्विषोडशनवभेदा यथाक्रमम् । मोहनीयबन्धो द्विविधो दर्शनमोहनीयाख्यश्चारित्रमोहनीयाख्यश्च । तत्र दर्शनमोहनीयाख्यस्त्रिभेदः । तद्यथा-मिथ्यात्ववेदनीयम्, सम्यक्त्ववेदनीयम्, सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयमिति । चारित्रमोहनीयाख्यो द्विभेदः कषायवेदनीयम् नोकषायवेदनीयं चेति । तत्र कषायवेदनीयाख्यः षोडशभेदः । तद्यथा—अनन्तानुबन्धी क्रोधो मानो माया लोभ एवमप्रत्याख्यानकषायः प्रत्याख्यानावरणकषायः संज्वलनकषाय इत्येकशः क्रोधमानमायालोभाः षोडश भेदाः ॥ नोकषायवेदनीयं नवभेदम् । तद्यथा--हास्यं रतिः अरतिः शोकः भयं जुगुप्सा पुरुषवेदः स्त्रीवेदः नपुंसकवेद इति नोकषायवेदनीयं नव प्रकारम् । तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो निदर्शनानि भवन्ति । इत्येवं मोहनीय मष्टाविंशतिभेदं भवति ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मके उत्तरभेद क्रमसे तीन दो सोलह और नव हैं । क्योंकि मोहनीयकर्मके दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय इन चार भेदोंका चारों संख्याओंके साथ यथाक्रम है ।

मूलमें मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—एक दर्शनमोहनीय दूसरा चारित्रमोहनीय । इनमेंसे पहले दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं ।—मिथ्यात्ववेदनीय सम्यक्त्ववेदनीय और सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय । चारित्रमोहनीयके दो भेद है ।—एक तो कषायवेदनीय और दूसरा नोकषायवेदनीय । इनमेंसे कषायवेदनीयके सोलह भेद हैं । वे इस प्रकार हैं कि—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ । इसी तरहसे अप्रत्याख्यानकषाय, प्रत्याख्यानावरणकषाय, और संज्वलनकषाय, इनके भी प्रत्येकके क्रोध मान माया और लोभ इस तरह चार चार भेद हैं । चारोंके मिलाकर सोलह भेद होते हैं । क्योंकि मूलमें कषाय चार प्रकारका है—क्रोध मान माया और लोभ । इनमेंसे प्रत्येकके अनन्तानुबन्धी आदि चार चार भेद हैं । अतएव सब मिलकर सोलह भेद हो जाते हैं । यथा—अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ । अप्रत्याख्यान क्रोध अप्रत्याख्यान मान, अप्रत्याख्यान माया, अप्रत्याख्यान लोभ । प्रत्याख्यानावरण क्रोध,

प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण लोभ, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ।

नोकषायवेदनीय के नौ भेद हैं।—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-वेद, पुरुषवेद, और नपुंसक वेद। इन नौ प्रकारोंमें से वेदकर्म जो पुरुषवेद स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इस तरह तीन प्रकारका बताया है, उनके क्रमसे तृणाग्नि काष्ठाग्नि और कारीषाग्नि ये तीन उदाहरण हैं। जिसके उदयसे स्त्रीके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको पुरुषवेद कहते हैं, और जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको स्त्रीवेद कहते हैं। तथा जिसके उदयसे दोनों सरीखे भाव हों, अथवा दोनों भावोंसे रहित हो उसको नपुंसकवेद कहते है। इनमेंसे पुरुषवेदके भाव तृणकी अग्निके समान हुआ करते हैं, और स्त्रीवेदके भाव काष्ठकी अग्निके समान होते हैं। तथा नपुंसक वेदके भाव कारीष[1] अग्निके समान हुआ करते हैं।

इस तरह सब मिलाकर मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेद होते हैं। ३ दर्शनमोहनीय, १६ कषायवेदनीय, और ९ नोकषायवेदनीय।

भाष्यम्—अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति। प्रत्याख्यानावरण-कषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्रलाभस्तु न भवति। संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति।

अर्थ—उपर्युक्त कषायोंमेंसे अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली है। जिस जीवके अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया या लोभमेंसे किसीका भी उदय होता है, उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ करता। यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया हो, और पीछेसे अनन्तानुबन्धी कषायका उदय हो जाय, तो वह उत्पन्न हुआ भी सम्यग्दर्शन छूट जाता है—नष्ट हो जाता है। अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे किसी भी तरहकी—एकदेश या सर्वदेश विरति नहीं हुआ करती। इस कषायके उदयसे संयुक्त जीव महाव्रत या श्रावकके व्रत जो पहले बताये हैं, उनको धारण नहीं कर सकता। प्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे विरताविरति—श्रावकके व्रत—एकदेश संयमरूप तो होते है, परन्तु उत्तम चारित्र—महाव्रतका लाभ नहीं हुआ करता। तथा संज्वलन कषायके उदयसे यथाख्यतचारित्रका लाभ नहीं हुआ करता[2]।

भाष्यम्—क्रोधः कोपो रोषो द्वेषो भण्डनं भाम इत्यनर्थान्तरम्। तस्यास्य क्रोधस्य तीव्रमध्यविमध्यमन्दभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति। तद्यथा—पर्वतराजिसदृशः भूमिरा-

१—णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो। इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥ २७४ ॥ तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का। अवगयवेदा जीवा सगसंभवणंतवरसोक्खा ॥ २७५॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड

२—सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे। घादंति वा कषाया चउसोलअसंखलोगमिदा ॥२८२॥ गोम्मटसार जीवकाड ॥

जिसदृशः बालुकाराजिसदृशः उदकराजिसदृश इति । तत्र पर्वतराजिसदृशो नाम ।— यथा-प्रयोगविस्रसामिश्रकाणामन्यतमेन हेतुना पर्वतराजिरुत्पन्ना नैव कदाचिदपि संरोहति एव-मिष्टवियोजनानिष्टयोजनाभिलषितालाभादीनामन्यतमेन हेतुना यस्योत्पन्नः क्रोधः आमरणान्न व्ययं गच्छति जात्यन्तरानुबन्धी निरनुनयस्तीव्रानुशयोऽप्रत्यवमर्शश्च भवति स पर्वतराजि-सदृशः । तादृशं क्रोधमनुसृता नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । भूमिराजिसदृशो नाम ।—यथा भूमेर्भास्कररश्मिजालात्तस्नेहाया वाय्वभिहताया राजिरुत्पना वर्षापेक्षसंरोहा परमप्रकृष्टा-ष्टमासस्थितिर्भवति एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधोऽनेकविधस्थानीयो दुरनुनयो भवति स भूमिराजिसदृशः । तादृशं क्रोधमनुसृतास्तिर्यग्योनावुपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । बालुकाराजिसदृशो-नाम।–यथा बालुकायां काष्ठशलाकाशर्करादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरुत्पन्ना वाय्वीरणाद्य-पेक्षसंरोहार्वाग्मासस्य रोहति एवं यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो यस्य क्रोधोऽहोरात्रं पक्षं मासं चातुर्मास्यं सम्वत्सरं वावातिष्ठते स बालुकाराजिसदृशो नाम क्रोधः । तादृशं क्रोधमनुसृता मनुष्येषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति॥ उदकराजिसदृशो नाम–यथोदके दण्डशलाकाङ्गुल्यादीनामन्यत-मेन हेतुना राजिरुत्पन्ना द्रवत्वादपासुत्पत्यनन्तरमेव संरोहति । एवं यथोक्तनिमित्तो यस्य क्रोधो विदुषोऽप्रमत्तस्य प्रत्यवमर्शेनोत्पत्त्यनन्तमेव व्यपगच्छति स उदकराजिसदृशः । तादृशं क्रोधमनुसृता देवेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । येषां त्वेष चतुर्विधोऽपि न भवति ते निर्वाणं प्राप्नुवन्ति॥

अर्थ––उक्त चार प्रकारके कषायमें सबसे पहला क्रोध है। अतएव सबसे पहले उसीका यहाँपर खुलासा किया जाता है।–क्रोध कोप रोष द्वेष भण्डन और भाम ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। इन शब्दोंके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है, उस कषायके–क्रोधके तरतम भावकी अपेक्षा चार स्थान है। यथा तीव्र, मध्यम, विमध्यम, और मन्द। इनके स्वरूपका बोध करानेके लिये क्रमसे चार दृष्टान्तरूप वाक्य है।–यथा–पर्वतराजिसदृश, भूमिराजिसदृश, बालुकाराजिसदृश, और उदकराजिसदृश । इनमेंसे पर्वतराजिसदृशका अभिप्राय यह है, कि-जिस प्रकार प्रयोगपूर्वक अथवा स्वाभाविक रीतिसे या दोनों तरहसे, इनमें से किसी भी प्रकारसे पत्थरके ऊपर यदि रेखा हो जाय, तो फिर वह कभी भी नहीं सरीखी नहीं होती–वह ज्योंकी त्यों ही बनी रहती है। इसी प्रकार इष्टका वियोग या अनिष्टका संयोग अथवा अभिलषित वस्तुका लाभ न होना, आदि निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर जिस जीवके ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो, जो कि मरणके समयतक भी न छूटे–नष्ट न हो, बल्कि दूसरे भवतक भी साथ ही जाय, किसी भी उपायसे दूर न हो सके, या न शान्त किया जा सके, तथा न क्षमाभाव धारण करनेके ही योग्य हो, ऐसे विलक्षण जातिके क्रोधको पर्वतराजिसदृश–पत्थरकी रेखाके समान समझना चाहिये। ऐसे क्रोधके साथ मरणको प्राप्त होनेवाले जीव मरकर नरकोंमें जन्म–धारण किया करते है।

भूमिराजिसदृशका तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार किसी गीली भूमिपर सूर्यकी किरणें पड़ीं और उससे उसकी आर्द्रता–गीलापन नष्ट हो गया, साथ ही वह वायुसे भी ताड़ित हुई तो उस भूमिमे कदाचित ऐसी रेखा पड़ जाती है, जोकि वर्षाकाल तक नहीं जाती। सामान्यतया

ऐसी रेखाकी स्थिति ज्याद:से ज्याद: आठ मास तककी कही जा सकती है, क्योंकि वर्षाऋतुके आनेपर वह नष्ट हो सकती है, और भूमि फिर ज्योंकी त्यों अपने स्वरूपमें आ जा सकती है। इसी प्रकार पूर्वोक्त निमित्तोंमें से किसी भी निमित्तको पाकर जिस जीवके ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो, जोकि स्थितिकी अपेक्षा अनेक स्थानवाला कहा जा सके, जो एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष या चार वर्ष आदि कुछ वर्षोतक रहनेके योग्य हो, और जिसका प्रतीकार अतिकष्टसे किया जा सके, उसको भूमिराजिसदृश क्रोध कहते हैं। इस तरहके क्रोधपूर्वक मरणको प्राप्त हुए जीव मरकर तिर्यग्गतिको प्राप्त हुआ करते हैं।

वालुकाराजिसदृश क्रोधका आशय ऐसा है, कि बालुमें उत्पन्न हुई रेखाके समान जो क्रोध हो। जिस प्रकार लकड़ी आदि काठके प्रयोगसे अथवा किसी लोहेकी सलाई आदिके निमित्तसे यद्वा कंकड़ पत्थर आदिके संयोगसे इनमें से किसी भी निमित्तसे बालुमें जो रेखा हो जाय, तो वह केवल वायुके झकोरोंको पाकर या दूसरे किसी कारणसे नष्ट हो जाती है। और फिर वह वालु ज्योंकी त्यों अपने पूर्वरूपमें आजाती है। यह कार्य एक महीनाके भीतर ही हो जाता है। इसी प्रकार जिस जीवके पूर्वोक्त निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर उत्पन्न हुआ क्रोध ऐसा हो, जोकि दिनरात्रि[1] पक्ष महीना चार महीना या वर्ष दिनतक ठह-रनेवाला हो, उसको बालुकाराजिसदृश क्रोध समझना चाहिये। इस तरहके क्रोधपूर्वक जो मरणको प्राप्त होते है, वे जीव मरकर मनुष्य–भवको प्राप्त हुआ करते हैं।

उदकराजिसदृश उसको कहते है, जोकि जलकी रेखाके समान हो। जिस प्रकार दण्डके द्वारा या लोहकी सलाई अथवा अङ्गुलि आदिके द्वारा अर्थात् इनमेंसे किसी भी निमित्तके द्वारा यदि जलमें रेखा उत्पन्न हो जाय, तो उसके विलीन होनेमें कुछ भी देर नहीं लगती। क्योंकि जलका स्वभाव द्रवरूप है--बहनेवाला है, अतएव उसमें रेखाके उत्पन्न होते ही वह स्वभावसे ही अनन्तर क्षणमें ही रेखा नष्ट हो जाती है, और जल ज्योंका त्यों हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त निमित्तोंमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर विद्वान्–विचारशील और अप्रमत्त जिस जीवके उत्पन्न हुआ क्रोध ऐसा हो, जो कि उत्पन्न होनेके अनन्तर ही नष्ट हो जाय या क्षमा के द्वारा विलीन–शान्त हो जाय, उसको जलकी रेखाके समान समझना चाहिये। इस प्रकारके क्रोधपूर्वक मरणको प्राप्त हुए जीव देवगतिमें जन्म–धारण किया करते है।

इस प्रकार क्रोधके चार प्रकारोंका स्वरूप और फल वताया। किंतु जो जीव इनमेंसे किसी भी तरहके क्रोधसे युक्त नहीं हैं—जिनका क्रोध कषाय सर्वथा नष्ट हो चुका है, वे जीव नियमसे निर्वाणपद–मोक्षको ही प्राप्त हुआ करते हैं।

१—२४ घंटा। अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं। संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥४६॥ गोम्मटसार क० २—सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो। णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८३ ॥ गो० जी०

भाष्यम्—मानः स्तम्भो गर्व उत्सेकोऽहंकारो दर्पो मदः स्मयः इत्यनर्थान्तरम् । तस्यास्य मानस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति। तद्यथा—शैलस्तम्भसदृशः, अस्थिस्तम्भसदृशः, दारुस्तम्भसदृशः, लतास्तम्भसदृश इति । एषामुपसंहारो निगमनं च क्रोधनिदर्शनैर्व्याख्यातम् ॥

अर्थ—मान, स्तम्भ, गर्व, उत्सेक, अहंकार, दर्प, मद, और स्मय ये समस्त शब्द पर्यायवाचक हैं। इनके अर्थमें अन्तर नहीं है—एक ही अर्थके निरूपक हैं। क्रोधकी तरह इस मान कषायके भी तरतम भावकी अपेक्षा चार स्थान हैं।—तीव्र, मध्यम, विमध्यम, और मन्द । इनको भी चार दृष्टान्तोंके द्वारा बताया है। यथा शैलस्तम्भसदृश, अस्थिस्तम्भसदृश, दारुस्तम्भसदृश, और लतास्तम्भसदृश । ऊपर क्रोधके जो दृष्टान्त दिये हैं, उन्हींके अनुसार मान कषायके इन चारों भेदोंके उपसंहार और निगमनको समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—क्रोधके दृष्टान्तोंमें यथावस्थ होने तककी कालकी मर्यादाको बताया है, और यहाँपर कठोरताको दिखाया है। मान कषायसे युक्त जीवमें नम्रता नहीं हुआ करती है। इसी भावको चार दृष्टान्तोंके द्वारा बताया है। जिस प्रकार पत्थरका स्तम्भ सबसे अधिक कठोर होता है। वह टूट जाता है, परन्तु बिलकुल भी नम्र नहीं होता। इसी प्रकार जिस मान कषायके उदयसे जीव इतना कठोर हो जाय, कि किसी भी उपायसे नम्रताको धारण ही न करे, उसके शैलस्तम्भसदृश मान समझना चाहिये । इस तरहके मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुआ जीव नरकमें जाकर उत्पन्न होता है। पत्थरकी अपेक्षा कुछ कम कठोरता हड्डीमें पाई जाती है। जिस जीवके हड्डीके स्तम्भके समान अभिमान हो, वह कुछ नम्रताको प्राप्त हो सकता है। ऐसे मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुआ जीव तिर्यग्योनिमें जन्म—धारण किया करता है। लकड़ीमें हड्डीसे अधिक नम्र होनेकी योग्यता है। इसी प्रकार कुछ महीनोंमें ही जो मानको छोड़कर नम्रता धारण कर सके, उसके दारुस्तम्भसदृश मान समझना चाहिये, इस तरहके मानसे युक्त मृत्युको प्राप्त हुए जीव, मनुष्यगतिमें जन्मधारण किया करते है। लता—बेलमें सबसे अधिक नम्रता होती है। इसी प्रकार जो कुछ दिनोंमें ही दूर हो सके, उस मानको लतास्तम्भसदृश समझना चाहिये। इस तरहके मानसे संयुक्त मृत्युको प्राप्त होनेवाले जीव देवगतिमें जन्म—धारण किया करते हैं[1] ।

इन चारों प्रकारके मान कषायकी वासनाका काल क्रोधके समान ही समझना चाहिये । तथा ऊपर क्रोधके जो उदाहरण दिये है, उन्हींके अनुसार प्रकृत विषयके उपसंहार और निगमनकी व्याख्या समझनी चाहिये। क्रोधके समान ही मान कषाय है। वह जिस दर्जेका जिस जीवके होगा, उसीके अनुसार उस जीवको फल प्राप्त होगा, और जो उस कषायसे सर्वथा रहित हैं, वे नियमसे निर्वाणको प्राप्त हुआ करते है।

१—सेलट्ठिकट्ठवेत्ते नियभेयेणणुहरंतओ माणो। णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥२८४॥ गो० जी०

२—फलितार्थको दिखानेके लिये प्रतिज्ञा—वाक्यके दुहरानेको निगमन कहते हैं।

भाष्यम्--माया प्रणिधिरुपधिर्निकृतिरावरणं वञ्चना दम्भः कूटमतिसंधानमनार्जवमित्यनर्थान्तरम् । तस्या मायायास्तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा--वंशकुणसदृशी, मेषविषाणसदृशी, गोमूत्रिकासदृशी, निर्लेखनसदृशीति । अत्राप्युपसंहारनिगमने क्रोधनिदर्शनैर्व्याख्याते ॥

अर्थ---माया, प्रणिधि, उपधि, निकृति, आवरण, वञ्चना, दम्भ, कूट, अतिसंधान, और अनार्जव, ये सब पर्यायवाचक शब्द है । क्रोध और मान कषायकी तरह इस माया कषायके भी तीव्र आदि भावोंकी अपेक्षा--तीव्र मध्यम विमध्यम और मन्दभावोंको प्रकट करनेवाले चार दृष्टान्तरूप वाक्य है ।--यथा--वंशकुणसदृशी, मेषविषाणसदृशी, गोमूत्रिकासदृशी, और निर्लेखनसदृशी[1] । इस विषयके भी उपसंहार और निगमनकी व्याख्या क्रोधके दृष्टान्तोंसे ही समझ लेनी चाहिये ।

भावार्थ---मन वचन कायका प्रयोग जहाँपर विषमरूपसे किया जाय, वहाँ माया कषाय समझना चाहिये । दूसरेको धोखा देने या ठगनेके अभिप्रायसे अपने मनके अभिप्रायको छिपाकर दूसरा आशय प्रकट करनेवाले वचन बोलना या शरीरसे वैसी कोई चेष्टा करना तथा इसी प्रकार वचन और कायमें भी वैषम्य रखने को माया कहते हैं । यह कषाय भी तरतम भावकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है, फिर भी सामान्यतया दृष्टान्तों द्वारा उसके चार भेद कहे जा सकते हैं, जोकि क्रमसे उसके तीव्रभाव, मध्यमभाव, विमध्यमभाव, और मन्दभावको प्रकट करनेवाले हैं । किसी भी तरह जिसका अंत न पाया जा सके, ऐसी बाँसकी जड़के समान अत्यन्त जटिल वञ्चनाको वंशकुणसदृशी समझना चाहिये । जिसमें मेढ़ेके सींग सरीखी कुटिलता पाई जाय, उसको मेषविषाणसदृशी, और जिसमें गोमूत्रके समान वक्रता रहे, उसको गोमूत्रिकासदृशी, तथा जिसमें खुरपी आदिके समान टेढ़ रहे, उसको निर्लेखनसदृशी माया समझना चाहिये । इनकी स्थिति फल आदिका व्याख्यान सब क्रोधकी तरहसे ही कर लेना या समझलेना चाहिये । इस कषायसे जो सर्वथा रहित है, वे निर्वाण-पदके भागी होते हैं ।

भाष्यम्--लोभो रागो गार्ध्यमिच्छा मूर्छा स्नेहः कांक्षाभिष्वङ्ग इत्यनर्थान्तरम् । तस्यास्य लोभस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति । तद्यथा--लाक्षारागसदृशः, कर्दमरागसदृशः, कुसुम्भरागसदृशो हरिद्रारागसदृशः इति । अत्राप्युपसंहारनिगमने क्रोधनिदर्शनैर्व्याख्याते ॥

अर्थ---लोभ, राग, गार्ध्य, इच्छा, मूर्च्छा, स्नेह, काङ्क्षा, और अभिष्वङ्ग ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । इस लोभ कषायके भी तीव्रादि भावोंकी अपेक्षासे चार दृष्टान्त हैं । यथा--लाक्षारागसदृश, कर्दमरागसदृश, कुसुम्भरागसदृश, और हरिद्रारागसदृश[2] । इस विषयमें भी उपसंहार और निगमनकी व्याख्या क्रोधके जो दृष्टान्त दिये है, उन्हींके द्वारा समझ लेनी चाहिये ।

१---वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तएय खोरप्पे । सरिसी माया णारयतिरियणरामरईसुखिवदि जियं ॥२८५॥ गो. जी.

२--किमिरायचक्कतणुमलहरिराएणसरिसओ लोहो । णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो ॥२८६॥ गो०जी

भावार्थ—इष्ट वस्तुको प्राप्त करनेकी आशा तथा प्राप्त वस्तुके वियोग न होनेकी अभिलाषाको लोभ कहते हैं। यह कषाय पर-पदार्थमें ममत्व बुद्धिके रहनेको सूचित करती है। इसके भी तरतम भावोंको बतानेके लिये चार दृष्टान्तोंके द्वारा जो चार स्थान बताये हैं, उनका आशय यह है कि—जिस प्रकार लाखका रंग सबसे अधिक पक्का होता है, और वह कपड़ेके फ़टनेतक भी दूर नहीं होता, उसी प्रकार परम प्रकृष्ट स्थानको प्राप्त लोभ लाक्षारागसदृश समझना चाहिये। इससे कम स्थितिवाला और जो कदाचित् किसी उपायसे दूर हो सकता है, वह कर्दमरागसदृश है। जिस प्रकार कीचड़का रंग कपड़ेमें लग जानेपर कष्टसे छूटता है, उसी प्रकार इस लोभको समझना चाहिये। कीचड़के रंगकी अपेक्षा कुसुमका रंग जल्दी छूट सकता है, उसी प्रकार जो लोभ कुछ ही कालके बाद विलीन हो जाय, उसको कुसुम्भरागसदृश समझना चाहिये, और जो हल्दीके रंगके समान हो, उसको हरिद्रासदृश कहना चाहिये। इन चारों प्रकारके लोभका फल भी क्रमसे नरक तिर्यगति मनुष्यगति और देवगति है। जो चारों ही प्रकारके लोभसे रहित हैं, वे निर्वाण-पदको प्राप्त किया करते हैं।

भाष्यम्—एषां क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां प्रत्यनीकभूताः प्रतिघातहेतवो भवन्ति। तद्यथा—क्षमा क्रोधस्य मार्दवं मानस्यार्जवं मायायाः संतोषो लोभस्येति॥

अर्थ—इन उपर्युक्त क्रोधादिक चार कषायोंके प्रतिपक्षी-विरोधी चार धर्म हैं, जोकि इन चारों कषायोंके प्रतिघातके कारण हैं। यथा क्रोधका प्रतिपक्षी क्षमा है, मानका प्रतिपक्षी मार्दव, मायाका प्रतिपक्षी आर्जव, और लोभका प्रतिपक्षी संतोष है।

भावार्थ—क्रोधादिक कषाय कर्मजन्य-भाव हैं-वे वास्तवमें आत्माके नहीं है। मोहनीय कर्मका स्वभाव आत्माको मोहित-मूर्च्छित करना है, ऐसा पहले बता चुके है। उसीके उत्तरभेदरूप इन कषायोंके उदयसे आत्मा, जब विपरिणत होता हैं, तब उस उस कषायरूप कहा जाता है। क्षमा आदिक आत्माके भाव है। जो कि इन कषायोंके नाशसे प्रकट होते हैं। क्योंकि क्रोधादिक और क्षमादिक दोनों ही भाव परस्परमें प्रतिपक्षी हैं। अतएव जहाँ एक रहेगा वहाँ उसका प्रतिपक्षी दूसरा नहीं रह सकता। क्रोधके रहते हुए क्षमा नहीं रह सकती, और क्षमाके रहते हुए क्रोध नहीं रह सकता। अतएव क्रोधादिके विनाशके कारण क्षमादिक चार धर्म हैं।

क्रोधोत्पत्तिके कारण मिलनेपर भी क्रोध न होने देना, उसको सहन करना क्षमा है। मार्दवका अर्थ कोमलता और नम्रता है। आर्जव नाम सरलता अथवा कपट रहित प्रवृत्ति करनेका है, इष्ट वस्तुके अलाभमें भी तृप्ति रहनेको संतोप समझना चाहिये।

मोहनीयके अनन्तर क्रमानुसार आयुष्क-कर्मके उत्तरभेदोंको गिनाते हैं:—

सूत्र—नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आयुष्कं चतुर्भेदं नारकं तैर्यग्योनं मानुषं दैवमिति ॥

अर्थ—आयुष्क नामक प्रकृतिबन्धके चार भेद हैं—नारक, तैर्यग्योन, मानुष, और दैव।

भावार्थ—आयुकर्मका स्वरूप पहले बता चुके है, कि जिसके उदयसे जीवको भवान्तरमें अवश्य ही जन्म धारण करना पड़ता है। भव–गति चार ही हैं, अतएव आयुके भी चार ही भेद हैं। एक साथ दो आयुकर्मका उदय नहीं हुआ करता। एक आयु जब पर्ण हो जाती है, तब दूसरी आयुका जिसका कि अपकर्षकालमें बंध होगया हो, उदय हुआ करता है। अतएव मरणके अनन्तर विग्रहगतिमें भी परभव सम्बन्धी आयुका ही उदय रहा करता है। आयुकर्म जो बँध जाता है, वह अपना फल दिये विना नहीं छूटता। नियमसे जीवको अपने योग्य भवमें वह ले जाता है। जैसे कि अपकर्ष कालमें नरकायुका बंध हुआ, तो उस जीवको मरणके अनन्तर नियमसे नरकमें ही जाना पड़ेगा। देवोंके देवायु और नरकायुका तथा नारकोंके नरकायु और देवायुका बंध नहीं हुआ करता, शेष मनुष्य और तिर्यंचोंके चारों ही आयुका बंध होता है। परन्तु एक जीवके एक ही परभवसम्बन्धी आयुका बंध होता है। उदय भी एक समयमें एक जीवके एक ही आयुका होता है। इसकी स्थितिके उत्कर्षण अपकर्षण उदीरणा आदि सम्वन्धी नियम ग्रन्थान्तरोंमें देखना चाहिये। बंधके लिये आठ अपकर्षकाल ही योग्य है। शेष समयोंमें आयुकर्मका बंध नहीं होता।

नामकर्मके ब्यालीस भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥ १२ ॥

भाष्यम्—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, वन्धननाम, संघातनाम, संस्थाननाम, संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गंधनाम, वर्णनाम, आनुपूर्वीनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातकनाम, परघातकनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगति नाम, प्रत्येकशरीरादीनां सेतराणां नामानि। तद्यथा—प्रत्येकशरीरनाम, साधारणशरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, वादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम, तीर्थनाम, तीर्थकरनाम, इत्येतद्द्विचत्वारिंशद्विधं मूलभेदतो नामकर्म भवति। उत्तरनामानेकविधम्। तद्यथा-गतिनाम चतुर्विधं नरकगतिनाम,

तिर्यग्योनिगतिनाम, मनुष्यगतिनाम, देवगतिनाम। जातिनाम्नो मूलभेदाः पंच। तद्यथा-एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनामेति। एकेन्द्रियजातिनामानेकविधम्। तद्यथा-पृथिवीकायिकजातिनाम, अप्कायिकजातिनाम, तेजःकायिकजातिनाम, वायुकायिकजातिनाम, वनस्पतिकायिकजातिनामेति। तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम्।। तद्यथा-शुद्धपृथिवी शर्करा बालुकोपल शिलालवणायस्त्रपु-ताम्र-सीसक-रूप्य-सुवर्ण-वज्र-हरिताल-हिङ्गुलक-मनःशिलासस्यकाञ्चन प्रवालकाभ्रपटलाभ्रवालिकाजातिनामादि गोमेदक-रुचकाङ्क-स्फटिक लोहिताक्षजलावभास-वैडूर्यचन्द्रप्रभ-चन्द्रकान्तसूर्यकान्त-जलकान्त-मसारगल्लाश्मगर्भ-सौगन्धिकपुलकारिष्ट काञ्चनमणिजातिनामादि च। अप्कायिकजातिनामानेकविधम्-तद्यथा-उपक्लेदावश्यायनीहारहि मघनोदक शुद्धोदकजातिनामादि। तेजःकायिकजातिनामानेकविधम्। तद्यथा-अङ्गार-ज्वालालातार्चिर्मुर्मुर-शुद्धाग्निजातिनामादि। वायुकायिक जातिनामानेकविधम्। तद्यथा-उत्कालिका मण्डलिका झञ्झकायनसंवर्तक जातिनामादि। वनस्पतिकायिक जातिनामानेकविधम्। तद्यथा-कन्द-मूल-स्कन्ध-त्वक्-काष्ठ-पत्र-प्रवाल-पुष्प-फल-गुल्मगुच्छलतावल्लीतृण पर्वकायशेवाल-पनक-वलक-कुहनजातिनामादि। एवं द्वीन्द्रियजातिनामानेकविधम्। एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामादीन्यपि॥

शरीरनाम पञ्चविधम्—तद्यथा—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, कार्मणशरीरनामेति। अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधम्। तद्यथा—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्गनाम, आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम। पुनरेकैकमनेकविधम्। तद्यथा-अङ्गनाम तावत् शिरोनाम, उरोनाम, पृष्ठनाम, बाहुनाम, उदरनाम, पादनाम। उपाङ्गनामानेकविधम्। तद्यथा-स्पर्शनाम रसनाम, घ्राणनाम, चक्षुर्नाम, श्रोत्रनाम। तथा मस्तिष्ककपालकृकाटिकाशंखललाटतालुकपोलहनुचिबुकदशनौष्ठभ्रूनयनकर्णनासाद्युपाङ्गनामानि शिरसः। एवंसर्वेषामङ्गानामुपाङ्गानां नामानि। जातिलिङ्गाकृतिव्यवस्थानियामकं निर्माणनाम। सत्यां प्राप्तौ निर्मितानामपि शरीराणां बन्धकं बन्धननाम। अन्यथा हि बालुकापुरुषवदबद्धानि शरीराणि स्युरिति। बद्धानामपिचसंघातविशेषजनकं प्रचयविशेषात्संघातनाम दारुमृत्पिण्डायः संघातवत्। संस्थाननाम षड्विधम्। तद्यथा-समचतुरस्रनाम, न्यग्रोधपरिमण्डलनाम, साचि नाम, कुब्जनाम, वामननाम, हुण्डनामेति। संहनननाम षड्विधम्। तद्यथा-वज्रर्षभनाराचनाम, अर्धवज्रर्षभनाराचनाम, नाराचनाम, अर्धनाराचनाम, कीलिकानाम, सृपाटिकानामेति। स्पर्शनामाष्टविधं कठिननामादि। रसनामानेकविधम् तिक्तनामादि। गन्धनामानेकविधं सुरभिगन्धनामादि। वर्णनामनेकविधं कालकनामादि। गतावुत्पत्तुकामस्यान्तर्गतौ वर्तमानस्य तदभिमुखमानुपूर्व्या तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वीनामेति। निर्माणनिर्मितानां शरीराङ्गोपाङ्गानां विनिवेशक्रमनियामकमानुपूर्वीनामेत्यपरे अगुरुलघुपरिणामनियामकमगुरुलघुनाम। शरीराङ्गोपाङ्गोपघातकमुपघातनाम, स्वपराक्रमविजयाद्युपघातजनकं वा। परत्रासप्रतिघातादिजनकं परघातनाम। आतपसामर्थ्यजनकमातपनाम। प्रकाशसामर्थ्यजनकमुद्योतनाम। प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकमुच्छ्वासनाम। लब्धिशिक्षर्धिप्रत्ययस्याकाशगमनस्यजनकं विहायोगतिनाम।

पृथक्शरीरनिर्वर्तकं प्रत्येकशरीरनाम। अनेकजीवसाधारणनिर्वर्तकं साधारणशरीरनाम। त्रसभावनिर्वर्तकं त्रसनाम। स्थावरभावनिर्वर्तकं स्थावरनाम। सौभाग्यनिर्वर्तकं सुभगनाम। दौर्भाग्यनिर्वर्तकं दुर्भगनाम। सौस्वर्यनिर्वर्तकं सुस्वरनाम। दौःस्वर्यनिर्वर्तकं

दुःस्वरनाम। शुभभावशोभामाङ्गल्यनिर्वर्तकं शुभनाम । तद्विपरीतनिर्वर्तकमशुभनाम । सूक्ष्मशरीरानिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम। बादरशरीरानिर्वर्तकं बादरनाम। पर्याप्ति पंचविधा। तद्यथा आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, प्राणापानपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिरिति। पर्याप्तिः क्रियापरिसमाप्तिरात्मनः। शरीरेन्द्रियवाङ्मनः प्राणापानयोग्यदलिकद्रव्याहरणाक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः। गृहीतस्यशरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः । संस्थापनं रचना घटनमित्यर्थः । त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः । भाषायोग्यद्रव्यग्रहणानिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्भाषापर्याप्तिः । मनस्त्वयोग्यद्रव्यग्रहणनिसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्मनःपर्याप्तिरित्येके । आसां युगपदारब्धानामपि क्रमेण समाप्तिरुत्तरोत्तरसूक्ष्मत्वात् सूत्रदार्वादिकर्तनघटनवत्। यथासंख्यं च निदर्शनानि गृहदलिकग्रहणस्तम्भस्थूणाद्वारप्रवेशनिर्गमस्थानशयनादिक्रियानिर्वर्तनानीति । पर्याप्तिनिर्वर्तकंपर्याप्तिनाम । अपर्याप्तिनिर्वर्तकमपर्याप्तिनाम । अपर्याप्तिनाम तत्परिणामयोग्यदलिकद्रव्यमात्मनोपात्तमित्यर्थः ॥

स्थिरत्वानिर्वर्तकं स्थिरनाम । विपरीतमास्थिरनाम । आदेयभावानिर्वर्तकमादेयनाम । विपरीतमनादेयनाम । यशोनिर्वर्तकं यशोनाम । विपरीतमयशोनाम । तीर्थकरत्वनिर्वर्तकं तीर्थकरनाम । ताँस्तान्भावान्नामयतीति नाम । एवं सोत्तरभेदो नामकर्मभेदोऽनेकविधः प्रत्येतव्यः ॥

अर्थ—प्रकृतिबंधका छट्ठाभेद नामकर्म है । उसके मूलभेद ४२ हैं । जोकि इस प्रकार है-गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम, बन्धननाम, संघातनाम, संस्थाननाम, संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गन्धनाम, वर्णनाम, आनुपूर्विनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, परघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगतिनाम । यहाँतक २१ भेद हुए । यहाँसे आगे प्रत्येक शरीरादिकके भेद है जोकि सप्रतिपक्ष हैं । सूत्रमें जिनका नामोल्लेख किया गया है, वे भी नामकर्मके भेद हैं, और उनके विपरीत भी नामकर्मके भेद हुआ करते है । जैसे कि प्रत्येकशरीरनाम, साधारणशरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम । इस तरह २० भेद है । पूर्वोक्त २१ और २० ये इस प्रकार कुल मिलकर ४१ भेद हुए । एक भेद तीर्थनाम है, इसीको तीर्थकरनाम भी कहते है । अतएव सब मिलकर नामकर्मके मूलभेद ४२ होते है ।

नामकर्मके उत्तरभेद अनेक हैं । जोकि इस प्रकार है—गतिनाम चार प्रकारका है, यथा नरक गतिनाम, तिर्यग्योनिगति नाम और देवगति नाम । जातिनाम कर्मके मूल उत्तरभेद पाँच है ।–एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, और पंचेन्द्रियजातिनाम । इनमेंसे एकेन्द्रियजातिनामके भी अनेक भेद हैं। यथा–पृथिवीकायिक जातिनाम, अप्कायिकजातिनाम, तेजःकायिकजातिनाम वायुकायिकजातिनाम, और वनस्पतिकायिकजातिनाम।

इनमेंसे पृथिवीकायिकजातिनामकर्मके अनेक भेद हैं। जैसे कि शुद्ध पृथिवी[1], शर्करा, वालुका, उपल, शिला, लवण, लोह, पारद, तांवा, सीसा, चांदी, सोना, हीरा, हड़ताल, हिङ्गुल, मेनशिल, सस्यकाञ्चन, प्रवाल, मूँगा, अभ्रपटल[2], अभ्रवालिका[3], इत्यादि। इसी तरह और भी अनेक भेद है। यथा—गोमेदक[4], रुचक[5], अङ्क[6], स्फटिक, लोहिताक्ष[7], जलावभास, वैडूर्य, चन्द्रप्रभ, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, जलकान्त, मसारगल्ल[8], अश्मगर्भ, सौगन्धिक, पुलक, अरिष्ट[9], काञ्चनमणि[10], इत्यादि[11]। इसी तरह जलकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक भेद हैं। जैसे कि—उपक्लेद, अवश्याय, नीहार, हिम, घनोदक, तथा शुद्धोदक इत्यादि। अग्निकायिकजातिनामकर्म भी अनेक प्रकारका है। जैसे कि—अङ्गार, ज्वाला, घात (स्फुलिंग), अर्चि, मुर्मुर, और शुद्धाग्नि। इसी प्रकार और भी अनेक अवान्तर भेदोंको समझ लेना चाहिये। तथा वायुकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक भेद हैं। यथा—उत्कलिका, मण्डलिका, झञ्झकायन, संवर्तक, इत्यादि। वनस्पतिकायिकजातिनामकर्मके भी अनेक अवान्तर भेद हैं। जैसे कि कन्द, मूल, स्कन्ध, त्वक्, काष्ठपत्र, प्रवाल, पुष्प, फल, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्ली, तृण, पर्वकाय, शेवाल, पनक, वलक, और कुहन। इत्यादि अनेक भेद है। ये सब एकेन्द्रियजातिनामकर्मके अवान्तर भेद हैं। इसी तरह द्वीन्द्रिय प्रभृति जातिनामकर्मके उत्तरभेदोंको समझ लेना चाहिये। जैसेकि पेटमें जो कीड़े पड़ जाते हैं—पटेरे, तथा शंख, सीप, गिंडोले, जोंक, और लट आदि जीव द्वीन्द्रिय हैं। इनके स्पर्शन और रसन ये दो ही इन्द्रियाँ रहती है। कुंथु, चींटी, जूं, खटमल, विच्छू और इन्द्रगोप आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके भेद हैं। मच्छड़ पतङ्ग, डांस, मक्खी, भ्रमर, वर्र ततैया आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके अवान्तर भेद हैं। हाथी घोड़ा ऊंट आदि पशु और मयूर, कपोत, तोता, मैना आदि पक्षी सर्प मूसक आदि जीव, तथा मत्स्य, मकर, कच्छप आदि जलचर जीव और देव नारक तथा मनुष्य ये सब पंचेन्द्रिय जीवोंके अवान्तर भेद है। अतएव इन जातिनामकर्मोके उत्तरभेदोंको समझना चाहिये।

शरीर नामकर्मके पाँच भेद हैं। यथा—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियशरीरनाम, आहारक-

---

१—जिसके अवान्तर भेद हैं, उस शब्दको प्रत्येक भेदके साथ जोड़कर बोलना चाहिये, जैसे कि शुद्धपृथिवीकायिकजातिनामकर्म, शर्करापृथिवीकायिकजातिनामकर्म, इत्यादि। इसी तरह जलकायिकादिके भेदोंके विषयमें भी समझना चाहिये। २—अभ्रकके पटल। ३—अभ्रककी वालु। ४—इसको कर्केतन भी कहते हैं। इसका रंग गोरोचन सरीखा होता है। ५—इसका दूसरा नाम राजावर्तमणि भी है। इसका रंग अलसीके फूल सरीखा होता है। ६—इसका रंग प्रवाल सरीखा होता है। ७—पद्मरागमणि। ८—इसका रंग मूंगाकासा होता है। ९—१०—मणिविशेष। ११—गैरिक, चन्दन, वर्वर, वक, मोच प्रभृति रत्नविशेष और चिन्तामणिरत्न तथा अनेकविध पृथिवी, मेरु आदि पर्वत. द्वीप, विमान, भवन, वेदिका, प्रतिमा, तोरण, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मलिवृक्ष, धातकीवृक्ष, और कल्पवृक्ष आदि पृथिवीके भेदोंमें ही अन्तर्भूत हैं। दिगम्बर—सम्प्रदायमें पृथिवीके ३६ भेद गिनाये हैं, जिनमे कि इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जलादिकके भेद भी समझ लेने चाहिये। जैसे कि श्रीअमृतचन्द्रसूरीने तत्त्वार्थसारमें गिनाये हैं।

शरीरनाम, तैजसशरीरनाम और कार्मणशरीरनाम। अङ्गोपाङ्गनामकर्मके तीन भेद हैं। जोकि इस प्रकार है—औदारिकाङ्गोपाङ्ग, वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्ग आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग। इनमें भी एक एकके अनेक अवान्तर भेद हैं। जैसे कि अङ्गनामकर्मके उत्तर—भेद इस प्रकार है—शिरोनाम उरोनाम पृष्ठनाम बाहुनाम उदरनाम और पादनाम। उपाङ्गनामकर्मके भी अनेक भेद है। जैसे कि—स्पर्शनाम, रसनाम, घ्राणनाम, चक्षुर्नाम, और श्रोत्रनाम,। मास्तिष्क, कपाल, कृकाटिका, शङ्ख, ललाट, तालु, कपोल, हनु, चिबुक, दशन, ओष्ठ, भ्रू, नेत्र, कर्ण, और नासिका आदि शिरके उपाङ्ग हैं। इसी तरह और भी समस्त अङ्गों तथा, उपाङ्गोंके नाम समझ लेने चाहिये। जिसके उदयसे शरीर और उसके अङ्गोपाङ्ग की ऐसी आकृति-विशेष नियामित रूपसे बने, जोकि उस उस जातिका लिङ्गरूप हो, उसको निर्माणनामकर्म कहते हैं। प्राप्ति हो जानेपर रचित शरीरोंका परस्परमें जिस कर्मके उदयसे बन्धन हो, उसको बन्धन-नामकर्म कहते हैं। अर्थात् जिस कर्मके निमित्तसे औदारिकादि शरीरोंके योग्य आकारको प्राप्त हुए पुद्गलस्कन्धोंका आपसमें ऐसा संश्लेषविपेशरूप सम्बन्ध हो जाय, जोकि प्रदेशावगाह अथवा एकत्व बुद्धिके जनक आविश्विग्भावरूप हो, उसको बन्धननामकर्म समझना चाहिये। यदि इस तरहका शरीरोका परस्परमें बन्धन न हो, तो बालूके बने हुए पुरुषकी तरह मनुष्यमात्रके शरीर अबद्ध ही रहें।—जीवमात्रके शरीरोंके पुद्गलस्कन्ध बद्धरूप न रहकर विशीर्ण ही हो जाँय। अतएव उनके बन्धनविशेषकी आवश्यकता है। सो यही कार्य बन्धननामकर्मके उदयसे हुआ करता है। शरीर योग्य पुद्गलस्कन्धोंका बन्धनविशेष हो जानेपर भी जबतक ऐसा दृढ़ और प्रचयविशेषरूप संश्लेष न हो जाय, जैसा कि काष्ठ—लकड़ी अथवा मृत्पिण्ड—कंकड़ पत्थर या कपाल और लोहेके पुद्गलस्कन्धोंमें हुआ करता है, तबतक शरीर स्थिर नहीं रह सकता। अतएव जिस कर्मके उदयसे संघातविशेषका जनक प्रचयविशेष हो, उसको संघातनामकर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरकी आकृतिविशेष बने, उसको संस्थाननामकर्म कहते हैं। उसके छह भेद है।—समचतुरस्रनाम, न्यग्रोधपरिमण्डलनाम, साचिनाम, कुब्जनाम, वामननाम, और हुण्डकनाम। जिस कर्मके उदयसे शरीर और उसके अङ्ग उपाङ्ग सामुद्रिक—शास्त्रके अनुसार यथाप्रमाण हो, उसको समचतुरस्र कहते है। जिस कर्मके उदयसे न्यग्रोध—वटवृक्षकी तरह शरीरका आकार नीचे हलका—पतला और ऊपर भारी—मोटा हो, उसको न्यग्रोधपरिमण्डल कहते है। जिस कर्मके उदयसे शरीर स्वाति नक्षत्रके समान नीचे भारी और उपर हलका बने, उसको साचि अथवा स्वाति कहते है। जिस कर्मके उदयसे कुब्ज—कूबड़सहित शरीर प्राप्त हो, उसको कुब्जनाम कहते है। जिस कर्मके उदयसे छोटा शरीर प्राप्त हो, उसको वामननामकर्म कहते है। जिस

१—शरीरके आठ अंग प्रसिद्ध हैं। यहाँपर छह नाम गिनाये हैं, किन्तु बाहु दो और पाद दो गिननेसे आठ अंग पूरे हो जाते हैं।

कर्मके उदयसे शरीर तथा उसके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्ग विरूप या अनियत आकारका बनें उसको हुण्डकनामकर्म कहते हैं। संहनन नाम हड्डी अथवा शरीरकी हड्डी आदिकी दृढ़ताका है। जिस कर्मके उदयसे वह प्राप्त हो, उसको संहनननामकर्म कहते हैं, उसके भी छह भेद हैं। यथा—वज्रर्षभनाराच, अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, और सृपाटिका[1]। जिस कर्मके उदयसे वज्रकी हड्डी वज्रका वेष्टन और वज्रकी ही कीली हो, उसको वज्रर्षभनाराच संहनन कहते हैं। जिसकर्मके उदयसे वज्रकी हड्डी और वज्रका वेष्टन तथा वज्रकी कीली आधी प्राप्त हो, उसको अर्धवज्रर्षभनाराचसंहनन कहते है। जिसके उदयसे हड्डियोंके ऊपर वेष्टन प्राप्त हो, उसको नाराचसंहनन कहते है। जिसके उदयसे आधा वेष्टन प्राप्त हो, उसको अर्धनाराचसंहनन कहते हैं। जिसके उदयसे हड्डियोंमें कीलियाँ प्राप्त हो, उसको कीलिकासंहनन कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे हड्डियाँ न वेष्टित हों, और न कीलितहों, केवल नसोंके द्वारा बँधी हों, उसको सृपाटिकासंहनन कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरमें स्पर्शनेन्द्रियके विषयभूत गुण प्राप्त हों, उसको स्पर्शनामकर्म कहते है। इसके आठभेद हैं। यथा—कठिन, कोमल, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, और उष्ण। जिसके उदयसे शरीरमें रसना इन्द्रियका विषयभूत गुण प्राप्त हो, उसको रसनामकर्म कहते हैं। उसके पाँच भेद है। यथा——तिक्त मधुर अम्ल कटु और कषाय। जिसके उदयसे शरीरमें घ्राणेन्द्रियका विषयभूत गुण प्राप्त हो, उसको गन्धनामकर्म कहते है। उसके दो भेद है, सुरभि और असुरभि।—सुगन्ध और दुर्गन्ध। जिसके उदयसे शरीरमें चक्षुरिन्द्रियका विषयभूत गुण उत्पन्न हो, उसको वर्णनामकर्म कहते हैं। उसके पाँच भेद है।—काला पीला लाल श्वेत हरित[2]। मरणके अनन्तर यथायोग्य गतिमें उत्पन्न होनेके लिये गमन करते समय जबतक योग्य जन्मस्थानमें पहुँचा नहीं है, तबतक जिस कर्मके उदयसे जीव उस गतिके जन्मस्थानकी तरफ उन्मुख रहता और उस स्थानको प्राप्त होता है, उसको आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं। यह कर्म जीवको मृत्युके बाद भवान्तरमें पहुँचानेके लिये समर्थ है[3]। कोई कोई कहते है, कि निर्माणकर्मके द्वारा जिनका योग्य निर्माण हो चुका है, ऐसे शरीरके अंग और उपांगोंका जिसके निमित्तसे विनिवेश—क्रमका नियमन हो—नियमबद्ध योग्य स्थानोंपर ही वे निवेशित हों, उसको आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं[4]। जिसके

१—दिगम्बर–सम्प्रदायमें छह भेद इस प्रकार हैं—वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन अर्धनाराचसंहनन कीलकसंहनन और सृपाटिकासंहनन। २—भाष्यकारने स्पर्शादिकके भेदोंको बताते समय आदि शब्दका प्रयोग किया है, जिससे ऐसा मालूम होता है, कि इस लिखित प्रमाणसे स्पर्श रस वर्ण और गंधके अधिक भी भेद होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है, इन गुणोंके भेद इतने ही होते हैं। जैसा कि स्वयं भाष्यकारने भी अध्याय ५ सूत्र २३ की टीकामें दिखाया है। ३—दिगम्बर–सम्प्रदायमे इसका अर्थ ऐसा माना है, कि इसके उदयसे विग्रहगतिमे जीवका आकार त्यक्त—छोड़े हुये शरीरके आकार रहा करता है। जैसे कि कोई पशु मरकर देव हुआ, तो उस जीवका विग्रहगतिमें आकार उस पशु सरीखा रहेगा। ४—दिगम्बर–सम्प्रदायमें यह कार्य निर्माणकर्मका है। क्योंकि उसके दो भेद हैं।—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण।

उदयसे शरीर न तो रुई सरीखा हलका और न लोहे सरीखा भारी बने, उसको अगुरुलघु-नामकर्म कहते हैं। जिसके निमित्तसे अपने ही शरीरके अङ्ग और उपांगोंका घात हो, अथवा जिसके द्वारा अपने ही पराक्रम विजय आदिका उपघात हो, उसको उपघातनामकर्म कहते हैं[1]। जिसके निमित्तसे दूसरेको त्रास हो, अथवा दूसरेका घात हो, उसको पराघात[2]नामकर्म कहते हैं। जिसके निमित्तसे शरीरमें आतप[3]की सामर्थ्य प्राप्त हो, उसको आतपनामकर्म कहते है। जिसके उदयसे शरीरमें प्रकाश[4]की सामर्थ्य प्रकट हो, उसको उद्योतनामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे श्वासोच्छ्वासके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो, उसको उच्छ्वासनामकर्म कहते है। जिसके निमित्तसे आकाशमें गमन करनेकी योग्यता प्राप्त हो, उसको विहायोगतिनामकर्म करते हैं। यह योग्यता तीन प्रकारकी हुआ करती है—लब्धि-प्रत्यय, शिक्षाप्रत्यय, और ऋद्धिप्रत्यय।

नामकर्मकी सप्रतिपक्ष प्रकृतियोंका अभिप्राय इस प्रकार है—

जिसके उदयसे प्रत्येक जीवका शरीर भिन्न भिन्न बने, उसको प्रत्येकशरीरनामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे अनेक जीवोंका एक ही शरीर बने, उसको साधारणशरीरनामकर्म कहते है। जिसके उदयसे द्वीन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रियतककी अवस्था प्राप्त हो, उसको त्रसनामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे पूर्वोक्त पाँच स्थावरों—पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पतिकी दशा प्राप्त हो, उसको स्थावरनामकर्म कहते हैं। जिसके निमित्तसे सौभाग्य प्राप्त हो, उसको सुभगनामकर्म कहते हैं। जिसके निमित्तसे दौर्भाग्य प्राप्त हो, उसको दुर्भगनामकर्म कहते हैं। जिसके निमित्तसे अच्छा स्वर प्राप्त हो, उसको सुस्वर और जिसके जिसके निमित्तसे अशुभ स्वर प्राप्त हो, उसको दुःस्वरनामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे शुभ भाव और शोभा तथा माङ्गल्य प्राप्त हो, उसको शुभनामकर्म कहते है। इसके विपरीत अवस्था जिससे प्राप्त हो, उसको अशुभनामकर्म कहते हैं। जिससे ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो न दूसरेको रोक सके, या न दूसरेसे रुक सके, उसको सूक्ष्मनामकर्म और जिसके निमित्तसे इसके विपरीत स्वभाववाला शरीर प्राप्त हो, उसको बादरनामकर्म कहते है। जिसके निमित्तसे आत्माकी क्रिया समाप्ति हो, उसको पर्याप्तिनामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद[5] हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, प्राणापानपर्याप्ति, और भाषापर्याप्ति। शरीर इन्द्रिय वचन मन और श्वासोच्छ्वासके योग्य स्कन्ध-रूप पुद्गल द्रव्यका जिसके द्वारा आहरण—ग्रहण हो, ऐसी क्रियाकी जिसके द्वारा परिसमाप्ति हो, उसको आहारपर्याप्ति कहते हैं। गृहीत पुद्गलस्कन्धोंको शरीररूपमें स्थापित करनेवाली

१—जिसके उदयसे ऐसे अंगोपाग बनें, कि जिनसे अपना ही घात हो। २—जिसके उदयसे, ऐसे अंगोपाङ्ग बने जो दूसरेका घात करें। ३—जिसका मूल ठंडा हो, और प्रभा उष्ण हो, उसको आतप कहते हैं। ४—जिसका मूल भी ठंडा हो और प्रभा भी ठंडी हो, उसको उद्योत कहते हैं। ५—दिगम्बर-सम्प्रदायमें छह भेद ही माने हैं। एक मनःपर्याप्ति भी मानी है। जैसा कि भाष्यकारने भी एकीयमतसे उल्लेख किया है। इनके अर्थकी विशेषता गोम्मटसारके पर्याप्ति अधिकार में देखनी चाहिये।

क्रियाकी परिसमाप्ति जिसके निमित्तसे हो, उसको शरीरपर्याप्ति कहते हैं। संस्थापन शब्दका आशय यह है, कि शरीररूप रचना या घटन। स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी रचना जिसके द्वारा सिद्ध हो, उस क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति हो जाय, उसको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। श्वासोछ्वास क्रियाके योग्य पुद्गलस्कन्धोंको ग्रहण करने या छोड़नेकी शक्ति जिससे सिद्ध हो, ऐसी क्रियाकी परिसमाप्ति जिससे हो, उसको प्राणापानपर्याप्ति कहते है। भाषा—वचनके योग्य पुद्गल द्रव्यको ग्रहण करने या छोड़नेकी शक्तिकी जिससे निवृत्ति हो, उस क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति हो, उसको भाषापर्याप्ति कहते हैं। कोई कोई आचार्य एक छट्ठी मनःपर्याप्ति भी वताते है, जिसका कि अर्थ इस प्रकार करते हैं, कि मन—द्रव्यमनके योग्य पुद्गल द्रव्यको ग्रहण और विसर्ग—त्यागकी शक्तिको निष्पन्न करनेवाली क्रियाकी जिससे परिसमाप्ति होजाय, उसको मनःपर्याप्ति कहते हैं। जिस प्रकार सूतका जो कपड़ा बुना जाता है, उसमें समस्त क्रियाओंका प्रारम्भ एक साथ ही होजाता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमसे होती है। इसी प्रकार लकड़ीके कतरने आदिके विषयमें सब कामका प्रारम्भ युगपत् और उनकी समाप्ति क्रमसे होती है, इसी तरह पर्याप्तियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। इनका भी आरम्भ युगपत् और पूर्णता क्रमसे होती है। जिस जीवके जितनी पर्याप्ति संभव है, उसके उनका आरम्भ एक साथ ही हो जाता है, किन्तु पूर्णता क्रमसे होती है। क्योंकि ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इनके क्रमसे ये दृष्टान्त हैं—गृह—निर्माणके योग्य वस्तुओंका ग्रहण, स्तंभ, स्थूणा—थूनी और द्वार, तथा जाने आनेके स्थान एवं शयन आदि क्रिया। ये जिस प्रकार क्रमसे हुआ करते हैं, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। ऊपर जो पर्याप्तिके भेद गिनाये हैं, उनकी जिससे निर्वृत्ति हो, उसको पर्याप्तिनामकर्म कहते है, और जिससे इनकी निर्वृत्ति न हो, उसको अपर्याप्तिनामकर्म कहते हैं। तत्तत्परिणमनके योग्य स्कन्धरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण नहीं करता, यही अपर्याप्तिका तात्पर्य है। जिसके निमित्तसे शरीरके अङ्गोपाङ्ग और धातु उपधातु स्थिर रहें—अपने रूपमें अथवा यथास्थान रहें, उसको स्थिरनामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे इसके विपरीत क्रिया हो, उसको अस्थिरनामकर्म कहते है। जिसके निमित्तसे कान्तियुक्त शरीर हो, उसको आदेय और इसके विपरीत जिसके निमित्तसे कान्तिरहित शरीर हो, उसको अनादेयनामकर्म कहते है। जिसके उदयसे जीवकी कीर्ति हो, उसको यशोनाम और इसके विपरीत जिसके निमित्तसे जीवकी अपकीर्ति हो, या कीर्ति न हो, उसको अयशोनामकर्म कहते हैं।

अन्तिम भेद तीर्थकरनामकर्म है। उसका अभिप्राय यही है, कि जिसके उदयसे तीर्थकरत्व सिद्ध हो। तीर्थकी प्रवृत्ति और समवसरणकी विभूति आदिकी रचना तथा कल्याणकोंकी निष्पत्ति आदि इसी कर्मके फल है। इसी अंतरङ्ग कारणके उदयसे समवसरणमें स्थित अरिहंत भगवान्की दिव्यदेशना प्रवृत्त हुआ करती है।

इस प्रकार नामकर्मके ४२ मूलभेद और उनके उत्तरभेदोंका स्वरूप बताया । तत्तत् भावोंको जो बनावे उसको नामकर्म कहते हैं । नामकर्मके उत्तरभेद और उत्तरोत्तर भेद अनेक हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है ।

क्रमानुसार सातवें प्रकृतिबंध—गोत्रकर्मके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते है ।—

सूत्र—उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

भाष्यम्—उच्चैर्गोत्रम् नीचैर्गोत्रं च । तत्रोच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम् । विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यबन्धदास्यादिनिर्वर्तकम् ॥

अर्थ—गोत्रकर्मके दो भेद है ।—उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र । इनमेंसे उच्चैर्गोत्र उसको कहते हैं, जोकि देश जाति कुल स्थान मान सत्कार और ऐश्वर्य आदिकी अपेक्षा उत्कर्षका निर्वर्तक हो । नीचैर्गोत्र इसके विपरीत चण्डाल—नट—व्याध—पारिधी मत्स्यबन्ध—धीवर और दास्य—दास अथवा दासीकी संतान इत्यादि नीच भावका निर्वर्तक है ।

भावार्थ—जिसके उदयसे जीव लोकपूजित कुलमें उत्पन्न हो, उसको उच्च गोत्र और जिसके उदयसे इसके विपरीत लोकनिन्द्य कुलमें जन्म ग्रहण करे, उसको नीचगोत्र कहते हैं । पूज्यता देश कुल जाति[1] आदि अनेक कारणोंसे हुआ करती है । इसी प्रकार निन्द्यताके भी अनेक कारण हैं । सामान्यतया गोत्रके दो ही भेद हैं । परन्तु पूज्यता और निन्द्यताके तारतम्यकी अपेक्षा इसके अवान्तर भेद अनेक हैं ।

अन्तमें आठवें प्रकृतिबंध—अन्तरायकर्मके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते है ।

सूत्र—दानादीनाम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अन्तरायः पञ्चविधः । तद्यथा-दानस्यान्तरायः, लाभस्यान्तरायः, भोगस्यान्तरायः, उपभोगस्यान्तरायः, वीर्यान्तराय इति ॥

अर्थ—अन्तरायकर्मके पाँच भेद हैं । जो कि इस प्रकार हैं—दानका अन्तराय—दानान्तराय, लाभका अन्तराय—लाभान्तराय, भोगका अन्तराय—भोगान्तराय, उपभोगका अन्तराय—उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय ।

भावार्थ—अन्तराय और विघ्न शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । अन्तराय शब्दका अर्थ ऐसा होता है, कि जो बीचमें आकर उपस्थित हो जाय । फलतः जिस कर्मके उदयसे दान आदि कार्योंमें विघ्न पड़ जाय—दानादि कार्य सिद्ध न हो सकें, उसको अन्तरायकर्म कहते है । विषयकी अपेक्षासे इसके पाँच भेद है ।

१— पितृपक्षको कुल और मातृपक्षको जाति कहते हैं । दोनों ही शब्द वंशको लेकर प्रवृत्त हुआ करते हैं ।

जिसके उदयसे दानकी इच्छा रहते हुए और देय–सामग्रीके रहते हुए भी दान न कर सके, उसको दानान्तराय कहते हैं। जिसके उदयसे निमित्त मिलनेपर भी लाभ न हो सके, उसको लाभान्तराय कहते हैं। भोग्य–सामग्रीके उपस्थित रहनेपर भी जिसके उदयसे उसको भोग न सके, उसको भोगान्तराय कहते है। उपस्थित उपभोग्य सामग्रीका भी जिसके उदयसे जीव उपभोग न कर सके उसको उपभोगान्तराय कहते हैं। इसी प्रकार जिसके उदयसे वीर्य-उत्साह शक्तिका घात हो, अथवा वह प्रकट ही न हो, उसको वीर्यान्तराय कहते हैं।

भाष्यम्—उक्तः प्रकृतिबन्धः। स्थितिबन्धं वक्ष्यामः।

अर्थ—इस अध्यायकी आदिमें बन्धके चार भेद बताये थे। उनमेंसे पहले भेद–प्रकृति-बंधका वर्णन हो चुका। उसके अनन्तर स्थितिबन्धका वर्णन समयप्राप्त है। अतएव क्रमा-नुसार अब उसीका वर्णन यहाँसे करेंगे।

स्थिति दो प्रकार की है,–उत्कृष्ट और जघन्य। दोनोंके मध्यके भेद अनेक है, जोकि दोनोंके मालूम हो जानेपर स्वयं समझमें आ जाते हैं। अतएव दो भेदोंमेंसे पहले उत्कृष्ट स्थितिको बताते है। तथा उपर्युक्त अष्टविध प्रकृतियोंमेंसे किस किसकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी कितनी होती है–बँधती है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैः—

सूत्र—आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमको-टीकोट्यः परा स्थितिः॥ १५॥

भाष्यम्—आदितस्तिसृणां कर्मप्रकृतीनां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेद्यानामन्तरायप्रकृतेश्च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः॥

अर्थ—आदिसे लेकर तीन कर्मप्रकृतियोंकी–जिस क्रमसे ऊपर जिन आठ प्रकृतियोंको गिनाया है, उस क्रमके अनुसार उनमेंसे प्रथम द्वितीय और तृतीय प्रकृति अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और वेदनीयकर्मकी तथा आठवें अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटीकोटी सागरकी है।

भावार्थ—प्रतिक्षण जो कर्मोंका बन्ध होता है, उसमें स्थितिका भी बँध होता है। सो इन चार कर्मोंमेंसे प्रत्येककी स्थिति ज्यादःसे ज्यादः ३० कोटीकोटी सागर तककी एक क्षणमें बँध सकती है। अर्थात् इन चार कर्मोंमेंसे एक क्षणका बँधा हुआ कोई भी कर्म जीवके साथ ३० कोटीकोटी सागर[1] तक रह सकता है।

मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैंः—

सूत्र—सप्ततिर्मोहनीयस्य॥ १६॥

भाष्यम्—मोहनीयकर्मप्रकृतेः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः॥

१— एक कोटीको एक कोटीसे गुणा करनेपर जो गुणनफल हो, उसको कोटीकोटी कहते हैं। सागर उप-मामानके भेदोंमेंसे एक भेद है।

अर्थ—मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटीकोटी सागरकी है।

भावार्थ—प्रत्येक कर्मका वन्ध प्रति समय होता है, ऐसा पहले कह चुके है। उनमें मोहनीयका भी बंध होता है। अब यहाँपर स्थितिका प्रकरण है, अतएव उस बंधकी स्थिति बताते है, कि एक क्षणमें बँधनेवाला मोहनीयकर्म ७० कोटीकोटी सागर तक आत्माके साथ सम्बद्ध रह सकता है। यह स्थिति मोहनीयके दो भेदोंमें से दर्शनमोहनीयकी है।

नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं।—

सूत्र—नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नामगोत्रप्रकृत्योर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः॥

अर्थ—नामकर्मप्रकृति अथवा गोत्रकर्मप्रकृतिका जो बंध हुआ करता है, उसमें स्थिति-बंध ज्यादःसे ज्यादः बीस कोटीकोटी सागर तकका हो सकता है।

आयुकर्मकी स्थिति बताते है—

सूत्र—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥ १८ ॥

भाष्यम्—आयुष्कप्रकृतेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परा स्थितिः॥

अर्थ—आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति केवल ३३ सागरकी है।

इस प्रकार आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बताया, अब जघन्य स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये लाघवार्थ पहले वेदनीयकर्मकी स्थिति दिखानेवाला सूत्र कहते हैः—

सूत्र—अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

भाष्यम्—वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादश मुहूर्ता स्थितिरिति॥

अर्थ—वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थितिका प्रमाण बारह मुहूर्त है। अर्थात् एक क्षणमें बँधनेवाले वेदनीयकर्मका स्थितिबंध कमसे कम होगा, तो बारह मुहूर्तका अवश्य होगा, इससे कम वेदनीयका स्थितिबंध नहीं हो सकता।

नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति बताते हैः—

सूत्र—नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

भाष्यम्—नामगोत्रप्रकृतेरष्टौ मुहूर्ता अपरा स्थितिर्भवति॥

अर्थ—नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्य स्थितिका प्रमाण आठ मुहूर्त है, अर्थात् इनका स्थितिबंध इतनेसे कम नहीं हो सकता।

बाकीके कर्मोंकी जघन्य स्थिति कितनी है? उत्तर—

सूत्र—शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—वेदनीयनामगोत्रप्रकृतिभ्यः शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयायुष्कान्तरायप्रकृतीनामपरा स्थितिरन्तर्मुहूर्तं भवति ॥

अर्थ—शेष शब्दसे ऊपर जिन प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति बता चुके है, उनसे बाकी प्रकृतियोंकी ऐसा अर्थ समझना चाहिये । अतएव वेदनीय नाम और गोत्रको छोड़कर बाकी ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय आयुष्क और अन्तराय इन कर्मोंका जघन्य स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्तका हुआ करता है । अर्थात् इन कर्मोंका स्थितिबंध एक समयमें कमसे कम होगा, तो अन्तर्मुहूर्तका होगा, इससे कम इनका स्थितिबंध नहीं हुआ करता ।

भावार्थ—यह बंधका प्रकरण है, और कर्मोंका बंध प्रतिक्षण हुआ करता है । एक आयुकर्मको छोड़कर शेष सातों कर्म संसारी जीवके प्रतिसमय बंधको प्राप्त हुआ करते हैं । अतएव स्थितिबंधके जघन्य उत्कृष्ट प्रमाण बतानेका अभिप्राय भी यही समझना चाहिये, कि इस एक क्षणके बँधे हुए कर्ममें कमसे कम इतने काल तक या ज्यादःसे ज्यादः इतने कालतक साथ रहनेकी योग्यता पड़ चुकी है । किंतु आयुकर्मकी स्थितिका प्रमाण बंधके समयसे नहीं लिया जाता, वह जीवके मरणके समयसे गिना जाता है ।

भाष्यम्—उक्तः स्थितिबन्धः । अनुभागबन्धं वक्ष्यामः ॥

अर्थ—बंधके दूसरे भेदरूप स्थिति बंधका प्रकरण और वर्णन पूर्ण हुआ, अब क्रमानुसार यहाँसे अनुभागबंध—तीसरे भेदका वर्णन करेंगे । अतएव अनुभागका अर्थ अथवा लक्षण बतानेवाला सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—विपाकोऽनुभावः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—सर्वासां प्रकृतीनां फलं विपाकोदयोऽनुभावो भवति । विविधः पाको विपाकः । स तथा चान्यथा चेत्यर्थः । जीवः कर्मविपाकमनुभवन् कर्मप्रत्ययमेवानाभोगवीर्यपूर्वकं कर्मसंक्रमं करोति । उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते, बन्धविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वात् । उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च जात्यन्तरानुबंधविपाकनिमित्तान्यजातीयकत्वादेवसंक्रमो न विद्यते । अपवर्तनं तु सर्वासां प्रकृतीनां विद्यते । तदायुष्केण व्याख्यातम् ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियोंका जो फल होता है, उसको विपाक अथवा विपाकोदय कहते हैं । इसीका नाम अनुभाव अथवा अनुभागबन्ध है । वि शब्दका अर्थ है, विविध—अनेक प्रकारका और पाक शब्दका अर्थ है, परिणाम या फल । बँधे हुए कर्मोंका फल अनेक प्रकारका हुआ करता है, अतएव उसको विपाक कहते है । क्योंकि बंधके समय कर्मोंमें जैसी अनुभवशक्तिका बंध होता है, उसका फल उस प्रकारका भी होता है और उसके प्रतिकूल अन्य प्रकारका भी हुआ करता है । जिस समय जीव कर्मोंके इस विपाकका अनुभव करता है, उसी समय वह उसको करता हुआ

ही कर्मोका संक्रमण कर दिया करता है । इसका कारण कर्म ही है, और वह तमीतक होता है, जबतक कि पूर्वमें उसकी शक्तिका भोग नहीं किया गया हो । यह संक्रम मूल प्रकृतियोंसे अभिन्न सम्पूर्ण उत्तरप्रकृतियोंमें हुआ करता है, परन्तु मलप्रकृतियोंमें नहीं होता । क्योंकि बन्धविपाकके लिये जिस निमित्तकी आवश्यकता है, मूलप्रकृतियाँ उससे भिन्न जातिवाली हुआ करती हैं। उत्तरप्रकृतियोंमें भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका संक्रम नहीं होता । इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व वेदनीयका भी संक्रम नहीं होता, तथा आयुष्ककर्ममें भी परस्पर संक्रम नहीं होता । क्योंकि जात्यन्तरसे सम्बन्ध रखनेवाले विपाकके लिये जिस निमित्तकी आवश्यकता है, ये उस जातिके नहीं हैं । ये उससे भिन्न जातिके हैं । अपवर्तन सभी प्रकृतियोंका हो सकता है । इस बातको आयुष्ककर्मके द्वारा उसके सम्बन्धको लेकर पहले बता चुके हैं[1] ।

किस कर्मका विपाक किस रूपमें होता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—स यथानाम ॥ २३ ॥

भाष्यम्—सोऽनुभावो गतिनामादीनां यथानाम विपच्यते ।

अर्थ—गतिनामादि कर्मोंका अनुभाव उन प्रकृतियोंके नामके अनुसार ही हुआ करता है । उक्त सम्पूर्ण कर्मोंकी जैसी संज्ञा है, और उसके अनुसार जैसा उनका अर्थ होता है, उसीके अनुसार उन कर्मोंका विपाक भी होता है ।

नामके अनुरूप विपाक होजानेके अनन्तर उन कर्मोंका क्या होता है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

भाष्यम्—ततश्चानुभावात्कर्मनिर्जरा भवतीति । निर्जरा क्षयो वेदनेत्येकार्थः । अत्र च शब्दो हेत्वन्तरमपेक्षते–तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यते ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त कर्मोंका विपाक हो चुकता है–जब वे अपना फल दे लेते हैं, उसके अनन्तर ही उनकी निर्जरा हो जाती है–आत्मासे संबंध छोड़ कर वे निर्जीर्ण होजाते है–झड़ जाते हैं। निर्जरा क्षय और वेदना ये शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, इस सूत्रमें च शब्द जो दिया है, वह निर्जराके दूसरे भी हेतुका बोध करानेके लिये है । अर्थात् विपाकपूर्वक भी निर्जरा होती है, और दूसरी तरहसे अथवा अन्य कारणसे भी होती है । क्योंकि आगे चलकर अध्याय ९ सूत्र ३ के द्वारा यह कहेंगे कि " तपसा निर्जरा च " अर्थात् तपसे निर्जरा भी होती है ।

1—अध्याय २ सूत्र ५२ ।

भावार्थ—निर्जरा शब्दका अर्थ बँधे हुए कर्मोका क्रमसे आत्मासे सम्बन्ध छूट जाना है। यह दो प्रकारसे होती है। एक तो यथाकाल और दूसरी प्रयोगपूर्वक। कर्म अपना जब फल दे चुकते है, उसके अनन्तर ही वे आत्मासे सम्बन्ध छोड देते हैं, यह यथाकाल निर्जरा है। इस तरहकी निर्जरा सभी संसारी जीवोंके और सदाकाल हुआ करती है, क्योंकि बँधे हुए कर्म अपने अपने समयपर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते है। अतएव इसको निर्जरा-तत्त्वमें नहीं समझना चाहिये। दूसरी तरहकी निर्जरा तप आदिके प्रयोग द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा-तत्त्व है, और इसी लिये मोक्षका कारण है। इस प्रकार दोनोंके हेतुमें और फलमें अन्तर है, फिर भी वे दोनों ही एक निर्जरा शब्दके द्वारा ही कही जाती हैं। अतएव च शब्दके द्वारा हेत्वन्तरका बोध कराया है।

भाष्यम्—उक्तोऽनुभाववन्धः। प्रदेशवन्धं वक्ष्यामः।

अर्थ—इस प्रकार अनुभागबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ। अब क्रमानुसार चौथे प्रदेशबन्धका वर्णन होना चाहिये। अतएव उसका ही वर्णन करते है।—

सूत्र—नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—नामप्रत्ययाः पुद्गला वध्यन्ते। नाम प्रत्यय एषां ते इमे नामप्रत्ययाः। नामनिमित्ता नामहेतुका नामकारणा इत्यर्थः। सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधश्च वध्यन्ते। योगविशेषात् कायवाङ्मनः कर्मयोगविशेषाच्च वध्यन्ते। सूक्ष्मा वध्यन्ते न वादराः। एकक्षेत्रावगाढा बध्यन्ते न क्षेत्रान्तरावगाढाः। स्थिताश्च वध्यन्ते न गतिसमापन्नाः। सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वप्रकृतिपुद्गलाः सर्वात्मप्रदेशेषु वध्यन्ते। एकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्तैः कर्मप्रदेशैर्वद्धः। अनन्तानन्तप्रदेशाः कर्मग्रहणयोग्याः पुद्गला वध्यन्ते न सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशाः। कुतोऽग्रहणयोग्यत्वात् प्रदेशानामिति एष प्रदेशवन्धो भवति॥

अर्थ—जो पुद्गल कर्मरूपसे आत्माके साथ बंधको प्राप्त होते है, उन्हींकी अवस्था विशेषको प्रदेशबंध कहते है। अतएव इस सूत्रमें उसी अवस्थाविशेषको दिखाते हैं।— बंधको प्राप्त होनेवाले पुद्गल नामप्रत्यय कहे जाते है। नाम ही है प्रत्यय—कारण जिनका उनको कहते है नामप्रत्यय। अतएव नामप्रत्यय नामनिमित्त नामहेतुक और नामकारण ये सभी शब्द समानार्थके बोधक है। नाम शब्दसे सम्पर्ण कर्मप्रकृतियोंका ग्रहण होता है। क्योंकि प्रदेशबंधमें कर्म कारण हैं। कर्म रहित जीवके उसका बंध नहीं हुआ करता। तथा ये पुद्गल तिर्यक् ऊर्ध्व और अधः सभी तरफसे बँधते हैं, न कि किसी भी एक ही नियत दिशासे। और बंधका कारण योगविशेष है। योगका लक्षण पहले बता चुके हैं, कि मन वचन और कायके निमित्तसे जो कर्म—आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते हैं। इसी योगकी विशेषता—

तरतमताके अनुसार ही प्रदेशबंध होता है । योग रहित जीवोंके वह नहीं होता । तथा ये बँधनेवाले सभी पुद्गल सूक्ष्म हुआ करते हैं, न कि बादर । इसी प्रकार वे एक ही क्षेत्रमें अवगाह करनेवाले होते हैं, न कि क्षेत्रान्तरमें भी अवगाह करनेवाले । तथा स्थितिशील हुआ करते हैं, न कि गतिमान् । एवं सभी कर्मप्रकृतियोंके योग्य पुद्गल जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंपर बँधते है । ऐसा नहीं है, कि जीवके कुछ प्रदेशोंपर ही बंध होता हो और कुछ विना बंधके भी रहते हों, और न ऐसा ही है, कि किसी प्रदेशपर किसी प्रकृतिका बंध हो, और दूसरे प्रदेशोंपर दूसरी दूसरी प्रकृतियोंके योग्य पुद्गलोंका बंध हो। किन्तु सभी प्रदेशोंपर सभी प्रकृतियोंके योग्य पुद्गलोंका बंध हुआ करता है । इस हिसाबसे यदि देखा जाय, तो आत्माका एक एक प्रदेश अनन्त कर्मप्रदेशोंके द्वारा बद्ध है । कर्म-ग्रहणके योग्य जो पुद्गल बँधते हैं, उनकी संख्या अनंतानंत है । संख्येय असंख्येय और अनंत प्रदेश बंधको प्राप्त नहीं हुआ करते । क्योंकि उनमें ग्रहणकी योग्यता नहीं है । इस प्रकारसे जो कर्मग्रहणके योग्य पुद्गल प्रदेशोंका जीव-प्रदेशोंके साथ बंध होता है, इसीको प्रदेशबंध कहते हैं ।

भावार्थ—प्रतिक्षण बँधनेवाले अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओंके सम्बन्धविशेषको प्रदेश-बंध कहते हैं। इसका विशेष स्वरूप और इसके कारण आदि ऊपर लिखे अनुसार हैं। इसप्रकार बंधके चौथे भेदका स्वरूप बताया ।

भाष्यम्—सर्वं चैतदष्टविधं कर्म पुण्यं पापं च ॥ तत्र—

अर्थ—ऊपर सम्पूर्ण कर्मोंके आठ भेद बताये हैं । इनके सामान्यतया दो भेद हैं— एक पुण्य और दूसरा पाप । अर्थात् आठ प्रकारके कर्मोंमेंसे कोई पुण्यरूप हैं, और कोई पापरूप है । पुण्यरूप कौन कौन है? और पापरूप कौन कौन है ? इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२६॥

भाष्यम्—सद्वेद्यं भूतव्रत्यनुकम्पादिहेतुकं, सम्यक्त्ववेदनीयम् केवलिश्रुतादीनां वर्णवादादिहेतुकम्, हास्यवेदनीयं, रतिवेदनीयं, पुरुषवेदनीयं, शुभमायुष्कं मानुषं दैवं च, शुभनाम गतिनामादीनां, शुभं गोत्रमुच्चैर्गोत्रमित्यर्थः। इत्येतदष्टविधं कर्म पुण्यम्, अतोऽन्यत्पापम् ॥

इति तत्त्वार्थागमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहेऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

अर्थः—भूत—प्राणिमात्रपर अनुकम्पा करनेसे और व्रती पुरुषोंपर विशेषतया अनुकम्पा करनेसे तथा इनके सिवाय और भी जो दान आदि कारण बताये है, उन कारणोंके द्वारा जिसका बंध होता है, ऐसा सद्वेद्यकर्म, और केवलीभगवान् तथा श्रुत आदिकी स्तुति भक्ति प्रशंसा

पूजा आदि करनेसे जो निष्पन्न होता है, ऐसा सम्यक्त्ववेदनीयकर्म[1], तथा नोकषायके भेदोंमेंसे तीन हास्यवेदनीय, रतिवेदनीय, और पुरुषवेदनीय, एवं शुभ आयु[2]—मनुष्यआयु और देवायु, और शुभनाम[3]--गतिनामकर्म आदिमेंसे जो शुभरूप हों, तथा शुभगोत्र अर्थात् उच्चैर्गोत्र कर्म। ये आठ कर्म पुण्यरूप हैं[4]। इनके सिवाय पूर्वोक्त कर्मोंमेंसे जो बाकी रहे, वे सब पाप-कर्म हैं।

भावार्थ—ऊपर जो आठ कर्म बताये है, वे प्रकृतिबंधके भेद है। तथा वे मूलभेद हैं। उनके उत्तरभेदोंमेंसे कुछ कर्म तो ऐसे है, जोकि पुण्य हैं, उनका फल जीवोंको इष्ट है। और कुछ इसके प्रतिकूल हैं। जो पुण्यरूप हैं उनके भी आठ भेद हैं। जैसा कि इस सूत्रमें गिनाया गया है। इनमें भी शुभ आयु और शुभ नाम ये दो प्रकृति तो पिंडरूप है—अनेक प्रकृतियोंके समूहरूप हैं, और बाकी छह अपिंडरूप हैं—एक एक भेदरूप ही हैं। शुभ आयुसे देवायु और मनुष्यायुका ही ग्रहण है। किन्तु शुभ नाम शब्दसे गति जाति शरीरादिकर्मोंमेंसे जो जो शुभरूप हैं, उन सभीका आगमके अनुसार ग्रहण करलेना चाहिये।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका जिसमें बंध-तत्त्वका वर्णन किया गया है, ऐसा आठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

१—सम्यक्त्वप्रकृति दर्शनमोहनीयका एक भेद है। इसका बंध नहीं होता, किन्तु सम्यग्दर्शन होनेपर मिथ्यात्व-प्रकृतिके ही तीन भाग हो जाते हैं। अत· ऐसा कहा गया है। २—दिगम्बर-सम्प्रदायमें तिर्यगायुको भी पुण्य ही माना है, परन्तु तिर्यग्गतिको पाप कहा है, क्योंकि किसी भी तिर्यंचको मरना इष्ट नहीं है। परन्तु किसी जीवको तिर्यंच होना भी पसंद नहीं है।—३—यह पिंडरूप एक भेद है। जो जो नामकर्मकी शुभप्रकृति हैं, उन सबका इस एक ही भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है। ४—दिगम्बर-सम्प्रदायमें घातिकर्मका कोई भी भेद पुण्य नहीं माना है, अतएव वे ऐसा सूत्रपाठ करते हैं—" सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ "

नवमोऽध्यायः ।

भाष्यम्—उक्तो बन्धः । संवरं वक्ष्यामः ।

अर्थ—ऊपर आठवें अध्यायमें बन्धतत्त्वका वर्णन हो चुका । उसके अनन्तर संवरका वर्णन होना चाहिये । अतएव क्रमानुसार अब उसीका वर्णन करते है । उसमें सबसे पहले संवरका लक्षण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र-आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

भाष्यम्—यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्य निरोधः संवरः ।

अर्थ—पहले काययोग आदि आस्रवके ब्यालीस भेद गिनाये हैं । उनके निरोधको संवर कहते हैं ।

भावार्थ—कर्मोंके आनेके मार्गको आस्रव कहते हैं । जिन जिन कारणोंसे कर्म आते हैं, वे पहले बताये जा चुके है । आस्रवके मूल ४२ भेदोंको भी छट्ठे अध्यायमें दिखा चुके हैं । यहाँ-पर संवरका प्रकरण है । आस्रवका ठीक प्रतिपक्षी संवर होता है, अतएव जिनसे कर्म आते है, उनसे प्रतिकूल कार्य करनेपर संवरकी सिद्धि होती है, और इसी लिये किन किन कारणोंसे कर्मोंका आना रुकता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

भाष्यम्—स एष संवरः एभिर्गुप्त्यादिभिरभ्युपायैर्भवति । किं चान्यत्—

अर्थ—उपर्युक्त आस्रवके निरोधरूप संवरकी सिद्धि इन कारणोंसे हुआ करती है—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, और चारित्र ।

भावार्थ—गुप्ति आदिके द्वारा कर्मोंका आना रुकता है । गुप्ति आदिका स्वरूप क्या है, सो आगे चलकर इसी अध्यायमें क्रमसे बतावेंगे ।

गुप्ति आदिके सिवाय और भी जो संवरकी सिद्धिका कारण है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तपो द्वादशविधं वक्ष्यते । तेन संवरो भवति निर्जरा च ॥

अर्थ—तपके बारह भेद आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र १९-२० के द्वारा बतावेंगे । इस तपके द्वारा भी संवर होता है, किंतु तपमें यह विशेषता है, कि इससे संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है ।

भावार्थ—तप दो कार्योंका कारण है। अतएव उसका केवल संवरके कारणोंसे पृथक् उल्लेख किया है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता गुप्त्यादिभिरभ्युपायैः संवरो भवतीति। तत्र के गुप्त्यादय इति ? अत्रोच्यतेः—

अर्थ—आपने ऊपर कहा है, कि गुप्ति आदि उपायोंसे संवरकी सिद्धि हुआ करती है। परन्तु यह नहीं मालूम हुआ, कि वे गुप्ति आदि क्या है? उनका स्वरूप या लक्षण क्या है? अतएव उसको बतानेके लिये ही सूत्र कहते है। उनमें से सबसे पहले गुप्तिका लक्षण बताते हैंः—

सूत्र—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्ति·।—कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति। तत्र शयनासनादाननिक्षेपस्थानचंक्रमणेषु कायचेष्टानियमः कायगुप्तिः। याचनपृच्छनपृष्टव्याकरणेषु वाङ्नियमो मौनमेव वा वाग्गुप्तिः। सावद्यसंकल्पनिरोध· कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति॥

अर्थ—ऊपर योगका स्वरूप बता चुके है।—उसके तीन भेद हैं—काययोग वचनयोग और मनोयोग। इन तीनों ही प्रकारके योगका भलेप्रकार—समीचीनतया निग्रह—निरोध होनेको गुप्ति कहते हैं। सूत्रमें सम्यक् शब्दका प्रयोग जो किया है, उसका तात्पर्य यह है, कि विधि-पूर्वक, जानकरके, स्वीकार करके, और सम्यग्दर्शनपूर्वक। इस प्रकारसे जो योगोंका निरोध किया जाता है, तो वह गुप्ति है अन्यथा नहीं। विषयकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद हैं—काय-गुप्ति, वाग्गुप्ति, और मनोगुप्ति।

सोनेमें, बैठनेमें, ग्रहण करनेमें, रखनेमें, खड़े होनेमें, या घूमने फिरनेमें जो शरीरकी चेष्टा हुआ करती है, उसके निरोध करनेको कायगुप्ति कहते है। याचना करने—माँगनेमें या पूछनेमें अथवा पूछे हुएका व्याख्यान करनेमें यद्वा निरुक्ति आदिके द्वारा उसका स्पष्टीकरण करनेमें जो वचनका प्रयोग होता है, उसका निरोध करना वाग्गुप्ति है। अथवा सर्वथा वचन निकालनेका त्याग कर मौन—धारण करनेको वाग्गुप्ति कहते है। मनमें जितने सावद्य संकल्प हुआ करते हैं, उनके त्याग करनेको अथवा शुभ संकल्पोंके धारण करनेको यद्वा कुशल और अकुशल—दोनों ही तरहके—संकल्पमात्रके निरोध करनेको मनोगुप्ति कहते है।

भावार्थ—मन वचन और कायके द्वारा होनेवाले योगके निरोधको गुप्ति कहते है। परन्तु यह निरोध अविधि अज्ञान अस्वीकार और मिथ्यादर्शन पूर्वक हो, तो वह गुप्ति नहीं कहा जा सकता है। इस भावको दिखानेके लिये ही सूत्रमें सम्यक् शब्दका प्रयोग किया है। अन्यथा आत्मघात आदिको भी गुप्ति कहा जा सकता था। अथवा बालतप करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके मौन—धारणको भी वाग्गुप्ति कह सकते थे। इत्यादि।

ये गुप्तियाँ संवरका मुख्य उपाय हैं । अतएव मुमुक्षुओंको इनका भले प्रकार पालन करना चाहिये । किंतु जो इनके पालन करनेमें असक्त हैं, उन्हें समितियोंका पालन अवश्य करना चाहिये । अतएव गुप्तियोंके अनन्तर समितियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाःसमितयः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेपौ, सम्यगुत्सर्ग इति पञ्चसमितयः । तत्रावश्यकायैव संयमार्थं सर्वतो युगमात्रनिरीक्षणायुक्तस्य शनैर्न्यस्तपदा गतिरीर्या समितिः । हितमितासंदिग्धानवद्यार्थनियतभाषणं भाषासमितिः । अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणासमितिः । रजोहरणपात्रचीवरादीनां पीठफलकादीनां चावश्यकार्थं निरीक्ष्य प्रमृज्य चादाननिक्षेपौ आदाननिक्षेपणासमितिः । स्थण्डिले स्थावरजङ्गमजन्तुवर्जिते निरीक्ष्य प्रमृज्य च मूत्रपुरीषादीनामुत्सर्ग उत्सर्गसमितिरिति ॥

अर्थ—समिति पाँच प्रकारकी है ।-ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग । पूर्वसूत्रमें जो सम्यक् शब्द दिया है, उसकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है । उसका सम्बन्ध यहाँ पर प्रत्येक शब्दके साथ करना चाहिये । जैसे कि सम्यगीर्या सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप, और सम्यगुत्सर्ग । इन पाँचोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार हैः—

आवश्यक कार्यके लिये ही संयमको सिद्ध करनेके लिये सब तरफ चार हाथ भूमिको देख कर धीरे धीरे पैर रखकर चलनेवाले साधुकी गतिको ईर्यासमिति कहते हैं ।

भावार्थ—मुनिजन निरर्थक गमन नहीं किया करते, वे या तो आवश्यक कार्यके लिये गमन करते है, अथवा संयम विशेषकी सिद्धिके लिये विहार किया करते हैं । सो भी सब तरफ देखकर और सामेनकी भूमिको अपने शरीर प्रमाण देखकर धीरे धीरे पैर रखते हुए इस तरहसे सावधानीके साथ चलते है, कि जिससे किसी भी जीवकी विराधना न हो जाय, इस अप्रमत्त—गमन करनेको ही ईर्यासमिति कहते है ।

हित मित असंदिग्ध और अनवद्य अर्थके प्रतिपादन करनेमें जो नियत हैं, ऐसे वचनके बोलनेको भाषा समिति कहते है । मोक्ष पुरुषार्थका साधन करनेवाले संयमी साधु ऐसे वचन बोलनेको समिति—समीचीन—मोक्षकी साधक प्रवृत्ति नहीं समझते, जोकि आत्मकल्याणके लक्ष्यको लेकर प्रवृत्त नहीं हुए है, या जो निष्प्रयोजन अपरिमितरूपसे बोले गये हों, अथवा जो श्रोताको निश्चय करानेवाले न हों, या संदेहजनक अथवा संशयपूर्वक बोले गये हों, यद्वा जो पापरूप हैः—पाप कार्यके समर्थक है । अतएव इन चारों बातोंका लक्ष्य रखकर ही वे भाषाका प्रयोग करते है, और इसी लिये उनकी ऐसी अप्रमत्त—भाषाको भाषासमिति कहते हैं ।

अन्न–खाद्य सामग्री, पान–पेय पदार्थ, रजोहरण–जीव जन्तुओंको झाड़कर दूर करनेके लिये जो ग्रहण की जाती है, ऐसी एक[1] प्रकारकी झाडू, पात्र–भिक्षाधारण करने आदिके योग्य वर्तन, चीवर–धोती डुपट्टा आदि वस्त्र[2] इसी प्रकार और भी जो धर्मके साधन हैं, उनको धारण करनेवाले साधुका उनके धारण करनेमें उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंके त्यागका नाम एषणासमिति है[3]। आगममें जो उत्पादनादिक दोष बताये हैं, उनको टालकर धर्मके साधनोंको धारण करने और भोजन पानमें प्रवृत्ति करनेको एषणासमिति कहते है।

जब आवश्यक कार्य करना हो, तब उसकी सिद्धिके लिये जो चीज उठानी या रखनी हो, उसको अच्छी तरह देख शोध कर उठाने धरनेको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। अर्थात् आवश्यक कार्यके लिये उपर्युक्त रजोहरण पात्र चीवर आदिको अथवा काष्ठासन आदिकी फली–लकड़ीके तख्ते आदिको भले प्रकार देखकर और शोधकर उठाने या रखनेका नाम आदाननिक्षेपणसमिति है।

जहाँपर स्थावर–पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादिक त्रस या जङ्गम जीव नहीं पाये जाते, ऐसे शुद्ध स्थण्डिल–प्रासुक स्थानपर अच्छीतरह देख कर और उस स्थानको शोधकर मल मूत्रका परित्याग करनेको उत्सर्गसमिति कहते हैं।

इस प्रकार संवरके कारणोंमेंसे पाँच समितियोंका स्वरूप कहा। अब उसके बाद क्रमानुसार दश प्रकारके धर्मका स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

भाष्यम्–इत्येष दशविधोऽनगारधर्मः उत्तमगुणप्रकर्षयुक्तो भवति। तत्र क्षमा तितिक्षा सहिष्णुत्वं क्रोधनिग्रह इत्यनर्थान्तरम्। तत्कथं क्षमितव्यमिति चेदुच्यते।–क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावाभावाचिन्तनात्, परैःप्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावचिन्तनादभावचिन्तनाद्वा क्षमितव्यम्। भावचिन्तनात् तावद्विद्यन्ते मय्येते दोपा किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीति क्षमितव्यम्। अभावचिन्तनादपि क्षमितव्यम्, नैते विद्यन्ते मयि दोषाः यानज्ञानादसौ ब्रवीति क्षमितव्यम्। किं चान्यत्—क्रोधदोषचिन्तनाच्च क्षमितव्यम्। क्रुद्धस्य हि विद्वेषासादनस्मृतिभ्रंशव्रतलोपादयो दोषा भवन्तीति। किं चान्यत्—बालस्वभावाचिन्तनाच्च परोक्षप्रत्यक्षाक्रोशताडनमारणधर्मभ्रंशानामुत्तरोत्तररक्षार्थम्। बाल इति मूढमाह। परोक्षमाक्रोशति बाले क्षमितव्यमेव। एवंस्वभावा हि बाला भवन्ति दिष्ट्या च मां परोक्षमाक्रोशति न प्रत्यक्षमिति लाभ एव मन्तव्य इति। प्रत्यक्षमप्याक्रोशति बाले क्षमितव्यम्। विद्यत एवैतद्बालेषु। दिष्ट्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति न ताडयाति। एतदप्यस्ति बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः। ताडय-

---

१—श्वेताम्बर–सम्प्रदाय में यह प्रायः ऊनका ही होता है, दिगम्बर–सम्प्रदायमें ऊनको अशुद्ध मानते हैं, अतएव मयूरपिच्छ की पिच्छी ही धारण की जाती है। २—दिगम्बर साधु वस्त्र और पात्र आदि परिग्रह नहीं रखते। ३—इसके लिये देखो श्रीवट्टकेरआचार्यकृत **मूलाचार** और पं० प्रवर आशाधरकृत **अनगारधर्मामृत** आदि।

त्यपि बाले क्षमितव्यम् । एवं स्वभावा हि बाला भवन्ति । दिष्ट्या च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयतीति । एतदपि विद्यते बालेष्विति । प्राणैर्वियोजयत्यपि बाले क्षमितव्यम् । दिष्ट्या च मां प्राणैर्वियोजयति न धर्माद् भ्रंशयतीति क्षमितव्यम् । एतदपि विद्यते बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः । किं चान्यत्—स्वकृतकर्मफलाभ्यागमाच्च । स्वकृतकर्मफलाभ्यागमोऽयं मम, निमित्तमात्रं पर इति क्षमितव्यम् । किं चान्यत्—क्षमागुणांश्चानायासादीननुस्मृत्य क्षमितव्यमेवेति क्षमाधर्मः ॥ १ ॥

अर्थ—उपर्युक्त संवरका कारणभूत धर्म दश प्रकारका है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य, और उत्तम ब्रह्मचर्य । पहले व्रतिकोंके भेद बताते हुए दो भेद बता चुके हैं—सागार और अनगार । उनमेंसे जो अनगार—गृहरहित साधु—पूर्ण संयत हैं, उनके ही ये दश प्रकारके धर्म उत्तम गुणसे युक्त और प्रकर्षतया—मुख्यतया पाये जाते हैं । दश धर्मोंका स्वरूप क्या है, सो बतानेके लिये क्रमसे उनका वर्णन करनेकी इच्छासे सबसे पहले उनमेंसे क्षमा—धर्मका स्वरूप बताते हैं:—

क्षमा तितिक्षा सहिष्णुता और क्रोधका निग्रह ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । परन्तु यह क्षमा किस तरहसे धारण करनी चाहिये, तो उसकी रीति यह है, कि एक तो क्रोध उत्पन्न होनेके जो निमित्त कारण है, उनके सद्भावका और अभावका अपनेमें चिन्तवन करना चाहिये । क्योंकि उन कारणोंके अपनेमें अस्तित्व या नास्तित्वका बोध हो जानेसे इस धर्मकी सिद्धि हो सकती है । यदि कोई दूसरा व्यक्ति ऐसे कारणोंका प्रयोग करे, कि जिनके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हो सकता है, तो अपनेमें उन बातोंका विचार करना चाहिये, कि ये बातें मुझमें है अथवा नहीं । विचार करते हुए यदि सद्भाव पाया जाय, तो भी क्षमा—धारण करनी चाहिये, और यदि अभाव प्रतीत हो, तो भी क्षमा धारण ही करनी चाहिये । सद्भावके पक्षमें तो क्षमा—धारण करनेके लिये सोचना चाहिये, कि जिन दोषोंका यह वर्णन कर रहा है, वे सब मुझमें है ही, इसमें यह झूठ क्या बोलता है ? कुछ भी नहीं । अतएव इसपर क्रोध करना व्यर्थ है, मुझे क्षमा—धारण ही करनी चाहिये । अभावके पक्षमें भी क्षमा—धर्मको ही स्वीकार करना चाहिये । सोचना चाहिये, कि यह जिन दोषोंको अज्ञानताके कारण मुझमें बता रहा है, वे दोष मुझमें हैं ही नहीं । अतएव क्रोध करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसके अज्ञानपर क्षमा—धारण करना ही उचित है । इस प्रकार अपनेमें दूसरोंके द्वारा प्रयुक्त दोषोंके भाव और अभावका चिन्तवन करनेसे क्षमा—धर्म धारण किया जाता है । इसके सिवाय क्षमाके विपरीत क्रोधकषायके दोषोंका विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । विचारना चाहिये, कि जो मनुष्य क्रोधी हुआ करता है, उसमें विद्वेष आसादन स्मृतिभ्रंश और व्रतलोप आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं । उससे हरएक मनुष्य द्वेष करने लगता है, अवज्ञा या अनादर किया करता है । तथा उसकी स्मृति—शक्ति नष्ट हो जाती है, और इसी लिये कदाचित् वह उस कषायके वश होकर व्रत भंग भी कर बैठता है । क्योंकि क्रोधी जीवको विवेक नहीं रहता ।—अपने

स्वरूप पद आदिका स्मरण नहीं रहता । इस प्रकार क्रोधके दोष चिन्तनसे क्षमा—धारण करनी चाहिये । इसके सिवाय बाल—स्वभावका विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । यहाँपर बालसे प्रयोजन मूढ़ पुरुषके बतानेका है । ऐसे मूढ़ पुरुषोंके कार्यों—परोक्ष और प्रत्यक्ष आक्रोश—क्रोध तथा ताड़न और मारण एवं धर्मभ्रंशके विषयमें उत्तरोत्तरकी रक्षाके सम्बन्धको लेकर क्षमा—धर्मकी सिद्धिके लिये विचारना चाहिये । यदि कोई मूढ़ जीव परोक्षमें आक्रोश वचन कहे, तो क्षमा ही धारण करनी चाहिये । सोचना चाहिये, कि मूढ़ पुरुषोंका ऐसा ही स्वभाव होता है । भाग्यसे यह अच्छा ही है, जोकि यह मेरे प्रति परोक्षमें ही ऐसे वचन निकाल रहा है, किन्तु प्रत्यक्षमें कुछ भी आक्रोश नहीं कर रहा है । यह उल्टा मेरे लिये लाभ ही है । कदाचित् कोई मूढ़ प्रत्यक्षमें भी आक्रोश करने लगे, तो भी क्षमा—धारण करनी चाहिये । क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति मूढ़ पुरुषोंमें हुआ ही करती है । सोचना चाहिये, कि यह उल्टा अच्छा ही हुआ है, जो केवल प्रत्यक्षमें आक्रोश ही यह कर रहा है, मुझे पीट नहीं रहा है । क्योंकि मूढ़ पुरुषोंमें ऐसा भी देखा जाता है—वे पीटते भी हैं । मुझे पीट नहीं रहा है, यह मेरे लिये लाभ ही है । यदि कोई मूढ़ पुरुष पीटने भी लगे, तो भी साधुओंको क्षमा ही धारण करनी चाहिये । सोचना चाहिये, कि ऐसा मूढ़ पुरुषोंका स्वभाव ही होता है, कि वे पीटने भी लगते हैं । सौभाग्यसे यह ठीक ही हुआ है, जो यह मुझे पीट ही रहा है, किन्तु प्राणोंसे वियुक्त नहीं कर रहा है । क्योंकि मूढ़ पुरुषोंका तो ऐसा भी स्वभाव हुआ करता है, कि वे प्राणोंका भी अपहरण कर लेते है । सो यह प्राणोंका व्यपरोपण नहीं करता यह लाभ ही है । यदि कदाचित् कोई मूढ़ प्राणोंसे भी वियुक्त करने लगे, तो भी विचार कर क्षमा ही धारण करनी चाहिये । उस अवस्थामें विचारना चाहिये, कि यह सौभाग्यसे मेरे प्राणोंका वियोगमात्र ही कर रहा है, धर्मसे मुझे भ्रष्ट नहीं करता, यह अच्छा ही करता है । अतएव इसपर क्रोध करनेकी क्या आवश्यकता है ? किन्तु क्षमा ही धारण करनी चाहिये । कोई कोई मूढ़ पुरुष तो धर्मसे भी भ्रष्ट कर-दिया करते हैं, सो यह नहीं कर रहा है, यह हमारे लिये उल्टा महान् लाभ ही है ।

इस प्रकार मूढ़ पुरुषोंके परोक्ष प्रत्यक्ष आक्रोश वचन और ताड़न मारण तथा धर्मभ्रंशके विषयमें क्रमसे उत्तरोत्तर विचार करनेपर क्षमा—धर्मकी सिद्धि हुआ करती है । इसके सिवाय अपने पूर्वकृत—कर्मके फलका यह आगमन—उदय—काल है, ऐसा विचार करनेसे भी क्षमाकी सिद्धि होती है । जब क्षमाके विरुद्ध क्रोधोत्पत्तिके निमित्त उपस्थित हों, उस समय ऐसा विचार करनेसे भी क्षमा—धर्म स्थिर रहा करता है, कि मैंने जो पहले कर्मोंका बन्ध किया है, उनके फलको भोगनेका यह समय है—अब वे फल देनेके लिये आकर उपस्थित—उद्यत हुए हैं । अतएव यह तो मेरे कर्मोंका ही दोष है, जो यह मूढ़ मेरी निन्दा आदि कर रहा है । क्योंकि, निन्दा होनेमें मुख्य कारण तो मेरे कर्मोका उदय ही है, यह मूढ़ या कोई भी पर पुरुष तो

केवल उसके उदयमें निमित्तमात्र ही हुआ करता है, अथवा हो सकता है । ऐसा विचार करके पर जीवोंपर क्षमा ही धारण करनी चाहिये ।

इसके सिवाय क्षमाके गुणोंका चिन्तवन करनेसे भी उसकी सिद्धि हुआ करती है । यथा—क्षमा-धारण करनेमें किसी भी प्रकारका श्रम नहीं करना पड़ता, न किसी प्रकारका क्लेश ही होता है, एवं इसके लिये किसी परनिमित्तकी आवश्यकता भी नहीं है, इत्यादि । इसी प्रकार और भी क्षमाके गुणोंका पुनः पुनः विचार यदि किया जाय, तो उससे क्षमा-धर्म सिद्ध हुआ करता है । अतएव संवरके अभिलाषी साधुओंको इन गुणोंका चिन्तवन करके तथा उपर्युक्त उपायोंका अवलंबन लेकर क्षमाकी सिद्धिके लिये अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१॥

भाष्यम्—नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ मार्दवलक्षणम् । मृदुभावः मृदुकर्म च मार्दवं मदनिग्रहो मानविघातश्चेत्यर्थः । तत्र मानस्येमान्यष्टौ स्थानानि भवन्ति । तद्यथा—जातिः कुलं रूपमैश्वर्यं विज्ञानं श्रुतं लाभो वीर्यमिति । एभिर्जात्यादिभिरष्टाभिर्मदस्थानैर्मत्तः परात्मनिन्दाप्रशंसाभिरतस्तीव्राहंकारोपहतमतिरिहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते । तस्मादेषां मदस्थानानां निग्रहो मार्दवं धर्म इति ॥ २ ॥

अर्थ—बड़ोंका विनय करना—उनके समक्ष नम्रता धारण करना और उत्सेक—उद्दण्डता—उद्धततासे रहित प्रवृत्ति करना मार्दव—धर्मका लक्षण है । मृदुभाव—कोमलता अथवा मृदुकर्म—नम्र व्यवहारको मार्दव कहते हैं । जिसका तात्पर्य मदका निग्रह अथवा मानकषायका विघात—नाश है । अर्थात् मान कषायके अभाव या त्यागको मार्दव—धर्म कहते हैं ।

मानकषायके आठ स्थान माने हैं, जोकि इस प्रकार है—जाति कुल रूप ऐश्वर्य विज्ञान श्रुत लाभ और वीर्य । अर्थात् इन आठ विषयोंकी अपेक्षा लेकर—इनके विषयमें मान कषाय उत्पन्न हुवा करता है । इनमेंसे मातृवंशको जाति और पितृवंशको कुल कहते है । शारीरिक सौन्दर्यको रूप और धनधान्यादि विभूतिको ऐश्वर्य कहते हैं । बुद्धिबल अथवा अनुभवरूप ज्ञानको विज्ञान और शास्त्रके आधारसे हुए पदार्थ—ज्ञानको श्रुत कहते हैं । यद्वा विज्ञान शब्दसे मतिज्ञानको और श्रुत शब्दसे श्रुतज्ञानको समझना चाहिये । इच्छित वस्तुकी प्राप्तिको लाभ और उत्साह शक्ति अथवा बल पराक्रमको वीर्य कहते है । ये जाति आदि आठों ही विषय मदकी उत्पत्तिके स्थान हैं । इनके निमित्तसे जीव मत्त होकर दूसरेकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करनेमें अत्यंत रत हो जाया करता है, तथा तीव्र अहंकारके

१—व्याकरणके अनुसार मार्दव शब्द दो प्रकारसे सिद्ध होता है, सो ही यहाँ बताया है, क्योंकि मृदु शब्दसे भाव और कर्म अर्थमें तद्धितका अण् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है । मृदोर्भावः मार्दवम् , तथा मृदोः कर्म मार्दवम् ।
२—दिगम्बर-सम्प्रदायमें आठ भेद इस प्रकार माने हैं—ज्ञान पूज्यता कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर । यथा—"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः" ॥ २५ ॥ —स्वामि समंतभद्राचार्य—रत्नकरंडश्रावकाचार ।

निमित्तसे उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। इसी कारणसे वह जीव इस लोक और परलोकमें अशुभ फलको देनेवाले पाप-कर्मका बंध किया करता है। तथा इस मानके वशीभूत होकर ही उपदिश्यमान—उपदेशके योग्य—वास्तविक कल्याणको प्राप्त नहीं हुआ करता, अभिमानी मनुष्यको यदि हितका उपदेश दिया जाय, तो वह उसको ग्रहण नहीं किया करता। अतएव इन आठों मद-स्थानोंका निग्रह—दमन करना ही मार्दव—धर्म है॥ २॥

भाष्यम्—भावविशुद्धिरविसंवादनं चार्जवलक्षणम्। ऋजुभावःऋजुकर्म वार्जवं भावदोषवर्जनमित्यर्थः। भावदोषयुक्तोह्युपधिनिकृतिसंयुक्त इहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते। तस्मादार्जवं धर्म इति॥ ३॥

अर्थ—भाव—परिणामोंकी विशुद्धि और विसंवाद—विरोध रहित प्रवृत्ति-झुकाव-यह आर्जव—धर्मका लक्षण है। ऋजुभाव या ऋजुकर्मको आर्जव कहते हैं। इसका तात्पर्य भी भाव दोषोंका परित्याग करना ही है। भाव दोषको धारण करनेवाला उपधि (छल—कपट) निकृति—मायाचाररूप अन्तरङ्ग परिग्रहसे युक्त होता है, जिससे कि वह इस लोक और परलोकमें अशुभ फलको देनेवाले पाप-कर्मका बंध किया करता है। तथा इस प्रकारका जीव उपदिश्यमान हितको प्राप्त नहीं हुआ करता। यदि कोई सद्गुरु उसको कल्याणके मार्गका उपदेश दे, तो वह उसको ग्रहण नहीं किया करता। वह विपरीत रुचिवाला हो जाता है। अतएव जो आर्जव है वही धर्म है।

भावार्थ—आर्जव शब्द ऋजु शब्दसे भाव या कर्म अर्थमें अण् तद्धित प्रत्यय होकर बनता है। अतएव उसकी निरुक्ति इस प्रकार हुआ करती है, कि ऋजोर्भावः आर्जवम्, अथवा ऋजोः कर्म आर्जवम्। आर्जवका अर्थ सरलता—माया वञ्चना कपट आदिसे रहित भाव होता है। मायाचार अन्तरङ्ग परिणामोंका दोष है। अतएव उससे रहित अन्तरङ्ग भावको ही आर्जव—धर्म कहते हैं। भाव दोष—मायाचारसे कर्मबन्ध होता है। अतएव उसके प्रतिकूल आर्जव—धर्मसे संवरकी सिद्धि होती है।

विसंवाद रहित प्रवृत्तिको भी आर्जव कहते हैं। साधर्मियोंसे झगड़ा करना, या कषायवश अयथार्थ तत्त्वका निरूपण करना, जिससे कि सुननेवालेको संशय या विपर्यास होजाय, उसको विसंवाद कहते हैं। इस कृतिका भी वञ्चनासे ही सम्बन्ध है। अतएव संवरके साधक साधुजन सरलताको सिद्ध करनेके लिये इस विसंवाद दोषका संहार ही किया करते हैं॥ ३॥

भाष्यम्—अलोभः शौचलक्षणम्। शुचिभावः शुचिकर्म वा शौचम्। भावविशुद्धिः निष्कल्मषता धर्मसाधनमात्रास्वप्यनभिष्वङ्ग इत्यर्थः। अशुचिर्हि भावकल्मषसंयुक्त इहामुत्र चाशुभफलमकुशलं कर्मोपचिनोत्युपदिश्यमानमपि च श्रेयो न प्रतिपद्यते। तस्माच्छौचं धर्मः इति॥

अर्थ—अलुब्धता—लोभकषायका परिहार—त्याग अथवा लोभ रहित प्रवृत्ति शौच—धर्मका लक्षण है। व्याकरणके अनुसार शौच शब्दका अर्थ शुचिभाव या शुचिकर्म होता है। अर्थात् भावों-

की विशुद्धि कल्मषताका अभाव और धर्मके साधनोंमें भी आसक्ति न होना शौच-धर्म है । इस धर्मसे रहित-अशुचि जीव परिणामोंमें कल्मषतासे संयुक्त रहता है । अतएव वह इस-लोक और परलोक दोनों ही भवोंमें अशुभ फलके देनेवाले पाप-कर्मका बन्ध किया करता है । तथा उसके परिणाम इतने सदोष हो जाते हैं, कि यदि उसको कोई श्रेयोमार्गका उपदेश दे, तो वह उसको धारण नहीं किया करता । अतएव लोभरूप मलिनताके अभावको ही शौच-धर्म कहते हैं ।

भावार्थ—मलिनताके अभावको शौच या पवित्रता कहते हैं । शारीरिक मलिनताका अभाव गौण है । वास्तवमें शौच-धर्म आत्म परिणामोंकी मलिनता दूर होनेसे ही होता है । और वह मलिनता लोभ कषायरूप है । अतएव उसके दूर होनेपर ही आत्मा शुचि-पवित्र होता है । और संवरको सिद्ध करके श्रेयोमार्गमें अग्रेसर हुआ करता है । क्योंकि पवित्र-अलुब्ध परिणाम हितके ही साधक हुआ करते हैं । ऊपर जो धर्मके साधन बताये हैं-पात्र चीवर-कोपीन रजोहरण आदि उनमें भी आसक्ति न रहना अलुब्धता या शौच-धर्म समझना चाहिये ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सत्यर्थे भवं वचः सत्यं, सद्भ्यो वा हितं सत्यम् । तदनृतमपरुषमपिशुनमनसभ्यमचपलमनाविलमविरलमसंभ्रान्तं मधुरमभिजातमसंदिग्धं स्फुटमौदार्ययुक्तमग्राम्यपदार्थाभिव्याहारमसीमरमरागद्वेषयुक्तं सूत्रमार्गानुसारप्रवृत्तार्थमर्घ्यमर्थिजनभावग्रहणसमर्थमात्मपरानुग्राहकं निरुपधं देशकालोपपन्नमनवद्यमर्हच्छासनप्रशस्तं यतं मितं याचनं प्रच्छनं प्रश्नव्याकरणमिति सत्यं धर्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—सत्-प्रशस्त पदार्थके विषयमें प्रवृत्त होनेवाले वचनको यद्वा जो सज्जनोंके लिये हितका साधक है, ऐसे वचनको सत्य कहते हैं । जो अनृत-मिथ्या नहीं है, परुषता-रूक्षता या कठोरतासे रहित है, चुगली आदि दोषरूप भी नहीं है, असभ्यताका द्योतक नहीं है, जो चपलता-चञ्चलतापूर्वक प्रयुक्त नहीं हुआ है, एवं जो मलिनता अथवा कलुषताका सूचक नहीं है, जिसका उच्चारण विरलता रहित है, और जो भ्रमरूप नहीं है, इसके सिवाय जो श्रोताओंको कर्णप्रिय मालूम होता है, उत्तम कुलवालोंके योग्य है, अथवा स्पष्ट और विशद है, निश्चयरूप है, तथा जिसका उच्चारण स्फुट-प्रकट है, उदारता या उच्च विचारोंसे युक्त है, जो ग्राम्य दोषसे रहित है-जिसमें ग्राम्य-पदोंका प्रयोग नहीं किया गया है, और जो ग्रामीण विषयका प्रतिपादक भी नहीं है, जो अश्लीलताके दोषसे मुक्त है, एवं जो राग द्वेषके द्वारा न तो प्रयुक्त हुआ है, और न उसका साधक है, तथा न सूचक ही है, आचार्यपरम्पराके द्वारा जो सूत्र-परमागमका मार्ग चला आरहा है, उसके अनुसार ही जिसका प्रतिपाद्य (जो भलीभाँति समझा दिया गया हो।) अर्थ प्रवृत्त हुआ करता है, जो विद्वानोंके समक्ष बहुमूल्य समझा जाता है-विद्वान् अथवा कोई भी सुनने और विचार करनेवाला जिसको कीमती समझता है, अर्थिजनोंके भावको ग्रहण करनेमें जो समर्थ

है—तत्त्वके जिज्ञासुओंका जो तात्पर्य है—जिस अंश या विषयको वे समझना चाहते है, उसको लेकर ही जो प्रवृत्त होता है, अपना और परका—दोनोंका ही अनुग्रह करनेवाला है, वञ्चना आदि दोषोंसे जो रहित है, देश कालकी अनुकूलताको जो रखनेवाला है, जो अवद्यतासे—अधमतासे मुक्त और अरहंत भगवान्के शासनका अनुगामी होनेके कारण प्रशस्त है, तथा जो संयत परिमित याचन पृच्छन और प्रश्नव्याकरणरूप है[1] वह सत्य वचन ही सत्य-धर्म समझना चाहिये। ऐसे वचनसे ही संवरकी सिद्धि हुआ करती है।

भावार्थ—अनृत—असत्यका स्वरूप पहिले बता चुके हैं। उससे जो उल्टा है, वह सत्य है। उसको वहाँ व्रतरूपसे कहा है। यहाँपर धर्मरूपसे सत्यका व्याख्यान करते हैं। अतएव जो वचन उपर्युक्त दोषोंसे रहित है, और उक्त गुणोंसे युक्त है, वह चाहे उपदेशरूप हो, या अभिलाषाका द्योतक—प्रकाश करनेवाला हो, या प्रश्नरूप हो, अथवा प्रश्नके उत्तररूप हो, सभी धर्म है, और संवरका साधक है। सत्य शब्द सत् शब्दसे भव अथवा हित अर्थमें यत् प्रत्यय होकर बनता है। वचनरूप सत्यधर्म कैसा होता है, सो यहाँपर संक्षेपमें बताया है, विशेष जिज्ञासुओंको ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—योगनिग्रहः संयमः। स सप्तदशविधः। तद्यथा—पृथिवीकायिकसंयमः, अप्कायिकसंयमः, तेजस्कायिकसंयमः, वायुकायिकसंयमः, वनस्पतिकायिकसंयमः, द्वीन्द्रियसंयमः, त्रीन्द्रियसंयमः, चतुरिन्द्रियसंयमः, पञ्चेन्द्रियसंयमः; प्रेक्ष्यसंयमः, उपेक्ष्यसंयमः, अपहृत्यसंयमः, प्रमृज्यसंयमः, कायसंयमः, वाक्संयमः, मनःसंयमः, उपकरणसंयम इति संयमो धर्मः॥६॥

अर्थ—योगका लक्षण पहले बता चुके हैं, कि मन वचन कायके कर्मको योग कहते हैं। इस योगके निग्रह करनेको **संयम** कहते हैं[2]। निग्रह नाम निरोधका है। अर्थात् मन वचन कायके वश न होना, किन्तु उनको अपने वशमें रखना, उसको संयम—धर्म कहते हैं। अथवा अवद्यकर्म हिंसा आदि या इन्द्रियोंके विषयोंसे मन वचन कायको उपरत—उदासीन रखनेका नाम संयम है। इसके सत्रह भेद हैं। यथा—पृथिवीकायिकसंयम, अप्कायिकसंयम, तेजस्कायिकसंयम, वायुकायिकसंयम, वनस्पतिकायिकसंयम, द्वीन्द्रियसंयम, त्रीन्द्रियसंयम, चतुरिन्द्रियसंयम, पञ्चेन्द्रियसंयम, प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्यसंयम, अपहृत्यसंयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मनःसंयम, और उपकरणसंयम।

१—जो संयमकी प्रधानता रखकर प्रवृत्त हो, उसको संयत, जो शब्दकी अपेक्षा संक्षिप्त हो, उसको परिमित, हे भगवन्, इसका स्वरूप कहिये, इस तरहसे जो प्रार्थनारूप हो, उसको याचन, और प्रश्नरूपको पृच्छन तथा प्रश्नके सम्बन्धको लेकर उत्तररूपमें किये गये व्याख्यानको प्रश्नव्याकरण कहते हैं। २—गुप्तिका भी यही लक्षण सूत्रकारने लिखा है। यथा—"सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः॥" दिगम्बर—सम्प्रदायमें सयमका लक्षण इस प्रकार लिखा है—"समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः।" तथा "वदसमिदिकसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं। धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६४ ॥ गोम्मटसार जीवकांड.

भावार्थ—पृथिवीकायिक आदि सत्रह विषयोंकी अपेक्षासे संयमके भी सत्रह भेद हैं। इन विषयोंसे मन वचन कायको उपरत रखना चाहिये। पृथिवीकायिकजीवकी विराधना हो जाय, ऐसा विचार न करना, और न उसके समर्थक वचन बोलना, तथा जिससे विराधना होजाय, ऐसी शरीरकी चेष्टा न करना, अर्थात् हर तरहसे उसकी रक्षा करना, **पृथिवीकायिकसंयम** है। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जो इन्द्रियोंके द्वारा दीख सकता है, उसको प्रेक्ष्य कहते हैं। ऐसे पदार्थके विषयमें देखकर ही ग्रहण करने आदिकी प्रवृत्ति करनी सो **प्रेक्ष्यसंयम** है। देश कालके अनुकूल विधानके ज्ञाता, शरीरसे ममत्वका परित्याग कर गुप्तियोंके पालनमें प्रवृत्ति करनेवाले साधुके राग द्वेषरूप परिणामोंका न होना, **उपेक्ष्यसंयम** है। प्रासुक वसतिका आहार आदि बाह्य साधनोंके ग्रहण करनेको अथवा शुद्ध्यष्टक आदिके पालन करनेको **अपहृत्यसंयम** कहते हैं। शोधनीय पदार्थको शोधकर ही ग्रहण करनेका नाम **प्रमृज्यसंयम** है। इसी प्रकार शरीर वचन मन और उपकरणके विषयमें आगमके अनुसार प्रवृत्ति करने और उसके विरुद्ध उनका प्रयोग या उपयोग न करनेको क्रमसे **कायसंयम, वाक्संयम, मनःसंयम और उपकरणसंयम** कहते हैं॥ ६ ॥

भाष्यम्—तपो द्विविधम्। तत्परस्ताद्वक्ष्यते। प्रकीर्णकं चेदमनेकविधम्। तद्यथा-यववज्रमध्ये चन्द्रप्रतिमे द्वे, कनकरत्नमुक्तावल्यस्तिस्रः, सिंहविक्रीडिते द्वे, सप्तसप्तमिकाद्याः, प्रतिमाश्चतस्रः-भद्रोत्तरमाचाम्लं वर्धमानं सर्वतोभद्रमित्येवमादि। तथा द्वादश भिक्षुप्रतिमाः मासिकाद्याः आसप्तमासिक्याः सप्त, सप्तरात्रिक्याः तिस्रः, अहोरात्रिकी रात्रिकी चेति॥ ७॥

अर्थ—तपके दो भेद हैं-बाह्य और अभ्यन्तर। इनका वर्णन आगे चलकर किया जायगा। प्रकीर्णक तपके अनेक भेद हैं, जो यहाँ दिखाये जाते हैं। यथा-चन्द्रप्रतिम तपके दो भेद हैं-यव मध्य और वज्रमध्य। आवलीके तीन भेद हैं-कनकावली, रत्नावली, और मुक्तावली। सिंहविक्रीडितके दो भेद हैं, लघु और महान्, सप्तसप्तमिका अष्टअष्टमिका नवनवमिका दशदशमिका इस तरह चार। एवं प्रतिमा-तपके चार भेद हैं-भद्रोत्तर, आचाम्ल, वर्धमान और सर्वतोभद्र। भिक्षुप्रतिमा-तपके बारह भेद है-यथा--मासिकसे लेकर सप्तमासिकी तक सात भेद और सप्तरात्रिकी के तीन भेद तथा एक अहोरात्रिकी और एक रात्रिकी।

भावार्थ—तपके सामान्यतया दो ही भेद हैं। बाह्य और अभ्यन्तर। इनके उत्तरभेद बारह हैं। उन्हींमें सम्पूर्ण तपोंके भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है, फिर भी प्रायश्चित्तादिके द्वारा दोष दूर करनेके लिये अथवा आत्म-शक्तियोंको प्रकट करनेके लिये जो जो विशेष तप किये जाते हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं। प्रकीर्णक-तप अनेक प्रकारके है। उनमेंसे कुछके भेद यहाँ गिनाये है। विशेष जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको आगम-ग्रंथ तथा पुन्नाहसंघीय श्रीजिनसेनसूरिकृत हरिवंशपुराणका ३४ वॉ सर्ग, श्रीआचारदिनकर, तपोरत्नमहोदधिका तपावली प्रकरण देखकर जानना चाहिये॥ ७ ॥

भाष्यम्—बाह्याभ्यन्तरोपधिशरीरान्नपानाद्याश्रयो भावदोषपरित्यागस्त्यागः॥८॥ शरीरधर्मोपकरणादिषु निर्ममत्वमाकिञ्चन्यम्॥९॥ व्रतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यमस्वातन्त्र्यं गुर्वधीनत्वं गुरुनिर्देशस्थायित्वमित्यर्थ च। पञ्चाचार्याः

प्रोक्ताः प्रव्राजको दिगाचार्यः श्रुतोद्देष्टा श्रुतसमुद्देष्टा आम्नायार्थवाचक इति । तस्य ब्रह्मचर्यस्येमे विशेषगुणा भवन्ति । अब्रह्मविरतिव्रतभावना यथोक्ता इष्टस्पर्शरसरूपगन्धशब्दविभूषानाभिनन्दित्वं चेति ॥ १० ॥

अर्थ—परिग्रहके मूलभेद दो हैं—बाह्य और अभ्यन्तर । बाह्य परिग्रह दश प्रकारका है—क्षेत्र वास्तु आदि । अभ्यन्तर परिग्रह १४ प्रकारका है—मिथ्यात्व आदि । दोनों मिलाकर २४ प्रकारके परिग्रह और शरीर अन्न पान आदिके आश्रयसे होनेवाले भावदोषके परित्यागको बताई है, त्याग—धर्म कहते हैं ॥८॥ शरीर और धर्मोपकरण—जोकि पहले धर्मकी साधन—सामग्री कमंडलु आदि उनमें भी ममत्व भाव न होना, आकिञ्चन्य—धर्म है ॥९॥ व्रतोंका पालन करनेके लिये अथवा ज्ञानकी सिद्धि या वृद्धिके लिये यद्वा कषायोंका परिपाक करनेके लिये—जिससे कि क्रोधादि कषाय अपना फल देनेमें असमर्थ हो जाँय, अथवा जल्दी ही उदयमें आकर मंद फल देकर, अथवा न देकर आत्मासे सम्बन्ध छोड़ दें, इसके लिये गुरुकुलमें निवास करनेको ब्रह्मचर्य कहते है ॥ १० ॥

ब्रह्मचर्यका आशय—उसके धारण करनेका प्रयोजन यह है, कि स्वतन्त्र न रहना और सदा गुरुकी अधीनतामें ही निवास करना, तथा गुरुकी आज्ञाका पालन करनेमें सदा तयार रहना, स्वच्छन्द विहारको छोड़कर जिनकी सेवामें रहते हुए और उनकी आज्ञाका पालन करते हुए, ज्ञान चारित्र आदि गुणोंको सिद्ध किया जाता है, या करना चाहिये, वे गुरु आचार्य कहे जाते है । उनके पॉच भेद हैं—प्रव्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा और आम्नायार्थवाचक । दीक्षा देनेवालोंको प्रव्राजक, अनुज्ञामात्र देनेवालोंको दिगाचार्य, आगमका प्रथम पाठ देनेवालोंको श्रुतोद्देष्टा, आगमका विशेष प्रवचन करनेवाले और स्थिर परिचय करानेवालोंको श्रुतसमुद्देष्टा, तथा आगमके उत्सर्ग या अपवादरूप रहस्यके बतानेवालोंको आम्नायार्थवाचक कहते हैं ।

अब्रह्मसे निवृत्ति, और व्रतोंकी भावना ये ब्रह्मचर्यके विशेष गुण हैं ।—इनका स्वरूप पहले कह चुके है । अर्थात् अब्रह्मका और उसकी विरतिका तथा प्रत्येक व्रतकी भावनाका भी वर्णन पहले किया जा चुका है, अतएव उसको फिर यहाँ दुहरानेकी आवश्यक्ता नहीं है । इन दो गुणोंके सिवाय इष्ट—मनोज्ञ या अभिलषित स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द और आभूषण आदिसे आनन्दित न होना, भी ब्रह्मचर्यका एक विशेष गुण है ।

धर्मके अनन्तर संवरके कारणोंमें अनुप्रेक्षाओंका नामोल्लेख किया है, अतएव धर्मके भेदोंका स्वरूप बताकर क्रमानुसार अब उन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—एता द्वादशानुप्रेक्षाः । तत्र बाह्याभ्यन्तराणि शरीरशय्यासनवस्त्रादीनि द्रव्याणि सर्वसंयोगाश्चानित्या इत्यनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतः तेष्वभिष्वङ्गो न भवति, मा भून्मे तद्वियोगजं दुःखमित्यनित्यानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—अनुप्रेक्षा बारह हैं, जोकि यहाँ इस अनित्यानुप्रेक्षा आदि सूत्रमें गिनाई गई हैं। अनुप्रेक्षा नाम पुनः पुनः चिन्तवन करनेका है। चिन्तवनके विषय अनित्यत्व आदि बारह यहाँपर गिनाये हैं। अतएव विषयभेदकी अपेक्षा अनुप्रेक्षाओंके भी बारह भेद होते हैं। विषयके वाचक अनित्य आदि शब्दोंके साथ अनुप्रेक्षा शब्द जोड़नेसे उनके नाम इस प्रकार हो जाते हैं—अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा- आस्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा, और धर्मस्वाख्या—तत्त्वानुप्रेक्षा।

शरीर शय्या आसन वस्त्र आदि बाह्य और अभ्यन्तर द्रव्य तथा अन्य समस्त संयोगमात्र अनित्य हैं, ऐसा पुनः पुनः चिन्तवन करना इसको अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं। संवरके अभिलाषियोंको संयोगमात्रके विषयमें इस प्रकार अनित्यत्वका चिन्तवन अवश्य करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार निरंतर चिन्तवन करनेसे उनमें—विषयभूत द्रव्योंमें अथवा संयोगमात्रमें अभिष्वङ्ग—आसक्ति नहीं हुआ करती, और उनका वियोग हो जानेपर तज्जन्य दुःख भी नहीं हुआ करता। अथवा जो इस प्रकार अनित्यत्वका चिन्तवन करता है, उसके मनमें यह चिन्ता-रूप अर्ति—पीड़ा नहीं हुआ करती, कि हाय मुझे कभी भी इन विषयोंके वियोगसे उत्पन्न दुःख न हो। क्योंकि वह सम्पर्ण संयोगोंको अनित्य समझता है। अतएव उसके वियोगका भय नहीं होता और उसके संवरकी सिद्धि हुआ करती है॥ १॥

भाष्यम्—यथा निराश्रये जनविरहिते वनस्थलीपृष्ठे बलवता क्षुत्परिगतेनामिषैषिणा सिंहेनाभ्याहतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते एवं जन्मजरामरणव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्भाग्यदौर्मनस्यमरणादिसमुत्थेन दुःखेनाभ्याहतस्य जन्तोः संसारे शरणं न विद्यत इति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतो नित्यमशरणोऽस्मीति नित्योद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेष्वनभिष्वङ्गो भवति। अर्हच्छासनोक्त एव विधौ घटते तद्धि परं शरणमित्यशरणानुप्रेक्षा॥ २॥

अर्थ—जहाँ किसी भी प्रकारका आश्रय नहीं पाया जाता—लुक छिपकर बैठनेके योग्य जहाँपर कोई भी घर आदि दिखाई नहीं पड़ता और जो मनुष्योंके संचार आवा—गमनसे रहित है—जहाँ कोई रक्षक मनुष्य दृष्टिगत नहीं होता, ऐसी अरण्यानी—बड़ी भारी वनी—अटवीमें अत्यन्त बलवान् और क्षुधासे ग्रस्त—पीड़ित और इसी लिये मांसके अभिलाषी किसी सिंहके द्वारा आक्रान्त—पकड़े हुए हिरणके बच्चेके लिये जिस प्रकार कोई भी शरण नहीं होता—उसकी रक्षा करनेमें कोई भी समर्थ नहीं रहा करता, उसी प्रकार जन्म—उत्पत्ति, जरा—वृद्धावस्था, मरण—आयुके पूर्ण होजानेसे शरीरका वियोग, व्याधि—अनेक प्रकारके शारीरिक रोग, किसी भी इष्ट वस्तु या प्राणीका वियोग, अनिष्ट वस्तु या किसी वैसे ही प्राणीका संयोग, अभिलषित—चाही हुई वस्तुका लाभ न होना, दारिद्रता—गरीबी, दौर्भाग्य—सौभाग्यहीनता, दौर्मनस्य—मनमें चिन्ता आदिका रहना अथवा रागद्वेष आदि कषायोंकी अर्तिसे

पीड़ित चित्त रहना, एवं आत्मघात या पराघातसे जन्य मृत्यु आदि अनेक कारणोंसे उत्पन्न दुःखोंसे आक्रान्त–ग्रस्त प्राणीका भी संसारमें कोई भी शरण नहीं है। कोई भी जीव इस प्राणीको इन दुःखोंसे बचानेके लिये समर्थ नहीं है। संवरके अभिलाषियोंको सदा इस प्रकारसे अशरणताका विचार करना चाहिये। क्योंकि जो निरन्तर इस प्रकार चिन्तवन किया करता है, कि मैं नित्य ही अशरण हूँ-मेरा कहीं कभी कोई भी रक्षक–सांसारिक दुःखोंसे बचानेवाला नहीं है, वह उस भावनामें दृढ़ होकर सदाके लिये उद्विग्न–विरक्त चित्त हो जाया करता है। वह संसारके किन्हीं भी विषयोंमें आसक्त नहीं हुआ करता। अनेक प्रिय–इष्ट वस्तुओंको पाकर भी उनमें उसकी रुचि अथवा प्रीति नहीं हुआ करती, और अप्रिय अनिष्ट वस्तुओंको पाकर उनमें द्वेष या अरतिका भाव नहीं हुआ करता, तथा उनके लाभालाभकी चिन्ता भी नहीं हुआ करती। अशरणताका विचार करनेवाला अरहंत भगवानके शासनमें जिस विधिका वणन किया गया है, उसीके अनुकूल चलनेकी चेष्टा किया करता है, और वह उसीको परम शरण समझता है। अर्थात् वह समझता है, कि जिन भगवानने ससारसे छूटनेका जो उपाय बताया है, वही जीवके लिये शरण है, अन्य कोई भी शरण नहीं है। अतएव वह संसारिक विषयोंमें आसक्त भी नहीं होता, और तज्जन्य दुःखोंसे वह पीड़ित भी नहीं होता। क्योंकि कर्म–फलकी अवश्यभोग्यताका विचार करनेसे प्राप्त, इष्ट अनिष्ट वस्तुओंके संयोगमें वैराग्य भावना अथवा परिणामोंकी समता जागृत होती है, और सर्वज्ञ वीतराग अरिहंत भगवान्‌के प्ररूपित सत्य–सिद्धान्तमें श्रद्धा दृढ़ होती है ॥ २ ॥

भाष्यम्—अनादौ संसारे नरकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभवग्रहणेषु चक्रवत्परिवर्तमानस्य जन्तोः सर्व एव जन्तवः स्वजनाः परजना वा। न हि स्वजनपरजनयोर्व्यवस्था विद्यते। माता हि भूत्वा भगिनी भर्या दुहिता च भवति। भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति। भार्या भूत्वा भगिनी दुहिता माता च भवति। दुहिता भूत्वा माता भगिनी भार्या च भवति। तथा पिता भूत्वा भ्राता पुत्र॰ पौत्रश्च भवति। भ्राता भूत्वा पिता पुत्रः पौत्रश्च भवति। पौत्रो भूत्वा पिता भ्राता पुत्रश्च भवति। पुत्रो भूत्वा पिता भ्राता पौत्रश्च भवति। भर्त्ता भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा भर्त्ता भवति। शत्रुर्भूत्वा मित्रं भवति। मित्रं भूत्वा शत्रुर्भवति। पुमान् भूत्वा स्त्री भवति, नपुंसकं च। स्त्री भूत्वा पुमान्नपुंसकं च भवति। नपुंसकं भूत्वा स्त्री पुमांश्च भवति। एवं चतुरशीतियोनिप्रमुखशतसहस्रेषु रागद्वेषमोहाभिभूतैर्जन्तुभिरनिवृत्तविषयतृष्णैरन्योन्यभक्षणाभिघातवधबन्धाभियोगाक्रोशादिजनितानि तीव्राणि दुःखानि प्राप्यन्ते। अहो द्वन्द्वाराम॰ कष्टस्वभावः संसार इति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतः संसारभयोद्विग्नस्य निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय घटत इति संसारानुप्रेक्षा ॥ ३ ॥

अर्थ—संसार अनादि है। उसमें पड़ा हुआ जीव नरक तिर्यग्योनि मनुष्य और देवपर्यायके ग्रहण करनेमें चक्रकी तरह परिवर्तन–परिभ्रमण करता रहता है। कभी नरकसे निकलकर तिर्यञ्च अथवा मनुष्य हो जाता है, तो कभी तिर्यञ्च होकर नारकी तिर्यञ्च मनुष्य

या देव हो जाता है। कभी मनुष्य होकर नारकी तिर्यञ्च मनुष्य या देव हो जाता है, तो कभी देव होकर तिर्यञ्च अथवा मनुष्य हो जाता है। इसी प्रकार अनादि कालसे संसारी जीवका चारों गतियोंमें गाढ़ीके पहियेकी तरहसे परिभ्रमण हो रहा है। अतएव सभी संसारी जीव इसके स्वजन अथवा परजन कहे जा सकते हैं। अथवा इस परिवर्तनशील संसारमें स्वजन परजनकी कोई व्यवस्था भी तो नहीं बनती। क्योंकि एक ही जीव माता होकर बहिन भार्या या पुत्री हो जाता है, तो कोई बहिन होकर माता स्त्री या पुत्री हो जाता है। कोई स्त्री होकर बहिन पुत्री या माता हो जाता है, तो कोई पुत्री होकर माता बहिन स्त्री हो जाता है। तथा पिता होकर कोई भाई पुत्र या पौत्र—नाती बन जाता है, तो कोई भाई होकर पिता पुत्र अथवा पौत्र हो जाता है। कोई पौत्र होकर पिता भाई अथवा पुत्र बन जाता है, तो कोई पुत्र होकर पिता भाई अथवा पौत्र हो जाता है। जो स्वामी है, वह जन्मान्तरमें अपने सेवकका सेवक बन जाता है, और जो सेवक है, वह भवान्तरमें अपने स्वामी-का स्वामी बन जाता है। अर्थात् अपने अपने कर्मके अनुसार चतुर्गतियोंमें भ्रमण करनेवाले जीवका किसीके भी साथ कोई नियत सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता, कि अमुक जीवके साथ अमुकका सदाकाल यही सम्बन्ध रहेगा। क्योंकि जो इस जन्ममें शत्रु है, वह जन्मान्तरमें अपना मित्र होता हुआ भी देखा जाता है, और जो मित्र है, वही कदाचित् भवान्तरमें अपना शत्रु बनता हुआ नजर पड़ता है। जो पुरुष है, वही मर कर स्त्री अथवा नपुंसक पर्यायको धारण कर लेता है, और जो स्त्री है, वह मरकर पुरुष अथवा नपुंसक हो जाता है, अथवा जो नपुंसक है, वही मरकर स्त्री अथवा पुरुष हो जाता है। इस प्रकार अनादि कालसे ये सभी संसारी प्राणी मुख्य-तया चौरासी लाख योनियोंमें[1] भ्रमण कर रहे हैं, और राग द्वेष तथा मोहसे अभिभूत—विह्वल रहनेके कारण विषयोंकी तृष्णाको छोड़ नहीं सकते, और इसी लिये परस्परमें एक दूसरेका भक्षण करने तथा ताड़न वध बन्धन अभियोग (दोषारोपण) और आक्रोश निंदा अथवा कटु भाषण आदि में प्रवृत्त हुआ करते हैं। तथा तज्जनित अति तीव्र दुःखोंको भोगा करते है। अतएव मुमुक्षु प्राणियोंको संसारके स्वरूपका पुनः पुनः इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये, कि अहो संसार यह द्वन्द्वाराम और स्वभावसे ही कष्टरूप है। अर्थात् यह संसार इष्ट और अनिष्ट सुख और दुःखरूप युगल धर्मका आश्रयभूत एक प्रकारका उपवन है, परन्तु वास्तवमें इसका स्वभाव दुःख ही है। क्योंकि जिसको संसारमें सुख या इष्ट विषय समझते हैं, वह भी वास्तवमें दुःख ही है[2]। इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन करनेवाले मुमुक्षु प्राणीको संसारसे भय उत्पन्न हो कर उद्वेग—व्याकुलताकी प्राप्ति होती है। और उससे पुनः निर्वेद—वैराग्य सिद्ध हो जानेपर वह

१—इनकी गणना पहले अध्यायमें बता चुके हैं। मुख्य भेद ८४ लाख हैं, किन्तु उत्तरोत्तरभेद अधिक हैं।

२—'यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तद्दुःखं परमार्थतः" —पंचाध्यायी।

जीव संसारका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील होता है । इस प्रकार संसारके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करनेको ही **संसारानुप्रेक्षा** कहते हैं ।

भावार्थ—संसार नाम संसरण–परिभ्रमणका है । इसमें भ्रमण करनेवाले जीवको स्वभावसे ही हरएक प्रकारकी वस्तुकी प्राप्ति होती है । किन्तु मोह और अज्ञानके वशीभूत हुआ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट समझता है, तथा इष्टकी प्राप्तिमें सुखका और अनिष्टकी प्राप्तिमें दुःखका अनुभव किया करता है । वास्तवमें न कोई वस्तु इष्ट और सुखका कारण है, और न कोई अनिष्ट और दुःखका ही कारण है । अतएव ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पर वस्तुओंके संयोगमात्रको दुःखका ही कारण समझकर उद्वेग और वैराग्यको प्राप्त हुआ करता है, तथा विरक्त हो कर निर्वाणकी सिद्धिमें प्रयत्नशील होता है । इस प्रकार संसारके स्वरूपका पुनः पुनः विचार करना संसारानुप्रेक्षा है और संसारसे विरक्त होना ही उसका वास्तविक फल है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एक एवाहं न मे कश्चित्स्वः परो वा विद्यते । एक एवाहं जाये । एक एव म्रिये । न मे कश्चित्स्वजनसंज्ञः परजनसंज्ञो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति प्रत्यंशहारी वा भवति । एक एवाहं स्वकृतकर्मफलमनुभवामीति चिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतः स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहानुरागप्रतिबन्धो न भवति परसंज्ञकेषु च द्वेषानुबन्धः । ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव यतत इत्येकत्वानुप्रेक्षा ॥ ४ ॥

अर्थ—इस संसारमें मैं अकेला ही हूँ । यहाँपर मेरा कोई न स्वजन है, और न कोई परजन । मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ, और अकेला ही मृत्युको प्राप्त होता हूँ । जिसको यहाँपर मेरा स्वजनसंज्ञक अथवा परजनसंज्ञक कहा जाता है, वह भी कोई ऐसा नहीं है, जो कि मेरे व्याधि जरा और मरण आदि दुःखोंको दूर कर सके । सर्वथा दूर करना तो दूर रहा, उसके अंश अथवा अंशांशको दूर करने या बाँटनेमें भी कोई समर्थ नहीं हो सकता । जिन कर्मोंका बंध मैंने किया है, उनके फलका अनुभव करनेवाला मैं अकेला ही हूँ । इस प्रकार अपने एकाकीपनेका चिन्तवन करना चाहिये । जो मुमुक्षु–मोक्षाभिलाषी निरन्तर इस प्रकारसे चिन्तवन करता रहता है, उसको स्वजनसंज्ञक प्राणियोंमें स्नेह या अनुरागका प्रतिबन्ध नहीं होता । वह उनको अपना समझकर उनके विषयमें मोहित नहीं होता, और इसी लिये वह उनके निमित्तसे पापकर्म करनेसे पराङ्मुख रहता या विषयोंसे विरक्त रहा करता है । इसी प्रकार उसको परजनसंज्ञक प्राणियोंमें द्वेषका प्रतिबन्ध-रुकावट नहीं होती । उनको वह पर समझकर उनका अकल्याण आदि करनेमें भी प्रवृत्त नहीं होता, और इसी लिये वह सबसे वीतद्वेष या निर्वैर रहा करता है । फलतः एकत्वका चिन्तवन करनेवाला जीव राग द्वेषसे रहित होकर निःसङ्गताको प्राप्त हो जाता है, और वह मोक्षके लिये ही प्रयत्न किया करता है । इसीको **एकत्वानुप्रेक्षा** कहते हैं ।

भावार्थ—संसारमें परिभ्रमण करते हुए भी अपनी आत्माकी एकाकिताका पुनः पुनः विचार करनेको एकत्वानुप्रेक्षा कहते है । क्योंकि जन्म मरण जरा और व्याधि आदि अवस्थाओंमें

जीव एक ही रहता है, और उसीको उनका फल भोगना पड़ता है। अपने सिवाय और कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कि कर्म-फलके भोगनेमें एक सूक्ष्म अंशका भी भागीदार हो सके। अतएव ऐसी भावनाको निरन्तर रखनेवाला जीव किसी भी अवस्थामें हतशक्ति नहीं होता और न किसीसे राग द्वेषका अनुबंध ही करता है। किन्तु पूर्ण और शुद्ध एकता-निर्वृत्तिके लिये ही प्रयत्नशील हुआ करता है। इस प्रकारकी अपनी एकाकिताके चिन्तवनको एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं, और उसका फल निःसङ्गताकी सिद्धि तथा मोक्ष-पुरुषार्थका साधन ही है॥ ४॥

भाष्यम्--शरीरव्यतिरेकेणात्मानमनुचिन्तयेत्। अन्यच्छरीरमन्योऽहम्। ऐन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहम्, अनित्यं शरीरं नित्योऽहम्, अज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरमनाद्यन्तोऽहम्। बहूनि च मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः। स एवायमहमन्यस्तेभ्य इत्यनुचिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतः शरीरप्रतिबन्धो न भवतीति। अन्यश्च शरीरान्नित्योऽहमिति निःश्रेयसे संघटत इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा॥ ५॥

अर्थ--अन्यत्वानुप्रेक्षाका आशय यह है, कि शरीरसे अपनी आत्माकी भिन्नताका चिन्तवन करना। यथा--मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ। क्योंकि शरीर ऐन्द्रिय-इन्द्रियगोचर मूर्त है, और मैं अनिन्द्रिय-अमूर्त हूँ, शरीर अनित्य है-आयुपूर्ण होते ही विघटित हो जाता है, अथवा उसके पहले भी अनेक प्रकारसे विशीर्ण होता रहता है, और मै नित्य हूँ-कभी नष्ट अथवा विशीर्ण नहीं होता, शरीर अज्ञ-ज्ञानशून्य है, और मैं ज्ञ-ज्ञान दर्शनरूप हूँ, शरीर आदि और अन्तसे युक्त है-क्योंकि वह उत्पन्न होता और नष्ट भी होता है, किन्तु मै इन दोनों ही धर्मोंसे रहित हूँ-मैं अनादि और अनन्त हूँ। संसारमें परिभ्रमण करते हुए मेरे न मालूम कितने लक्ष शरीर बीत गये, किन्तु मै यह वही उन सबसे भिन्न बना हुआ हूँ। इस प्रकार शरीरसे अपनी भिन्नताका बार बार विचार करना चाहिये। इस तरहसे विचार करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं। जो जीव निरन्तर इस प्रकारका चिन्तवन किया करता है, उसको शरीरमें प्रतिबन्ध-ममत्वभाव नहीं होता, और वह ऐसा समझ करके कि अनित्य शरीरसे नित्य मैं सर्वथा भिन्न ही हूँ, निःश्रेयस-पदकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न किया करता है। यह अन्यत्वानुप्रेक्षाका वास्तविक फल है। यह सब अन्यत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप समझना चाहिये।

भाष्यम्--अशुचि खल्विदं शरीरमिति चिन्तयेत्। तत्कथमशुचीति चेदाद्युत्तरकारणाशुचित्वादशुचिभाजनत्वादशुच्युद्भवत्वादशुभपरिणामपाकानुबंधादशक्यप्रतीकारत्वाच्चेति। तत्राद्युत्तरकारणाशुचित्वात्तावच्छरीरस्याद्यं कारणं शुक्रं शोणितं च तदुभयमत्यन्ताशुचीति उत्तरमाहारपरिणामादि। तद्यथा-कवलाहारो हि ग्रस्तमात्र एव श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतोऽत्यन्ताशुचिर्भवति। ततः पित्ताशयं प्राप्य पच्यमानोऽम्लीकृतोऽशुचिरेव भवति। पक्वो वाय्वाशयं प्राप्य वायुना विभज्यते पृथक्खलः पृथक्रस। खलान्मूत्रपुरीषादयो मलाः प्रादुर्भवन्ति, रसाच्छोणितं परिणमति, शोणितान्मांसम्, मांसान्मेद, मेदसोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जाभ्यः शुक्रमिति सर्वं चैतच्छ्लेष्मादिशुक्रान्तमशुचिर्भवति तस्मादाद्युत्तरकारणा-

शुचित्वादशुचि शरीरमिति । किं चान्यत्-अशुचिभाजनत्वात् अशुचीनां खल्वपि भाजनं शरीरं कर्णनासाक्षिदन्तमलस्वेदश्लेष्मपित्तमूत्रपुरीषादीनामवस्करभूतं तस्मादशुचीति । किं चान्यत् -अशुच्युद्भवत्वात् । एषामेव कर्ण मलादीनामुद्भवः शरीरं, तत उद्भवन्तीति । अशुचौ च गर्भे संभवतीति अशुचि शरीरम् । किं चान्यत्—अशुभपरिणामपाकानुबंधाच्चार्तवे बिन्द्वाराधानात्प्रभृति खल्वपि शरीरं कललार्बुदपेशीघनव्यूहसंपूर्णगर्भकौमारयौवनस्थविरभावजनकेनाशुभपरिणामपाकेनानुबद्धं दुर्गन्धि पूतिस्वभावं दुरन्तं तस्मादशुचि । किं चान्यत् ।-अशक्यप्रतीकारत्वात् ' अशक्यप्रतीकारं खल्वपि शरीरस्याशुचित्वमुद्वर्तनरूक्षणस्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासयुक्तिमाल्यादिभिरप्यस्य न शक्यमशुचित्वमपनेतुमशुच्यात्मकत्वाच्छुच्युपघातकत्वाच्चेति । तस्मादशुचि शरीरमिति । एवं ह्यस्य चिन्तयतः शरीरे निर्वेदो भवति । निर्विण्णश्च शरीरप्रहाणाय घटत इति अशुचित्वानुप्रेक्षा ॥ ६ ॥

अर्थ—अशुचित्वानुप्रेक्षाका अभिप्राय यह है, कि शरीरकी अपवित्रताका विचार करना । संवर और निर्जराके अभिलाषी मुमुक्षु भव्योंको शरीरके विषयमें निरन्तर यह चिन्तवन करना चाहिये, कि यह शरीर नियमसे अशुचि—अपवित्र है । अशुचि किस प्रकारसे है ? किन किन कारणोंसे यह अपवित्र है ? ऐसी जिज्ञासा कदाचित् हो, तो उसका उत्तर यही है, कि इसकी अपवित्रताके अनेक कारण हैं । सबसे पहला कारण तो यह है, कि जिन कारणोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, वे इसके पूर्व और उत्तर कारण अपवित्र हैं । दूसरा कारण यह है, कि यह अपवित्र पदार्थोंका भाजन—आश्रय है । तीसरा कारण है, कि यह शरीर अशुचि पदार्थोंका उद्भव-उत्पत्ति-स्थान है । कारण कि अशुभ परिणामोके द्वारा संचित पाप—कर्मके उदयसे यह अनुबद्ध रहता है, और पाँचवाँ कारण है, कि इसकी अपवित्रता किसी भी उपायके द्वारा दूर नहीं की जा सकती । इस प्रकार अनेक कारणोंसे शरीरकी अपवित्रता सिद्ध है । इन सबका सारांश यह है कि:—

शरीरका आदि-कारण शुक्र और शोणित है, क्योंकि इन्हींके द्वारा मनुष्य-शरीर उत्पन्न हुआ करता है । गर्भज शरीरमात्रके मूल उपादान कारण ये दो पदार्थ ही है, और ये दोनों ही अत्यंत अशुचि है । अतएव आदि कारणकी अपेक्षा शरीर अपवित्र है । शरीरका उत्तर-कारण आहार परिणाम है । सो इस अपेक्षासे भी शरीर अशुचि ही है । क्योंकि जिसको यह जीव—मनुष्य प्राणी ग्रासरूपसे ग्रहण करता है, वह कवलाहार खानेके बाद ही-गलेके नीचे उतरते ही श्लेष्माशय—आमाशय को प्राप्त होकर उसके—श्लेष्मके द्वारा द्रवीभूत हो जाता है । क्या वह अवस्था अपवित्र नहीं है ? अत्यन्त अपवित्र है । इसके अनन्तर वह आहार पित्ताशयको प्राप्त हो कर जब पकने लगता है, उस समयमें वह अम्लरूप अवस्थाको धारण किया करता है । वह अवस्था भी अत्यन्त अपवित्र ही है । पक जानेके बाद वह आहार वाय्वाशयको प्राप्त होता है । उस समय वह वायुके द्वारा विभक्त हुआ करता है । उस के खल भाग और रस भाग इस तरह दो पृथक् पृथक् भाग हो जाते है । खल भागके द्वारा मूत्र और पुरीष—विष्ठा आदि

मल बनते हैं, और रस भागके द्वारा शोणित—रक्त तयार हुआ करता है। इसके अनन्तर क्रमसे इसकी कार्यकारण—पद्धति इस प्रकार है—रक्तसे मांस, मांससे मेदा, मेदासे अस्थि—हड्डी, अस्थिसे मज्जा, और मज्जासे शुक्र—वीर्य तैयार होता है[1]। श्लेष्म से लेकर शुक्र पर्यन्त आहार के सभी विपरिणाम अशुचि ही हैं। ये ही सब शरीरके उत्तरकारण हैं। अतएव इनकी अशुचिताके कारण हा शरीर अशुचि है। इस प्रकार शरीरकी अपवित्रताको बतानेके लिये पहला कारण जो बताया है, सो ठीक ही है, कि आदि और उत्तर कारणोंकी अपवित्रताके कारण यह अपवित्र है।

दूसरे कारणका तात्पर्य यह है, कि जितने भी अशुचि पदार्थ हैं, उन सबका आधार शरीर ही है। कान नासिका ऑख और दातके मल शरीरके आश्रयसे ही रहते हैं, और स्वेद—पसीना श्लेष्म—खखार पित्त मूत्र और पुरीष—विष्टा आदि अपवित्र पदार्थोंका अवस्कर—कूड़ादान शरीर ही है। अतएव यह अपवित्रताको ही धारण करनेवाला है।

तीसरे कारणका आशय इस प्रकार है—कर्णमल आदि जितने अशुचि पदार्थ हैं, उन सबका आधार ही नहीं उत्पत्ति—स्थान भी शरीर ही है। शरीरके द्वारा ही ये सब मल उत्पन्न हुआ करते है। नव द्वारोंसे बहनेवाले सभी मलोंकी उत्पत्ति शरीरसे ही होती है। तथा गर्भके अशुचि होनेसे ही शरीर उद्भूत—पैदा होता है, इसलिये भी शरीर अशुच्युद्भव है—अपवित्र है।

चौथा कारण—यह शरीर अशुभ परिणामोंके द्वारा संचित पापकर्मोंके उदयसे अनुबद्ध है, इसलिये अशुचि है। माताके ऋतु-कालमें पिताके वीर्य-बिंदुओंके आधान—गर्भाधानके समयसे ही लेकर यह शरीर क्रमसे उन अनेक अवस्थाओंसे अनुबद्ध हुआ करता है, जो कि कलल—जरायु (गर्भको आच्छादन-ढॅाकनेवाला चर्म) अर्बुद—पेशी घन—व्यूह संपूर्ण गर्भ कौमार यौवन और स्थिवर भावोंको उत्पन्न करनेवाले अशुभ परिणामोंके उदयरूप हैं। इसके सिवाय यह शरीर स्वभावसे ही दुर्गन्धियुक्त और सड़ने गलनेवाला है, तथा इसका अन्त दुःखरूप ही है। इस कारणसे भी शरीर अपवित्र है।

पाँचवाँ कारण—यह है, कि इसकी अशुचिताका प्रतीकार अशक्य है। कोई भी ऐसा उपाय नहीं है, कि जिससे शरीरकी अपवित्रता दूर की जा सके। अनेक प्रकारके उद्वर्तन—उबटन करके भी निर्मल नहीं बनाया जा सकता। नाना तरहके रूक्षण प्रयोगोंको करके भी उसकी स्निग्धता दूर नहीं कर सकते। यथायोग्य स्नान करके भी इसको स्वच्छ नहीं बना सकते। चन्दन कस्तूरी केशर आदि उत्तमोत्तम पदार्थोंका अनुलेप—लेप करके भी इसको कान्तियुक्त नहीं बना सकते। अनेक प्रकारके पदार्थोंकी सुगन्धित धूप देकर भी इसको सुगन्धित नहीं बना सकते। पुनः पुनः घिस घिस कर धोनेसे भी इसको लावण्ययुक्त नहीं बना सकते। इतर

१—रसाद्रक्तं ततोमांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते। मेदतोऽस्थि ततो मज्जं मज्जाच्छुक्रं ततः प्रजा।

फुलेल आदि सुगन्ध द्रव्य लगाकर और पुष्पमाला आदिको धारण करके भी सुगन्धित नहीं बना सकते। इस तरह कोई भी उपाय करके इसकी अशुचिता दूर नहीं की जा सकती। क्योंकि स्वभावसे ही यह शरीर अशुचिरूप है, और शुचिताका उपघातक—नाशक है। इस कारणसे भी शरीर अशुचि ही है।

इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरकी अपवित्रताके चिन्तवन करनेको अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते हैं। निरंतर इस तरहकी भावना करनेवाला जीव शरीरके विषयमें निर्वेद—वैराग्यको प्राप्त हो जाता है, और निर्विण्ण होकर शरीरका नाश—मोक्षको प्राप्त करनेके लिये ही चेष्टा किया करता है। इस प्रकार अशुचित्वानुप्रेक्षाका वर्णन किया॥ ६॥

भाष्यम्—आस्रवानिहामुत्रापाययुक्तान्महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णानकुशलागमकुशलनिर्गमद्वारभूतानिन्द्रियादीनवद्यतश्चिन्तयेत्। तद्यथा—स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्तचित्तः सिद्धोऽनेकविद्याबलसम्पन्नोऽप्याकाशगोऽष्टाङ्गनिमित्तपारगो गार्ग्यः सत्यकिर्निधनमाजगाम। तथा प्रभूतयवसोदकप्रमाथावगाहादिगुणसम्पन्नवनविचारिणश्च मदोत्कटा बलवन्तोऽपि हस्तिनो हस्तिबन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रियसक्तचित्ता ग्रहणमुपगच्छन्ति। ततो बन्धवधदमनवाहनाङ्कुशपार्ष्णिप्रतोदाभिघातादिजनितानि तीव्राणि दुःखान्यनुभवन्ति। नित्यमेव स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रचारसुखस्य वनवासस्यानुस्मरन्ति। तथा मैथुनसुखप्रसङ्गादाहितगर्भाश्वतरी प्रसवकाले प्रसवितुमशक्नुवन्ती तीव्रदुःखाभिहताऽवशा मरणमभ्युपैति। एवं सर्वे एव स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्ता इहामुत्र च विनिपातमृच्छन्तीति। तथा जिह्वेन्द्रियप्रसक्ता मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगोढवायसवत् हैमनघृतकुम्भप्रविष्टमूषिकवत् गोष्ठप्रसक्तह्रदवासिकूर्मवत् मांसपेशीलुब्धश्येनवत् बडिशामिषगृद्धमत्स्यवच्चेति। तथा घ्राणेन्द्रियप्रसक्ता ओषधिगन्धलुब्धपन्नगवत् पललगन्धानुसारिमूषिकवच्चेति। तथा चक्षुरिन्द्रियप्रसक्ताः स्त्रीदर्शनप्रसङ्गादर्जुनकचोरवत् दीपालोकलोलपतङ्गवद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत्। तथा श्रोत्रेन्द्रियप्रसक्तास्तित्तिरकपोतकपिञ्जलवत् गीतसंगीतध्वनिलोलमृगवद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत्। एवं चिन्तयन्नास्रवनिरोधाय घटत इति आस्रवानुप्रेक्षा॥ ७॥

अर्थ—सातवीं भावनाका नाम आस्रवानुप्रेक्षा है। कर्मोंके आनेके मार्गको आस्रव कहते हैं। आस्रवोंके भेद पहले बता चुके हैं। फलतः ये सभी आस्रव इस लोक तथा परलोक दोनों ही भवमें अपायपूर्ण—दुःखदायी है। दुःखोंके कारण तथा आत्माको कल्याणसे वंचित रखनेवाले है। जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियोंके प्रवाहका वेग अति तीक्ष्ण होता है, और अकुशल—अकल्याणके आगमन—प्रवेश और कुशल—कल्याणके निर्गम—बाहर निकलनेका कारण—द्वार हुआ करता है। उसी प्रकार ये इन्द्रिय आदि आस्रव भी जीवोंको अकल्याणसे युक्त कराने और कल्याणसे वंचित रखनेके लिये मार्ग हैं। इस प्रकार संवरके अभिलाषी साधुओंको इनकी अवद्यता—अधमताका विचार करना चाहिये। जिनके द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है, उनमें इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष दीखनेवाले ऐसे कारण हैं, कि जिनसे जीवको इसी भवमें क्लेश सहन करना पड़ता है। परलोकके लिये भी इनसे अशुभ

कर्मका संचय होता है। इन्द्रियाँ पाँच हैं। उनमेंसे प्रत्येकका विचार करने-योग्य-स्वरूप इस प्रकार है—

स्पर्शन—जिसको अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं, अनेक बड़ी बड़ी और छोटी छोटी विद्याओंके बलसे परिपूर्ण था, तथा जो आकाशमें गमन करनेवाला, और जो अष्टाङ्ग महानिमित्तशास्त्रोंका पारगामी था, ऐसा गार्ग्य गोत्रमें उत्पन्न हुआ सात्यकि–महादेव इस इन्द्रियमें आसक्त–लीनचित्त रहनेके कारण ही मृत्युको प्राप्त हुआ। शास्त्रोंमें इसका स्पष्ट वर्णन है। इससे स्पर्शनेन्द्रियकी आसक्तिका दोनों ही भवोंमें अवद्यरूप (गर्हित–त्याज्य) जो फल प्राप्त होता है, वह सिद्ध होता है। इसके सिवाय प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है, कि जिस वनमें घास तृण वृक्ष आदि खाद्य-सामग्री और जल प्रचुररूपमें पाया जाता है, और इसी लिये उस वनमें यथेच्छ अवगाहन करने आदि गुणोंसे सम्पन्न–परिपूर्ण रहकर स्वतन्त्र विहार करनेवाले मदोन्मत्त और बलवान् भी हस्ती इस स्पर्शनेन्द्रियमें आसक्तचित्त होकर हस्तिबन्धकियोंमें फँस जाते हैं, और पकड़े जाकर बंधनको प्राप्त हो जाते हैं। तथा इसके अनन्तर बंधन वध दमन वाहन-सवारी और अंकुशके द्वारा दोनों भागोंमें व्यथित होने तथा अभिघात–मार प्रभृति अनेक कारणोंसे उत्पन्न तीव्र दुःखोंका अनुभव किया करते हैं, और जिसमें कि अपने झुण्डके साथ साथ स्वच्छन्द घूमनेके सुखका अनुभव किया करते थे, उस वनवासको सदा याद किया करते हैं।

तथा खिचरी मैथुन सुखके लोभमें फँसकर जब गर्भवती हो जाती है, तब वह प्रसवके समय बच्चेको पैदा नहीं कर सकती, और उसकी तीव्र वेदनासे अभिहत होकर विवश हुई मृत्युको प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियमें अत्यासक्ति रखनेवाले सभी प्राणियोंको इस लोक तथा परलोकमें विनिपात–विनाशको प्राप्त होते हुए ही देखा जाता है।

रसनेन्द्रिय—इस इन्द्रियके वशमें पड़े हुए प्राणी भी दोनों भवोंमें क्लेशको ही प्राप्त होते हैं। इस-लोकमें उनका क्लेश प्रत्यक्ष सिद्ध है। जिस प्रकार मरे हुए हाथीके शरीरपर बैठा हुआ

१—जैनधर्ममें ११ रुद्र माने हैं, जोकि चतुर्थकालमें हो चुके हैं। उनमेंसे अंतिम रुद्रका नाम सात्यकी है। इनकी कथा शास्त्रोंमें वर्णित है। **यशस्तिलक चम्पू, आराधनाकथाकोष** आदि ग्रंथोंमें इनकी उत्पत्ति आदिका खुलासा वर्णन किया है, सो वहाँपर या अन्य कथा–पुराण–ग्रंथोंमें देखना चाहिये। उसका साराश यही है, कि ये मुनि और आर्यिकाके भ्रष्ट हो जानेसे उत्पन्न होते हैं। दीक्षा–धारण करके ११ अंग ९ पूर्वतकके पाठी होते हैं। जब अध्ययम कर चुकते हैं, तब ५,०० महाविद्याएं और ७०० क्षुल्लक–छोटी विद्याएं आकर उनसे अपना स्वामी बननेकी प्रार्थना किया करती हैं। वे भी उनके लोभमें आकर तपस्यासे भ्रष्ट हो जाते हैं, और स्पर्शनेन्द्रियके विषयोंमें रत होकर आयुके अन्तमें दुर्गति को जाया करते हैं। अष्टाङ्ग महानिमित्त शास्त्रोंके नाम इस प्रकार हैं–१ अंतरीक्ष २ भौम ३ अंग ४ स्वर ५ स्वप्न ६ लक्षण ७ व्यञ्जन ८ छिन्न। २—घास तृण आदिको उछालना, अपने ऊपर उछालकर डाल लेना, उनका उखाड़ना तोड़ना फेंकना और जलमें विलोडन–मंथन आदि करना। ३—हाथियोंको पकड़नेके लिये एक खड्डा बनाया जाता है, और शिक्षित हाथियों या हथिनियोंके द्वारा उसमें लाकर वह जंगली हाथी फसाया जाता है। उसको हस्थिबंधकी कहते हैं।

किन्तु नदीके वेगमें पड़ा हुआ कौआ, अतिक्लेश अथवा मरणको प्राप्त होता है, अथवा हेमन्त या शीत ऋतुमें घीके घड़ेमें प्रविष्ट–घुसा हुआ चूहा, तथा सरोवरमें सदा निवास करनेवाला कछुआ गौंके वाड़ेमें फँसकर जिस दशाको प्राप्त हुआ करता है, इसी तरह मांसकी डलीमें लोभके वश फँसा हुआ बाजपक्षी या कटिया–लोहेके काँटेमें लगे हुए मांस–खण्डके भक्षणकी गृद्धि–अतिशय लुब्धताको रखनेवाला मच्छ जिस दशाको प्राप्त हुआ करता है, उसी दशाको जिव्हा इन्द्रियके सभी लम्पटी प्राप्त हुआ करते हैं, यह बात इन उदाहरणोंसे सिद्ध होती है।

घ्राणेन्द्रिय—सर्पको पकड़नेवाले ऐसी औषधको सर्पके निवासस्थानके पास रख देते हैं, कि जिसकी गंध उसको अति प्रिय मालूम होती है। सर्प उस गंधके लोभसे वहाँ आता है, और पकड़ा जाता है। इस तरह नासिका इन्द्रियके वशीभूत हुए सर्पकी जो दशा होती है, अथवा मांसके गंधका अनुसरण करनेवाले चूहेको जो अवस्था भोगनी पड़ती है, वही दशा सम्पूर्ण नासिका इन्द्रियके लम्पटियोंकी हुआ करती है।

चक्षुरिन्द्रिय—इस इन्द्रियके विषयमें आसक्त प्राणी भी स्त्री–दर्शनके निमित्तसे अर्जुन चोरके समान अथवा दीपकके प्रकाशको देखकर चञ्चल हो उठनेवाले पतङ्ग–कीड़ेकी तरह विनिपात–पतितदशा या मृत्युको प्राप्त होते हुए ही देखे जाते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय—इस इन्द्रियके लम्पटी भी तीतर कपोत और कपिञ्जल चातक–पपीहाकी तरह अथवा गाये गये गीतकी ध्वनिको सुनते ही चंचल चित्त हो उठनेवाले हरिणकी तरह विनिपात–नाशको ही प्राप्त होते हैं।

इस तरह संवरके अभिलाषियोंको इन आस्रवद्वाररूप इन्द्रियोंकी अवद्यता–निकृष्टताका विचार करना चाहिये। जो निरंतर इस प्रकार चिन्तवन करता रहता है, वह भव्य साधु सम्पूर्ण अपाय–नाशके कारणभूत इन आस्रवोंका निरोध करनेके लिये ही चेष्टा करनेमें दत्तचित्त हो जाता है। तथा मोक्षका साधन किया करता है। इस प्रकार **आस्रवानुप्रेक्षाका** स्वरूप समझना चाहिये ॥७॥

भाष्यम्—संवरांश्च महाव्रतादिगुप्त्यादिपरिपालनाद्गुणतश्चिन्तयेत्। सर्वे ह्येते यथोक्तास्रवदोषाः संवृतात्मनो न भवन्तीति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतो मतिःसंवरायैव घटत इतिसंवरानुप्रेक्षा ॥ ८ ॥

अर्थ—संवरका स्वरूप पहले बता चुके हैं, कि आस्रवके निरोध-रोकने–रुकावटको संवर कहते हैं। यह संवर पंच महाव्रतादिरूप तथा तीन गुप्ति आदि स्वरूप है। जब कि आस्रव सम्पूर्ण अपाय-नाशका कारण है, और संवर उसका प्रतिपक्षी है, तो यह बात स्वयं ही सिद्ध हो जाती है, कि संवर सम्पूर्ण कल्याणोंका कारण है। अतएव संवरकी गुणवत्ता–महत्ताका चिन्तवन करना चाहिये। विचार करना चाहिये, कि ऊपर जो आस्रवके दोष बताये है, वे संवर सहित जीवको कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। इस प्रकार संवरकी गुणवत्ताका विचार करते रहनेवाले जीवकी बुद्धि संवरको सिद्ध करनेके लिये ही प्रवृत्त–तैयार हुआ करती है। इस प्रकार **संवरानुप्रेक्षाका** वर्णन किया॥८॥

भाष्यम्—निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम् । स द्विविधोऽबुद्धिपूर्वः कुशलमूलश्च । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाको योऽबुद्धिपूर्वकस्तमुद्यतोऽनुचिन्तयेदकुशलानुबन्ध इति । तपः-परीषहजयकृतः कुशलमूलः । तं गुणतोऽनुचिन्तयेत् । शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति । एव-मनुचिन्तयन्कर्मनिर्जरणायैव घटत इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्जरा वेदना और विपाक ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । निर्जरा दो प्रकारकी हुआ करती है ।—एक अबुद्धिपूर्वक दूसरी कुशलमूल । इनमें से नरकादिक गतियोंमें जो कर्मोके फलका अनुभवन विना किसी तरहके बुद्धिपूर्वक प्रयोगके हुआ करता है, उसको अबुद्धिपूर्वक कहते हैं । इस निर्जराके प्रति उद्यत जीवको कुशलानुबन्ध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । तपके करनेसे तथा परीषहोंके जीतनेसे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, उसको कुशलमूल निर्जरा कहते हैं । यह निर्जरा ही कार्यकारी है । इस प्रकार इसकी गुणवत्ताका पुनः पुनः विचार करना चाहिये । अथवा इसकी शुभानुबंधता या निरनुबन्धताका भी चिन्तवन करना चाहिये । इस प्रकार पुनः पुनः विचार करनेवाला मुमुक्षु कर्मोकी निर्जरा करनेकी तरफ ही प्रवृत्त हुआ करता है ।

भावार्थ—आत्माके साथ लगे हुए पौद्गलिक कर्मोका आत्मासे एकदेश वियोग होनेको–कर्मोके एकदेश–आंशिक क्षयको निर्जरा[1] कहते हैं । आत्माके साथ बँधे हुए कर्म अपनी स्थितिको पूर्ण करके आत्मासे सम्बन्ध स्वयं ही छोड़ देते हैं । इसके लिये कोई खास प्रयत्न असाधारण कारणस्वरूप आवश्यक नहीं है । स्थिति पूर्ण होनेपर स्वयं ही कर्म आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर झड़ जाते हैं । इसीको अबुद्धिपूर्वकनिर्जरा कहते हैं । क्योंकि इसमें कर्मोंको निर्जीर्ण करनेके लिये कोई भी बुद्धिपूर्वकनिर्जराके कारणका प्रयोग नहीं किया जाता । यह अनादिकालसे ही होती चली आ रही है । इसका फल कुछ भी आत्म–कल्याण नहीं है । अतएव इसके विषयमें अकुशलानु-बन्धताका ही विचार किया जाता है । क्योंकि ऐसा विचार करनेसे आत्म–कल्याणकी कारणभूत निर्जराकी तरफ प्रवृत्ति होती है ।

तप करने और परीषहोंके जीतनेसे कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होनेके पहले ही निर्जरा हो जाती है । अतएव इसके निमित्तसे जीव मोक्षके मार्गमें अग्रेसर बनता है, और इसी लिये इसको कुशलमूल कहते हैं । इसकी गुणवत्ताका चिन्तवन भी मोक्ष–मार्गको सिद्ध करनेवाला है । इसलिये मुमुक्षुओंको अवश्य ही इसका पुनः पुनः विचार करना चाहिये । इस प्रकार निर्जरानु प्रेक्षाका वर्णन किया ॥ ९ ॥

भाष्यम्—पञ्चास्तिकायात्मकं विविधपरिणाममुत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रलययुक्तं लोकं चित्रस्वभावमनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य चिन्तयतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवतीति लोकानुप्रेक्षा ॥ १० ॥

1–एकदेश कर्म संक्षयलक्षणा निर्जरा । दो भेदोंके नाम सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा ये भी हैं ।

अर्थ—लोकका स्वरूप पहले भी बता चुके हैं, कि यह पञ्चास्तिकायरूप है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाशके समूहस्वरूप है। नाना प्रकारसे परिणमन करनेवाला, उत्पत्ति स्थिति भेद अनुग्रह और प्रलय भावको धारण करनेवाला, तथा विचित्र–आश्चर्यकारी स्वभावसे युक्त है। इस प्रकार लोकके स्वरूपका बार बार चिन्तवन करना चाहिये। जो साधु इस प्रकार चिन्तवन करता है, उसके तत्त्वज्ञानमें विशुद्धि हुआ करती है।

भावार्थ—लोकका चिन्तवन करनेसे तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। क्योंकि वह तत्त्वोंके और उनके परिणमनादिके समुदायरूप ही है। इसके सिवाय परोक्ष इष्ट पदार्थोंकी तरफ श्रद्धा दृढ़ होती है, जिससे कि सिद्धिके साधनकी तरफ मुमुक्षु–साधुजन अग्रेसर हुआ करते हैं ॥१०॥

भाष्यम्—अनादौ संसारे नरकादिषु तेषु भवग्रहणेष्वनन्तकृत्वः परिवर्तमानस्य जन्तोर्विविधदुःखाभिहतस्य मिथ्यादर्शनाद्युपहतमतेर्ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायोदयाभिभूतस्य सम्यग्दर्शनादि विशुद्धो बोधिर्दुर्लभो भवतीत्यनुचिन्तयेत्। एवं ह्यस्य बोधिदुर्लभत्वमनुचिन्तयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न भवतीति बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा ॥ ११ ॥

अर्थ—यह चतुर्गतिरूप संसार अनादि है। अतएव संसारी–प्राणी भी नरकादिक चारों गतियोंमें अनादिकालसे ही परिभ्रमण कर रहा है। नारक आदि भवोंके पुनः पुनः ग्रहण करनेमें ही सदासे प्रवृत्त है। एक भवको छोड़कर दूसरे भवको धारण कर पुनरपि पहले ही भवोंको धारण करने–रूप परिवर्तन यह प्राणी अनादि संसारमें अनन्त बार कर चुका है। संसारकी चारों गतियोंमें अनन्त बार परिवर्तन करनेके कारण नाना प्रकारके दुःखोंसे अभिहत–पीड़ित है, और हो रहा है। इस अनादि परिभ्रमणका कारण मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनके उदयसे इस जीवकी मति–समीचीन–यथार्थ बुद्धि नष्ट हो चुकी है, और इसकेसाथ ही यह जीव ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातियाकर्मोंके उदयसे अभिभूत–व्याकुल हो रहा है, जिससे कि इसकी ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व और वीर्यशक्ति लुप्तप्राय हो गई है, तथा विपरीत बन गई है। अतएव इस जीवको सम्यग्दर्शनादिके द्वारा अत्यन्त विशुद्ध बोधि–सम्यग्ज्ञानका लाभ दुःशक्य–दुःसाध्य है। इस प्रकार साधुओंको बोधिकी दुर्लभताका पुनः पुनः चिन्तवन करना चाहिये। जो इस प्रकारसे बोधिदुर्लभताका चिन्तवन करता रहता है, वह जीव बोधिको पाकर प्रमादी नहीं बनता।

भावार्थ—अनादि कालसे कर्मके पराधीन इस प्राणीको परिभ्रमण करते हुए एक रत्नत्रयके सिवाय सभी वस्तुओंका लाभ अनन्त बार हुआ, किन्तु रत्नत्रयकी प्राप्ति एक बार भी नहीं हो सकी। अतएव सबसे अधिक यही दुर्लभ है। इसके बिना जीव नाना दुःख-परम्पराओंसे पीड़ित ही बन रहा है। इसलिये सम्पूर्ण सुखका साधन रत्नत्रयका लाभ हो जानेपर विवेकी साधु प्रमादी कैसे बन सकते है? वे उसको पाकर उसकी रक्षा और पुष्टिमें ही प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस प्रकार बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षाका वर्णन हुआ ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनद्वारः पञ्चमहाव्रतसाधनो द्वादशाङ्गोपदिष्टतत्त्वो गुप्त्यादिविशुद्धव्यवस्थानः संसारनिर्वाहको निःश्रेयस प्रापको भगवता परमर्षिणार्हताहो व्याख्यातो धर्म इत्येवमनुचिन्तयेत् । एवं ह्यस्य धर्मस्वाख्याततत्त्वमनुचिन्तयतो मार्गाच्यवने तदनुष्ठाने च व्यवस्थानं भवतीति धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनानुप्रेक्षा ॥ १२ ॥

अर्थ—परमर्षि भगवान् अरहंतदेवने जिसका व्याख्यान किया है, अहो वही एक ऐसा धर्म है, कि जो जीवोंको संसारसे पार उतारनेवाला और मोक्षको प्राप्त करानेवाला है. । उसका द्वार सम्यग्दर्शन है । सम्यक्त्वका स्वरूप पहले बता चुके है । उसके द्वारा ही धर्मकी सिद्धि होती है । उसके विशेष साधन पॉच महाव्रत हैं । हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रहका सर्वात्मना त्याग, उसके पूर्ण स्वरूपको सिद्ध करनेवाला है । धर्मका तत्त्व—वास्तविक स्वरूप द्वादशाङ्गमें बताया है । उसकी निर्दोष–निर्मल व्यवस्था–स्थिति गुप्ति आदिके द्वारा हुआ करती है । इस प्रकार आर्हतधर्मकी महत्ताका पुनः पुनः चिन्तवन करना चाहिये । इस प्रकार धर्मके उपदिष्ट तत्त्वका जो साधुजन बार बार विचार करते हैं, वे मोक्षके मार्गसे च्युत नहीं होते, और उसके पालन करनेमें व्यवस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार धर्मस्वाख्याततत्त्वभावनाका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ १२ ॥

भाष्यम्—उक्ता अनुप्रेक्षाः, परीषहान् वक्ष्यामः ॥

अर्थ—इस प्रकार बारह भावनाओंका वर्णन किया । इस अध्यायकी आदिमें संवरके साधनोंका जो उल्लेख किया है, तदनुसार गुप्ति समिति और धर्मके अनंतर क्रमसे बारह अनुप्रेक्षाओंका इस सूत्रमें व्याख्यान किया । अब क्रमानुसार भावनाओंके अनन्तर संवरका साधन जो परीषहजय बताया है, उसका स्वरूप बतानेके लिये यहाँपर परीषहोंका वर्णन करनेके पूर्व उनका सहन क्यों करना चाहिये, सो बतानेको सूत्र कहते है ।

सूत्र—मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याःपरीषहाः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गादच्यवनार्थं कर्म निर्जरार्थं च परिषोढव्या परीषहा इति । तद्यथा—

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष-मार्गसे च्युत न होनेके लिये और कर्मोकी निर्जरा हो इसके लिये परीषहोंका भले प्रकार सहन करना चाहिये ।

भावार्थ—जो परीषहोंसे भय खाता है, वह मोक्ष-मार्गको भलेप्रकार सिद्ध नहीं कर सकता, और न तपश्चरणमें इतनी दृढ़ताके विना वह कर्मोको निर्जीर्ण ही कर सकता है । अतएव इन दो प्रयोजनोंको सिद्ध करनेके लिये सम्पूर्ण परीषह सर्वात्मना सहन करनेके योग्य ही बताई है ।

परीषह शब्द अन्वर्थ है ।—परिषह्यंते इति परीषहाः । अतएव इनके जीतनेमें ही महत्त्व है । यद्यपि यहॉपर परीषहोंके जीतनेके दो प्रयोजन बताये हैं—एक मोक्षमार्गसे अप्रच्यव और

दूसरा कर्मोंकी निर्जरा। किन्तु संवरकी साधनतारूप भी इसका प्रयोजन है, जोकि प्रकरणगत होनेसे स्वयं ही समझमें आता है।

जिनके निमित्तसे धर्माराधनमें-मोक्ष-मार्गके साधनमें अथवा कर्मोंकी निर्जराके उपायभूत तपश्चरणमें विघ्न उपस्थित हो सकता है, ऐसी पीड़ा विशेषको परीषह समझना चाहिये। यद्यपि ऐसी पीडाएं अनेक हो सकती हैं, परन्तु उन सबका जिनमें समावेश हो जाय, ऐसी पीडाएं कितनी हैं? वे बाईस हैं। उनका ही नामोल्लेख करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

भाष्यम्—क्षुत्परीषहः, पिपासा, शीतम्, उष्णम्, दंशमशकं, नाग्न्यम्, अरतिः, स्त्रीपरीषहः चर्यापरीषहः, निषद्या, शय्या, आक्रोशः वधः, याचनम्, अलाभः, रोगः, तृणस्पर्शः, मलम्, सत्कारपुरस्कारः, प्रज्ञाज्ञानेऽदर्शनपरीषह इत्येते द्वाविंशतिर्धर्मविघ्नहेतवो यथोक्तं प्रयोजनमभिसंधाय रागद्वेषौ निहत्य परीषहाः परिषोढव्या भवन्ति ॥

पञ्चानामेव कर्मप्रकृतीनामुदयादेते परिषहाः प्रादुर्भवन्ति। तद्यथा-ज्ञानावरणवेदनीयदर्शनचारित्रमोहनीयान्तरायाणामिति ॥

अर्थ—परीषह बाईस हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन।

इन बाईसों परीषहोंको धर्ममें विघ्न उपस्थित करनेका कारण समझना चाहिये। क्योंकि इनके न जीतनेसे या इनके अधीन हो जानेपर रत्नत्रयरूप धर्मके आराधन करनेमें विघ्न उपस्थित होता है। अतएव जिस जिस परीषहके जीतनेका जो जो प्रयोजन बताया है, उसको ध्यानमें रखकर—लक्ष्य करके इन सभी परीषहोंको राग द्वेष छोड़कर जीतना चाहिये।

भावार्थ—इष्ट विषयमें राग भावकी एकान्त प्रवृत्ति और उसी प्रकार अनिष्ट विषयमें द्वेषकी प्रवृत्ति भी मुमुक्षुओंके लिये हेय—छोडने योग्य ही है। अतएव प्रकृत विषयमें भी यह बात ध्यानमें रखकर परीषहोंको वीतरागताके साथ सहन करना चाहिये। यथा क्षुधाको अनिष्ट समझकर उसके शमन करनेमें भी प्रवृत्त न होना—उससे द्वेष करना अथवा उसको इष्ट मानकर उसके शमन करनेमें राग भावके वशीभूत होकर अयोग्य उपायका भी आश्रय लेना अनुचित है। अतएव दोनों भावोंका परित्याग होनेसे ही वास्तवमें परीषहजय कहा जा सकता है। इसी लिये विधिपूर्वक क्षुधाका शमन करना किन्तु योग्य उपाय न मिलनेपर उसके वशीभूत न होना—मनमें तलमलाहट—गृद्धि—चिन्ता आदिका न

होना, क्षुत्परीषहका जय कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार पिपासा—प्यास परीषह आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

इन परीषहोंके होनेमें कारण क्या है ? तो ज्ञानावरण वेदनीय दर्शनमोहनीय चारित्र-मोहनीय और अन्तराय इन पॉच प्रकृतियोंका उदय ही इनका अन्तरङ्ग कारण है।

इन पाँच कर्मोके उदयकी अपेक्षासे ही यहाँपर परीषहोंका वर्णन किया गया है। अतएव जहाँतक जिस कर्मका उदय पाया जाता है, वहाँतक उस कर्मके उदयसे कही जानेवाली परीषहोंका भी उल्लेख किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीषह होती हैं, इस बातको बतानेके पूर्व उनके स्वामियोंको बताते है, कि कितनी कितनी परीषह किस किस गुणस्थानवर्ती जीवके पाई जाती हैं। अब इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सूक्ष्मसंपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

भाष्यम्—सूक्ष्मसंपरायसंयते छद्मस्थवीतरागसंयते च चतुर्दश परीषहा भवन्ति।— क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याप्रज्ञाज्ञानालाभशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलानि।

अर्थ—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवाले और छद्मस्थ वीतराग संयमियोंके उपर्युक्त बाईस परीषहोंमेंसे चौदह परीषह पाई जाती हैं, जोकि इस प्रकार हैं:-क्षुधापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्यापरीषह, प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, अलाभप-रीषह, शय्यापरीषह, वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, और मलपरीषह।

भावार्थ—संपराय नाम कषायका है। जहाँपर लोभकषाय अत्यंत मंद रह जाती है-धुले हुए कुसुमके रंगके समान जहाँपर उसका उदय बिलकुल ही हल्का पाया जाता है, उसको सूक्ष्मसंपराय कहते हैं। यह दशवें गुणस्थानकी संज्ञा है। इसी प्रकार जहाँतक केवल-ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु राग द्वेषरूप मोहकर्म वीत चुका है-शान्त या क्षीण हो चुका है, ऐसे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानको छद्मस्थ वीतराग कहते हैं। इन तीनों ही गुणस्थानोंमें चौदह परीषह पाई जाती है। क्योंकि परीषहोंके कारणभूत कर्मका उदय इन गुणस्थानों तक पाया जाता है। क्योंकि यह बात ऊपर ही कह चुके हैं, कि प्रतिपक्षी कर्मोके उदयकी अपेक्षासे ही परीषहोंका प्रादुर्भाव समझना चाहिये।

सूत्र—एकादश जिने ॥ ११ ॥

भाष्यम्—एकादश परीषहाः संभवन्ति जिने वेदनीयाश्रयाः। तद्यथा-क्षुत्पिपासाशी-तोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहाः॥

अर्थ—वेदनीयकर्मके आश्रयसे जिन भगवान्—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवालोंके ग्यारह परीषह संभव है। जोकि इस प्रकार हैं—क्षुधापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह,

उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्यापरीषह, शय्यापरीषह, वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, और मलपरीषह।

भावार्थ—ये ग्यारह परीषह वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करती हैं, और वेदनीय, कर्मका उदय तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनभगवान्के भी पाया जाता है, इस अपेक्षासे इन परीषहोंकी अरिहंतके भी संभवता बताई गई है[1]।

सूत्र—बादरसंपराये सर्वे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—बादरसंपरायसंयते सर्वे द्वाविंशतिरपि परीषहाः सम्भवन्ति ॥

अर्थ—बादरसंपराय-नववें गुणस्थान तक सभी—बाईसों परीषह संभव हैं।

भावार्थ—बादर नाम स्थूल कषायका है। जहाँतक स्थूल कषायका उदय पाया जाता है, उस नववें गुणस्थानको बादरसंपराय कहते हैं। वहाँतक सभी परीषहोंका संभव है।

बाईसों परीषहोंकी संभवता नाना जीवोंकी अपेक्षासे है, न कि एक जीवकी अपेक्षा। अथवा एक जीवके भी भिन्न कालकी अपेक्षा सब परीषह संभव हैं। क्योंकि एक कालमें एक जीवके १९ से अधिक परीषह नहीं हो सकती, ऐसा आगे चलकर वर्णन करेंगे।

इस प्रकार परीषहोंके स्वामियोंको बताकर साधनको बतानेके लिये अब यह बताते हैं, कि किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीषह होती है।—

सूत्र—ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—ज्ञानावरणोदये प्रज्ञाज्ञानपरीषहौ भवतः ॥

अर्थ—प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हुआ करती हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञानका अभाव होता है। इसलिये उसके उदयसे अज्ञान परीषहका बताना तो ठीक है, किन्तु प्रज्ञापरीषह उसके उदयसे किस तरह कही जा सकती है? क्योंकि प्रज्ञा तो ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होती है। अतएव ज्ञानभावको ज्ञानावरणके उदयसे बतानेका क्या कारण है?

उत्तर—प्रज्ञा और प्रज्ञापरीषहमें अन्तर है। ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अभिव्यक्त—प्रकट हुई बुद्धि विशेषको प्रज्ञा कहते हैं, और अपनी बुद्धि या ज्ञानका मद होना, इसको प्रज्ञापरीषह कहते हैं। ज्ञानका मद वहींतक होता है, जहाँतक कि अल्पज्ञता है, और अल्पज्ञताका कारण ज्ञानावरणकर्मका उदय ही है। अतएव प्रज्ञापरीषहको उसके उदयका कार्य बताना उचित और युक्त ही है।

१—दिगम्बर-सम्प्रदायमें इस सूत्रका दो प्रकारकी क्रिया लगाकर दो तरहसे अर्थ किया है। एक तो सन्ति क्रिया लगाकर कारणकी अपेक्षा ग्यारह परीषह जिन भगवानके हैं, यह अर्थ, और दूसरा न संति क्रिया लगाकर कार्य रूपमें ग्यारह परीषह नहीं है, यह अर्थ।

सूत्र—दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

भाष्यम्—दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ यथासङ्ख्यम् दर्शनमोहोदयेऽदर्शनपरीषहः लाभान्तरायोदयेऽलाभपरीषहः ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्म और अन्तरायकर्मका उदय होनेपर क्रमसे अदर्शनपरीषह और अलाभपरीषह होती है। अर्थात् दर्शनमोहके उदयसे अदर्शनपरीषह और लाभान्तरायकर्मके उदयसे अलाभपरीषह होती है।

भावार्थ—अदर्शन नाम अतत्त्वश्रद्धानका है। ये परिणाम दर्शनमोहके उदयसे हुआ करते हैं। कदाचित् महान् तपश्चरणमें रत साधुके भी सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे इस तरहके भाव होसकते है, कि शास्त्रोंमें लिखा है, कि तपश्चरणके प्रतापसे बड़ी बड़ी ऋद्धियाँ सिद्ध हो जाया करती है, सो मालूम होता है, कि यह सब बात कथनमात्र ही है। क्योंकि इतने दिनसे घोर तपस्या करनेपर भी अभीतक मुझे कोई ऋद्धि प्रकट नहीं हुई। इस तरहके भावोंका होना ही अदर्शनपरीषह है। आहारके लिये भ्रमण करनेपर भी कदाचित् लाभान्तरायके उदयसे आहारका लाभ न होनेपर चित्तमें व्याकुलताके हो जानेको ही अलाभपरीषह कहते है। इस प्रकार दोनों ही कर्मोंकी उदयजन्य अवस्थाएं हैं। इनके वशीभूत न होनेको ही क्रमसे अदर्शनविजय और अलाभविजय समझना चाहिये।

सूत्र—चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—चारित्रमोहोदये एते नाग्न्यादयः सप्त परीषहा भवन्ति ॥

अर्थ—नाग्न्यपरीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, निषद्यापरीषह, आक्रोशपरीषह, याचनापरीषह, और सत्कारपुरस्कारपरीषह, ये सात परीषह चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे हुआ करती है।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ लिङ्गके धारण करनेको और उसकी बाधाके लिये आई हुई विपत्तियोंको नाग्न्यपरीषह कहते है। अनिष्ट पदार्थके संयोगमें अप्रीतिरूप भावके होनेको अरतिपरीषह कहते हैं। ब्रह्मचर्यको भंग करने आदिकी अपेक्षासे स्त्रियोंके द्वारा होनेवाले आक्रमणको स्त्रीपरीषह कहते है। ध्यान या सामायिकके लिये एक आसनसे स्थिर होजानेपर आसनकी कठिनताके अनुभवको निषद्यापरीषह कहते है। यह ढोंगी है, साधुवेशमें छिपा हुआ चोर है, पापी है, दुष्ट है, इत्यादि अज्ञानियोंके द्वारा किये गये मिथ्या आक्षेपोंको या उनके द्वारा बोले गये दुर्वचनोंको आक्रोशपरीषह कहते है। संक्लेश या विपत्तिके समय उससे घबड़ाकर उसको दूर करनेके लिये किसी भी वस्तुको अपने लिये माँगनेके भाव होनेको याचनापरीषह कहते है। अनेक तरहसे योग्य रहते हुए भी प्रसङ्गपर आदर या अग्रपद को न पाकर चित्तमें विचलता हो जानेको सत्कारपुरस्कारपरीषह कहते हैं।

यह उन परीषहोंका स्वरूप है, जोकि चारित्रमोहकर्मके उदयसे हुआ करती हैं। कर्मोंका संवर तथा क्षपण करनेके लिये प्रवृत्त हुए साधुजन इन परीषहोंके वशीभूत नहीं हुआ करते। उनको जीतकर मोक्ष-मार्गमें अग्रेसर हुआ करते है।

ऊपर जिन जिन परीषहोंके कारण बताये हैं, उनके सिवाय बाकी रहीं ग्यारह परीषहोंके कारणका उल्लेख करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

भाष्यम्—वेदनीयोदये शेषा एकादश परीषहा भवन्ति ये जिने संभवन्तीत्युक्तम्। कुतः शेषाः? एभ्यः प्रज्ञाज्ञानादर्शनालाभनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारेभ्य इति॥

अर्थ—उपर्युक्त परीषहोंसे जो बाकी रहती हैं, वे ग्यारह परीषह वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करती हैं, जिनके लिये पहले कहा जा चुका है, कि ये जिन भगवानके संभव हैं। वे कौनसी परीषह हैं, कि जिनसे शेष ये वेदनीय कर्मजन्य ग्यारह परीषह मानी जाती हैं? तो उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह, अदर्शनपरीषह, अलाभपरीषह, नाग्न्यपरीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, निषद्यापरीषह, आक्रोशपरीषह, याचनापरीषह, और सत्कारपुरस्कारपरीषह।

भावार्थ—उक्त ग्यारहसे शेष रहनेवाली ग्यारह परीषहोंके नाम इस प्रकार हैं—क्षुधापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्यापरीषह, शय्यापरीषह वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, और मलपरीषह। इनका अर्थ स्पष्ट है। ये परीषह कारणके अस्तित्वकी अपेक्षासे जिन भगवान्के संभव कही गई हैं।

उक्त बाईस परीषहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें कमसे कम कितनीं और अधिकसे अधिक कितनी परीषह आकर उपस्थित हो सकती हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—एषां द्वाविंशतेःपरीषहाणामेकादयो भजनीया युगपदेकस्मिन् जीवे आ एकोनविंशतेः। अत्र शीतोष्णपरीषहौ युगपन्न भवतः। अत्यन्तविरोधित्वात्। तथा चर्याशय्यानिषद्यापरीषहाणामेकस्य संभवे द्वयोरभावः॥

अर्थः—उक्त बाईस परीषहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें एकसे लेकर उन्नीस परीषह तक यथासंभव समझ लेनी चाहिये। अर्थात् किसी जीवके एक किसीके दो किसीके तीन किसीके चार और किसीके पाँच इसी तरह क्रमसे किसी जीवके उन्नीस परीषह भी एकसाथ हो सकती हैं। युगपत् बाईसों परीषह क्यों नहीं हो सकतीं? यही बात यहाँपर समझनी चाहिये। इसका कारण यही है, कि एक तो शीत और उष्ण परीषह युगपत् नहीं हो सकती। क्योंकि

शीत और उष्ण दोनों परस्परमें अत्यन्त विरुद्ध हैं। जहाँ शीतपरीषह होगी, वहाँ उष्ण-परीषह नहीं होगी, और जहाँ उष्णपरीषह होगी, वहा शीतपरीषह नहीं हो सकती । अत-एव एक परीषह घट जाती है । इसी तरह चर्या शय्या निषद्या इन तीन परीषहोंमें से एक कालमें एकका ही संभव हो सकता है, तीनोंका नहीं । क्योंकि चलना शयन करना और स्थित रहना ये तीनों क्रियाएं भी परस्परमें विरुद्ध हैं, अतएव इनमें से एक कालमें एक ही हो सकती है, दोका अभाव ही रहेगा ।

भावार्थ—शीत उष्णमेंसे एक और चर्य्या शय्या निषद्यामेंसे दो इस तरह तीन परीषहोंका एक कालमें अभाव रहता है । अतएव बाईस परीषहमेंसे तीनके घटजानेपर शेष परीषह उन्नीस रहती हैं । सो ही एक जीवके एक समयमें हो सकती हैं ।

इस प्रकार संवरकी कारणभूत परीषहजयके प्रकरणानुसार उनके भेद आदिका वर्णन किया । अब उसके अनन्तर क्रमानुसार चारित्रका वर्णन करना चाहिये, अतएव उसके ही भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सामायिकछेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातानि चारित्रम् ॥ १८ ॥

भाष्यम्—सामायिकसंयमः छेदोपस्थाप्यसंयमःपरिहारविशुद्धिसंयमः सूक्ष्मसंपरायसंयमः यथाख्यातसंयम इति पञ्चविधं चारित्रम् । तत्पुलाकादिषु विस्तरेण वक्ष्यामः ॥

अर्थ—चारित्र पाँच प्रकारका है—सामायिकसंयम, छेदोपस्थाप्यसंयम, परिहारविशुद्धि-संयम, सूक्ष्मसंपरायसंयम, और यथाख्यातसंयम । इसका विशेष वर्णन आगे चलकर करेंगे, जब कि पुलाक आदि निर्ग्रन्थ मुनियोंके भेदोंका उल्लेख किया जायगा ।

भावार्थ—संसारके कारणभूत कर्मोंके बन्धके लियें योग्य जो क्रियाएं उनका निरोध कर शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करनेके लिये जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति होती है, उसको चारित्र अथवा संयम कहते हैं । प्रकृतमें उसके सामायिक आदि पाँच भेद है, जिनके कि निर्देश स्वामित्व आदिका वर्णन आगे चलकर इसी अध्यायमें किया जायगा ।

यहाँ क्रमानुसार चारित्रके अनन्तर तपका वर्णन करते हैं । क्योंकि ऊपर संवरके कारणोंमें तपको भी गिनाया है । तप दो प्रकारका है—एक बाह्य दूसरा अन्तरङ्ग । इनमेंसे पहले बाह्य तपके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

भाष्यम्—अनशनम्, अवमौदर्यम्, वृत्तिपरिसंख्यानम्, रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनता, कायक्लेश इत्येतत्षड्विधं बाह्यं तपः ।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिरित्यतः प्रभृति सम्यगित्यनुवर्तते। संयमरक्षणार्थं कर्मनिर्जरार्थं च चतुर्थषष्ठाष्टमादि सम्यगनशनं तपः ॥ १ ॥

अर्थ—बाह्यतपके छह भेद हैं।—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासनता, और कायक्लेश।

गुप्तिका लक्षण-बतानेके लिये पहले यह सूत्र लिखा जा चुका है, कि "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः"। इस सूत्रमें जो सम्यक् शब्द आया है, उसकी वहींसे लेकर अनुवृत्ति चली आती है। अतएव अनशन आदि प्रत्येक शब्दके साथ सम्यक् शब्द को जोड़ लेना चाहिये, सम्यगनशन सम्यगवमौदर्य इत्यादि।

संयमकी रक्षाके लिये और कर्मोंकी निर्जराके लिये जो चतुर्थ षष्ठ या अष्टम आदिका धारण करना इसको सम्यगनशन नामका तप कहते हैं।

भावार्थ—अशन–भोजनके त्यागको अनशन अथवा उपवास कहते हैं। इस तरह का अनशन रोग निवृत्ति आदिके लिये भी किया जाता है, परन्तु वह प्रकृतमें उपादेय नहीं माना है। संयमकी रक्षा और कर्मोंकी निर्जराको सिद्ध करनेके लिये जो आहारका परित्याग किया जाता है, उसीको प्रकृतमें अनशन कहते हैं। इस बातको दिखानेके लिये ही सम्यक् शब्द जोड़ा गया है।

प्रोषधोपवासको चतुर्थ, वेलाको षष्ठ और तेलाको अष्टम कहते हैं। क्योंकि आगममें एक दिनकी दो भुक्ति मानी गई है। एक प्रातःकालकी और दूसरी सायंकालकी। इनमेंसे एकके त्यागको प्रोषध और दोनोंके त्यागको उपवास कहते हैं। अष्टमी चतुर्दशी आदिके अवसरपर पहले और पिछले दिनकी एक एक भुक्ति और मध्यके दिनकी दो भुक्ति इस तरह चार भुक्तियोंके त्यागको प्रोषधोपवास कहते हैं। जैसे कि सप्तमीको और नवमीको एक एक भुक्तिका और अष्टमीको दोनों भुक्तियोंका जो परित्याग किया जाय, तो वह अष्टमीका प्रोषधोपवास कहा जायगा। इसी तरह मध्यके दो दिनोंमें दो दो भुक्तियोंका त्याग करनेसे षष्ठ, और तीन दिनकी दो दो भुक्तियोंका त्याग करनेसे अष्टम अनशन कहा जाता है। इसी प्रकार दशम आदिका भी स्वरूप समझ लेना चाहिये। इस तपमें इन्द्रियोंको जीतनेके लिये कषायका परिहार करनेके लिये निद्रा आदि प्रमादके वशीभूत न होनेके लिये तथा विकथा आदिके करनेमें प्रवृत्ति न हो, इसके लिये चतुर्विध आहारका परित्याग किया जाता है। इसीसे संयम और कर्मोंकी निर्जरा सिद्ध हुआ करती है॥ १ ॥

भाष्यम्—अवमौदर्यम् अवममित्यूननाम। अवममुदरस्य अवमोदरः अवमोदरस्य भावः अवमौदर्यम्। उत्कृष्टावकृष्टौ वर्जयित्वा मध्यमेन कवलेन त्रिविधमवमौदर्यं भवति। तद्यथा—अल्पाहारावमौदर्यमुपार्धावमौदर्यं प्रमाणप्राप्तात्किञ्चिदूनावमौदर्यमिति। कवलपरिसंख्यानं च प्राग्द्वात्रिंशद्भ्यः कवलेभ्यः॥ २ ॥

अर्थ—अवम शब्द ऊन न्यून आदि शब्दोंका पर्यायवाचक है। जिसका अर्थ कम या खाली ऐसा होता है। अवम–खाली है, उदर–पेट जिसका उसको अथवा खाली पेटको कहते हैं **अवमोदर**। अवमोदरका भाव–खाली पेट रहना इसको कहते हैं अवमौदर्य। उत्कृष्ट और जघन्यको छोड़कर मध्यम कवलकी अपेक्षासे अवमौदर्य तप तीन प्रकारका हुआ करता है। यथा–अल्पाहारावमौदर्य उपार्धावमौदर्य और प्रमाणप्राप्त से किंचिदून अवमौदर्य। कवलका प्रमाण यहाँपर बत्तीस कवलसे पहलेका ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—आगममें साधुओंके आहारका प्रमाण बताया है। मुमुक्षु साधुओंको उस हिसाबसे ही आहार ग्रहण करना चाहिये। वह प्रमाण इस प्रकार है, कि—पेटके चार भागमें सें दों भाग आहारके द्वारा एक भाग जलके द्वारा और शेष चतुर्थ भाग वायुके द्वारा पूर्ण करना चाहिये। साधुओंको ज्याद:से ज्याद: बत्तीस कवल–ग्रास आहार लेना चाहिये। एक ग्रासका प्रमाण एक हजार चावल है[1]। इसी हिसाबसे एक ग्रास[2] और बत्तीस ग्रासको छोड़कर मध्यके दो से लेकर इकतीस ग्रास तकका आहार लेना इसको अवमौदर्य तप कहते हैं। वह तीन भागोंमें विभक्त है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। दो चार छह आदि अल्प ग्रास लेनेको अल्पाहारावमौदर्य कहते हैं। आधेके करीब पंद्रह सोलह ग्रास लेनेको उपार्धावमौदर्य कहते हैं। और बत्तीसके पहले पहले इकतीस ग्रास तकके आहारको प्रमाण प्राप्तसे किंचिदूनअवमौदर्य कहते हैं॥ २॥

भाष्यम्—वृत्तिपरिसंख्यानमनेकविधम्। तद्यथा—उत्क्षिप्तान्तप्रान्तचर्यादीनां सक्तुकुल्माषौदनादीनांचान्यतममभिगृह्यावशेषस्य प्रत्याख्यानम्॥ ३॥

अर्थ—वृत्तिपरिसंख्यान तप अनेक प्रकारसे हुआ करता है। जैसे कि उत्क्षिप्त अन्त प्रान्तचर्या आदिमेंसे संकल्पितके अनुसार मिलनेपर आहार ग्रहण करना अन्यथा नहीं, इसी प्रकार सत्तू, कुल्माष–उर्द कांजी–खट्टा मॉंड़ आदिमेंसे किसी भी अभिगृहीत्–स्वीकृत कियेका ग्रहण करना और अवशेषका त्याग करना इसको **वृत्तिपरिसंख्यान** कहते है।

भावार्थ—आहारके लिये निकलते समय कोई भी अटपटा नियम लेनेको वृत्तिपरिसंख्यान कहते है। जैसे कि ऊपरको उठी हुई या शिरपर रक्खी हुई अमुक वस्तु दृष्टिगत होगी तो आहार ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं, अमुक अमुक दिशाकी तरफ जाते समय आहार मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं, अथवा अमुक वस्तु आहारमें मिलेगी, तो लेंगे नहीं तो नहीं। इसी तरह वृत्तिपरिसंख्यान अनेक प्रकारसे हुआ करता है। इस तपके करनेवाला परिसंख्यात रीतिसे मिलनेपर आहारका ग्रहण करता है, शेषका परित्याग करता है॥ ३॥

१—इस हिसाबसे करीव ४२ तोले आहारका उत्कृष्ट प्रमाण होता है। क्योंकि ८ चावलकी १ रत्ती, ८ रत्तीका १ मासा और १२ मासेका १ तोला होता है। २—अवमौदर्यमें एक ग्रासका ग्रहण भी क्यों नहीं लिया सो समझमें नहीं आता। क्योंकि पूर्ण आहार न करनेको अवमौदर्य कहते हैं।

भाष्यम्—रसपरित्यागोऽनेकविधः । तद्यथा-मांसमधुनवनीतादीनां मद्यरसविकृतीनां-प्रत्याख्यानं विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च ॥ ४ ॥

अर्थ—चौथे बाह्य तपका नाम रसपरित्याग है । यह भी अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि मद्य मांस मधु और नवनीत–मक्खन आदि जो जो रसविकृति हैं, उनका परित्याग करके आहार ग्रहण करना । अथवा विरस–नीरस रूक्ष आदि पदार्थ आहारमें ग्रहण करना इसको रसपरित्याग नामका तप कहते हैं ।

भावार्थ—रसविकृतियोंका अथवा एक दो आदि कुछ रसोंका यद्वा समस्त रसोंका त्याग करके आहार ग्रहण करनेको रसपरित्याग तप कहते हैं ।

रस शब्दसे कहींपर तो रसनाइन्द्रियके पाँच विषय ग्रहण किये जाते हैं । यथा–मधुर अम्ल कटु कषाय तिक्त । अथवा कहींपर घी दूध दही शक्कर तेल नमक ये छह चीजें ली जाती हैं । इनके यथा योग्य त्यागकी अपेक्षा अथवा मद्यादि विकृतियोंके त्यागकी अपेक्षासे रसपरित्याग तप अनेक प्रकारका है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—विविक्तशय्यासनता नाम एकान्तेऽनाबाधेऽसंसक्ते स्त्रीपशुषण्ढकविवर्जिते शून्यागारदेवकुलसभापर्वतगुहादीनामन्यतमे समाध्यर्थं संलीनता ॥ ५ ॥

अर्थ—एकान्त और हरप्रकारकी बाधाओंसे शून्य तथा संसर्ग रहित और स्त्री पशु नपुंसकोंसे वर्जित शून्यगृह देवालय विमोचित–छोड़े हुए स्थान कुलपर्वत गुहा मन्दिर आदिमेंसे किसीभी स्थानमें समाधि–सिद्धिके लिये संलीनता होनेको विविक्तशय्यासनता कहते हैं ।

भावार्थ—एकान्तमें शयनासन करनेको विविक्तशय्यासनता कहते हैं । यदि यह समाधि-सिद्धिके लिये किया जाय, तो समीचीन यथार्थ तप कहा जासकता है, अन्यथा नहीं । जहाँपर ध्यान धारणा या समाधि की जाय, वह स्थान एकान्त अनाबाध और असंसक्त होना चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—कायक्लेशोऽनेकविधः । तद्यथा—स्थानवीरासनोत्कडुकासनैकपार्श्वदण्डायतशयनातापनाप्रावृतादीनि सम्यक्प्रयुक्तानि बाह्यं तपः । अस्मात्षड्विधादपि बाह्यात्तपसः सङ्गत्यागशरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—कायक्लेश तप भी अनेक प्रकारका होता है । जैसे कि स्थान और वीरासन उत्कट आदि आसन तथा एक पार्श्व या दण्डाशयन एवं आतापनयोग या अप्रावृतके धारण करनेको और उसका भले प्रकार उपयोग करनेको समीचीन कायक्लेश नामका बाह्य तप कहते है ।

भावार्थ—जिससे समीचीनतया शरीरको क्लेश हो, उसको कायक्लेश नामका तप कहते हैं । वह अनेक प्रकारसे हुआ करता है । जैसे कि स्थानके द्वारा, जहाँपर शरीरको कष्ट होता हो, ऐसी जगहपर रहना या खड़े रहना आदि । अथवा वीरासन आदि आसनसे बैठकर उसी तरह बैठे रहना, और उसके क्लेशको सहन करना, रात्रिको

यथायोग्य समयमें निद्रा लेते समय एक पार्श्वसे या दण्डाकार लम्बे होकर शयन करना और उसी तरह सोते रहना, करवटको न बदलना, और उसके कष्टको सहन करना । रात्रिको स्मशान–मरघट आदिमें या दिनको पर्वतादिके ऊपर प्रतिमायोगको धारण करके खड़े रहना और उसकी बाधाको सहन करना । तथा धूप वर्षा आदिको रोकनेवाले पदार्थोंसे रहित–निरावरण जगहमें खड़े होकर ध्यानादि करना या बैठना आदि । इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरको क्लेश देनेका नाम कायक्लेशतप है । यह भी समीचीन तभी समझा जा सकता है, जबकि ज्ञानपूर्वक और संयम तथा समाधिकी सिद्धिके लिये किया जाय ।

ऊपर जो छह प्रकारके बाह्य तप बताये हैं, उनमें से प्रत्येकका फल सङ्गत्याग, शरीरलाघव, इन्द्रियविजय संयम–रक्षण और कर्म–निर्जरा है । अर्थात् इन तपोंके करनेसे शरीरमेंसे भी मूर्च्छाका भाव दूर होता है, और अन्तरङ्ग बाह्य सभी परिग्रह छूटकर निर्मम निरहंकार रूप परिणाम सिद्ध होते हैं । तप न करनेसे शरीर भारी रहता है, जिससे कि प्रमादकी बृद्धि होती है । अतएव इन तपोंके निमित्तसे शरीरमें लघुता आती है, जिससे कि प्रत्येक कार्य प्रमाद रहित हुआ करता है । तथा इनके निमित्तसे इन्द्रियाँ भी उद्रेक को प्राप्त नहीं हुआ करतीं, जिससे कि संयमकी रक्षा और कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है । क्रमानुसार अन्तरङ्ग तपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।२०।

भाष्यम्—सूत्रक्रमप्रामाण्यादुत्तरमित्यभ्यन्तरमाह । प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानमित्येतत्षड्विधमाभ्यन्तरं तपः ॥

अर्थ—सूत्र क्रमके अनुसार यहाँपर–इस सूत्रमें जो उत्तर शब्द आया है, उसका अर्थ अभ्यन्तर–अन्तरङ्ग समझना चाहिये । यह अन्तरङ्ग तप भी छह प्रकारका है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ।

भावार्थ—बाह्य तपमें बाह्य–इन्द्रियगोचर होनेवाली वस्तुओंसे सम्बन्ध है । जैसे कि भोजनका परित्याग करना या प्रमाणसे कम लेना, अथवा अटपटी आखड़ी लेकर ग्रहण करना, अथवा रसादिको छोड़कर ग्रहण करना इत्यादि । यह बात इन तपोंमें नहीं है । ये अपने मनकी प्रधानतासे–आत्म–परिणामोंकी मुख्यतासे ही सिद्ध हुआ करते है, अतएव इनको अन्तरङ्ग तप कहते हैं । प्रायश्चित्त आदिका अर्थ आगे चलकर क्रमसे बताया जायगा ।

अन्तरङ्ग तपके उत्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—नवचतुर्दशपंचद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—तदाभ्यन्तरं तपः नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं भवति यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः तद्यथा—

अर्थ—ऊपर अन्तरङ्ग तपके जो छह भेद गिनाये हैं, उनमें ध्यानके पहले पहलेके पाँच तपोंके उत्तरभेद क्रमसे नौ चार दश पाँच और दो होते हैं। अर्थात् प्रायश्चित्तके नौ भेद, विनयके चार भेद, वैयावृत्त्यके दश भेद, स्वाध्यायके पाँच भेद, और व्युत्सर्गके दो भेद हैं, जिनका कि आगे चल कर वर्णन किया जायगा।

इन भेदोंको बतानेके अभिप्रायसे क्रमानुसार इनमेसे पहले प्रायश्चित्तके ९ भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ॥ २२ ॥

भाष्यम्—प्रायश्चित्तं नवभेदम्। तद्यथा—आलोचनम्, प्रतिक्रमणम्, आलोचनप्रतिक्रमणे, विवेकः, व्युत्सर्गः, तपः, छेदः, परिहारः, उपस्थापनमिति।

अर्थ—प्रायश्चित्त नामके प्रथम अन्तरङ्ग तपके नौ भेद बताये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय (आलोचन प्रतिक्रमण), विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापन।

इनका अर्थ बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं:—

भाष्यम्—आलोचनं प्रकटनं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरम्। प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतसंप्रयुक्तः प्रत्यवमर्शः प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गकरणं च। एतदुभयमालोचनप्रतिक्रमणे। विवेको विवेचनं विशोधनं प्रत्युपेक्षणमित्यनर्थान्तरम्। स एव संसक्तान्नपानोपकरणादिषु भवति। व्युत्सर्गः प्रतिष्ठापनमित्यनर्थान्तरम्। एषोऽप्यनेषणीयान्नपानोपकरणादिष्वशंकनीयविवेकेषु च भवति। तपो बाह्यमनशनादि, प्रकीर्णं चानेकविधं चन्द्रप्रतिमादि। छेदोऽपवर्तनमपहार इत्यनर्थान्तरम्। स प्रव्रज्यादिवसपक्षमाससंवत्सराणामन्यतमानां भवति। परिहारो मासिकादिः। उपस्थापनं पुनर्दीक्षणं पुनश्चरणं पुनर्व्रतारोपणमित्यनर्थान्तरम्। तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशं कालं शक्तिं संहननं संयमविराधनां च कायेन्द्रियजातिगुणोत्कर्षकृतां च प्राप्य विशुद्ध्यर्थं यथार्हं दीयते चाचर्यते च। चिती संज्ञानविशुद्ध्योर्धातुः। तस्य चित्तमिति भवति निष्ठान्तमौणादिकं च।

एवमेभिरालोचनादिभिः कृच्छ्रैस्तपोविशेषैर्जनितापमाद तं व्यतिक्रमं प्रायश्चेतयाति चेतयंश्च न पुनराचरतीति। ततः प्रायाश्चित्तम्। अपराधो वा प्रायस्तेन विशुध्यत इति। अतश्च प्रायाश्चित्तमिति।

अर्थ—अपनेसे कोई अपराध बन जानेपर उसको गुरुओंके समक्ष दश दोषे[1] रहित होकर कह देने या प्रकट करनेको आलोचनप्रायश्चित्त कहते हैं। अतएव आलोचन प्रकटन प्रकाशन आख्यान और प्रादुष्करण ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं — पर्यायवाचक शब्द है। अपनेसे बने हुए दुष्कृत—पापके विषयमें “ यह मेरा दुष्कत मिथ्या हो, मिच्छा मे

१—आकंपियमणुमाणिय जंदिट्ठं बादरं च सुहमं च। छण्णं सद्दाउलअं बहुजण बत्तस तस्सेवि ॥

दुक्कडं" इस तरहके भावोंका संप्रयोग होनेको—वचन द्वारा प्रयुक्त ऐसे विचारोंको **प्रतिक्रमण** कहते हैं । प्रतिक्रमण प्रत्यवमर्श प्रत्याख्यान और कायोत्सर्गकरण ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । जिसमें आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों ही करने पड़ें, उसको **तदुभय** नामका प्रायश्चित्त कहते हैं । विवेक विवेचन विशोधन और प्रत्युपेक्षण ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । मिली हुई वस्तुओंके पृथक् पृथक् करनेको **विवेक** कहते हैं । यह प्रायश्चित्त मिली हुई अन्न पान उपकरण आदि वस्तुओंके विषयमें प्रवृत्त हुआ करता है । अर्थात् मिले हुए अन्न पान आदिके पृथक् पृथक् करनेका नाम **विवेकप्रायश्चित्त** है । व्युत्सर्ग नाम प्रतिष्ठापनका है । यह प्रायश्चित्त अनेषणीय—एषणासे रहित अन्न पान उपकरणादिके विषयमें जिनका कि विवेक अशंकनीय है, अथवा जिनका विवेक—पृथक्करण नहीं किया जा सकता, प्रवृत्त हुआ करता है । तपके भेद बताये जा चुके हैं, अनशन आदि बाह्य तपके भेद पहले लिख चुके हैं । इनके सिवाय प्रकीर्णकतपके भी भेद चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक हैं । छेद अपवर्तन और अपहार ये भी सब पर्यायवाचक शब्द हैं । दिवस पक्ष महीना और वर्ष इनमेंसे किसी भी एक आदिके प्रमाणानुसार प्रव्रज्या——दीक्षाका अपहरण करनेको **छेदप्रायश्चित्त** कहते हैं । परिहार नाम पृथक्करणका है । महीना दो महीना अथवा कुछ भी परिमित कालके लिये संघसे पृथक् कर देनेको **परिहारप्रायश्चित्त** कहते हैं । उपस्थापन पुनर्दीक्षण पुनश्चरण पुनर्व्रतारोपण ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं, सम्पूर्ण दीक्षाको छेदकर फिरसे नवीन दीक्षा देनेको अथवा चारित्र धारण करानेको यद्वा नवीनतया व्रतोंके आरोपण करनेको **उपस्थापन** नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ।

इस प्रकारसे प्रायश्चित्त तपके ९ भेद हैं । यह देश काल शक्ति संहनन और काय इन्द्रिय जाति तथा गुणोत्कर्षकृत संयमकी विराधनाके अनुसार उसकी शुद्धिके लिये योग्यतानुसार दिया जाता है, और शुद्ध किया जाता है । अर्थात् एक ही अपराधका प्रायश्चित्त देश काल आदिकी अपेक्षासे हलका भारी अनेक प्रकारका होता है । संयमकी विराधना भी तरतमरूपसे अनेक प्रकारकी होती है । स्थावर कायकी विराधनासे द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियकी विराधना उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती है । पंचेन्द्रियोंमें भी पशु आदिकी विराधनासे मनुष्य जातिकी विराधना अधिक दर्जेकी है, और मनुष्योंमें भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोत्कर्षके धारण करनेवालेकी विराधना उत्तरोत्तर उत्कृष्ट दर्जेकी होती है । विराधनाके अनुसार ही प्रायश्चित्त भी हलका भारी हुआ करता है । फिर भी देशकालादिकी योग्यतानुसार गुरुके द्वारा हलका भारी प्रायश्चित्त दिया जाकर अपराधीको शुद्ध किया जा सकता है ।

प्रायश्चित्त शब्द प्रायः और चित्त इस तरह दो शब्दोंके मेलसे बना है,

प्रायः शब्दका अर्थ बहुधा अथवा अपराध होता है, और चित्त शब्दका अर्थ संज्ञात अथवा शुद्ध किया हुआ होता है। क्योंकि यह शब्द चिती धातुसे जिसका कि अर्थ संज्ञान अथवा विशुद्धि होता है, भूत अर्थमें निष्ठाक्त प्रत्यय होकर अथवा औणादिक त प्रत्यय होकर बनता है। तात्पर्य यह है कि---पूर्वोक्त रीतिसे विधिपूर्वक किये गये कठिन आलोचन आदि विशिष्ट तपोंके करनेसे जिसका प्रमाद दूर हो गया है, ऐसा मुमुक्षु उस अपराधको प्रायः भले प्रकार जान जाता है, अच्छी तरह समझते हुए फिर वह वैसा नहीं करता। अतएव उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्रायः शब्दका अर्थ अपराध होता है, और चिती धातुका अर्थ शुद्धि। अतएव जिसके करनेसे अपराधकी शुद्धि होती है, उसको भी प्रायश्चित्त[1] कहते हैं।

इस प्रकार प्रायश्चित्तके भेदोंको बताकर क्रमानुसार विनयतपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

भाष्यम्—विनयश्चतुर्भेदः। तद्यथा—ज्ञानविनयः दर्शनविनयः चारित्रविनयः उपचारविनयः। तत्र ज्ञानविनयः पञ्चविधः मतिज्ञानादिः। दर्शनविनयः एकविध एव सम्यग्दर्शनविनयः। चारित्रविनयः पञ्चविधः सामायिकविनयादिः। औपचारिकविनयोऽनेकविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिगुणाधिकेष्वभ्युत्थानासनप्रदानवन्दनानुगमनादिः। विनीयते तेन तस्मिन्वा विनयः॥

अर्थ—विनय तपके चार भेद हैं।—ज्ञानविनय दर्शनविनय चारित्रविनय और उपचारविनय। इनमेंसे पहला ज्ञानविनय मतिज्ञानादिके भेदसे पाँच प्रकारका है।—मतिविनय श्रुतविनय अवधिविनय मनःपर्ययविनय और केवलविनय। दर्शनविनयका एक ही भेद है---सम्यग्दर्शनविनय। चारित्रविनयके पाँच भेद हैं—सामायिकविनय छेदोपस्थापनविनय परिहारविशुद्धिविनय सूक्ष्मसंपरायविनय और यथाख्यातविनय। औपचारिकविनयके अनेक भेद हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोंकी अपेक्षासे जो अपनेसे अधिक हैं, उनके लिये खड़े होना उसको आसन देना, वन्दना करना और उनका अनुसरण करना आदि औपचारिकविनय कहा जाता है। यह गुणभेदकी अपेक्षा अथवा आश्रयभेदसे अनेक प्रकारका हो सकता है। जिसके द्वारा नम्रता प्राप्त हो, उसको विनय तप कहते हैं।

भावार्थ—विनयका अर्थ आदर करना आदि है। यह दो प्रकारका हो सकता है, एक मुख्य दूसरा उपचरित। ज्ञान दर्शन और चारित्र गुणके धारण करनेको मुख्यविनय और उन गुणोंसे युक्त व्यक्ति आदिका आदर सत्कार करना इसको उपचरितविनय कहते हैं। जैसे कि

१–प्रायः शब्दका अर्थ लोक भी होता है। २–प्रायः शब्दका अर्थ लोक करनेपर प्रायश्चित्तका अर्थ ऐसा भी होता है, कि–प्रायो लोकस्तस्य चित्तं शुद्धिमियर्ति यस्मात् तत्प्रायश्चित्तम्। जिस क्रियाके करनेसे लोगोंके हृदयमें अपराधीके यावत् बैठी हुई ग्लानि दूर हो जाय, उसको प्रायश्चित्त कहते है।

स्वयं ज्ञानको धारण करना—ज्ञानाभ्यास करना **मुख्यज्ञानविनय** है, और अपनेसे अधिक विद्वान् या बहुश्रुतको आता हुआ देखकर उनके लिए खड़े होना, उनको उच्चासन देना आदि **उपचरितविनय** है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। गुणाधिकोंकी आज्ञानुसार अथवा इच्छानुसार प्रवृत्ति करना भी उपचरितविनय है।

वैयावृत्त्य तपके भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

भाष्यम्—वैयावृत्त्यं दशविधम् । तद्यथा—आचार्यवैयावृत्त्यम् उपाध्यायवैयावृत्त्यम् तपस्विवैयावृत्त्यम् शैक्षकवैयावृत्त्यम् ग्लानवैयावृत्त्यम् कुलवैयावृत्त्यम् गणवैयावृत्त्यम् सङ्घवैयावृत्त्यम् साधुवैयावृत्त्यम् समनोज्ञवैयावृत्त्यमिति । व्यावृत्तभावो वैयावृत्त्यम् व्यावृत्तकर्म च। तत्राचार्यः पूर्वोक्तः पञ्चविधः। आचारगोचरविनयं स्वाध्यायं वाचार्यादनु तस्मादुपाधीयत इत्युपाध्यायः। सङ्ग्रहोपग्रहानुग्रहार्थं चोपाधीयते सङ्ग्रहादीन् वास्योपाधीयतइत्युपाध्याय.। द्विसङ्ग्रहो निर्ग्रन्थ आचार्योपाध्यायसङ्ग्रहः, त्रिसंग्रहा निर्ग्रन्थी आचार्योपाध्यायप्रवर्तिनीसङ्ग्रहा। प्रवर्तिनी दिगाचार्येण व्याख्याता। हिताय प्रवर्तते प्रवर्तयति चेति प्रवर्तिनी। विकृष्टोग्रतपोयुक्तस्तपस्वी। अचिरप्रव्राजितः शिक्षयितव्यः शिक्षः शिक्षामर्हतीतिशैक्षो वा। ग्लानः प्रतीतः। गणः स्थविरसंततिसंस्थितिः। कुलमाचार्यसंततिसंस्थितिः। सङ्घश्चतुर्विध श्रमणादिः। साधवः संयताः। संभोगयुक्ताः समनोज्ञाः। एषामन्नपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारादिभिर्धर्मसाधनैरुपग्रहः शुश्रूषा भेषजक्रिया कान्तारविषमदुर्गोपसर्गेष्वभ्युपपत्तिरित्येतदादि वैयावृत्त्यम् ॥

अर्थ—वैयावृत्त्यके दश भेद है जो कि इस प्रकार हैं—आचार्यवैयावृत्त्य उपाध्यायवैयावृत्त्य तपस्विवैयावृत्त्य शैक्षकवैयावृत्त्य ग्लानवैयावृत्त्य गणवैयावृत्त्य कुलवैयावृत्त्य सङ्घवैयावृत्य साधुवैयावृत्त्य समनोज्ञवैयावृत्त्य। व्यावृत्त शब्दका अर्थ रहित होता है, और व्यावृत्तके भाव अथवा कर्मको वैयावृत्त्य कहते हैं। आचार्यके पाँच भेद है, जो कि पहले बताये जा चुके हैं, आचारविषयक विनय करनेको अथवा आचार्यके समीप स्वाध्याय पाठ आदि करनेको आचार्यविनय कहते है। जिनके निकट रहकर अध्ययन किया जाय उनको उपाध्याय कहते है। जो संग्रह उपग्रह और अनुग्रहके लिये संग्रहादिको पढ़ावें, अथवा जिनके पास संग्रहादिक पढ़ें, उनको उपाध्याय कहते है। आचार्यसंग्रह और उपाध्यायसंग्रह इस तरह द्विसंग्रह निर्ग्रन्थ माने है, और आचार्यसंग्रह उपाध्यायसंग्रह तथा प्रवर्तिनीसंग्रह इस प्रकार त्रिसंग्रहानिर्ग्रन्थी मानी है। प्रवर्तिनीका आचार्यने दिग्मात्र—एकदेशरूप ही व्याख्यान किया है। जो हितमार्गमें स्वयं प्रवृत्त हो, तथा औरोंको भी जो प्रवृत्त करे, उसको प्रवर्तिनी कहते है। उत्कृष्ट और उग्र तपके करनेवालेको तपस्वी कहते हैं। जो नवीन दीक्षित

हों, और शिक्षा देने योग्य हों, उसको शैक्ष कहते है। अथवा जो शिक्षा प्राप्त करते हों, उनको शैक्ष कहते है। ग्लान शब्दका अर्थ प्रसिद्ध है कि रोगादिसे संक्लिष्ट। अर्थात् जो बीमार है या बाधायुक्त है, उसको ग्लान कहते है। स्थविर–वृद्ध मुनियोंकी संततिके संस्थानको गण कहते हैं। आचार्य संततिके संस्थानको कुल कहते हैं। श्रमण आदि चारोंके समूहको संघ कहते हैं।–अर्थात् मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इन चारोंको संघ कहते हैं। जो संयमको धारण करनेवाले है, उन सबको साधु कहते है। जो संभोगयुक्त है, उनको समनोज्ञ[1] कहते हैं।

इनका अन्नपान वस्त्र[2] पात्र प्रतिश्रय–स्थान पीठ–आसन फलक–तखता संस्तर–विछोना आदिक धर्म–साधनोंके द्वारा उपकार करना चाहिये। उनकी शुश्रूषा–सेवा तथा चिकित्सा आदि करना अथवा कदाचित् वनमें या विषम दुर्गस्थानमें यद्वा उपसर्गसे आक्रान्त पीड़ित होनेपर उनकी सेवा करना आदि सब वैयावृत्त्य नामका तप माना गया है।

भावार्थ—व्यावृत्त अथवा व्यावृत्ति शब्दसे भाव या कर्म अर्थमें ण्य प्रत्यय होकर वैयावृत्त्य शब्द बनता है। व्यावृत्ति नाम दूर करनेका है। दूर करनेको या दूर करनेके लिये जो क्रिया की जाय, उसको वैयावृत्त्य कहते हैं। अर्थात् आचार्य आदिके ऊपर आई हुई विपत्ति या बाधाको दूर करना और उनकी हरप्रकारसे सेवा करना तथा परीषह उपसर्ग आदिकी निवृत्ति करना इत्यादि सम्पूर्ण क्रियाएं वैयावृत्त्य हैं। जिनकी वैयावृत्त्य की जाती है, उनके दश भेद हैं, जो कि इस सूत्रमें गिनाये गये हैं, अतएव वैयावृत्यके भी दश भेद है, और इसी लिये इस सूत्रमें बताये गये आचार्य आदि प्रत्येक शब्दके साथ वैयावृत्त्य शब्द-जोड़नेसे उसके दश भेद हो जाते हैं।—आचार्यवैयावृत्त्य उपाध्यायवैयावृत्त्य तपस्विवैयावृत्त्य इत्यादि। आचार्योंकी सेवाको आचार्यवैयावृत्त्य और उपाध्यायोंकी सेवा–शुश्रूषाको उपाध्यायवैयावृत्त्य तथा तपस्वियोंकी सेवा आदिको तपस्विवैयावृत्त्य कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक शब्दका अर्थ समझ लेना चाहिये।

क्रमानुसार वैयावृत्त्यके अनंतर स्वाध्यायतपके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—स्वाध्यायः पञ्चविधः। तद्यथा–वाचना प्रच्छनं अनुप्रेक्षा आम्नायः धर्मोपदेश इति। तत्र वाचनम् शिष्याध्यापनम्। प्रच्छनं ग्रन्थार्थयोः। अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसाभ्यासः। आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं रूपदानमित्यर्थः। अर्थोपदेशो व्याख्यानमनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम्॥

१—दिगम्बर–सम्प्रदायमें केवल मनोज्ञ शब्दका ही पाठ है, समनोज्ञ नहीं। जिसकी लोकमें मान्यता अधिक हो उसको मनोज्ञ कहते हैं। २—वस्त्र पात्र विछोना आदि दिगम्बर–सम्प्रदायमें साधुओंको नहीं दिया जाता।

अर्थ—स्वाध्याय नामक तपके पाँच भेद हैं, जो कि इस प्रकार हैं।—वाचना, प्रच्छन, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

शिष्योंको पढ़ानेका नाम वाचना[1] स्वाध्याय है। ग्रन्थके अर्थका अथवा शब्दपाठका पूँछना इसको प्रच्छना कहते हैं। ग्रन्थपाठ और उसके अर्थका मनके द्वारा अभ्यास करना इसको अनुप्रेक्षा कहते हैं। आम्नाय घोषविशुद्ध परिवर्तन गुणन और रूपदान ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। शुद्धतापूर्वक पाठके घोखनेको—कंठस्थ करनेको या पुनः पुनः पाठ करनेको—पारायण करनेको आम्नाय कहते हैं। अर्थोपदेश व्याख्यान अनुयोगवर्णन और धर्मोपदेश ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं। अर्थात् तत्त्वार्थादिके निरूपण करनेको धर्मोपदेश कहते हैं।

भावार्थ—प्रज्ञाका अतिशय अथवा प्रशस्त अध्यवसायको सिद्ध करनेके लिये स्वाध्याय किया जाता है। जिससे आत्म—तत्त्वकी तरफ प्रवृत्ति हो, इस तरहकी कोई भी अध्ययनाध्यापन या उनके साधनोंके दान प्रदान आदि क्रियामें प्रवृत्ति करना, इसको स्वाध्याय-तप कहते हैं। जो संयमका साधक या उससे अविरुद्ध हो, और जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती हो, वही स्वाध्यायतप माना जा सकता है। जो राग कथारूप या संसारवर्धक अथवा सावद्य क्रियाका समर्थक है, उसको तप नहीं कह सकते।

क्रमानुसार व्युत्सर्गतपके भेदोंको गिनाते हैं—

सूत्र—बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—व्युत्सर्गो द्विविधः,—बाह्य आभ्यन्तरश्च । तत्र बाह्यो द्वादशरूपकस्योपधेः आभ्यन्तरः शरी कषायाणां चेति ॥

अर्थ—पाँचवें आभ्यन्तरतपका नाम व्युत्सर्ग है। उसके दो भेद है—एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। बारह[2] प्रकारके जो बाह्य परिग्रह आगममें बताये हैं, उनके त्याग करनेको बाह्य व्युत्सर्ग कहते है, और शरीर तथा कषायोंसे सम्बन्ध छोड़नेको—ममत्वपरिहारको आभ्यन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं।

भावार्थ—व्युत्सर्ग नाम छोड़नेका अथवा त्यागका है। प्रकृतमें उपधिके त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं। प्रायश्चित्तके भेदोंमें भी व्युत्सर्गका उल्लेख किया गया है। किन्तु दोनोंके स्वरूपमें

१—दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार इनका लक्षण इस प्रकार है—निरवद्य ग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना, संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः प्रच्छना, अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा, शुद्धघोषणमाम्नायः, धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। २—क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य द्विपद चतुष्पद कुप्य और भांड इस तरह दिगम्बर-सम्प्रदायमें दश भेद ही माने हैं।

अन्तर है। क्योंकि कायोत्सर्गादि करनेको व्युत्सर्गप्रायश्चित्त कहते हैं, और परिग्रहके त्यागको व्युत्सर्गतप कहते हैं। इसके सिवाय एक यह भी कारण है, कि प्रायश्चित्त अपराधकी निवृत्तिके लिये किया जाता है, और गुरुका दिया हुआ होता है, तथा शुद्धताके अभिलाषियोंको उसका अवश्य ही पालन करना पड़ता है। किंतु तप शक्ति और इच्छाके अनुसार हुआ करता है। उसका करना स्वाधीन है।

इस प्रकार आभ्यन्तरतपके छह भेदोंमेंसे आदिके पाँच भेदोंका वर्णन किया, अब अन्तिम भेद–ध्यानका वर्णन करनेके लिये उसके निर्देश स्वामित्वको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं–

सूत्र—उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ २७ ॥

भाष्यम्—उत्तमसंहननं वज्रर्षभमर्धवज्रनाराचं च। तद्युक्तस्यैकाग्रचिन्तानिरोधश्च ध्यानम् ॥

अर्थ—वज्रर्षभसंहनन और अर्धवज्रसंहनन तथा नाराचसंहनन इनको उत्तम संहनन कहते हैं। इन संहननोंसे युक्त जीवके एकाग्ररूपसे चिन्ताका जो निरोध होता है, उसको ध्यान कहते हैं।

भावार्थ—अग्र शब्दका अर्थ मुख है, और चिन्ता शब्दका अर्थ है, चिन्तन–विचार अर्थात् मनकी गति जो क्षण क्षणमें विषयसे विषयान्तरकी तरफ दौड़ती रहती है, उसको सब तरफसे रोककर किसी भी एक विवक्षित विषयकी तरफ जोड़े रहनेको अथवा सब तरफसे हटकर एक विषयकी तरफ विचारके लगनेको ध्यान कहते है। यह ध्यानका सामान्य लक्षण है। किंतु तपमें उसी ध्यानका ग्रहण करना चाहिये, जो कि साक्षात् अथवा परम्परया मोक्षका कारण हो–कर्मोंका संवर और निर्जरा होकर जिससे सर्वथा कर्मोंका क्षय हो जाय। जो संसारका कारण है, उस ध्यानको तपमें नहीं लिया जा सकता।

ध्यानके कालका उत्कृष्ट प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥

भाष्यम्—तद्ध्यानमामुहूर्ताद्भवति परतो न भवति दुर्ध्यानत्वात् ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें जिसका लक्षण बताया जा चुका है, वह ध्यान ज्यादःसे ज्यादः एक मुहूर्त तक हो सकता है, इससे अधिक कालतक नहीं हो सकता। क्योंकि अधिक काल हो जानेपर दुर्ध्यान हो जाता है।

१—इस सूत्रमे 'उत्तमसंहननस्य' ऐसा क्यों कहा, सो समझमें नहीं आता। क्योंकि सामान्य ध्यान तो अनुत्तम–संहननवालेके भी होता है। दिगम्बर-सम्प्रदायमें २७ और २८ की जगह एक ही सूत्र है, जिससे ऐसा अर्थ होता है, कि यह ध्यान उत्तम संहननवालेके अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है। इस पृथक् योगके रहनेसे अनुत्तम संहननवालेके ध्यानको ध्यान नहीं कह सकते। श्वेताम्बर–सम्प्रदायमें ऐसा ही माना भी है, किन्तु यह जँचता नहीं है।

उक्त ध्यानके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ॥ २९ ॥

भाष्यम्—तच्चतुर्विधं भवति । तद्यथा—आर्तं रौद्रं धर्मं शुक्लमिति । तेषाम्—

अर्थ—उपर्युक्त ध्यानके चार भेद हैं—यथा—आर्तध्यान रौद्रध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान । भावार्थ—अर्तिनाम दुःख अथवा पीड़ाका है । इसके सम्बन्धको लेकर जो ध्यान होता है, उसको **आर्तध्यान** कहते हैं । क्रोधादियुक्त क्रूर भावोंको रौद्र कहते हैं । इस तरहके परिणामोंसे युक्त जो ध्यान हुआ करता है, उसको **रौद्रध्यान** कहते हैं । जिसमें धर्मकी भावना या वासनाका विच्छेद न पाया जाय, उसको **धर्मध्यान** कहते हैं । क्रोधादिकी निवृत्ति होनेके कारण जिसमें शुचिता—पवित्रताका संबन्ध पाया जाय, उसको **शुक्लध्यान** कहते हैं । इन चार प्रकारके ध्यानोंमेंसे—

सूत्र—परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां ध्यानानां परे धर्मशुक्ले मोक्षहेतू भवतः । पूर्वे त्वार्तरौद्रे संसारहेतू इति ॥

अत्राह—किमेषां लक्षणमिति । अत्रोच्यते—

अर्थ—ऊपर ध्यानके जो चार भेद बताये हैं, उनमेंसे अंतके दो ध्यान—धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हुआ करते हैं, और पूर्वके जो दो ध्यान हैं—आर्तध्यान और रौद्रध्यान वे संसारके कारण हैं ।

भावार्थ—आर्तध्यान और रौद्रध्यानमें मोहका प्रकर्ष—बढ़ता जाता है किंतु, धर्मध्यानमें वह नहीं पाया जाता, अतएव वह भी मोक्षका ही हेतु माना है ।

ऊपर ध्यानके जो चार भेद बताये है, उनके लक्षण क्या हैं ? इसके उत्तरके लिये आगेका व्याख्यान करते हैं ।

भावार्थ—क्रमके अनुसार ध्यानके उक्त चार भेदोंमेंसे पहले आर्तध्यानका वर्णन करना चाहिये, आर्तध्यान भी चार प्रकारका है—अनिष्टसंयोग इष्टवियोग वेदनाचिंतन और निदान । इनमेंसे पहले अनिष्टसंयोग नामक आर्तध्यानका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—अमनोज्ञानां विषयाणां संप्रयोगे तेषां विप्रयोगार्थं यः स्मृतिसमन्वाहारो भवति तदार्तध्यानमित्याचक्षते । किं चान्यत्—

अर्थ—जो अपने मनका हरण करनेवाले नहीं है, या अनिष्ट है, ऐसे अरमणीय अथवा अनिष्ट विषयोंका संयोग हो जानेपर उनका वियोग होनेके लिये जो पुनः पुनः विचार किया जाता है, उसको पहला अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान कहते है ।

भावार्थ—अमनोज्ञ पदार्थके संयोगके विषयमें उसके वियोगकी चिन्ता दो प्रकारसे हो सकती है, एक तो उसका संयोग हो जानेपर और दूसरा उसका संयोग होनेके पूर्वमें। संयोग हो जानेपर तो इसका कब वियोग हो, ऐसा चिन्तवन हुआ करता है, और संयोग होनेके पहले कहीं अमुक अनिष्ट वस्तुका संयोग न हो जाय, ऐसा चिन्तवन हुआ करता है।

दूसरे आर्तध्यानका स्वरूप बताते हैं—

सूत्र—वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—वेदनायाश्चामनोज्ञायाः संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः आर्तमिति। किं चान्यत्—

अर्थ—अमनोज्ञ वेदनाका संयोग हो जानेपर उसके वियोगके लिये जो पुनः पुनः विचार या चिन्तवन हुआ करता है, उसको दूसरा वेदना नामका आर्तध्यान कहते हैं। अर्थात् वेदना–पीड़ासे छूटनेके लिये जो चित्तकी एकाग्रता होती है, उसका नाम पीड़ा-चिन्तन आर्तध्यान है। तीसरे आर्तध्यानका स्वरूप इस प्रकार है कि—

सूत्र—विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—मनोज्ञानां विषयाणां मनोज्ञायाश्च वेदनाया विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार आर्तम्। किं चान्यत्—

अर्थ—जो मनका हरण करनेवाले हैं, ऐसे प्रिय इष्ट रमणीय विषयोंका संयोग होकर वियोग हो जानेपर अथवा संयोग न होनेपर तथा इसी प्रकारकी मनोज्ञ वेदनाका भी वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये जो पुनः पुनः विचार करना, अथवा उसीकी तरफ चित्तका संलग्न रहना, इसको इष्टवियोग नामका तीसरा आर्तध्यान कहते हैं। चौथे आर्तध्यानका स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—निदानं च ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—कामोपहतचित्तानां पुनर्भवविषयसुखगृद्धानां निदानमार्तध्यानं भवति॥

अर्थ—जिनका चित्त कामदेवकी वासनासे उपहत–दूषित या पीड़ित हो रहा है, फिर भी जिनके संसारके विषयसुखोंकी गृद्धि-तृष्णा लगी हुई है, ऐसे जीवोंके निदान नामका चौथा आर्तध्यान होता है।

भावार्थ—जिनका मन अभीतक काम–भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ है, ऐसे जीव धारण किये हुए व्रत चारित्रके फलस्वरूप संसारिक विषयोंको ही चाहते हैं, अथवा उनके लिये ही संयमको धारण किया करते हैं। ऐसे जीवोंके यह भावना हुआ करती है, कि मुझको इस चारित्रके प्रसादसे परलोकमें अमुक फल प्राप्त हो। ऐसे संकल्पको ही निदानआर्तध्यान कहते हैं।

चारों आर्तध्यानोंके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—तदेतदार्त्तध्यानमविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानामेव भवति ॥

अर्थ—यह उपर्युक्त आर्तध्यान अविरत देशविरत और प्रमत्तसंयत छट्ठे गुणस्थानवर्ती जीवोंके ही हुआ करता है।

भावार्थ—इस सूत्रमें चौथे पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानवर्तीका उल्लेख किया गया है। अतएव जैसा कि किया गया है, वैसा सूत्र न करके ऐसा कर दिया जाता कि "तत्प्रमत्त संयतान्तानामेव" तो भी काम चल सकता था। परन्तु वैसा न करके जो गौरव किया गया है, उससे विशिष्ट अर्थका ज्ञापन—बोध होता है, ऐसा समझना चाहिये। वह यह कि प्रमत्तसंयतके निदानको छोड़कर बाकीके ३ आर्तध्यान हो सकते हैं। निदानके होनेपर छट्ठा गुणस्थान छूट जाता है। तथा देशविरतके भी कदाचित् निदानआर्तध्यान होता है।

क्रमानुसार रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोः ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—हिंसार्थमनृतवचनार्थं स्तेयार्थं विषयसंरक्षणार्थं च स्मृतिसमन्वाहारो रौद्रध्यानं तदविरतदेशविरतयोरेव भवति ॥

अर्थ—हिंसाकर्मके लिये और अनृतवचन—मिथ्याभाषण करनेके लिये, तथा स्तेयकर्म—चोरीके लिये एवं विषयसंरक्षण—पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी रक्षा या पुष्टिके लिये जो पुनः पुनः विचार करना अथवा इन्हीं विषयोंकी तरफ चित्तके लगाये रखनेको रौद्रध्यान कहते हैं। यह अविरत तथा देशविरतके ही हुआ करता है।

भावार्थ—पाँचवें गुणस्थानसे ऊपरके जीवोंके रौद्रध्यान नहीं हुआ करता। तथा ऊपर कहे अनुसार देशविरत के भी कदाचित् हो सकता है, किंतु अविरतके समान नरकादिक गतिका कारणभूत रौद्रध्यान उसके नहीं हो सकता। यह दोनोंमें अन्तर है।

इस प्रकार अप्रशस्त ध्यानोंके भेद आदि बताकर क्रमानुसार धर्मध्यानके भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—आज्ञाविचयाय अपायविचयाय विपाकविचयाय संस्थानविचयाय च स्मृतिसमन्वाहारो धर्मध्यानम्। तदप्रमत्तसंयतस्य भवति। किं चान्यत्—

अर्थ—आज्ञाविचयके लिये अपायविचयके लिये विपाकविचयके लिये और संस्थान-

विचयके लिये जो पुनः पुनः विचार होता है, उसको—आज्ञा आदिके विषयमें ही चिन्ताके निरोध करनेको धर्मध्यान कहते हैं। इसका स्वामी अप्रमत्तसंयत है।

भावार्थ—अप्रमत्त संयत—सातवें गुणस्थानवाले जीवके धर्मध्यानके सिवाय और कोई ध्यान नहीं होता[1]। आज्ञा आदि विषयभेदकी अपेक्षा तद्विषयक ध्यानके भी चार भेद है। आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय।

कोई भी कार्य करते समय इस विषयमें जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा क्या है, ऐसा विचार करनेको अथवा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रसार सर्वत्र किस प्रकारसे हो, उसका पुनः पुनः विचार करनेको आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं। संसारी प्राणी नाना प्रकारके दुःखोंसे आक्रान्त—घिरे हुए हैं, फिर भी वे उसीके पोषक मिथ्यामार्गपर चल रहे हैं, और सन्मार्गसे दूर ही रहते है, वे उससे हटकर सन्मार्गपर कब और किस प्रकारसे आसकते हैं, इस तरहके विचारका पुनः पुनः होना इसको **अपायविचय** नामका धर्मध्यान कहते हैं। पीड़ाओंसे हरसमय घिरे हुए जीवोंको देखकर उनके विषयमें पुनः पुनः ऐसा विचार करना, कि विचारोंने जो कर्मोंका संग्रह किया है, उसका फल भोग रहे है, इसको **विपाकविचयधर्मध्यान** कहते है। लोकके आकारका जो विचार करना, उसको **संस्थानविचय** नामका धर्मध्यान कहते हैं।

इसी धर्मध्यानके विषयमें एक विशेष बात कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—उपशान्तकषायस्य क्षीणकषायस्य च धर्मं ध्यानं भवति। किं चान्यत्—

अर्थ—जिसके सम्पूर्ण कषाय उपशान्त हो चुके है, ऐसे ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके और जिसके सम्पूर्ण कषाय सर्वथा निःशेष—क्षीण होगये है, ऐसे क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानवाले जीवके भी धर्मध्यान होता है[2]। इसके सिवाय—

सूत्र—शुक्ले चाद्ये ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—शुक्ले चाद्ये ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के चोपशान्तक्षीणकषाययोर्भवतः। आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवतः।

अर्थ—उपशांतकषाय और क्षीणकषाय नामक ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके आदिके दोनों शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामके भी हुआ करते

१—रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थानतक और आर्तध्यान छट्ठेगुणस्थानतक कहा है, अतएव अप्रमत्तके धर्मध्यान ही होता है, ऐसा स्वयं ही समझमें आजाता है, इसके लिये अप्रमत्त शब्द सूत्रमें देनेकी क्या आवश्यकता है, सो समझमें नहीं आया। इसके सिवाय चौथे पाँचवें छट्ठे गुणस्थानमें भी धर्मध्यान होता है। २—दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार—श्रुतकेवलीके श्रेण्यारोहण करनेके पूर्व धर्मध्यान और श्रेण्यारोहण करनेपर शुक्लध्यान ही होता है।

हैं । क्योंकि ये दोनों ही आदिके शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क पूर्वविद्—श्रुतकेवलीके ही हुआ करते हैं ।

भावार्थ—सूत्रमें जो च शब्दका ग्रहण किया है, उससे स्पष्ट होता है, कि उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानमें धर्मध्यान भी होता है, और आदिके दो शुक्लध्यान भी होते हैं । यहाँपर पूर्वविद्का अर्थ श्रुतकेवली लेना चाहिये । तथा श्रुतकेवलीके आदिके दो शुक्लध्यान ही होते हैं, ऐसा अर्थ न करके दो शुक्लध्यान भी होते हैं, ऐसा करना चाहिये । अर्थात् शुक्लध्यानके स्वामी श्रुतकेवली ही होते है ।

अन्तके दो शुक्लध्यानोंके स्वामीको बताते हैं—

सूत्र—परे केवलिनः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शुक्लध्याने केवलिन एव भवतः न छद्मस्थस्य ॥

अर्थ—अन्तके दोनों शुक्लध्यान—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति केवली भगवान्—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवालेंके ही होते हैं, छद्मस्थके नहीं होते । अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तेरहवें गुणस्थानमें और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमें ही होता है । ये दोनों ध्यान उसके नहीं हो सकते, जिसके कि प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रकट न हुआ हो ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता पूर्वे ध्याने परे शुक्ले ध्याने इति तत्कानि तानीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपरके दोनों सूत्रोंमें क्रमसे " आद्ये " और " परे " शब्दोंका पाठ किया है, जिनका अर्थ होता है, कि आदिके दो शुक्लध्यान और अन्तके दो शुक्लध्यान, ऐसा कहनेसे मालूम होता है, कि शुक्लध्यानके चार भेद हैं, किन्तु वे भेद कौनसे हैं, सो अभीतक मालूम नहीं हुए । अतएव कहिये कि उनके क्या क्या नाम हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं:—

सूत्र-पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ४१

भाष्यम्—पृथक्त्ववितर्कं एकत्ववितर्कं काययोगानां सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रिया निवृत्तीति चतुर्विधं शुक्लध्यानम् ॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क[1] एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इस तरह शुक्लध्यानके चार भेद हैं । इनमेंसे तीसरा शुक्लध्यान काय योगवाले जीवोंके ही होता है[2] ।

१—इसका पूरा नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है, जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा । २—इस बातको आगे चलकर सूत्रकार भी बतावेंगे । यहाँ भाष्यकारने चारोंके स्वामियोंको न बताकर एकके स्वामीको ही बताया है, आगे चलकर सूत्रकार चारोंके स्वामियोंको बतावेंगे ।

ये चारों ध्यान किस किस प्रकारके जीवोंके हुआ करते हैं, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।

सूत्र—त्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तदेतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानं त्रियोगस्यान्यतमयोगस्य काययोगस्यायोगस्य च यथासंख्यं भवति। तत्र त्रियोगानां पृथक्त्ववितर्कमेकान्यतमयोगानामेकत्ववितर्कं काययोगानां सूक्ष्म क्रियाप्रतिपात्ययोगानां व्युपरतक्रियमनिवृत्तीति ॥

अर्थ—मनोयोग वचनयोग और काययोग ये योगके तीन भेद ऊपर बताये जा चुके हैं। जिन जीवोंके ये तीनों ही योग पाये जाते हैं, उनके पहला शुक्लध्यान-प्रथक्त्ववितर्क हो सकता है, और जिन जीवोंके इन तीनोंमेंसे एक ही योग पाया जाता है, उनके दूसरा शुक्लध्यान—एकत्ववितर्क हो सकता है। जो तीनोंमेंसे केवल काययोगको ही धारण करनेवाले हैं, उनके तीसरा शुक्लध्यान—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति हुआ करता है, और जो तीनों ही योगोंसे रहित हैं, उनके चौथा शुक्लध्यान—व्युपरतक्रियानिवृत्ति हुआ करता है। इस प्रकार क्रमसे चारों ध्यानोंके चारों स्वामियोंको समझना चाहिये। अब चारों ध्यानोंमेंसे आदिके दो ध्यानोंमें जो विशेषता है, उसको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—एकद्रव्याश्रये सवितर्के पूर्वे ध्याने प्रथमद्वितीये। तत्र सविचारं प्रथमम्-

अर्थ—आदिके दोनों शुक्लध्यानों—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्कका आश्रय एक ही द्रव्य है—ये पूर्वविद्—श्रुतकेवलीके ही होते हैं। तथा पहला और दूसरा ध्यान सवितर्क होता है। वितर्क शब्दका अर्थ आगे चलकर बतावेंगे। इसके सिवाय पहला पृथक्त्ववितर्क नामका शुक्लध्यान विचार सहित भी होता है। किन्तु—

सूत्र—अविचारं द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—अविचारं सवितर्कं द्वितीयं ध्यानं भवति ॥

अर्थ—दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान विचार रहित किन्तु वितर्कसहित हुआ करता है। विचार शब्दका अर्थ भी आगे चलकर स्वयं सूत्रकार बतावेंगे।

भाष्यम्—अत्राह-वितर्कविचारयोः कः प्रतिविशेष इति। अत्रोच्यते—

१—अभीतक सूत्रकारने कहींपर भी यह नहीं लिखा है, कि अमुक अमुक ध्यान सवीचार होते हैं। अतएव ऐसा किये विना ही एक प्रकृत भेदको अवीचार किस तरह कहते हैं, सो समझमें नहीं आता। दूसरा शुक्लध्यान विचार रहित होता है, यह कथन तभी ठीक जँचता है, जब कि पहले ध्यान सामान्यकी या उसके कुछ भेदोंकी सवीचारता बताई हो, ऐसा होनेसे ही दूसरे ध्यानमें सवीचारताका निषेध करना युक्त प्रतीत होता है। दिगम्बर—सम्प्रदायके अनुसार पहले सूत्रमें सविचार शब्दका भी पाठ है। यथा—" एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे " इससे सविचारता सिद्ध होनेपर निषेध किया है, कि " अवीचारं द्वितीयम् "।

अर्थ—प्रश्न—ऊपर वितर्क और विचार ये दो शब्द पढ़े गये हैं, किन्तु इनका अर्थ अभीतक अज्ञात है, अतएव कहिये, कि इनका क्या अर्थ है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये क्रमानुसार पहले वितर्क शब्दका अर्थ बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—यथोक्तं श्रुतज्ञानं वितर्को भवति ॥

अर्थ—पहले अध्यायमें श्रुतज्ञानका लक्षण और अर्थ बताया जा चुका है, उसी प्रकार वितर्क शब्दका अर्थ भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् श्रुतज्ञानको ही वितर्क कहते हैं।

विचार शब्दका क्या अर्थ है सो बताते हैं—

सूत्र—विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिर्विचार इति ॥

अर्थ—अर्थ व्यञ्जन और योग इनकी संक्रान्ति–पलटनको विचार कहते हैं।

भावार्थ—इस सूत्रमें तीन विषय हैं–अर्थ व्यञ्जन और योग। ध्यानके विषयभूत–ध्येयको अर्थ कहते हैं। वह सामान्यसे दो प्रकारका है–एक द्रव्य दूसरा पर्याय। क्योंकि द्रव्य और पर्यायके समूहको ही अर्थ–पदार्थ कहते हैं। व्यञ्जन नाम श्रुतवचनका है। जिससे अर्थविशेष अभिव्यक्त होता है, ऐसे किसी भी श्रुतके वाक्यको व्यञ्जन कहते हैं। योग शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है कि–"कायवाङ्मनःकर्मयोगः"। मनवचन कायके द्वारा जो आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दनरूप क्रिया होती है, उसको योग कहते हैं। जिसमें ध्येय अर्थ पलटता रहता है–विवक्षित एक द्रव्य या पर्यायको छोड़कर दूसरे द्रव्य या पर्यायकी तरफ प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार एक श्रुतवचनको छोड़कर दूसरे श्रुतवचनका आलम्बन लिया जाता है, एवं जिसमें योगोंका भी पलटना जारी रहता है, उसको पहला पृथक्त्ववितर्क सविचार शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकारका पलटना दूसरे शुक्लध्यानमें नहीं हुआ करता, अतएव उसको अविचार कहते है।

भाष्यम्—तदाभ्यन्तरं तपः संवरत्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकं निर्जरणफलत्वात्कर्मनिर्जरकम्। अभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकत्वात्पूर्वोपचितकर्मनिर्जरकत्वाच्च निर्वाणप्रापकमिति॥

अर्थ—ऊपर बाह्य तपके अनन्तर जिस आभ्यन्तरतपका उल्लेख किया गया है, वह संवर और निर्जराका कारण है। नवीन कर्मोके संचयके रुक जानेको संवर कहते हैं। और जो पहले ही से संचित हैं, उन कर्मोंके एकदेशतया विच्छेद–नाश होनेको निर्जरा कहते हैं। यह आभ्यन्तरतप दोनों ही कार्योका साधक है। इन तपोंके करनेवालेके नवीन कर्मोका संचय नहीं होता, और संचित कर्म आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर झड़ जाते हैं।

और जब कि नवीन कर्मोंका आना रुक गया तथा संचित कर्मोंका भी अभाव होने लगा, तो निर्वाणकी प्राप्ति भी इसीसे सिद्ध हो जाती है, अतएव इस तपको निर्वाणका प्रापक या साधक भी कह सकते हैं।

भावार्थ—ऊपर जिसका व्याख्यान किया गया है, उस आभ्यन्तरतपका फल—साक्षात्-फल संवर और उत्तर-फल निर्जरा तथा परम्परा-फल निर्वाण है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता परीषहजयात्तपसोऽनुभावतश्च कर्मनिर्जरा भवतीति। तत्किं सर्वे सम्यग्दृष्टयः समनिर्जरा आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा था, परीषहोंके जय-जीतनेसे और तपके प्रभावसे कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है, इस विषयमें यह जानना बाकी है, कि जितने सम्यग्दृष्टि हैं, वे सभी इन परीषहजय और तपरूप कारणके मिलनेपर समान फलको प्राप्त होते हैं, अथवा असमान। सम्यग्दृष्टिमात्रके कर्मोंकी निर्जरा एक सरीखी होती है, अथवा उसमें भी कुछ विशेषता है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दृष्टिः श्रावकः विरतः अनन्तानुबन्धिवियोजकः दर्शनमोहक्षपकः मोहोपशमकः उपशान्तमोहः मोहक्षपकः क्षीणमोहः जिन इत्येते दश क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरा भवन्ति। तद्यथा—सम्यग्दृष्टेः श्रावकोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरः श्रावकाद्विरतः विरतादनन्तानुबन्धिवियोजक इत्येवं शेषाः ॥

अर्थ—संचित कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके दश स्थान हैं। यथा—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह, और जिन। इनके कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है, किन्तु सबके समान नहीं होती। इन दश स्थानोंमें क्रमसे असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा हुआ करती है। जैसे कि—सम्यग्दृष्टिके जितनी कर्मोंकी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा श्रावकके होती है, और जितनी श्रावकके होती है, उससे असंख्यातगुणी विरतके होती है, तथा जितनी विरतके होती है, उससे भी असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा अनन्तानुबन्धीकषायका विसंयोजन करनेवालेके हुआ करती है। इसी क्रमसे आगेके स्थानोंकी निर्जराका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये। सबसे अधिक निर्जरा जिनभगवान्के हुआ करती है।

भावार्थ—जिनके कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती, है उन सभी सम्यग्दृष्टियोंके स्थान समान निर्जरावाले नहीं है, किन किनके कितनी कितनी निर्जरा होती है, सो इस सूत्रमें बताया

जा चुका है। सबसे पहला स्थान सम्यग्दृष्टिका है। उसके होनेवाली निर्जरा किस स्थानकी अपेक्षा असंख्यातगुणी है, सो यहाँपर नहीं बताया है। अतएव समझना चाहिये, कि सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके लिये सन्मुख हुए और इसी लिये अधःकरणादिमें प्रवृत्त मिथ्यादृष्टिके जितनी कर्मोंकी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यग्दृष्टिके हुआ करती है। सम्यग्दृष्टिसे प्रयोजन असंयतसम्यग्दृष्टिका है, और श्रावक शब्दसे देशविरतको तथा विरत शब्दसे छट्ठे सातवें गुणस्थानवर्तियोंको लिया है। अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनका अभिप्राय यह है, कि—अनादिमिथ्यादृष्टि जीव जो उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ करता है, उसके अनन्तानुबंधीकषाय सत्तामें रहती ही है। किन्तु ऐसा जीव श्रेणी आरोहण नहीं कर सकता, जिसके कि अनन्तानुबन्धीकर्म सत्तामें बैठा हो। अतएव श्रेणी आरोहण करनेके लिये उन्मुख—तयार हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त सातिशय अप्रमत्त होकर अनन्तानुबंधी कषायको अप्रत्याख्यानावरण अथवा प्रत्याख्यानावरण या संज्वलनरूप परिणत कर देता है, इसी क्रियाको अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन कहते हैं। जो दर्शनमोहकर्मका क्षय करके क्षायिकसम्यक्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, उनके अनन्तवियोजकसे भी असंख्यगुणी निर्जरा होती है। क्षायिकसम्यग्दृष्टिसे भी उपशमश्रेणीके आठवें नौवें और दशवें गुणस्थानवालोंके और उनसे भी ग्यारहवें गुणस्थानवर्तीके तथा उपशान्तमोहसे भी क्षपकश्रेणीके आठवें नौवें और दशवें गुणस्थानवालोंके एवं क्षपकसे बारहवें गुणस्थानवालोंके और उनसे तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्तियोंके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

उपर्युक्त संवर और निर्जराके कारणोंका पूर्णतया पालन वे ही कर सकते हैं, जोकि निर्ग्रन्थ हैं। वे निर्ग्रन्थ कितने प्रकारके होते हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र—पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४८॥

भाष्यम्—पुलाको बकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थःस्नातक इत्येते पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति। तत्र सततमप्रतिपातिनो जिनोक्तादागमान्निर्ग्रन्थपुलाकाः। नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरण विभूषानुवर्तिन ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरिवाराश्छेदशबलयुक्ता निर्ग्रन्थाः बकुशाः कुशीलाः द्विविधाः प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च। तत्र प्रतिसेवना कुशीला नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियतेन्द्रियाः कथंचित्किंचिदुत्तरगुणेषु विराधयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः। येषां तु संयतानां सतां कथंचित्संज्वलनकषाया उदीर्यन्ते ते कषायकुशीलाः। ये वीतरागच्छद्मस्था ईर्यापथप्राप्तास्ते निर्ग्रन्थाः। ईर्या योगः पन्था संयमः योगसंयमप्राप्ता इत्यर्थः। संयोगाशैलेशीप्रतिपन्नाश्च केवलिनः स्नातका इति॥

अर्थ—सामान्यतया निर्ग्रन्थोंके पाँच विशेष भेद हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक। इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप इस प्रकार है—जो जिनभगवान्के उपदिष्ट आगमसे कभी भी विचलित नहीं होते, उनको पुलाकनिर्ग्रन्थ कहते हैं। जो निर्ग्रन्थताके प्रति उद्युक्त हैं—

जो उसका भले प्रकार पालन करते हैं, किन्तु जो शरीर उपकरण और विभूषाका अनुवर्तन करते हैं—शरीर और उपकरणोंको सुसंस्कृत तथा विभूषित किया करते हैं—यद्वा शरीरादिका विभूषित रहना पसंद करते है, जो ऋद्धि और यशकी कामना रखते हैं, और जो सात गौरवके धारण करनेवाले हैं, जिन्होंने अभीतक परिवार—परिवारका परित्याग नहीं किया है, जो छेदचारित्रके शबलता—कर्बुरतासे युक्त हैं, उन निर्ग्रन्थोंको बकुश कहते हैं। कुशील दो प्रकारके होते हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। इनमेंसे जो निर्ग्रन्थताको तो अखण्डितरूपसे पालते हैं, किन्तु जिनकी इन्द्रियाँ अनियत हैं—अभी जिनके इन्द्रियोंकी लोलुपता लगी हुई है, अतएव जो कदाचित् किसी प्रकारसे किन्हीं किन्हीं उत्तरगुणोंमें विराधना उत्पन्न करते रहते है उनको प्रतिसेवनाकुशील कहते है। जो अधस्तन समस्त कषायोंको जीत चुके हैं, और इसीलिये संयत अवस्थाओंको जो परिपूर्ण रखनेवाले हैं, फिर भी जिनके संज्वलनकषाय अभीतक उद्रेक—बढ़तीको प्राप्त हो जाती है, उनको कषायकुशील कहते हैं। जिनके राग द्वेष कषाय सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, किन्तु अभीतक जिनको केवलज्ञानका लाभ नहीं हुआ है, ऐसे ईर्यापथको प्राप्त वीतराग छद्मस्थाको निर्ग्रन्थ कहते है। ईर्यानाम योगका है, और पंथा नाम संयमका है। अतएव योगसहित संयमको ईर्यापथ कहते हैं। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानको वीतरागछद्मस्थ कहते है। सयोगकेवलीभगवान् और शैलेशिताको प्राप्त—अयोगकेवलीभगवान्को स्नातक निर्ग्रन्थ कहते है। इस प्रकार निर्ग्रन्थोंके ये पाँच भेद है। सामान्यतया सभी निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं, फिर भी इनके भेदोंमें कुछ कुछ विशेषताएं हैं। उनको भाष्यकारने यहाँ बताया है। फिर भी किन किन कारणोंसे इनमें भेद सिद्ध होता है, उनको बतानेके लिये सूत्रकार स्वयं कहते हैं—

सूत्र—संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतःसाध्याः ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—एते पुलाकादयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा एभिः संयमादिभिरनुयोगविकल्पैः साध्या भवन्ति। तद्यथा—संयमः—कः कस्मिन् संयमे भवतीत्युच्यते—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः—सामायिके छेदोपस्थाप्ये च। कषायकुशीलो द्वयोः—परिहारविशुद्धौ सूक्ष्मसंपराये च। निर्ग्रन्थस्नातकावेकस्मिन्यथाख्यातसंयमे ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें निर्ग्रन्थोंके पुलाकादि जो पाँच विशेष भेद बताये है, उनमें जो जो विशेषता है, उसको संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेश्या उपपात और स्थान के भेदसे सिद्ध करनी चाहिये।

१—शीलके १८ हजार भेद हैं। उनकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें ही होती है। अतएव अयोगकेवलियोंको शैलेशीप्राप्त कहते हैं। यथा—सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥ —गोम्मटसार जीवकांड।

भावार्थ—इस सूत्रमें बताये गये संयमादि आठ कारणोंसे पुलाकादिका भेद सिद्ध होता है। उसीको यहाँपर क्रमसे बताते हैं—

संयम—पुलाकादिमेंसे कौनसा निर्ग्रन्थ किस संयमको धारण किया करता है, यह अनुयोग संयमकी अपेक्षा निर्ग्रन्थोंकी विशेषताको सिद्ध करता है। वह इस प्रकार है—पुलाक बकुश और प्रतिसेवनाकुशील दो संयमोंको ही धारण किया करते हैं।—या तो सामायिकसंयमको अथवा छेदोपस्थाप्यसंयमको। कषायकुशील भी दो ही संयमोंको धारण किया करते हैं,—या तो परिहारविशुद्धिसंयमको अथवा सूक्ष्मसंपरायसंयमको। तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यातसंयमको ही धारण किया करते हैं। इस प्रकार संयमकी अपेक्षा पाँचोंमें भेद है।

भाष्यम्—श्रुतम्—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। श्रुतापगतः केवली स्नातक इति।

प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद्बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। मैथुनमित्येके। बकुशो द्विविधः उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्च। तत्रोपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषोपकरणकांक्षायुक्तो नित्यं तत्प्रतिसंस्कारसेवी भिक्षुरुपकरणबकुशो भवति। शरीराभिष्वक्तचित्तो विभूषार्थं तत्प्रतिसंस्कारसेवी शरीरबकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति॥

अर्थ—श्रुतका लक्षण और भेद पहले बता चुके हैं। उनमेंसे कौन कौन निर्ग्रन्थ किस किस भेदके धारक हुआ करते हैं, सो इस प्रकार है।—पुलाक बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ज्यादःसे ज्यादः अभिन्नाक्षर दशपूर्वके धारक हुआ करते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्टतया चौदह पूर्वके धारक हो सकते हैं। पुलाकका श्रुत जघन्य अपेक्षा आचारवस्तुप्रमाण हुआ करता है। कमसे कम इतना श्रुत उनके रहता ही है। बकुश कुशील और निर्ग्रन्थ इनका जघन्य श्रुत आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण[1] होता है। केवलीभगवान् स्नातक निर्ग्रन्थ श्रुतसे रहित होते हैं। क्योंकि उनके प्रत्यक्ष केवलज्ञान रहा करता है।

प्रतिसेवना—किसी विवक्षित विषयके सेवन करनेको प्रतिसेवना कहते हैं। पाँच मूलगुण और छट्ठा रात्रिभोजनविरति नामका व्रत साधुओंको अखण्डित रखना चाहिये। किंतु दूसरोंके अभियोगसे या बलात्कार—जबर्दस्तीसे किसीका भी सेवन करने लगे—रात्रिमें भी भोजन कर ले, या किसी मूलगुणका भंग कर ले, तो भी वह पुलाक जातिका निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है।[2] तथा किसी किसी आचार्यके मतसे पुलाक जातिके निर्ग्रन्थ मैथुनका भी सेवन किया करते हैं।

---

१ पाँच समिति और तीन गुप्तियोंको आठ प्रवचनमातृका कहते हैं। बकुश कुशील और निर्ग्रन्थको इतना [illegible] श्रुत अवश्य रहना चाहिये। २—दिगम्बर-सम्प्रदायमें पुलाक उसको कहते हैं, जिसके कि २८ मूलगुणोंमें भी कदाचित् किसीका भंग हो जाय, रात्रिभोजन आदिमें प्रवृत्ति हो जानेसे [illegible] [illegible] है।

वकुश दो प्रकारके हुआ करते हैं–एक उपकरणवकुश और दूसरे शरीरवकुश। इनमेंसे उपकरणवकुश उस भिक्षुकको–साधुको कहते हैं, जो कि उपकरणोंमें आशक्ति रखनेवाला है–जिसका चित्त अच्छे अच्छे वस्त्र पात्र आदि उपर्युक्त उपकरणोंके ग्रहण करनेकी तरफ लगा रहता है, नानाप्रकारके और विचित्र विचित्र महान् मूल्यवान् उपकरणोंकी परिग्रहसे युक्त रहता है, अत्यधिक उपकरणोंकी कांक्षा रखनेवाला है, तथा जो नित्य ही उन उपकरणोंके संस्कारका सेवन करता है–गृहीत उपकरणोंको जो सदा परिमार्जित आदि करता रहता है। जो शरीरमें आसक्तचित्त रहा करता है, और उसको–शरीरको विभूषित करनेके लिये दत्तचित्त रहता है, तथा इसीके लिये जो अनेक उपायसे संस्कारोंका सेवन किया करता है, एवं शरीरको सुन्दर सुडौल दर्शनीय रखनेकी इच्छा रखता, और इसके उपायोंका भी सेवन करता है, उस भिक्षुकको शरीरवकुशनिर्ग्रन्थ कहते हैं। कुशील मुनियोंके दो भेद बताये हैं–प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। इनमेंसे जो प्रतिसेवनाकुशील होते है, वह अपने मलगुणोंमेंसे किसीकी भी विराधना नहीं करते–सबको परिपूर्ण–अखण्डित रखते है, किंतु उत्तरगुणोंमेंसे किसी किसीकी विराधना कर दिया करते हैं। इस प्रकार पॉच तरहके निर्ग्रन्थोंमेंसे जिनके प्रतिसेवना पाई जाती है, उनका उल्लेख किया, शेष निर्ग्रन्थोंको प्रतिसेवना रहित समझना चाहिये। अतएव कहते हैं, कि कषायकुशीलनिर्ग्रन्थ और स्नातक इन तीनोंके प्रतिसेवना नहीं हुआ करती।

भाष्यम्––तीर्थम्––सर्वे सर्वेषां तीर्थकरणां तीर्थेषु भवन्ति। एकेत्वाचार्या मन्यन्ते पुलाक वकुश प्रतिसेवनाकुशीलास्तीर्थे नित्यं भवन्ति शेषास्तीर्थे वाऽतीर्थे वा।

लिङ्गम्––लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च। भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था भावलिङ्गे भवन्ति द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः॥

अर्थ––तीर्थ–उपर्युक्त पाँचों ही प्रकारके निर्ग्रन्थ सम्पूर्ण तीर्थकरोंके तीर्थमें हुआ करते हैं। किन्तु किसी किसी आचार्यका ऐसा अभिमत या कहना है, कि पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थोंमेंसे पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील सदा तीर्थमें ही हुआ करते हैं, और बाकीके निर्ग्रन्थ कषायकुशीलनिर्ग्रन्थ और स्नातक तीर्थमें भी होते हैं और अतीर्थमें भी होते हैं।

लिङ्ग––लिङ्ग दो प्रकारका होता है। एक द्रव्यलिङ्ग दूसरा भावलिङ्ग। भावलिङ्गकी अपेक्षासे सब–पॉचोंही निर्ग्रन्थ भावलिङ्गमें रहा करते हैं। द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षासे यथायोग्य विभाग कर लेना चाहिये। अर्थात् किसीके द्रव्यलिङ्ग होता है, किसीके नहीं होता। कोई द्रव्यलिङ्गमें रहता है, कोई नहीं रहता।

१––दिगम्बर–सम्प्रदायमें वस्त्र पात्र रखना निषिद्ध है।

२––छट्ठे गुणस्थान और उससे ऊपरके परिणामोंको भावलिंग और तदनुसार बाह्य वेशको द्रव्यलिंग कहते हैं। यदि द्रव्यलिंग अनियत और भावलिंग नियत है, तो वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहों लेश्या किस तरह घटित होती है, सो समझमें नहीं आता।

भाष्यम्—लेश्याः—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति । बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः सर्वाः षडपि । कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेस्तिस्र उत्तराः सूक्ष्मसंपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति । अयोगः शैलेशीप्रतिपन्नोऽलेश्यो भवति ।

उपपातः—पुलाकस्योत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे । बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयोः । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषुदेवेषु सर्वार्थसिद्धे । सर्वेषामपि जघन्या पल्योपमपृथक्त्वस्थितिषु सौधर्मे । स्नातकस्य निर्वाणमिति ॥

अर्थ—लेश्याका अर्थ पहले बाताया जा चुका है, कि कषायोदयसे अनुरंजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । इसके छह भेद हैं—कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल । इनमेंसे पुलाकनिर्ग्रन्थके अन्तकी तीन लेश्याएं हुआ करती हैं । बकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके सब—छहों लेश्याएं होती हैं । परिहारविशुद्धिसंयमको धारण करनेवाले कषायकुशीलके अंतकी तीन लेश्याएं हुआ करती हैं । सूक्ष्मसंपरायसंयमको धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ और स्नातकके केवल एक शुक्ललेश्या ही हुआ करती है । किन्तु ऊपर लिखे अनुसार जो शैलेशिताको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे अयोगकेवली भगवान्‌के कोई भी लेश्या नहीं हुआ करती । वे अलेश्य माने गये हैं ।

उपपात—यह उपपात शब्द नारक या देवपर्यायमें जन्म धारण करनेको बताता है, किन्तु प्रकृतमें देवगतिमें जन्मधारण करनेका ही इससे अर्थ ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि निर्ग्रन्थोंका नरकगतिमें जन्मधारण करना असंगत है । अतएव इस शब्दके द्वारा यहाँपर यही बताया है, कि इन पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थोंमेंसे कौन कौनसा निर्ग्रन्थ आयुपूर्ण होनेपर कहाँ कहाँ जन्म—धारण किया करता है, या कहाँपर पहुँचता है । सो इस प्रकार है कि—पुलाक जातिके निर्ग्रन्थ सहस्रारस्वर्गमें उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं । बकुश और प्रतिसेवनाकुशील आरण और अच्युतकल्पमें बाईस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न हुआ करते हैं । कषायकुशील और निर्ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धके तेतीस सागरकी स्थितिवाले देवोंमें जाकर उत्पन्न हुआ करते हैं । तथा इन सभी निर्ग्रन्थोंका—स्नातकको छोड़कर बाकी चारों ही निर्ग्रन्थोंका जघन्य अपेक्षासे उपपात पृथक्त्व पल्यप्रमाण स्थितिवाले सौधर्मकल्पवासी देवोंमें हुआ करते हैं । स्नातकनिर्ग्रन्थ उपपात रहित हैं, क्योंकि वे जन्म—धारण नहीं किया करते, वे जन्म मरणसे रहित निर्वाणपदको ही प्राप्त हुआ करते हैं ।

भाष्यम्—स्थानम्—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः । तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः । ततः पुलाको व्युच्छिद्यते कषायकुशीलस्त्वसंख्येयानिस्थानान्येकाकी गच्छति । ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छन्ति । ततो

बकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अतऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकमेव स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीति एषां संयमलब्धिरनन्तानन्तगुणा भवतीति ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अर्थ—कषायके निमित्तसे होनेवाले संयमके स्थान–दर्जे असंख्यात हैं। इनमेंसे सब से जघन्य लब्धिरूप संयमके स्थान पुलाक और कषायकुशीलके हुआ करते हैं। ये दोनों ही निर्ग्रन्थ जघन्य स्थानसे ऊपर असंख्यात संयम–स्थानों तक साथ साथ आरोहण किया करते हैं, आगे चलकर पुलाककी व्युच्छित्ति हो जाती है, किन्तु अकेला कषायकुशील वहाँसे भी आगे असंख्यात स्थानों तक आरोहण करता चला जाता है। इसके ऊपरके असंख्यात संयम–स्थान ऐसे हैं, कि जिनपर कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और बकुश तीनों निर्ग्रन्थ साथ साथ ही आरोहण किया करते हैं। इनके ऊपर कुछ स्थान चलकर बकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है। उससे भी ऊपर असंख्यात स्थान चलकर प्रतिसेवनाकुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है, तथा इसके भी ऊपर असंख्यात स्थानतक आरोहण करके कषायकुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है। यहाँसे ऊपर सब अकषाय–स्थान ही हैं। उनको केवल निर्ग्रन्थ ही प्राप्त हुआ करते हैं। किन्तु वह भी असंख्यात स्थानोंतक आरोहण करके व्युच्छित्तिको प्राप्त हो जाया करते हैं। इसके ऊपर एक ही स्थान है, कि जहाँपर निर्ग्रन्थस्नातक पहुँचता है। इस स्थानपर पहुँचकर स्नातक-निर्ग्रन्थ निर्वाण–पदको प्राप्त हुआ करते हैं। इन निर्ग्रन्थोंको जो संयमकी लब्धि हुआ करती है, उसकी विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तानन्तगुणी हुआ करती है।

इसप्रकार तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका नववाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥

दशमोऽध्यायः ।

ऊपर जीवादिक सात तत्त्वोंमेंसे निर्जरापर्यन्त छह तत्त्वोंका वर्णन हो चुका। अब अन्तिम तत्त्व मोक्षका वर्णन अवसरप्राप्त है। अतएव मोक्षका वर्णन करना चाहिये, किन्तु मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, अतएव पहले केवलज्ञान और उसके कारणका भी उल्लेख करते हैं।—

सूत्र—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—मोहनीये क्षीणे ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायेषु क्षीणेषु च केवलज्ञानदर्शनमुत्पद्यते। आसां चतसृणां कर्मप्रकृतीनां क्षयः केवलस्य हेतुरिति। तत्क्षयादुत्पद्यत इति हेतौ पञ्चमीनिर्देशः। मोहक्षयादिति पृथक्करणं क्रमप्रसिद्ध्यर्थं यथा गम्येत पूर्वं मोहनीयं कृत्स्नं क्षीयते ततोऽन्तर्मुहूर्तं छद्मस्थवीतरागो भवति। ततोऽस्य ज्ञानदर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां तिसृणां युगपत्क्षयो भवति। ततः केवलमुत्पद्यते ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेपर और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मका क्षय हो जानेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ करता है। इसका अर्थ यह है, कि इन चारों कर्मप्रकृतियोंका क्षय केवलज्ञान तथा केवलदर्शनकी उत्पत्तिमें हेतु है। क्योंकि इस सूत्रमें क्षय शब्दके साथ जो पंचमी विभक्तिका निर्देश किया है, वह हेतुको दिखाता है—हेतु अर्थमें ही पंचमी विभक्तिका प्रयोग किया गया है। किन्तु चारों प्रकृतियोंका क्षय युगपत् न बताकर पृथक् पृथक् बताया है। "मोहक्षयात्" ऐसा एक पद पृथक् दिखाया है और "ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्" ऐसा दूसरा पद पृथक् दिखाया है। ऐसा न करके यदि "मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्" ऐसा कर दिया जाता, तो भी कोई हानि नहीं मालूम पड़ती। किन्तु वैसा न करके पृथक्करण जो किया है, उसका प्रयोजन यह है, कि क्रमकी सिद्धि हो जाय। जिससे यह मालूम हो जाय, कि पहले मोहनीयकर्मका पूर्णतया क्षय होता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्ततक छद्मस्थवीतराग होता है। इसके अनन्तर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मप्रकृतियोंका एक साथ क्षय हो जाता है। इन तीनोंका क्षय होते ही केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हो जाता है।

भावार्थ—चारों घातिकर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान प्रकट होता है। किन्तु चारों कर्मोंमें भी हेतुहेतुमद्भाव है, जो कि इस प्रकार है, कि चारोंमेंसे मोहनीयका क्षय होजानेपर शेष तीनोंका क्षय होता है, तथा मध्यमें अन्तर्मुहूर्तकाल छद्मस्थवीतरागताका रहता है। इस क्रमको दिखानेके लिये ही पृथक्करण किया है। इस क्रमसे चारों कर्मोंका क्षय हो जानेपर आर्हन्त्य अवस्था उत्पन्न होती है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलमिति। अथ मोहनीयादीनां क्षयः कथं भवतीति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने ऊपर कहा है, कि मोहनीयकर्मका क्षय होनेपर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायकर्मका क्षय होता है, और उससे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, सो ठीक है। किन्तु इस विषयमें यह भी बताना चाहिये, कि मोहनीय आदि कर्मोंका क्षय होता किस तरहसे है? इनके क्षय होनेमें क्या क्या कारण हैं? अथवा किस प्रकारसे क्षय होता है? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं।

सूत्र—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—मिथ्यादर्शनादयो बन्धहेतवोऽभिहिताः। तेषामपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयादभावो भवति सम्यग्दर्शनादीनां चोत्पत्तिः। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तन्निसर्गादधिगमाद्वेत्युक्तम्। एवं संवरसंवृतस्य महात्मनः सम्यग्व्यायामस्याभिनवस्य कर्मण उपचयो न भवति पूर्वोपचितस्य च यथोक्तैर्निर्जराहेतुभिरत्यन्तक्षयः। ततः सर्वद्रव्यपर्यायविषयं परमैश्वर्यमनन्तं केवलं ज्ञानदर्शनं प्राप्य शुद्धो बुद्धः सर्वज्ञः सर्वदर्शी जिनः केवली भवति। ततः प्रतनुशुभचतुःकर्मावशेष आयुः कर्मसंस्कारवशाद्विहरति ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारणोंको पहले बता चुके हैं। उनका तत्तत् आवरणीयकर्मका क्षय हो जानेसे अभाव हो जाता है, और सम्यग्दर्शनादिककी उत्पत्ति होती है। सम्यग्दर्शनका लक्षण भी उपर बताया जा चुका है, कि तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा यह भी कहा गया है, कि वह दो प्रकारसे उत्पन्न होता है—निसर्गसे और अधिगमसे। इस प्रकारसे संवरके द्वारा संवृत महात्माके जिसका कि आचरण—व्यवहार सम्यग्व्यपदेशको प्राप्त हो चुका है, नवीन कर्मोंका उपचय नहीं होता। तथा पहलेके उपचित कर्मोंका ऊपर बताये हुए निर्जराके कारणोंसे अत्यन्त क्षय हो जाता है। इसके होते ही सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण पर्यायोंको विषय करनेवाला परमैश्वर्यका धारक और अन्त रहित केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्रकट होता है, जिसके कि प्राप्त होते ही यह आत्मा शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ सर्वदर्शी, जिन और केवली कहा जाता है। इसके अनन्तर यह सकल परमात्मा जिसके कि अत्यन्त सूक्ष्म शुभ चार[1] कर्म अवशेष रह गये हैं, आयुकर्मके संस्कारवश जगत्में विहार किया करता है।

भावार्थ—आठवें अध्यायकी आदिमें मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योगको बन्धका कारण बता चुके हैं। बन्धके कारणका अभाव हो जानेको संवर कहते हैं। सम्यक्त्वको आवृत करनेवाले मिथ्यात्व अथवा दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे मिथ्यादर्शनका संवर होता है, जिससे कि निसर्ग अथवा अधिगमसे तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार अविरति आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। उन उन

१—चार अघाति कर्म—वेदनीय आयु नाम और गोत्र।

कर्मप्रकृतियोंके संवरके कारण ऊपर बताये जा चुके हैं। उन कारणोंके मिलनेपर संवरकी सिद्धि होती है—बंधके कारणोंका अभाव होता है । इसी लिये उस महात्माके नवीन कर्मोंका आगमन—संचय नहीं होता । इसके साथ ही निर्जराके कारणका निमित्त पाकर पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश क्षय भी होने लगता है । इस प्रकार नवीन कर्मोंका संवर और संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेपर **केवलज्ञान** प्रकट होता है । अर्थात् केवलोत्पत्तिमें दो कारण हैं—बंधके कारणोंका संवर और निर्जरा । इनके होनेसे ही शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली जिनभगवान्‌की अवस्था प्रसिद्ध होती है ।

भाष्यम्—ततोऽस्य ।—

अर्थ—संवर और निर्जराके द्वारा क्रमसे कर्मोंका एकदेश क्षय होते होते उस केवली भगवान्‌के जो चार कर्म शेष रह जाते हैं, उनका भी क्या होता है, और सबसे अंतमें किस अवस्थाकी सिद्धि होती है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति । पूर्वं क्षीणानि चत्वारि कर्माणि पश्चाद्वेदनीयनामगोत्रायुष्कक्षयो भवति । तत्क्षयसमकालमेवौदारिकशरीरवियुक्तस्यास्य जन्मनः प्रहाणम् । हेत्वभावाच्चोत्तरस्या प्रादुर्भावः । एषावस्था कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष इत्युच्यते ॥ किं चान्यत्—

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय हो जानेको **मोक्ष** कहते है । आठ कर्मोंमेंसे चार कर्म पहले ही क्षीण हो जाते हैं । उसके बाद—अरिहंत अवस्था प्राप्त हो जानेपर चार कर्म जो शेष रह जाते हैं—वेदनीय नाम गोत्र और आयुष्क इनका भी क्षय होता है । जिस समय इन चार अघातिकर्मोंका भी पूर्णतया क्षय हो जाता है, उसी समयमें केवलीभगवान्‌का औदारिक शरीरसे भी वियोग हो जाता है, जिससे कि अंतमें इस जन्मका ही अभाव हो जाता है । पुनः कारणका अभाव होनेसे—किसीभी कारणके न रहनेसे उत्तर जन्मका प्रादुर्भाव नहीं होता । यह अवस्था कर्मोंके सर्वथा क्षयरूप है, इसीको मोक्ष कहते हैं ।

भावार्थ—आठ कर्मोंमेंसे ४ घाति और ४ अघाति है । घातिचतुष्टयके नष्ट होनेपर पूर्वोक्त रीतिसे सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होती है । सर्वज्ञ केवली भगवान्‌के जो ४ अघातिकर्म शेष रह जाते हैं, उनका भी जब सम्पूर्ण क्षय हो जाता है, तभी मोक्षकी प्रसिद्धि कही जाती है । क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयको ही मोक्ष कहते हैं । यही सातवें तत्त्वका स्वरूप है । सम्पूर्ण कर्मोंके नष्ट हो जानेसे वर्तमान शरीरकी स्थितिके लिये कोई कारण शेष नहीं रहता, और न नवीन शरीरके लिये ही कोई कारण बाकी रहता है । अतएव वर्तमान शरीर विघटित हो जाता है, और नवीन शरीरका धारण नहीं हुआ करता । इस प्रकार मोक्षके होनेपर जन्म—मरण रहित

अवस्था सिद्ध होती है, इस तरह समस्त कर्मोंके क्षयसे मोक्ष—तत्त्वकी सिद्धि होती है। तथा इसके सिवाय और किस किसके अभावसे सिद्धि होती है, इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकानां भावानां भव्यत्वस्य चाभावान्मोक्षो भवति अन्यत्र केवलसम्यक्त्वकेवलज्ञानकेवलदर्शनसिद्धत्वेभ्यः। एते ह्यस्य क्षायिका नित्यास्तु मुक्तस्यापि भवन्ति ॥

अर्थ—ऊपर सम्पूर्ण कर्मोंके अभावसे मोक्षकी सिद्धि बताई है, इसके सिवाय औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारणामिकभावोंके अभावसे तथा भव्यत्वके भी अभावसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये। औपशमिकादि भावोंमें केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्वभाव भी आ जाता है, अतएव इनके अभावसे भी मोक्ष होती होगी, ऐसा कोई न समझ ले, इसके लिये कहा गया है, कि इन चार भावोंके सिवाय औपशमिकादि भावोंका अभाव होनेपर मोक्ष—अवस्था सिद्ध होती है। क्योंकि इन केवलीभगवान्के ये क्षायिकभाव नित्य हैं, और इसी लिये ये मुक्त—जीवके भी पाये जाते—या रहा करते हैं।

भावार्थ—ऊपर जो जीवके औपशमिकादि स्वतत्त्व बताये हैं। उनमें से पारणामिक भावोंको छोड़कर शेष भाव कर्मोंकी अपेक्षासे हुआ करते हैं। मुक्त—अवस्था सर्वथा कर्मोंसे रहित है। अतएव कर्मोंके उपशम क्षयोपशम उदयसे उत्पन्न होनेवाले भाव वहाँपर नहीं रह सकते हैं, क्षायिकभावोंमेंसे चार ऊपर कहे हुए भावोंको छोड़कर बाकी भाव भी वहाँ नहीं रहा करते। क्योंकि उनके लिये वहाँ योग्य निमित्त नहीं है। पारणामिकभावोंमेंसे भव्यत्वभावका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि उसका कार्य अथवा फल पूर्ण हो चुका।

इस प्रकर सकल कर्म और औपशमिकादिभावोंके अभावसे मोक्ष हो जानेपर उस जीवकी क्या गति होती है, या वह किस प्रकार परिणत होता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तदनन्तरमिति कृत्स्नकर्मक्षयानन्तरमौपशमिकाद्यभावानन्तरं चेत्यर्थः। मुक्त ऊर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। कर्मक्षये देहवियोगसिध्यमानगतिलोकान्तप्राप्तयोऽस्य युगपदेकसमयेन भवन्ति। तद्यथा-प्रयोगपरिणामादिसमुत्थस्य गतिकर्मण उत्पत्तिकार्यारम्भविनाशा युगपदेकसमयेन भवन्ति तद्वत् ॥

अर्थ—उसके अनन्तर जीव ऊर्ध्व—गमन करता है। कहाँ तक? तो लोकके अन्ततक। यही सूत्रका सामान्यार्थ है। इसमें तदनन्तर शब्द जो आया है, उससे उपर्युक्त दोनों प्रकारके

क्षय अथवा अभावके अनन्तर ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि समस्त कर्मोंके क्षयके अनन्तर और औपशमिकादि भावोंके अभावके अनन्तर मुक्त–जीव ऊर्ध्व–गमन करता है । कर्मोंका क्षय होते ही इस जीवको एक ही क्षणमें एक साथ तीन अवस्थाएं प्राप्त हुआ करती हैं ।—शरीरका वियोग, और सिध्यमान–गति तथा लोकके अन्तमें प्राप्ति । जिस प्रकार किसी भी प्रयोग–परिणामादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाली गति, क्रियामें उत्पत्ति, कार्यारम्भ और विनाश ये तीनों ही भाव युगपत्–एक ही क्षणमें होते, या पाये जाते है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । जिस क्षणमें कर्मोंका विनाश होता है, उसी क्षणमें यह जीव शरीरसे वियुक्त होकर सिध्यमान–गति और लोकके अन्तको प्राप्त कर लिया करता है । उस जीवकी तीनों ही अवस्थायें एकसाथ और एक ही क्षणमें हुआ करती हैं ।

भावार्थ—जैसा कि वस्तुका स्वरूप ही पहले बता चुके है, कि " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । " उसी प्रकार संसारावस्थाको छोड़कर मुक्तावस्थाको प्राप्त होनेवाले जीवमें भी तीनों बातें युगपत् पाई जाती हैं । ये तीनों बातें एक ही क्षणमें सिद्ध हो जाती है ।

भाष्यम्—अत्राह—प्रहीणकर्मणो निरास्रवस्य कथं गतिर्भवतीति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—**प्रश्न**—जिसके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो चुके है, और नवीन कर्मोंका आस्रव–आना भी रुक गया है, उसका गमन किस तरह हो सकता है ?

भावार्थ—संसारमें कर्मसहित जीवका ही एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रको गमन होता हुआ देखनेमें आता है, और उसके नवीन कर्मोंका आस्रव भी हुआ करता है । किन्तु मुक्त–जीव दोनों बातोंसे रहित है, अतएव उसके ऊर्ध्व–गमन किस प्रकार हो सकता है ? इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते है—

सूत्र–पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः॥६॥

भाष्यम्—पूर्वप्रयोगात् । यथा हस्तदण्डचक्रसंयुक्तसंयोगात्पुरुषप्रयत्नतश्चाविद्धं कुलालचक्रमुपरतेष्वपि पुरुषप्रयत्नहस्तदण्डचक्रसंयोगेषु पूर्वप्रयोगाद्भ्रमत्येवासंस्कारपरिक्षयात् । एवं यःपूर्वमस्य कर्मणा प्रयोगो जनितः स क्षीणेऽपि कर्मणि गतिहेतुर्भवति । तत्कृता गतिः । किं चान्यत्—

अर्थ—कर्म और आस्रवसे रहित मुक्त–जीवकी ऊर्ध्व–गति होनेमें अनेक हेतु हैं । उनमेंसे पहला हेतु पूर्वप्रयोग है । जिसका आशय इस प्रकार है, कि कुम्भारका चक्र हस्त–कुम्भारका हाथ और दण्ड तथा चक्रके सम्मिलित संयोगको पाकर पुरुषके प्रयत्नसे आविद्ध होकर भ्रमण किया करता है, और वह उन पुरुष प्रयत्न तथा हस्त दण्ड चक्र संयोगरूप कार-णोंके छूट जानेपर भी तबतक घूमता ही रहता है, जबतक कि उसमें वह पहली धारा प्रयोग मौजूद रहता है । पुरुषप्रयत्नसे एक वार जो संस्कार पैदा हो जाता है, वह जबतक नष्ट नहीं

होता, तबतक वह चक्र हस्त दण्ड संयोगके न रहनेपर भी बराबर घूमता ही रहता है, इसी प्रकार कर्मके निमित्तको पाकर यह संसारी प्राणी कर्मके प्रयोगको पाकर संसारमें भ्रमण किया करता था, उस प्रयोगसे जो संस्कार पैदा हो गया है, उसके वशीभूत हुआ यह जीव भी कर्मका निमित्त छूट जानेपर भी गमन किया करता है। इसीको पूर्वप्रयोग कहते है। यही सिद्ध होनेवाले जीवकी गतिमें हेतु होता है, अथवा यों कहना चाहिये, कि इस पूर्वप्रयोगके द्वारा ही मुक्त जीवोंकी गति हुआ करती है। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि—

भाष्यम्—असङ्गत्वात्। पुद्गलानां जीवानां च गतिमत्त्वमुक्तं नान्येषां द्रव्याणाम्। तत्राधोगौरवधर्माणः पुद्गला ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवाः। एष स्वभावः। अतोऽन्यासङ्गादिजनिता गतिर्भवति। यथा सत्स्वपि प्रयोगादिषु गतिकारणेषु जातिनियमेनाधस्तिर्यगूर्ध्वं च स्वाभाविक्यो लोष्ठवाय्वग्नीनां गतयो दृष्टाः। तथा सङ्गविनिर्मुक्तस्योर्ध्वगौरवादूर्ध्वमेव सिध्यमानगतिर्भवति। संसारिणस्तु कर्मसङ्गादधस्तिर्यगूर्ध्वं च। किं चान्यत्।—

बन्धच्छेदात्—यथा रज्जुबन्धच्छेदात्पेडाया बीजकोशबन्धनच्छेदाच्चैरण्डबीजानां गतिर्दृष्टा तथा कर्मबन्धनच्छेदात्सिध्यमानगतिः। किं चान्यत्।—

अर्थ—सङ्गका अभाव हो जाता है। इससे भी मुक्त–जीवोंकी गति सिद्ध होती है। सम्पूर्ण द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य ऐसे है, जिनको कि गतिमान् माना है, इनके सिवाय और कोई भी द्रव्य गतिमान् नहीं है। इनमे भी जो पुद्गल द्रव्य हैं, वे अधोगौरवधर्मके धारण करनेवाले है, और जो जीव–द्रव्य है, वे ऊर्ध्वगौरवधर्मको धारण करनेवाले हैं। यह इनका स्वभाव ही है। स्वभावके विरुद्ध गति सङ्गादि कारणोंसे हुआ करती है। जैसे कि विरुद्ध गतिके कारण प्रयोग आदिके रहते हुए विरुद्ध गति होती है, किन्तु उसके न रहनेपर लोष्ठ वायु और अग्निकी गति उस उस जातिके नियमानुसार क्रमसे अधः तिर्यक् और ऊर्ध्व हुआ करती है। उसी प्रकार सङ्ग रहित मुक्त जीवकी भी सिध्यमान–गति ऊर्ध्व दिशाकी तरफ हुआ करती है, क्योंकि जीव स्वभावसे ही ऊर्ध्व–गौरवको धारण करनेवाला है।

भावार्थ—सङ्ग नाम सम्बन्धका है। बाह्य कारणविशेषका सम्बन्ध पाकर द्रव्यकी स्वभावके विरुद्ध भी गति हो सकती है, किन्तु वैसा सम्बन्ध न रहनेपर स्वभाविकी--गति ही होती है। पुद्गल द्रव्य सामान्यतया अधोगतिशील है, और जीव द्रव्य ऊर्ध्वगतिशील है। यदि इनके लिये स्वभावका प्रतिबन्धक कारण न मिले, तो अपनी अपनी जातिके नियमानुसार ही गमन किया करते है। जिस प्रकार वायु तिर्यग् गतिशील है। परन्तु उसके लिये यदि प्रतिबन्धक कारण मिल जाय, तो वह अधः और ऊर्ध्व दिशाकी तरफ भी गमन किया करती है, अन्यथा तिर्यक् ही गमन करती ह, तथा जिस प्रकार अग्नि स्वभावसे ऊर्ध्व–गमन करनेवाली है, अतएव उसको यदि प्रतिबन्धक कारण मिल जाय, तो अधः अथवा तिर्यक् भी गमन किया करती है, नहीं तो ऊर्ध्व–गमन ही करती है। उसी प्रकार जीव द्रव्यके विषयमें समझना चाहिये।

कर्मके निमित्तको पाकर भी वह समस्त दिशाओंमें गमन किया करता है, किन्तु उस प्रतिबन्धक निमित्तके छूट जानेपर स्वाभाविक ऊर्ध्व-गमन किया करता है। इस प्रकार असङ्गता भी जीवकी ऊर्ध्व-गतिमें एक कारण है। इसके सिवाय एक कारण बन्धच्छेद है—

बन्धके छूट जाने अथवा उच्छेद होजानेको बन्धच्छेद कहते हैं। जिस प्रकार रस्सीका बन्धन छूटते ही पेड़ाकी गति हुआ करती है। अथवा बीज-कोशका बन्धन छूटनेपर एरण्डके बीजमें गति होने लगती है, उसी प्रकार कर्मोका आत्माके साथ जो बन्धन हो रहा है, उसके छूटते ही सिध्यमान-जीवकी भी गति होने लगती है।

भावार्थ—बहुतसे पदार्थ संसारमें ऐसे देखनेमें आते है, जो कि किसी अन्य पदार्थसे बँधे रहनेके कारण ही एक जगह रुके रहते हैं, किन्तु बन्धनके छूटते ही उनमें निकलनेकी या उछलने आदिकी क्रिया ऐसी होने लगती है, जोकि उस पदार्थको अन्य क्षेत्रमें लेजानेके लिये कारण होता है। जैसे कि एरण्डका कोश जबतक बँधा रहता है, तबतक उसका बीज-अंडी भी उसमें बन्द ही रहता है। किन्तु कोशके फूटते ही भीतरका बीज-अंडी एकदम उछल कर बाहर आ जाता है-प्रायः वह ऊर्ध्व-गमन किया करता है। इसी प्रकार कर्म नोकर्मका बन्धन छूटते ही जीवन्मुक्त परमात्माकी भी स्वाभाविकी ऊर्ध्वगति हुआ करती है। अतएव सिध्यमान-गतिमें बन्धच्छेद भी एक कारण है। इसके सिवाय उसी तरहका गति परिणाम भी एक कारण है, जिसका तात्पर्य यह है कि—

भाष्यम्—तथागतिपरिणामाच्च।-ऊर्ध्वगौरवात्पूर्वप्रयोगादिभ्यश्च हेतुभ्य तथास्य गतिपरिणाम उत्पद्यते येन सिध्यमानगतिर्भवति। ऊर्ध्वमेव भवति नाधस्तिर्यग्वा गौरवप्रयोगपरिणामासङ्गयोगाभावात्। तद्यथा-गुणवद्भूमिभागारोपितमृतुकालजातं बीजोद्भेदादङ्कुरप्रवालपर्णपुष्पफलकालेष्वविमानितसेकदौर्हृदादिपोषणकर्मपरिणतं कालच्छिन्नं शुष्कमलाबुद्रव्यं न निमज्जति। तदेव गुरुकृष्णमृत्तिकालेपैर्घनैर्बहुभिरालिप्तं घनमृत्तिकालेपवेष्टनजनितागन्तुकगौरवमप्सु प्रक्षिप्तं तज्जलप्रतिष्ठं भवति। यदा त्वस्याद्भिः क्लिन्नो मृत्तिकालेपो व्यपगतो भवति तदा मृत्तिकालेपसङ्गविनिर्मुक्तं मोक्षानन्तरमेवोर्ध्वं गच्छति आसलिलोर्ध्वतलात्। एवमूर्ध्वगौरवगतिधर्मा जीवोऽप्यष्टकर्ममृत्तिकालेपवेष्टितः तत्सङ्गात्संसारमहार्णवे भवसलिले निमग्नो भवासक्तोऽधस्तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति। सम्यग्दर्शनादिसलिलक्लेदात्प्रहीणाष्टविधकर्ममृत्तिकालेप ऊर्ध्वगौरवादूर्ध्वमेव गच्छत्यालोकान्तात्।

अर्थ—ऊर्ध्वगौरव और पूर्वप्रयोग आदि कारणोंके द्वारा मुक्ति-लाभ करनेवाले जीवकी गतिका परिणमन ही ऐसा होता है, कि जिसके निमित्तसे सिध्यमान-जीवकी गति ऊर्ध्व दिशाकी तरफ ही होती है, अधोदिशा या तिर्यग्दिशाओंकी तरफ नहीं हुआ करती। क्योंकि ऊर्ध्व-गमनके लिये जो ऊर्ध्व-गौरव, पूर्वप्रयोगका परिणमन, सङ्गत्याग, तथा योगाभाव-बन्धच्छेदरूप कारण ऊपर बताये हैं, वे सब यहाँपर पाये जाते है। यह बात अलाबू-तूंबाके उदाहरणसे भले प्रकार समझमें आ सकती है, सो इस प्रकार है—

गुणयुक्त—उत्पादकशक्ति–उर्वराशक्तिके धारण करनेवाले किसी भूमिभाग–पृथ्वीके हिस्सेमें तूंबेका बीज बो दिया। वह योग्य ऋतुका समय पाकर उत्पन्न हुआ। तथा बीजके फूटनेकी अवस्थासे लेकर अङ्कुर प्रवाल पर्ण–पत्ता पुष्प और फल आनेकी अवस्थातक उसका भले प्रकार जलसे सिंचन भी किया। फल आनेपर उसको किसी भी तरह खराब नहीं होने दिया, न कच्चा टूटने दिया और न बिगड़ने दिया–उसका खूब अच्छी तरहसे पालन–पोषण किया। अन्तमें वह फल स्वयं ही काल पाकर सूख गया और लतासे छूट गया। ऐसे तूंबाफलको यदि जलमें छोड़ा जाय तो वह डूबता नहीं। किन्तु उसपर यदि काली भारी मट्टीका बहुत सा लेप कर दिया जाय, तो उसमें उस घने मृत्तिकाके लेप और वेष्टनसे आगन्तुक–नैमित्तिक गुरुता आजाती है, और इसी लिये जलमें छोड़ देनेपर वह जलमें ही बैठ जाता है–जलके तल भागमें ही रह जाता है। किन्तु वहाँ पड़े रहनेपर जब जलके निमित्तसे उसका वह मट्टीका लेप भीगकर–गीला होकर क्रमसे छूट जाता है, तो उसी समय–मृत्तिकाके लेपका सम्बन्ध छूटते ही–मोक्षके अनन्तर ही ऊर्ध्व–गमन किया करता है, और वह जलके ऊपरके तलभाग तक गमन करता ही जाता है, और अंतमें ऊपर आकर ठहर जाता है। इसी प्रकार जीवके विषयमें भी समझना चाहिये। ऊर्ध्वगौरव और गतिधर्मको धारण करनेवाला जीव भी संसारमें आठ प्रकारके कर्मरूपी मृत्तिकाके लेपसे वेष्टित हो रहा है। उसके सम्बन्धसे वह अनेक भव–पर्यायरूपी जलसे पूर्ण संसाररूपी महान् समुद्रमें निमग्न हो जाता है, और नाना गतियोंमें आसक्त हुआ अधः तिर्यक् तथा ऊर्ध्व दिशाकी तरफ गमन करता फिरता है। किन्तु जब सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी जलके निमित्तसे भीगकर अष्टविध कर्मरूपी मृत्तिकाका लेप छूट जाता है, तो उसी समय ऊर्ध्वगौरव स्वभावके कारण वह जीव ऊपरको ही गमन करता है, और लोकके अन्ततक गमन करता ही जाता है।

भावार्थ—संसारावस्थामें अनेक विरुद्ध कारणोंके संयोगवश जीवकी स्वाभाविकी गति नहीं हो सकती। किन्तु उनके हटजानेपर ऊर्ध्व–गमनरूप स्वाभाविक परिणमन ही ऐसा होता है, कि जिसके निमित्तसे सिध्यमान–जीवकी लोकान्तप्रापिणी–गति हुआ करती है, और उससे तुम्बाफलके समान यह जीव लोकके अन्तमें जाकर ही ठहरता है।

भाष्यम्—स्यादेतत्।–लोकान्तादप्यूर्ध्वं मुक्तस्य गतिः किमर्थं न भवतीति? अत्रोच्यते–धर्मास्तिकायाभावात्। धर्मास्तिकायो हि जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहेणोपकुरुते। स तत्र नास्ति। तस्माद्गत्युपग्रहकारणाभावात्परतो गतिर्न भवत्यप्सु अलाबुवत्। नाधो न तिर्यगित्युक्तम्। तत्रैवानुश्रेणिगतिर्लोकान्तेऽवतिष्ठते मुक्तो निःक्रियः इति॥

अर्थ—आपने जो मुक्त–जीवकी सिध्यमान–गति लोकान्तप्रापिणी और स्वभावसे ही उर्ध्व दिशाकी तरफ होनेवाली बताई, सो ठीक है। परन्तु इस विषयमें शंका यह है, कि वह लोकके अन्ततक ही क्यों होती है? सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित जीव अपने स्वभावसे ही जब ऊपरको गमन

करता है, तो वह लोकके अन्ततक ही क्यों करता है, लोकके ऊपर भी उसकी गति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर इस प्रकार है कि—लोकके ऊपर धर्मास्तिकायका अभाव है। पाँच जो अस्तिकाय बताये हैं, उनमेंसे धर्मास्तिकायका यह कार्य है, कि वह जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्यकी गतिमें सहायता पहुँचानेका उपकार करे, किन्तु वह लोकके ऊपर नहीं रहता। अतएव गमन करनेके निमित्तकारणका अभाव होनेसे लोकान्तसे भी परे गति नहीं होती। जैसे कि जलमें मृत्तिका—मिट्टीके भारसे डूबी हुई तूंबी मृत्तिकाके हट जानेपर जलके ऊपरके तलभाग तक ही गमन करती है, उससे भी ऊपर गमन नहीं कर सकती, क्योंकि उससे भी ऊपरको जानेके लिये निमित्त कारण जलका अभाव है। मुक्त—जीवकी गति अधो दिशाकी तरफ और तिर्यग् दिशाकी तरफ नहीं होती, यह बात पहले ही बता चुके हैं। किन्तु उसकी गति श्रेणिबद्ध लोकान्तप्रापिणी ही हुआ करती है, और इसी लिये वह लोकके अन्तमें जाकर ठहर जाता है, तथा निःक्रिय बना रहता है।

भावार्थ—यद्यपि मुक्त—जीवका स्वभाव ऊर्ध्व—गमन करनेका है, और इसलिये लोकके परे भी उसको गमन करना चाहिये, यह ठीक है, फिर भी कार्यकी सिद्धि विना बाह्य निमित्त-कारणके नहीं हो सकती, इस सिद्धान्तके अनुसार जहाँतक गमन करनेका बाह्य निमित्त धर्मास्तिकायका सद्भाव पाया जाता है, वहींतक मुक्त—जीवकी गति होती है, उससे परे नहीं हो सकती, और धर्मद्रव्यका अस्तित्व लोकके अन्ततक ही रहा करता है।

इस प्रकार मुक्तिके कारणोंको पाकर जो मुक्त हो जाते है, वे सभी जीव स्वरूपकी अपेक्षा समान हैं अथवा असमान? इस बातको बतानेके लिये आगे सूत्र कहते है—

सूत्र—क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—क्षेत्रं कालः गतिः लिङ्गं तीर्थं चारित्रं प्रत्येकबुद्धबोधितः ज्ञानमवगाहना अन्तरं संख्या अल्पबहुत्वमित्येतानि द्वादशानुयोगद्वाराणि सिद्धस्य भवन्ति। एभिः सिद्धः साध्योऽनुगम्यश्चिन्त्यो व्याख्येय इत्येकार्थत्वम्। तत्रपूर्वभावप्रज्ञापनीयः प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च द्वौ नयौ भवतः। तत्कृतोऽनुयोगविशेषः। तद्यथा—

अर्थ—क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चरित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व, इस प्रकार मुक्त—जीवके लिये बारह अनुयोगद्वार माने हैं। इनके द्वारा मुक्त—जीव साध्य अनुगम्य चिन्त्य और व्याख्येय कहा जाता है। ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक है। इनमें भी दो नय प्रवृत्त हुआ करते हैं—पूर्वभावप्रज्ञापनीय और प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय। इनके द्वारा अनुयोगोंमें विशेषता सिद्ध होती है। जोकि इस प्रकारसे है।—

भावार्थ—कर्म नोकर्मसे रहित सभी सिद्ध परमात्मा आत्मशक्तियोंकी अपेक्षा समान हैं। उनमें किसी विषयका अन्तर नहीं है। यदि उनमें किसी प्रकारसे भी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है, तो बारह बातोंकी अपेक्षासे, इन्हींको बारह अनुयोग कहते हैं। जोकि क्षेत्रादि स्वरूप ऊपर गिनाये जा चुके हैं। इनका विशेष वर्णन आगे चलकर करते हैं। इनकी विशेषता पूर्वभावप्रज्ञापनीय और प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय इन दो नयोंसे हुआ करती है। इन अनुयोगोंके द्वारा ही सिद्ध–जीवकी विशेषताका साधन किया जा सकता और वह जाना जा सकता, तथा उसका विचार किया जा सकता और व्याख्यान किया जा सकता है। इनके सिवाय शेष विषयोंमें सिद्ध–जीवोंको समान समझना चाहिये। क्षेत्रादि अनुयोगोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है:—

भाष्यम्—क्षेत्रम्-कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यतीति। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीयं प्रति सिद्धिक्षेत्रे सिद्ध्यति। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जातः सिध्यति। संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिध्यति। तत्र प्रमत्तसंयताः संयतासंयताश्च संन्हियन्ते। श्रमण्यपगतवेदः परिहारविशुद्धिसंयतः पुलाकोऽप्रमत्तश्चतुर्दशपूर्वी आहारकशरीरीति न संह्रियन्ते। ऋजुसूत्रनयः शब्दादयश्च नयः प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयाः शेषानया उभयभावं प्रज्ञापयन्तीति॥

कालः—अत्रापि नयद्वयम्। कस्मिन्काले सिध्यतीति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य अकाले सिद्ध्यति। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य जन्मतः संहरणतश्च। जन्मतोऽवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यामनवसर्पिण्युत्सर्पिण्यां च जातः सिद्ध्यति। एवं तावदविशेषतः, विशेषतोऽप्यवसर्पिण्यां सुषमदुःषमायां संख्येयेषु वर्षेषु शेषेषु जातः सिद्ध्यति। दुःषमसुषमायां सर्वस्यां सिध्यति। दुःषमसुषमायां जातो दुःषमायां सिद्ध्यति न तु दुःषमायां जातः सिद्ध्यति। अन्यत्र नैव सिद्ध्यति। संहरणं प्रति सर्वकालेष्ववसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यामनवसर्पिण्युत्सर्पिण्यां च सिद्ध्यति॥

अर्थ—क्षेत्रकी अपेक्षा विशेषता इस प्रकार है। यदि कोई यह जानना चाहे, अथवा प्रश्न करे, कि किस क्षेत्रसे सिद्धि—मुक्ति हुआ करती है, तो उसका उत्तर उपर्युक्त दो नयोंकी अपेक्षा से हो सकता है। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षासे सिद्धिक्षेत्रमें ही सिद्धि होती है[1]। पूर्वभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुआ ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर सकता है[2]। संहरणकी अपेक्षा मानुषक्षेत्रमें सिद्धि होती है। किन्तु इनमेंसे संहरण प्रमत्तसंयत और संयतासंयतका ही होता है। श्रमणी–आर्यिका, अपगतवेद, परिहारविशुद्धिसंयमका धारक, पुलाक, अप्रमत्त, चौदह पूर्वका पाठी और आहारकशरीरको धारण करनेवाला इनका संहरण नहीं हुआ करता। ऋजुसूत्र नयको और शब्दादिक तीन—शब्द समभिरूढ एवंभूतनयको प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय कहते है और बाकीके नय दोनों ही भावके प्रज्ञापक माने गए है।

१–क्योंकि वर्तमानमें सिद्ध–जीव वहीं पाया जाता है। २–पाँच भरत पाँच ऐरावत और पाँच विदेहक्षेत्रोंको मिलाकर पंद्रह कर्मभूमियाँ होती हैं।

भावार्थ—प्रत्युत्पन्नभाव वर्तमान अवस्थाको दिखाता है, जिस क्षणमें जीव सिद्ध होता है, उसी क्षणमें वह सिद्धिक्षेत्रमें जा पहुँचता है, अतएव वर्तमान भावकी अपेक्षा यदि ली जाय, तो सिद्धिक्षेत्रसे ही सिद्धि होती है। यदि पूर्वभावकी अपेक्षा लेकर कहा जाय, तो कह सकते हैं, कि जन्मकी अपेक्षा पंद्रह कर्मभूमियोंसे और संहरणकी अपेक्षा मनुष्य-क्षेत्रमात्रसे निर्वाण हुआ करता है। पंद्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुआ योग्य मनुष्य निर्वाणको प्राप्त कर सकता है, और अबतक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब ऐसे ही थे। किन्तु संहरणके द्वारा मनुष्य-क्षेत्रमेंसे किसी भी भागसे सिद्ध हो सकते हैं। पर्वत नदी समुद्र ह्रद-तालाब आदि सभी स्थानोंसे जीव निर्वाण प्राप्त कर सकता है। परन्तु संहरण किस किसका होता है और किस किसका नहीं होता, सो ऊपर लिखे अनुसार समझना चाहिये। इस प्रकार क्षेत्रकी अपेक्षासे सिद्धोंमें विशेषताका निरूपण किया जासकता है। क्योंकि कोई भरतक्षेत्र-सिद्ध हैं, कोई ऐरावतक्षेत्र-सिद्ध हैं, कोई विदेहक्षेत्र-सिद्ध है, कोई समुद्र-सिद्ध है, कोई नदी-सिद्ध है, कोई पर्वत-सिद्ध है इत्यादि। किन्तु स्वरूपकी अपेक्षा सब समान हैं।

काल— इस विषयमें भी उपर्युक्त दोनों नयोंकी अपेक्षा रहा करती है। अतएव यदि कोई यह जानना चाहे, कि सिद्ध-अवस्था किस कालमें सिद्ध हुआ करती है? अथवा कौन कौनसा वह समय है, कि जिसमें समस्तकर्मोंका मूलोच्छेदन करके जीव मुक्ति-लाभ कर सकते है? तो इसका उत्तर भी उक्त दोनों नयोंकी अपेक्षासे ही दिया जायगा। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा किसी भी कालमें सिद्धि नहीं होती—अकालमें ही सिद्ध हुआ करते हैं[1]। पूर्वभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा कालका वर्णन हो सकता है। किन्तु इसमें भी दो अपेक्षाएं हैं, एक जन्मकी अपेक्षा और दूसरी संहरणकी अपेक्षा। जन्मकी अपेक्षासे अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ और उत्सर्पिणीमें उत्पन्न हुआ तथा अनवसर्पिणी और अनुत्सर्पिणीमें भी उत्पन्न हुआ जीव मुक्ति-लाभ कर सकता है। किन्तु यह कथन सामान्य अपेक्षासे समझना चाहिये, विशेष दृष्टिसे सम्पूर्ण अवसर्पिणीमें सिद्धि नहीं होती, किन्तु सुषमदुःषमाकालके अन्तके शेष रहे कुछ संख्यात वर्षोंमें ही होती है, और समस्त दुःषमसुषमाकालमें हुआ करती है। दुःषमसुषमामें उत्पन्न हुआ मनुष्य दुःषमाकालमें सिद्धि लाभ कर सकता है। किन्तु दुःषमाकालमें उत्पन्न हुआ जीव मुक्ति-लाभ नहीं कर सकता। इनके सिवाय और किसी भी समयमें सिद्धि नहीं हुआ करती। संहरणकी अपेक्षा सम्पूर्ण कालोंमें सिद्धि हो सकती है। अवसर्पिणी उत्सर्पिणी अनवसर्पिणी और अनुत्सर्पिणी इन सभी कालोंमें सिद्धि हो सकती है।

१—क्योंकि ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षणको ही विषय करता है, जोकि शब्दका विषय नहीं होसकता। जबतक शब्दका उच्चारण किया जाता है, तबतक असंख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं। अतः वर्तमान क्षणको विषय करने वाले नयके द्वारा सिद्ध-अवस्थाका वर्णन नहीं हो सकता।

भावार्थ—संहरण शब्दका अर्थ स्पष्ट है। कोई देवादिक किसी मुनिको हरकर क्षेत्रान्तरमें लेजाय, तो उसको संहरण कहते हैं। संहरणके द्वारा जिस क्षेत्रको मुनि प्राप्त होगा वहाँपर अमुक ही काल होगा, ऐसा नियम नहीं बन सकता। सुषमसुषमा या सुषमा अथवा सुषमदुःषमाकाल जहाँपर सदा प्रवृत्त रहा करता है, ऐसे भोगभूमिके क्षेत्रमें भी संहरणके द्वारा प्राप्ति हो सकती है, और वहींसे उसी समयमें निर्वाण-पद भी प्राप्त हो सकता है। अतएव संहरणकी अपेक्षा सभी कालमें सिद्धि कही जासकती है। जन्मकी अपेक्षा जो विशेषता है, वह ऊपर लिखी गई है।

भाष्यम्—गतिः।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगत्यां सिध्यति। शेषास्तु नया द्विविधाः।—अनन्तरपश्चात्कृतगतिकश्च एकान्तरपश्चात्कृतगतिकश्च अनन्तरपश्चात्कृतगतिकस्य मनुष्यगत्यां सिध्यति। एकान्तरपश्चात्कृतगतिकस्याविशेषेण सर्वगतिभ्यः सिध्यति।

लिङ्गे-स्त्रीपुं नपुंसकानि। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यावेदः सिध्यति। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपश्चात्कृतगतिकस्य परम्परपश्चात्कृतगतिकस्य च त्रिभ्यो-लिङ्गेभ्यः सिध्यति।

लिङ्गे-पुनरन्यो विकल्प उच्यते।-द्रव्यलिङ्गंभावलिङ्गमलिङ्गमिति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यालिङ्गः सिध्यति। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य भावलिङ्गं प्रति स्वलिङ्गे सिध्यति। द्रव्यलिङ्गं त्रिविधं स्वलिङ्गमन्यलिङ्गं गृहिलिङ्गमिति तत्प्रति भाज्यम् सर्वस्तु भावलिङ्गं प्राप्तः सिध्यति॥

अर्थ—गतिका अर्थ ऊपर बता चुके है। भवधारण अथवा पर्यायविशेषको गति कहते हैं। इसके सामान्यतया चार भेद हैं, जोकि पहले कहे जा चुके हैं। इसकी अपेक्षासे भी सिद्धजीवोंकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा सिद्धिगतिसे ही सिद्धि होती है। पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें भी दो प्रकार हैं, अनन्तरपश्चात्कृतिक और एकान्तरपश्चात्कृतिक। सिद्ध-अवस्था प्राप्त होनेसे अव्यवहित पूर्वक्षणमें जो गति हो उसको अनन्तरपश्चात् कहते हैं, और उससे भी पूर्वमें जो गति हो, उसको एकान्तरपश्चात् शब्दसे कहा जाता है। अनन्तरपश्चात् गतिकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय, तो मनुष्यगतिसे ही सिद्धि होती है, और एकान्तरपश्चाद्गतिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय, तो सामान्यतया सभी गतियोंसे सिद्धि हो सकती है।

भावार्थ—वर्तमान भाव की अपेक्षा सिद्ध-जीव सिद्धगतिमें ही रहते हैं, अतएव उनको अन्य किसी भी गतिसे सिद्ध नहीं कहा जा सकता। पूर्वभावकी अपेक्षा यदि ली जाय, तो अनन्तरगतिकी अपेक्षा उन्हें मनुष्यभवसे सिद्ध कहा जा सकता है। क्योंकि जितने भी सिद्ध हुए हैं, या होंगे, अथवा हो सकते हैं, वे सब मनुष्यगतिके अनन्तर ही हुए है, या होंगे, अथवा हो सकते

हैं । यदि इस से भी पूर्वकी—परम्परासे मनुष्यगतिसे भी एक भव पूर्वकी अपेक्षा विचार किया जाय, तो चारों ही गतिसे सिद्धि कही जा सकती है । क्योंकि जिस मनुष्यपर्यायसे जीव सिद्धि प्राप्त करता है, उस मनुष्यपर्यायको चारों ही गतिसे आया हुआ जीव धारण कर सकता है ।

लिङ्गके तीन भेद है—स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय-नयकी अपेक्षासे वेदरहित—अलिङ्गकी सिद्धि हुआ करती है—किसी भी लिङ्गसे सिद्धि नहीं होती । पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें भी दो भेद हैं ।—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चा-त्कृतिकं। दोनों ही अपेक्षाओंमें तीनों लिङ्गोंसे सिद्धि हुआ करती है ।

भावार्थ—सिद्ध अवस्थामें कोई भी लिङ्ग नहीं रहता, अतएव वर्तमानकी अपेक्षा अवेदसे सिद्धि कही जा सकती है । किन्तु पूर्वभावकी अपेक्षासे दो प्रकारसे विचार किया जा सकता है । एक तो अव्यवहित पूर्वपर्यायके लिङ्गकी अपेक्षा और दूसरा उससे भी पूर्वपर्यायके लिङ्गकी अपेक्षा । इन दोनों ही पर्यायोंमें तीनों लिङ्ग पाये जा सकते हैं ।[2]

लिङ्गके विषयमें दूसरे प्रकारसे भी भेद बताये है । वे भी तीन हैं ।—द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्ग और अलिङ्ग । इनमेंसे प्रत्युत्पन्नभावकी अपेक्षा अलिङ्ग ही सिद्धिको प्राप्त हुआ करता है । पूर्वभावकी अपेक्षामें भावलिङ्गकी अपेक्षा स्वलिङ्गसे ही सिद्धि होती है, द्रव्यलिङ्गमें तीन प्रकार हैं ।—स्वलिङ्ग अन्यलिङ्ग और गृहिलिङ्ग । इनकी अपेक्षासे यथायोग्य समझ लेना चाहिये । किन्तु सभी भावलिङ्गको प्राप्त करके ही सिद्धिको प्राप्त हुआ करते है ।

भावार्थ—अन्तरङ्ग परिणामोमें निर्ग्रन्थ जिनलिङ्ग होना ही चाहिये । बाह्यमें स्वलिङ्ग अन्यलिङ्ग अथवा गृहिलिङ्गमेंसे यथासम्भव कोई भी होसकता है । यहाँपर लिङ्ग शब्दका अर्थ वेश अथवा मुद्रा समझना चाहिये । यदि लिङ्ग शब्दका अर्थ वेद—स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग किया जाय, तो तीनों ही लिङ्गसे निर्वाण हो सकता है[3] ।

भाष्यम्—तीर्थम्-सन्ति तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थे नो तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकर-तीर्थेऽतीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थे । एवं तीर्थकरीतीर्थे सिद्धा अपि ।

चरित्रम्—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्री नोऽचारित्री सिध्यति। पूर्वभावप्रज्ञा-पनीयो द्विविधः अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च । अनन्तरपश्चात्कृतिकस्य यथाख्यातसंयतः सिध्यति । परम्परपश्चात्कृतिकस्य व्यञ्जितेऽव्यञ्जिते च। अव्यञ्जिते त्रिचा-रित्रपश्चात्कृतश्चतुश्चारित्रपश्चात्कृतः पञ्चचारित्रपश्चात्कृतश्च । व्यञ्जिते सामायिकसूक्ष्म-सांपरायिकयथाख्यातपश्चात्कृतासिद्धाः छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसंपराययथाख्यातपश्चात्कृतासिद्धाः छेदोपस्थाप्यपरिहार-सामयिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्म सम्परायथाख्यातपश्चात्कृतासिद्धाः

१—इनशब्दोंका अर्थ गतिअनुयोगमें जैसा किया गया है, उसी प्रकार समझना चाहिये । २—दिगम्बर-सम्प्रदायमें द्रव्यतः पुल्लिङ्गको ही मोक्ष माना है ।

३—दिगम्बर-सम्प्रदायमें भावलिङ्गकी अपेक्षा तीनों लिङ्गसे और द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा केवल पुल्लिङ्गसे ही मोक्ष माना है । बाह्य-वेशकी अपेक्षा भी केवल निर्ग्रन्थ दिगम्बर-अचेल अवस्थासे ही मोक्ष मानी है ।

विशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातपश्चात्कृतासिद्धाःसामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायथाख्यातपश्चात्कृतासिद्धाः ॥

अर्थ—तीर्थ नामक अनुयोगके द्वारा मुक्तात्माओंमें भेदका वर्णन किया जासकता है। क्योंकि कोई तो तीर्थकरके तीर्थमें तीर्थकर होकर सिद्ध होते हैं, कोई तीर्थकरके तीर्थमें नोतीर्थकर—ईषत्तीर्थकर होकर सिद्ध हुआ करते हैं, तथा कोई तीर्थकरके तीर्थमें ही अतीर्थकर होकर भी सिद्ध हुआ करते हैं। एवं कोई तीर्थकरीके तीर्थमें सिद्ध होते हैं[1]।

भावार्थ—यह अनुयोगके द्वारा सिद्धोंकी विशेषताका आख्यान व्यपदेशमात्र कहा जा सकता है। क्योंकि इससे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर सिद्ध नहीं होता। जैसा केवलज्ञान आदिक तीर्थकरसिद्धके होता है, वैसा ही नोतीर्थकरके और वैसा ही अतीर्थकरसिद्धके भी हुआ करता है। किसी भी सिद्धके गुणोंमें दूसरे सिद्धोंके उन्हीं गुणोंकी अपेक्षा विशेषता नहीं पाई जाती।

चारित्र—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा नोचारित्री और नोअचारित्री दोनों ही सिद्धिको प्राप्त करनेवाले कहे जा सकते हैं। क्योंकि वर्तमान क्षणकी अपेक्षा सिद्धोंको न चारित्रसे सिद्ध कह सकते हैं और न अचारित्रसे सिद्ध ही कह सकते हैं। क्योंकि वह अवस्था चारित्र अचारित्र दोनोंसे रहित है। पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षा चारित्रसे सिद्धि कही जा सकती है। किन्तु उसमे भी दो प्रकार हैं।—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक। अनन्तरपश्चात्की अपेक्षा यथाख्यातसंयमको धारण करनेवाला ही मुक्तिको प्राप्त किया करता है। परम्परपश्चात् में भी दो अपेक्षाएं हैं—एक व्यञ्जित दूसरी अव्यञ्जित। अव्यञ्जितकी विवक्षा होनेपर तीन भेद कहे जा सकते है।—त्रिचारित्रपश्चात्कृत और चतुश्चारित्रपश्चात्कृत तथा पंचचारित्रपश्चात्कृत। व्यञ्जितकी अपेक्षामें कोई तो सामायिक सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। कोई छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते है। कोई सामायिकसंयम छेदोपस्थाप्यसंयम और सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते है। कोई छेदोपस्थाप्यसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं। तथा कोई सामायिक छेदोपस्थाप्य परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार सिद्धजीवोंकी विशेषता चारित्रके द्वारा अनेक प्रकारसे बताई जा सकती है। यद्यपि वर्तमानमें वे चारित्र अचारित्रसे रहित है, तो भी पूर्वभावकी अपेक्षा त्रिचारित्रसिद्ध चतुःचारित्रसिद्ध पंचचारित्रसिद्ध आदि अनेक भेदरूप कहे जा सकते हैं।

भाष्यम्—प्रत्येकबुद्धबोधितः-अस्य व्याख्याविकल्पश्चतुर्विधः। तद्यथा।-अस्ति स्वयंबुद्धसिद्धः। स द्विविधः अर्हश्च तीर्थकरः प्रत्येकबुद्धसिद्धश्च। बुद्धबोधितासिद्धाः त्रिचतुर्थविकल्पः परबोधकसिद्धाः स्वेष्टकारिसिद्धाः ॥

1—दिगम्बर-सम्प्रदायमें स्त्रीका तीर्थंकर होना या मोक्ष जाना नहीं माना है।

ज्ञानम्—अत्रप्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य केवली सिध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयो द्विविधः ।—अनन्तरपश्चात्कृतिकश्च परम्परपश्चात्कृतिकश्च अव्यञ्जिते च व्यञ्जिते च । अव्यञ्जिते द्वाभ्यां ज्ञानाभ्यां सिध्यति । त्रिभिश्चतुर्भिरिति । व्यञ्जिते द्वाभ्यां मतिश्रुताभ्यां । त्रिभिर्मतिश्रुतावधिभिर्मतिश्रुतमनः पर्यायैर्वा । चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायैर्वा ॥

अर्थ—प्रत्येकबुद्धबोधित अनुयोगकी अपेक्षासे भी सिद्धोंकी विशेषताका व्याख्यान किया जा सकता है । इस अनुयोगकी व्याख्या चार प्रकारसे हो सकती है । यथा—एकतो स्वयंबुद्धसिद्ध दूसरे बुद्धबोधितसिद्ध । इनमें भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं ।—स्वयंबुद्धसिद्धके दो भेद इस प्रकार हैं—एक तो अर्हन् तीर्थकर और दूसरे प्रत्येकबुद्धसिद्ध । तीसरा और चौथा भेद बुद्धबोधितसिद्धका है, जोकि इस प्रकार है—परबोधकसिद्ध और स्वेष्टकारिसिद्ध ।

भावार्थ—जिनको किसी अन्यसे मोक्षमार्गका ज्ञान उपदेश द्वारा प्राप्त नहीं हुआ करता—स्वयं ही उस विषयके ज्ञाता रहा करते हैं, उनको प्रत्येकबुद्ध कहते है, और जिनको परोपदेशके द्वारा मोक्ष-मार्गका ज्ञान प्राप्त होता है, उनको बोधितसिद्ध कहते हैं । जिनकी समवसरण रचना होती है, उनको तीर्थंकर और जिनकी केवल गंधकुटी ही होती है, उनको सामान्यकेवली कहा करते हैं । केवलज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर जो दूसरोंको मोक्ष-मार्गका उपदेश देते हैं, उनको परबोधकसिद्ध और जो उपदेशमें प्रवृत्त न होकर ही निर्वाणको प्राप्त कर लिया करते हैं, उनको स्वेष्टकारिसिद्ध कहते हैं । इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षासे सिद्धोंमें विशेषताका वर्णन किया जा सकता है, अन्यथा स्वरूपकी अपेक्षा सब सिद्ध समान हैं ।

ज्ञान—इस अनुयोगकी अपेक्षा लेनेपर भी प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयसे जो केवल ज्ञानके धारक हैं, वे ही सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं । पूर्वभावप्रज्ञापनीयनय दो प्रकार है—अनन्तरपश्चात्कृतिक और परम्परपश्चात्कृतिक । इनमें भी पहले कहे अनुसार अव्यञ्जित और व्यञ्जित भेद समझ लेने चाहिये । अव्यञ्जित पक्षमें दो ज्ञानोंके द्वारा अथवा तीन ज्ञानोंके द्वारा यद्वा चार ज्ञानोंके द्वारा सिद्धि हुआ करती है । व्यञ्जित पक्षमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंके द्वारा, और मतिश्रुत अवधि अथवा मतिश्रुत मनःपर्यय इन तीन ज्ञानोंके द्वारा, तथा मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंके द्वारा भी सिद्धि हुआ करती है ।

भावार्थ—वर्तमानमें सभी सिद्ध केवलज्ञानके ही धारक हैं । अतएव उसीके द्वारा उनकी सिद्धि कही जा सकती है । किन्तु पूर्वभावकी अपेक्षासे चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे यथासम्भव ज्ञानोंके धारक सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं । क्षायोपशमिकज्ञान एक कालमें एक जीवके दोसे लेकर चार तक पाये जा सकते है । जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है ।

भाष्यम्—अवगाहना-कः कस्यां शरीरावगाहनायां वर्तमानः सिध्यति । अवगाहना द्विविधा उत्कृष्टा जघन्या च । उत्कृष्टा पञ्चधनुःशतानि धनुःपृथक्त्वेनाभ्यधिकानि । जघन्या

सप्तरत्नयोऽङ्गुलपृथक्त्वेहीनाः । एतासु शरीरावगाहनासु सिध्यति, पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य तु एतास्वेव यथास्वं त्रिभागहीनासु सिध्यति ।

अन्तरम्—सिध्यमानानां किमन्तरम् । अनन्तरं च सिध्यन्ति सान्तरंच सिध्यन्ति । तत्रानन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कृष्टेनाष्टौ समयान् । सान्तरं जघन्येनैकं समयमुत्कृष्टेन षण्मासाः इति ।

संख्या—कत्येकसमये सिध्यन्ति, जघन्येनैकः उत्कृष्टेनाष्टशतम् ॥

अर्थ—अवगाहनाके द्वारा सिद्धोंकी विशेषता इस प्रकार बताई जा सकती है, कि कौन सिद्ध कितनी अवगाहनाका धारक है । अथवा किसने कितनी शरीरकी अवगाहनामें रहकर सिद्धि प्राप्त की है । इसके लिये पहले शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण बताना आवश्यक है । अवगाहना दो प्रकारकी हो सकती है । एक उत्कृष्ट और दूसरी जघन्य । क्योंकि मध्यके अनेक भेदोंका इन्हीं दो भेदोंमें समावेश हो जाता है । उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण पॉचसौ धनुषसे पृथक्त्क धनुष अधिक माना है, और जघन्य अवगाहनाका प्रमाण सात रत्निमेंसे पृथक्त्क अंगुल कम बताया है । इनमेंसे किसी भी अवगाहनामें अथवा इनके मध्यवर्ती अनेक भेदरूप अवगाहनाओंमेंसे किसी भी अवगाहनामें स्थित जीव सिद्धिको प्राप्त किया करता है । यह विषय पर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा समझना चाहिये । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा देखा जाय, तो इन्हीं अवगाहनाओंमेंसे यथायोग्य किसी भी अवगाहना की त्रिभागहीन अवगाहनामें सिद्ध रहा करते हैं ।

भावार्थ—अवगाहना नाम घिरावका है । कौनसा शरीर कितने आकाशप्रदेशोंको रोकता है, इसीका नाम शरीरावगाहना है । मनुष्यशरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण ऊपर बताया गया है, जिस शरीरसे जीव सिद्धि प्राप्त किया करते हैं, उस शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण और पूर्वभावप्रज्ञापनकी अपेक्षा वही सिद्धिकी अवगाहनाका प्रमाण समझना चाहिये । क्योंकि जीवकी अवगाहना शरीरके प्रमाणानुसार ही हुआ करती है । क्योंकि जीवको स्वदेह प्रमाण रहनेवाला माना है । किन्तु सिद्ध-अवस्थामें शरीरसे सर्वथा रहित होजानेपर उस आत्माकी अवगाहना त्रिभागहीन होजाया करती है । जिस शरीरसे मुक्ति-लाभ किया करता है, उसका जितना प्रमाण हो, उसमेंसे तृतीयांश कम करनेपर जो प्रमाण शेष रहे, उतना ही सिद्ध-अवस्था प्राप्त होजानेपर उस जीवका प्रमाण कायम रहता है । प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा यही सिद्धोंकी अवगाहनाका प्रमाण है ।

अन्तरअनुयोगके द्वारा सिद्धोंकी विशेषता बतानेका अभिप्राय यह है, कि जो जीव सिद्धिको प्राप्त किया करते हैं, उनमेंसे परस्परमें कितना अन्तराल—कितने समयका व्यवधान रहा करता है । इसके लिये यह बतानेकी आवश्यकता है, कि एक साथ अनेक जीव सिद्धि प्राप्त किया करते हैं या क्या? और एक समयमें जितने भी जीवोंने सिद्धि प्राप्त की हो, उसके

अनन्तर समयमेंही दूसरे जीव भी सिद्धि प्राप्त करते हैं या क्या ? तथा यदि परस्परमें व्यवधान पाया जाता है, तो कितने समयसे कितने समय तकका ? इसीका खुलासा करनेके लिये कहते हैं, कि जीव अनन्तर भी सिद्धिको प्राप्त किया करते है और सान्तर भी सिद्धिको प्राप्त करते है । इनमेंसे अनन्तरसिद्धिके कालका जघन्य प्रमाण दो समय और उत्कृष्ट प्रमाण आठ समयका है । तथा सान्तरसिद्धिके कालका जघन्य प्रमाण एक समय और उत्कृष्ट प्रमाण छह महीना है ।

भावार्थ—एक समयमें जितने जीव मोक्षको जानेवाले है, उनके चले जानेपर दूसरे समयमें कोई भी जीव मोक्षको न जाय, ऐसा नहीं हो सकता । उस समयके अनन्तर दूसरे समयमें भी अवश्य ही जीव मोक्ष प्राप्त किया करते हैं । इसीको अनन्तरसिद्धि कहते हैं । इसका प्रमाण दो समयसे आठ समय तकका है । अर्थात् अव्यवधानरूपसे आठ समयतक जीव बराबर मोक्षको जासकते हैं । इससे अधिक कालतक नहीं जासकते । आठ समयके बाद व्यवधान पड़ जाता है । उस व्यवधानके कालका प्रमाण एक समयसे लेकर छह महीनातकका है ।

संख्या—प्रत्येक समयमें कमसे कम कितने और ज्याद:से ज्याद: कितने जीव मोक्षको प्राप्त किया करते हैं, इसके प्रमाणको संख्या कहते हैं । इसकी अपेक्षासे भी सिद्धोंका भेद कहा जासकता है । यथा अमुक समयमें इतने जीव मोक्षको गये और अमुक समयमें इतने, इत्यादि । इसके लिये यह जाननेकी आवश्यकता है, कि एक समयमें कितने जीव मोक्षको जासकते हैं । तो इसका प्रमाण कमसे कम एक और ज्याद:से ज्याद: एकसौ आठ है ।

भावार्थ—एक समयमें सिद्धि प्राप्त करनेवाले जीवोंकी संख्याका जघन्य प्रमाण एक और उत्कृष्ट प्रमाण १०८ है ।

भाष्यम्—अल्पबहुत्वम् ।—एषां क्षेत्रादीनामेकादशानामनुयोगद्वाराणामल्पबहुत्वं वाच्यम् । तद्यथा ।—

क्षेत्रसिद्धानां जन्मतः संहरणतश्च कर्मभूमिसिद्धाश्चाकर्मभूमिसिद्धाश्च सर्व स्तोकाः संहरणसिद्धाः जन्मतोऽसंख्येगुणाः । संहरणं द्विविधम्—परकृतं स्वयंकृतं च । परकृतं देवकर्मणा चारणविद्याधरैश्च । स्वयंकृतं चारणविद्याधराणामेव । एषां च क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमिरकर्मभूमिःसमुद्रा द्वीपा ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति लोकत्रयम् । तत्र सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः, अधोलोकासिद्धाः संख्येयगुणाः, तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयगुणाः, सर्वस्तोकाः समुद्रसिद्धाः, द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः । एवं तावदव्यञ्जिते व्यञ्जितेऽपि सर्वस्तोका लवणसिद्धा कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः, जम्बूद्वीपासिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः, धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः, पुष्करार्धसिद्धाः संख्येयगुणा इति ।

अर्थ—अल्पबहुत्व—नाम हीनाधिकताका है । ऊपर क्षेत्र आदि ग्यारह अनुयोगद्वार बताये हैं, जिनसे कि सिद्ध—जीवोंकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है । इनमेंसे किस

अनुयोगके द्वारा सिद्ध न्यून हैं, और किस अनुयोगके द्वारा सिद्ध अधिक हैं। यही बात इस अनुयोगके द्वारा बताई जाती है। एक एक अनुयोगके अवान्तरभेदोंके द्वारा सिद्ध जीवोंका अल्पबहुत्व भी इसीके द्वारा समझ लेना चाहिये। अतएव क्रमानुसार क्षेत्रसिद्धादि जीवोंका अल्पबहुत्व यहाँपर क्रमसे बताते हैं।—

क्षेत्रसिद्धोंमें कोई जन्मसिद्ध और कोई संहरणसिद्ध होते हैं। इनमेंसे जो कर्मभूमिसिद्ध और अकर्मभूमिसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। किन्तु इनमें जो संहरणासिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है, जन्मसिद्धोंका प्रमाण उनसे असंख्यातगुणा है। संहरण भी दो प्रकारका माना है।—परकृत और स्वयंकृत। देवोंके द्वारा तथा चारणऋद्धिके धारक मुनियोंके द्वारा और विद्याधरोंके द्वारा परकृत संहरण हुआ करता है। स्वयंकृत संहरण चारणऋद्धिके धारक मुनि और विद्याधरोंका ही हुआ करता है। इनके क्षेत्रका विभाग इस प्रकार है—कर्मभूमि अकर्मभूमि समुद्र द्वीप ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् इस तरह तीनों लोक इसके विषय है। इनमेंसे सबसे कम ऊर्ध्व लोकसिद्धोंका प्रमाण है। अधोलोकसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं, और अधोलोक सिद्धोंसे संख्यातगुणे तिर्यग्लोकसिद्ध होते हैं। इसी प्रकार समुद्रसिद्धोका प्रमाण सबसे अल्प है। उससे संख्यातगुणा द्वीपसिद्धों का प्रमाण है। इस प्रकार अव्यञ्जितके विषयमें समझना चाहिये। व्यञ्जितके विषयमें भी लवणसमुद्रसे सिद्ध सबसे अल्प हैं, उनसे संख्यातगुणे कालोदसमुद्रसे सिद्ध हैं। कालोदसिद्धोंसे संख्यातगुणे जम्बूद्वीपसिद्ध और जम्बूद्वीपसिद्धोंसे संख्यातगुणे धातकीखण्डसे सिद्ध होनेवाले हैं, और धातकीखण्डसिद्धोंसे संख्यातगुणे पुष्करार्धसिद्ध हैं। इस प्रकार क्षेत्रविभागकी अपेक्षासे क्षेत्रसिद्धोंका अल्पबहुत्व—संख्याकृत तारतम्य समझना चाहिये।

क्षेत्रसिद्धोंके अनन्तर क्रमानुसार कालसिद्धोंके अल्पबहुत्वको बतानेकेलिये भाष्यकार कहते हैं।—

भाष्यम्—काल—इति त्रिविधो विभागो भवति।—अवसर्पिणी उत्सर्पिणी अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीति। अत्र सिद्धानां व्यञ्जिताव्यञ्जितविशेषयुक्तोऽल्पबहुत्वानुगमः कर्तव्यः। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः, अवसर्पिणीसिद्धा विशेषाधिका अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणा इति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्याकाले सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्॥

गति·।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सिद्धिगतौ सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तरपश्चात्कृतिकस्य मनुष्यगतौ सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। परम्परपश्चात्कृतिकस्यानन्तरा गतिश्चिन्त्यते। तद्यथा।—सर्वस्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धा मनुष्येभ्योऽनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणा·। नारकेभ्योऽनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणा देवेभ्योऽनन्तरगतिसिद्धा· संख्येयगुणा इति॥

अर्थ—कालका विभाग तीन प्रकारका हो सकता है।—अवर्पिणी उत्सर्पिणी और अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी। जिसमें आयु काय बल वीर्य बुद्धि आदिका उत्तरोत्तर ह्रास होता जाय, उसको

अवसर्पिणी कहते हैं, और जिसमें इन विषयोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाय, उसको उत्सर्पिणी कहते हैं। तथा जिसमें हानि वृद्धि कुछ भी न हो—तदवस्थता—जैसेका तैसा रहे, उसको अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी कहते है। इन तीनों ही कालोंमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका अल्पबहुत्व व्यञ्जित और अव्यञ्जित इन विशेष भेदोंकी अपेक्षासे समझना चाहिये। पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी कालमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका प्रमाण सबसे अल्प है। अवसर्पिणीकालमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका प्रमाण उत्सर्पिणीसिद्धोंसे कुछ अधिक है। किन्तु अनवसर्पिण्युत्सर्पिणी कालमें जो सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण अवसर्पिणीसिद्धोंसे संख्यातगुणा है। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे यदि विचार किया जाय, तो अकालमें सिद्धि होती है। किसी भी कालमें सिद्धि हुई नहीं कही जा सकती। अतएव इस विषयमें अल्प बहुत्व भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार काल अनुयोगकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व समझना चाहिये।

गति अनुयोगकी अपेक्षासे मुक्ति—लाभ करनेवालोंका अल्प बहुत्व इस प्रकार कहा जा सकता है।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा लेनेपर तो किसी गतिसे सिद्धि होती ही नहीं, सिद्धिगतिसे ही सिद्धि कही जासकती है। अतएव इस विषयमें अल्पबहुत्व भी नहीं हो सकता। पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षासे जो अनन्तरपश्चात्कृतिक हैं, वे मनुष्यगतिसे ही सिद्ध कहे जासकते है। अतएव इनका भी अल्पबहुत्व नहीं कहा जासकता। जो परम्परपश्चात्कृतिक हैं।—चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिसे आकर मनुष्यपर्यायको धारणकर जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, ऐसे मुक्तात्माओंका अल्पबहुत्व अनन्तरगति—मनुष्यगतिसे पूर्वगतिकी अपेक्षा कहा जासकता है। वह चार गतियोंकी अपेक्षा चार प्रकारका होसकता है। क्योंकि मनुष्यपर्यायको चारों गतिके जीव धारण कर सकते हैं। इनका अल्पबहुत्व इस प्रकार है।—तिर्यग्योनिसे मनुष्यगतिमें आकर जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, उनका प्रमाण सबसे कम है। इनसे संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जो कि मनुष्यगतिसे ही मनुष्यपर्यायमें आकर सिद्ध हुए हैं। इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उन सिद्ध-जीवोंका है, जो कि नरकगतिसे मनुष्य होकर सिद्ध हुए हैं। तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उन सिद्धोंका है, जो कि देवगतिसे मनुष्यगतिमें आकर मुक्त हुए हैं।

भाष्यम्—लिङ्गम् ।—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य व्यपगतवेदः सिध्यति । नास्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका नपुंसकलिङ्गसिद्धाः स्त्रीलिङ्गसिद्धाः संख्येयगुणाः पुल्लिङ्गसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

तीर्थम् ।—सर्वस्तोकाः तीर्थकरसिद्धाः तीर्थकरतीर्थे नोतीर्थकरसिद्धाः संख्येयगुणा इति । तीर्थकरतीर्थसिद्धा नपुंसकाः संख्येयगुणाः । तीर्थकरतीर्थसिद्धाः स्त्रियः संख्येयगुणाः तीर्थकरतीर्थसिद्धाः पुमांसः संख्येयगुणा इति ।

अर्थ—लिङ्गकी अपेक्षा सिद्ध जीवोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा जो सिद्ध होते हैं, वे वेद रहित ही होते हैं, अतएव लिङ्गकी अपेक्षा

उनका अल्पबहुत्व नहीं कहा जा सकता। पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा न्यूनाधिकताका वर्णन किया जा सकता है। इसमें जिन्होंने नपुंसकलिङ्गसे सिद्धि प्राप्त की है, उनका प्रमाण सब से कम है। जिन्होंने स्त्रीलिङ्गसे सिद्धि-लाभ किया है, उनका प्रमाण नपुंकलिङ्गसिद्धोंमे संख्यातगुणा है। स्त्रीलिङ्गसिद्धोंसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जिन्होंने पुल्लिङ्गसे सिद्धि प्राप्त की है।

तीर्थ अनुयोगमें अल्प बहुत्वका प्रमाण इस प्रकार माना गया है, कि जो तीर्थंकर-सिद्ध हैं, वे सबसे थोड़े हैं। किन्तु उनसे संख्यातगुणा प्रमाण तीर्थंकरके तीर्थमें नोतीर्थंकर सिद्धोंका है। तीर्थंकरतीर्थसिद्धोंमें जो नपुंसकलिङ्गसे सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण नोतीर्थंकर-सिद्धोंसे संख्यातगुण है। इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उन तीर्थंकर तीर्थसिद्धोंका है। जो स्त्रीलिङ्गसे सिद्ध हुए हैं। तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण पुल्लिङ्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले तीर्थंकरतीर्थसिद्धोंका है।

भाष्यम्—चारित्रम्-अत्रापि नयौ द्वौ प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयश्च पूर्वभावप्रज्ञापनीयश्च। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य नोचारित्री नोअचारित्री सिध्यति। नास्त्यल्पबहुत्वम्। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य व्यञ्जिते चाव्यञ्जिते च। अव्यञ्जिते सर्वस्तोकाः पञ्चचारित्रसिद्धाश्चतुश्चारित्रसिद्धाः संख्येयगुणास्त्रिचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः। व्यञ्जिते सर्वस्तोकाः सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रसिद्धाःछेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायचथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकपरिहाराविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातसिद्धाः संख्येयगुणाः, सामायिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः। छेदोपस्थाप्यसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातचारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः।

अर्थ—चारित्र अनुयोगसे सिद्धोंके अल्पबहुत्वका वर्णन करना हो, तो इस विषयमें भी दो नय प्रवृत्त हुआ करते हैं।—एक प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीय और दूसरी पूर्वभावप्रज्ञापनीय। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा न चारित्रके द्वारा सिद्धि होती है, और न अचारित्रके द्वारा। अतएव इस विषयमें अल्पबहुत्व भी नहीं हो सकता। पूर्वभावप्रज्ञापनीयमें व्यञ्जित और अव्यञ्जित इस तरह दो विकल्प हो सकते है। इनमेंसे अव्यञ्जितकी विवक्षा होनेपर जो पञ्चचारित्रसिद्ध है, उनका प्रमाण सबसे अल्प है, और चतुश्चारित्रसिद्धोंका प्रमाण उनसे संख्यातगुणा है। तथा उनसे भी संख्यातगुणा त्रिचारित्रसिद्धोंका प्रमाण है। इसी प्रकार व्यञ्जितकी अपेक्षा लेनेपर जो सामायिकसंयम छेदोपस्थाप्यसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध है, उनका प्रमाण सबसे कम है। इनसे संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि छेदोपस्थाप्यचारित्र परिहारविशुद्धिचारित्र सूक्ष्मसंपरायचारित्र और यथाख्यातचारित्रके द्वारा सिद्ध हुए हैं, और इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका समझना चाहिये, जोकि सामायिकचारित्र छेदोपस्थाप्यचारित्र सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्रके द्वारा

सिद्ध हुआ करते हैं । तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि सामायिकसंयम परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपरायसंयम और यथाख्यातसंयमके द्वारा सिद्ध हैं। और जो सामायिक सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र द्वारा सिद्ध हैं, उनका प्रमाण उनसे भी संख्यातगुणा हैं, और उनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि छेदोपस्थाप्य सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्रके द्वारा सिद्ध हैं। इसप्रकार चारित्रके द्वारा सिद्ध-जीवोंका अल्पबहुत्व समझना चाहिये ।

भाष्यम्—प्रत्येकबुद्धबोधितः—सर्वस्तोकाः प्रत्येकबुद्धसिद्धाः । बुद्धबोधितसिद्धाः नपुंसकाः संख्येयगुणाः । बुद्धबोधितसिद्धाः स्त्रियः संख्येयगुणाः । बुद्धबोधितसिद्धाः पुमान्सः सङ्ख्येयगुणा इति ।

ज्ञानम्—कः केन ज्ञानेन युक्तः सिध्यति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वः केवली सिध्यति । नस्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका द्विज्ञानसिद्धाः । चतुर्ज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । त्रिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । एवं तावदव्यञ्जिते व्यञ्जितेऽपि सर्वस्तोका मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः । मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

अर्थ—प्रत्येकबुद्धसिद्ध और बोधितबुद्धसिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये ।—जो प्रत्येकबुद्धसिद्ध हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। बोधितबुद्धसिद्धोंमें जो नपुंसकलिङ्गसे सिद्ध कहे जासकते हैं, उनका प्रमाण प्रत्येकबुद्धसिद्धोंसे संख्यातगुणा है, और उनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका समझना चाहिये, जोकि बोधितबुद्धसिद्धोंमें स्त्रीलिङ्गसिद्ध कहे जा सकते है। तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण जो बोधितबुद्धसिद्ध पुल्लिङ्ग हैं, उनका समझना चाहिये ।

ज्ञान अनुयोगकी अपेक्षा सिद्धोंका अल्पबहुत्व समझनेके लिये यह जिज्ञासा हो सकती है, कि किस किस ज्ञानसे युक्त कौन कौन सिद्धि-प्राप्त कर सकता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयकी अपेक्षा जो सिद्धि-प्राप्त हैं, वे सब केवली ही है, और केवलज्ञानके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त किया करते है। अतएव इस अपेक्षामें अल्पबहुत्वका वर्णन नहीं हो सकता। पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयकी अपेक्षा दो ज्ञानोसे सिद्ध हुए जीवोंका प्रमाण सबसे अल्प है । इससे संख्यातगुणा प्रमाण चतुर्ज्ञानसिद्धोंका है, और चतुर्ज्ञानसिद्धोंसे भी संख्यातगुणा प्रमाण त्रिज्ञानसिद्धोंका है। इस प्रकार अव्यञ्जितके विषयमें समझना चाहिये, और व्यञ्जितके विषयमें भी जो मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके द्वारा सिद्ध है, उनका प्रमाण सबसे कम है, ऐसा समझना, और जो मतिश्रुत अवधि और मनःपर्यायज्ञानके द्वारा सिद्ध हुए है, उनका प्रमाण उनमे संख्यातगुणा है। तथा इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानपूर्वक सिद्ध हुए है ।

भाष्यम्–अवगाहना–सर्वस्तोका जघन्यावगाहनासिद्धाः उत्कृष्टावगाहनासिद्धास्ततोऽसंख्येयगुणाः यवमध्यसिद्धा असंख्येयगुणाः यवमध्योपरिसिद्धा असंख्येयगुणाः यवमध्याधस्तात्सिद्धा विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अन्तरम् ।—सर्वस्तोका अष्टसमयानन्तरसिद्धाः सप्तसमयानन्तरसिद्धाः षट्समयानन्तरसिद्धाः इत्येवं यावद्द्विसमयानन्तरसिद्धा इति सङ्ख्येयगुणाः। एवं तावदनन्तरेषु। सान्तरेष्वपि सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः अधस्ताद्यवमध्यान्तरसिद्धा असंख्येयगुणाः उपरियवमध्यान्तरसिद्धा विशेषाधिकाः सर्वे विशेषाधिकाः ॥

अर्थ—शरीरकी अवगाहनाकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार है।—अवगाहनाके जघन्य उत्कृष्ट प्रमाणको ऊपर बता चुके हैं। उसमेंसे जो जघन्य अवगाहनाके द्वारा सिद्ध हुए हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। उससे असंख्यातगुणा प्रमाण उत्कृष्ट अवगाहनाके द्वारा सिद्ध हुए जीवोंका है, और इससे भी असंख्यातगुणा प्रमाण उन जीवोंका है, जोकि यव-रचनाके मध्यमें दिखाई गई अवगाहनाके द्वारा सिद्ध है। तथा इनसे भी असंख्यातगुणा प्रमाण उनका है, जोकि यव-रचनामें मध्य भागसे ऊपरकी तरफ दिखाई गई अवगाहनाके द्वारा सिद्ध है। एवं जो यव-रचनामें मध्य भागसे नीचेकी तरफ अवगाहना दिखाई है, उससे सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण यव-मध्योपरिसिद्धोंके प्रमाणसे कुछ अधिक है। तथा सभी प्रमाणोंमें विशेषाधिकता–कुछ अधिकता समझनी चाहिये। इस प्रकार अवगाहना अनुयोगकी अपेक्षा सिद्धोंके प्रमाणको न्यूनाधिक कहकर उनकी विशेषताका वर्णन किया जा सकता है।

अन्तरकी अपेक्षासे अल्पबहुत्व इस प्रकार है।—अनन्तर–सिद्धोंमेंसे जो आठ समयके अनन्तरसिद्ध होनेवाले हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। इनसे संख्यातगुणा प्रमाण सात समयके अनन्तरसिद्धोंका है, और उनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण षट्समयानन्तरसिद्धोंका है और उनसे संख्यातगुणा प्रमाण पञ्चसमयानन्तरसिद्धोंका है। इसी प्रकार क्रमसे द्विसमयानन्तर सिद्धोंतक संख्यातगुणा संख्यातगुणा प्रमाण समझना चाहिये। इस प्रकार अनन्तरों–निरन्तरसिद्धोंके विषयमें समझना चाहिये। सान्तरसिद्धोंके विषयमें भी जो छह महीनाके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले हैं, उनका प्रमाण सबसे कम है। इनसे संख्यातगुणा प्रमाण एक समयके अन्तरसे सिद्ध होनेवालों का है। इनसे भी संख्यातगुणा प्रमाण यव-रचनाके मध्यमें दिखाये गये अन्तरसे सिद्ध होनेवालों का है। इनसे असंख्यातगुणा प्रमाण यवरचनाके मध्यसे नीचेकी तरफ दिखाये गये अन्तरसे सिद्ध होनेवालोंका है, और इससे कुछ अधिक प्रमाण यव-रचनाके मध्यभागसे ऊपरकी तरफ दिखाये गये अन्तरसे सिद्ध होनेवालोंका है। तथा सब भेदोंमें कुछ अधिकताका प्रमाण समझ लेना चाहिये।

भाष्यम् ।—संख्या ।—सर्वस्तोका अष्टोत्तरशतसिद्धाः विपरीतक्रमात्सप्तोत्तरशतसिद्धादयो यावत्पञ्चाशत् इत्यनन्तगुणाः। एकोनपञ्चाशदादयो यावत्पञ्चविंशतिरित्यसंख्येयगुणाः

चतुर्विंशत्यादयो यावदेक इति संख्येयगुणा. । विपरीतहानिर्यथा । सर्वस्तोकाः अनन्तगुणहानिसिद्धाः असंख्येयगुणहानिसिद्धा अनन्तगुणाः संख्येयगुणहानिसिद्धाः संख्येयगुणा इति ॥

अर्थ—संख्या अनुयोगकी अपेक्षासे सिद्धोंका अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये, कि सिद्धजीवोंमें सबसे अल्पप्रमाण उनका समझना चाहिये, जोकि एकसौ आठकी संख्यामें सिद्ध हुए हैं । इसके अनन्तर विपरीत क्रमसे पचास तक अनन्तगुणा अनन्तगुणा प्रमाण समझना चाहिये, अर्थात् एकसौ आठकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ सातकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका है, और एकसौ सातकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ छहकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका है । तथा एकसौ छहकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंके प्रमाणसे अनन्तगुणा प्रमाण एकसौ पाँचकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका है । इसी क्रमसे पचासकी संख्यामें सिद्ध होनेवालों तक अनन्तगुणा अनन्तगुणा प्रमाण समझना चाहिये । पचाससे आगे पच्चीस तक असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा प्रमाण है । अर्थात् पचासकी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंकी अपेक्षा उनंचासकी संख्यामें सिद्ध होनेवाले असंख्यातगुणे हैं । उनंचासकी संख्यासे सिद्धोंकी अपेक्षा अड़तालीसकी संख्यामें सिद्ध होनेवाले असंख्यातगुणे है । इसी प्रकार विपरीत क्रमसे २५ तककी संख्यासे सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा माना है। इससे आगे चौबीससे लेकर एक तककी संख्यामें सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण विपरीत क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा है । यह उत्तरोत्तर बहुत्वको बतानेवाला क्रम है । हानिको बतानेवाला क्रम इससे विपरीत हुआ करता है । यथा ।—अनन्त गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका प्रमाण सबसे अल्प है, और उससे अनन्तगुणा प्रमाण असंख्यात गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका है । तथा उससे संख्यातगुणा प्रमाण संख्यात गुणहानिसे सिद्ध होनेवालोंका है ।

भाष्यम्—एवं निसर्गाधिगमयोरन्यतरजं तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं शङ्काद्यतिचारवियुक्तं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं विशुद्धं सम्यग्दर्शनमवाप्य सम्यग्दर्शनोपलम्भाद्विशुद्धं च ज्ञानमधिगम्य निक्षेपप्रमाणनयनिर्देशसत्संख्यादिभिरभ्युपायैर्जीवादीनां तत्त्वानां पारिणामिकौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकानां भावानां स्वतत्त्वं विदित्वादिमत्पारिणामिकौदयिकानां च भावानामुत्पत्तिस्थित्यन्यतानुग्रहप्रलयतत्त्वज्ञो विरक्तो निस्तृष्णस्त्रिगुप्तः पञ्चसमितो दशलक्षणधर्मानुष्ठानात्फलदर्शनाच्च निर्वाणप्राप्तियतनयाभिवर्धितश्रद्धासंवेगो भावनाभिर्भावितात्मानुप्रेक्षाभिः स्थिरीकृतात्मानभिष्वङ्गः संवृतत्वान्निराश्रवत्वाद्विरक्तत्वान्निस्तृष्णत्वाच्च व्यपगताभिनवकर्मोपचयः परीषहजयाद्बाह्याभ्यन्तरतपोनुष्ठानदनुभावतश्च सम्यग्दृष्टि विरतादीनां च जिनपर्यन्तानां परिणामाध्यवसायविशुद्धिस्थानान्तराणामसंख्येयगुणोत्कर्षप्राप्त्या पूर्वोपचितकर्म निर्जरयन् सामायिकादीनां च सूक्ष्मसम्परायान्तानां संयमविशुद्धिस्थानानामुत्तरोत्तरोपलम्भात्पुलाकादीनां च निर्ग्रन्थानां संयमानुपालनविशुद्धिस्थानविशेषाणामुत्तरोत्तरप्रतिपत्त्या घटमानोऽत्यन्तप्रहीणार्तरौद्रध्यानो धर्मध्यानविजयादवाप्तसमाधिबलः शुक्लध्यानयोश्च पृथक्त्वैकत्ववितर्कयोरन्यतरस्मिन्वर्तमानो नानाविधानृद्धिविशेषान्प्राप्नोति । तद्यथा ।—

अर्थ—इस प्रकार दश अध्यायोंमें सात तत्त्वोंका वर्णन पूर्ण हुआ। मोक्ष–मार्गका वर्णन करते हुए पहले अध्यायमें सबसे प्रथम जो सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताया है, मुमुक्षुओंको सबसे पहले उसीको धारण करना चाहिये। निसर्ग अथवा अधिगम दोनोंमेंसे किसी भी हेतुसे उत्पन्न होनेवाले तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप और शंका आदि अतीचारोंसे रहित तथा प्रशम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य इन लक्षणोंसे युक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये। सम्यग्दर्शनके साहचर्यसे ज्ञान विशुद्ध हुआ करता है। अतएव मोक्ष-मार्गके विषयमें तथा जीवाजीवादिक तत्त्वोंके विषयमें संशय विपर्यय अनध्यवसायरूप समारोपसे रहित निर्मल–निर्दोष ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये। तथा निक्षेप प्रमाण नय निर्देश और सत् संख्या आदि उपायोंके द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका और पारणामिक औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भावोंके स्वतत्त्वका स्वरूप जानना चाहिये। आदिमान्–उत्पत्तिशील पारणामिक और औदयिक भावोंके उत्पत्ति स्थिति और अन्यताका है, अनुग्रह जिसपर ऐसे प्रलयतत्त्व–विनाशस्वरूपको जानना चाहिये। इसप्रकार जो मुमुक्षु सम्यग्दर्शन ज्ञान और स्वतत्त्वके ज्ञानको धारण करके उत्पत्ति विनाशस्वभाव तत्त्वको समझकर पर पदार्थमात्रसे विरक्त हो जाता है–राग भावको छोड़ देता है, तथा तृष्णा–उत्तरोत्तर अधिकाधिक विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे रहित हो जाता है, तीन गुप्ति और पाँच समितियोंका पालन करता है। उपर्युक्त उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदि दशलक्षणधर्मोके अनुष्ठान और फलदर्शनसे तथा निर्वाण–प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नके द्वारा जिसकी श्रद्धा और संवेग वृद्धिगत हो चुका है। मैत्री आदि भावनाओंके द्वारा जिसकी आत्मा प्रशस्त बन चुकी है, और अनित्यादिक उक्त बारह अनुप्रेक्षाओंके द्वारा जिसकी आत्मा मोक्ष–मार्गमें स्थिर हो चुकी है। जो आसक्ति–संग–परिग्रहसे सर्वथा रहित बन चुका है। संवरके कारणोंसे युक्त और आस्रवके कारणोंसे रहित होनेके कारण तथा विरक्त और तृष्णासे रहित होनेके कारण जिसके नवीन कर्मोका आना रुक गया है। पूर्वोक्त बाईस परीषहोंके जीतनेसे और उक्त बाह्य आभ्यन्तर बारह तरहके तपोंका पालन करनेसे तथा अनुभाव विशेषके द्वारा सम्यग्दृष्टिविरत–छट्ठे गुणस्थानसे लेकर जिनपर्यन्त जो निर्जराके स्थान बताये हैं, उनके परिणामाध्यवसायरूप स्थानान्तरोंकी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी उत्कर्षताकी प्राप्ति हो जानेपर पूर्व कालके संग्रहीत–बँधे हुए कर्मोकी निर्जरा करते हुए, संयमविशुद्धिके स्थानरूप जो सामायिकसे लेकर सूक्ष्मसंपराय पर्यन्त चारित्रके भेद गिनाये हैं, उनको उत्तरोत्तर पालते या धारण करते हुए संयमानुपालनसे होनेवाली विशुद्धिके स्थान विशेष पुलाक आदि निर्ग्रंथ–पदोंको धारण कर उत्तरोत्तर प्रतिपत्तिके द्वारा उन स्थानविशेषोंके पालनका अभ्यास करते हुए, जिसने

१–निसर्गादिक और प्रशमादिकका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। २–क्योंकि अभाव तुच्छ नहीं है। उत्पत्ति आदिकी अपेक्षा रखनेवाला है।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानको सर्वथा नष्ट कर दिया है, और धर्मध्यानपर भी विजय प्राप्त करके समाधिके बलको सिद्ध कर लिया है। वह जीव पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्क इन आदिके दो शुक्लध्यानोंमेंसे किसी भी एकमें स्थित रहकर नाना प्रकारके ऋद्धि विशेषोंको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—ग्रन्थके अन्तमें उक्त कथनका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते है, कि जो भव्य इस ग्रन्थमें बताये गये मोक्ष–मार्गका अभ्यास करता है–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तपका पालन करते हुए कर्मोंकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्जरा करते हुए विशुद्धिके उत्तरोत्तर स्थानोंको पाते हुए धर्मध्यान और समाधिको सिद्ध कर शुक्लध्यानके पहले दो भेदोंको धारण करता है, वह जबतक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, तबतक अनेक ऋद्धियोंका पात्र बन जाता है। वे ऋद्धियाँ कौन कौन सी हैं, और उनका क्या स्वरूप है, सो स्वयं भाष्यकार[1] आगे बताते हैं।—

भाष्यम्—आमर्शौषधित्वं विप्रुडौषधित्वं सर्वौषधित्वं शापानुग्रहसामर्थ्यजननीमभिव्याहारसिद्धिमीशित्वं वशित्वमवधिज्ञानं शारीरविकरणाङ्गप्राप्तितामणिमानं लघिमानं महिमानमणुत्वम् अणिमा बिसच्छिद्रमपि प्रविश्यासीतां। लघुत्वं नाम लघिमा वायोरपि लघुतरः स्यात्। महत्त्वं महिमा मेरोरपि महत्तरं शरीरं विकुर्वित। प्राप्तिर्भूमिष्ठोऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरभास्करादीनपि स्पृशेत्। प्राकाम्यमप्सु भूमाविव गच्छेत् भूमावप्स्विव निमज्जेदुन्मज्जेच्च। जङ्घाचारणत्वं येनाग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कटतन्तुज्योतिष्करश्मिवायूनामन्यतममप्युदाय वियति गच्छेत्। वियद्गतिचारणत्वं येन वियति भूमाविव गच्छेत् शकुनिवच्च प्रडीनावडीनगमनानि कुर्यात्। अप्रतिघातित्वं पर्वतमध्येन वियतीव गच्छेत्। अन्तर्धानमदृश्यो भवेत्। कामरूपित्वं नानाश्रयानेकरूपधारणं युगपदपि कुर्यात् तेजोनिसर्गसामर्थ्यमित्येतदादि। इति इन्द्रियेषु मतिज्ञानविशुद्धिविशेषाद्दूरात्स्पार्शनास्वादनघ्राणदर्शनश्रवणानि विषयाणां कुर्यात्। संभिन्नज्ञानत्वं युगपदनेकविषयपरिज्ञानमित्येतदादि। मानसं कोष्ठबुद्धित्वं बीजबुद्धित्वं पदप्रकरणोद्देशाध्यायप्राभृतवस्तुपूर्वाङ्गानुसारित्वमृजुमतित्वं विपुलमतित्वं परचित्तज्ञानमभिलषितार्थप्राप्तिमनिष्टानवाप्तीत्येतदादि। वाचिकं क्षीरस्रवित्वं मध्वास्रवित्वं वादित्वं सर्वरुतज्ञत्वं सर्वसत्त्वावबोधनमित्येतदादि। तथा विद्याधरत्वमाशीविषत्वं भिन्नाभिन्नाक्षरचतुर्दशपूर्वधरत्वमिति॥

अर्थ—आमर्शौषधित्व, विप्रुडौषधित्व, सर्वौषधित्व, शाप और अनुग्रहकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाली वचनसिद्धि, ईशित्व, वशित्व, अवधिज्ञान, शारीरविकरण, अङ्गप्राप्तिता, अणिमा, लघिमा, और महिमा। ये सब ऋद्धियाँ हैं, जिनको कि उक्त मोक्ष–मार्गका साधक प्राप्त हुआ करता है।

---

१ सूत्रकारने ऋद्धियोंका वर्णन नहीं किया है। क्योंकि मोक्षकी सिद्धिमें उनका कोई खास सम्बन्ध आवश्यक नहीं है।

अणिमा शब्दका अर्थ अणुत्व है अर्थात् छोटापन। इस ऋद्धिके द्वारा अपने शरीरको इतना छोटा बनाया जा सकता है। कि वह कमल–तन्तुके छिद्रमें भी प्रवेश करके स्थित हो सकता है। **लघिमा** शब्दका अर्थ लघुत्व है अर्थात् हल्कापन। इसके सामर्थ्यसे शरीरको वायुसे भी हलका बनाया जा सकता है, **महिमा** शब्दका अर्थ महत्व–अर्थात् भारीपन अथवा बड़ा-पन है। जिसके सामर्थ्यसे शरीरको मेरु पर्वतसे भी बड़ा किया जा सके, उसको महिमा–ऋद्धि कहते हैं। प्राप्ति नाम स्पर्श संयोगका है, जिसके कि द्वारा दूरवर्ती पदार्थका भी स्पर्श किया जा सकता है। इस ऋद्धिके बलसे भूमिपर बैठा हुआ ही साधु अपनी अंगुलीके अग्रभागसे मेरुपर्वतकी शिखरका अथवा सूर्य–विम्बका स्पर्श कर सकता है। इच्छानुसार चाहे जिस तरह भूमि या जलपर चलनेकी सामर्थ्य विशेषको **प्राकाम्यऋद्धि** कहते हैं। इसके सामर्थ्यसे पृथिवीपर जलकी तरह चल सकता है, जिस प्रकार जलमें मनुष्य तैरता है, उसी प्रकार पृथिवीपर भी तैर सकता है और निमज्जनोन्मज्जन भी कर सकता है। जिस प्रकार जलमें डुबकी लगाते हैं, या उतराने लगते हैं, उसी प्रकार पृथिवीपर भी जलकीसी समस्त क्रियाएं इस ऋद्धिके सामर्थ्यसे की जा सकती हैं। तथा जलमें पृथिवीकी चेष्टा की जा सकती है––जिस प्रकार पृथिवीपर पैरोंसे डग भरते हुए चलते हैं, उसी प्रकार इसके निमित्तसे जलमें भी चल सकते हैं। अग्निकी शिखा–ज्वाला धूम नीहार–तुषार और अवश्याय मेघ जलधारा मकड़ीका तन्तु सूर्य आदि ज्योतिष्क विमानोंकी किरणें तथा वायु आदिमेंसे किसी भी वस्तुका अवलम्बन लेकर आकाशमें चलनेकी सामर्थ्यको **जंघाचारणऋद्धि** कहते हैं। आकाशमें पृथिवीके समान चलनेकी सामर्थ्यको **आकाशगतिचारणऋद्धि** कहते है। इसके निमित्तसे मुनिजन भी जिस प्रकार आकाशमें पक्षी उड़ा करते है, और कभी ऊपर चढ़ते कभी नीचेकी तरफ उतरते है, उसी प्रकार विना किसी प्रकारके अवलम्बनके आकाशमें गमनागमन आदि क्रियाएं कर सकते हैं। जिस प्रकार आकाशमें गमन करते हैं, उसी प्रकार विना किसी तरहके प्रतिबन्धके पर्वतके बीचमें होकर भी गमन करनेकी सामर्थ्य जिससे प्रकट हो जाय–उसको **अप्रतिघातीऋद्धि** कहते है। अदृश्य हो जानेकी शक्ति जिससे कि चर्म-चक्षुओंके द्वारा किसीको दिखाई न पड़े ऐसी सामर्थ्य जिससे प्रकट हो उसको **अन्तर्धानऋद्धि** कहते हैं। नाना प्रकारके अवलम्बनभेदके अनुसार अनेक तरहके रूप धारण करनेकी सामर्थ्य विशेषको **कामरूपिताऋद्धि** कहते है। इसके निमित्तसे भिन्न भिन्न समयोंमें भी अनेक रूप रक्खे जा सकते है, और एक कालमें एक साथ भी नानारूप धारण किये जा सकते है। जिस प्रकार तैजस पुतलाका निर्गमन होता है, उसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। दूरसे ही इन्द्रियोंके विषयोंका स्पर्शन आस्वादन घ्राण दर्शन और श्रवण कर सकनेकी सामर्थ्य विशेषको **दूरश्रावीऋद्धि** कहते है। क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मके विशिष्ट क्षयोपशम होजानेसे मतिज्ञानकी विशुद्धिमें जो विशेषता उत्पन्न होती

है, उसके द्वारा इस ऋद्धिका धारक इन विषयोंका दूरसे ही ग्रहण कर सकता है। युगपत्—एक साथ अनेक विषयोंके परिज्ञान—जान लेने आदिकी शक्ति विशेषको **संभिन्नज्ञानऋद्धि** कहते हैं। इसी प्रकार मानसज्ञानकी ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती हैं। यथा।—कोष्ठबुद्धित्व बीजबुद्धित्व और पद प्रकरण उद्देश अध्याय प्राभृत वस्तु पूर्व और अङ्गकी अनुगामिता ऋजुमतित्व विपुलमतित्व परचित्तज्ञान (दूसरेके मनका अभिप्राय जान लेना) अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति होना, और अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति न होना, इत्यादि अनेक ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती है। इसी प्रकार वाचिकऋद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। यथा—क्षीरास्रावित्व, मध्वास्रावित्व, वादित्व, सर्वरुतज्ञत्व और सर्वसत्वावबोधन इत्यादि। इनका तात्पर्य यह है, कि जिसके सामर्थ्यसे सदा[1] ऐसे वचन निकलें, जोकि सुननेवालेको दूधके समान मधुर-मालूम पड़ें, उसको **क्षीरास्रवी** और यदि ऐसा जान पड़े मानों शहद झड़ रहा है, तो **मध्वास्रवऋद्धि** कहते है। हर तरहके वादियोंको शास्त्रार्थमें परास्त करनेकी सामर्थ्य विशेषका नाम वादित्वऋद्धि है। प्राणिमात्रके शब्दोंको समझ सकनेकी शक्ति विशेषका नाम सर्वरुतज्ञत्व तथा सभी जीवोंको बोध करानेकी—समझानेकी जिसमें सामर्थ्य पाई जाय, उसको **सर्वसत्वावबोधन** कहते है। इसी प्रकार और भी वाचिकऋद्धियाँ समझनी चाहिये, जोकि वचनकी शक्तिको प्रकट करनेवाली हैं। तथा इनके सिवाय विद्याधरत्व, आशीविषत्व, भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर[2] इस तरह दोनों ही तरहकी चतुर्दशपूर्वधरत्व भी ऋद्धियाँ प्राप्त हुआ करती हैं।

भाष्यम्—ततोऽस्य निस्तृष्णत्वात्तेष्वनभिष्वक्तस्य मोहक्षपकपरिणामावस्थस्याष्टाविंशतिविधं मोहनीयं निरवशेषतः प्रहीयते। ततश्छद्मस्थवीतरागत्वं प्राप्तस्यान्तर्मुहूर्तेन ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणि युगपदशेषतः प्रहीयन्ते। ततः संसारबीजबन्धनिर्मुक्तः फलबन्धनमोक्षापेक्षो यथाख्यातसंयतो जिनः केवली सर्वज्ञः सर्वदर्शी शुद्धो बुद्धः कृतकृत्यः स्नातको भवति। ततो वेदनीयनामगोत्रायुष्कक्षयात्फलबन्धननिर्मुक्तो निर्दग्धपूर्वोपात्तेन्धनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभववियोगाद्धेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावाच्छान्तः संसारसुखमतीत्यात्यन्तिकमैकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं नित्यं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति ॥

अर्थ—उपर्युक्त ऋद्धियोंके प्राप्त होजानेपर भी तृष्णा रहित होनेके कारण उन ऋद्धियोंमें जो आसक्ति या मूर्छासे सर्वथा रहित रहता है, तथा मोहनीयकर्मका क्षपण करनेवाले परिणामोंसे जो युक्त रहता है, उस जीवके पूर्वोक्त मोहनीयकर्मके अट्ठाईसों भेदरूप कर्मोंका—

१—यहाँपर इन ऋद्धियोंका अर्थ वचनपरक किया गया है। किन्तु दिगम्बर-सम्प्रदायमें इनका अर्थ इस प्रकारका है, कि जिसके सामर्थ्यसे शाकपिंडका भी भोजन दुग्धरूप परिणमन करे—दूधके समान गुण दिखावे, उसको क्षीरस्रावीऋद्धि कहते हैं। इसी प्रकार सर्पिःस्रावी अमृतस्रावी मधुस्रावी आदिका भी अर्थ समझना चाहिये।

२ केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंमें एकट्ठाहि एक अधिका भाग देनेसे अक्षरका प्रमाण निकलता है चौदहपूर्वके ज्ञानमें एकाध अक्षरप्रमाण ज्ञान कम हो, तो भिन्नाक्षर और एक भी अक्षर कम न हो, तो अभिन्नाक्षर कहा जाता है।

सम्पूर्ण मोहनीयकर्मका सामस्त्येन अभाव हो जाता है। मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव होजाने-पर उस जीवको छद्मस्थवीतराग अवस्था प्राप्त हुआ करती है, जिसके कि प्राप्त होनेपर उस जीवके एक अन्तर्मूहूर्त कालके भीतर ही ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों ही घाति-कर्म पूर्णरूपसे एक साथ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चार कर्मोंके नष्ट होजानेपर यह जीव संसा-रके बीजरूप कर्म-बन्धसे सर्वथा रहित होजाता है। किंतु जिसका फल भोगना बाकी है, ऐसे बन्धन-अघाति कर्मोंके मोक्ष—छूटनेकी अपेक्षा रखनेवाला और यथाख्यात संयमसे युक्त वह जीव स्नातक कहा जाता है। उसको जिन केवली सर्वज्ञ सर्वदर्शी शुद्ध बुद्ध और कृतकृत्य कहते हैं। इसके अनन्तर इन फलबन्धनरूप चार अघातिकर्म—वेदनीय नाम गोत्र और आयुष्कका भी क्षय हो जाता है, जिससे कि वह इनसे भी मुक्त हो जाता है। जिससे कि पूर्वके संचित कर्मरूपी ईंधनके दग्ध हो जानेपर जिस प्रकार विना उपादान—ईंधन रहित अग्नि स्वयं शांत हो जाती है—बुझ जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी पूर्वके उपात्त—गृहीत भवका वियोग हो जानेपर—संसारके छूट जानेपर तथा नवीन भवके धारण करनेका हेतु न रहनेके कारण उत्तर भव प्राप्त न होनेसे शांत हो जाता है। संसार—सुखका अतिक्रमण—उल्लंघन करके आत्यंतिक—अनन्त, ऐकान्तिक—जिसमें रंचमात्र भी दुःखका संपर्क नहीं पाया जाता, अथवा जिसका एक भी अंश असुखरूप नहीं है, तथा निरुपम—जिसकी किसी भी संसारिक वस्तुसे तुलना नहीं की जा सकती, निरतिशय—हीनाधिक-ताके धारण करनेसे रहित और नित्य—सदा अपरिणामी निर्वाण—सुखको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—यहाँपर बारहवें गुणस्थानसे लेकर निर्वाण प्राप्तितककी अवस्थाका संक्षेपसे क्रम बताया है। ऋद्धियोंका वर्णन करके इस क्रमके वर्णन करनेका हेतु यही है, कि जिससे मुमुक्षुओंको यह मालूम हो जाय, कि इस मोक्ष-मार्गपर चलनेसे ऐसी ऐसी ऋद्धियाँ प्राप्त हुआ करती है, फिर भी वे मुमुक्षुओंके लिये हेय ही हैं। ऋद्धियोंकी तृष्णा भी मोह ही है, और मोहका जबतक पूर्णतया अभाव नहीं होता, तबतक वह जीव निर्वाणसे बहुत दूर है। क्योंकि निर्वाण-अवस्था मोहके सर्वथा नष्ट होजानेपर घातित्रयका घातकर अघातिचतुष्टयके भी नष्ट होजानेपर ही प्राप्त हुआ करती है।

अब इस ग्रन्थमें जिस मोक्षमार्गका वर्णन किया गया है, उसीको प्रकारान्तरसे उप-संहार करते हुए संक्षेपमें ३२ पद्योंके द्वारा निदर्शन करते है।—

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशम्।
निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ॥ १॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कार्त्स्न्येन मोहनीयं प्रहीयते॥ २॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः॥ ३॥

गर्भसूच्यां विनष्टायां, यथा तालो विनश्यति ।
तथा कर्म क्षयं याति, मोहनीये क्षयं गते ॥ ४ ॥
ततः क्षीणचतुष्कर्मा, प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम् ।
बीजबन्धननिर्मुक्तः, स्नातकः परमेश्वरः ॥ ५ ॥
शेषकर्मफलापेक्षः, शुद्धो बुद्धो निरामयः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च, जिनो भवति केवली ॥ ६ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं, निर्वाणमधिगच्छति ।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥ ७ ॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति भवाङ्कुरः ॥ ८ ॥
तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति ।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥ ९ ॥
कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते ।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह, तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ १० ॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाबुनः ।
कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ ११ ॥
एरण्डयन्त्रपेडासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो, जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः, पुद्गला इति चोदितम् ॥ १३ ॥
यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोष्ठवाय्वग्निवीतयः ।
स्वभावतः प्रवर्त्तन्ते, तथोर्ध्वं गतिरात्मनाम् ॥ १४ ॥
अतस्तु गतिवैकृत्यमेषां यदुपलभ्यते ।
कर्मणः प्रतिघाताच्च, प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥ १५ ॥
अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च, जीवानां कर्मजा गतिः ।
ऊर्ध्वमेव तु तद्धर्मा, भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ १६ ॥
द्रव्यस्य कर्मणो, यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः ।
समं तथैव सिद्धस्य, गतिमोक्षभवक्षयाः ॥ १७ ॥
उत्पत्तिश्च विनाशश्च, प्रकाशतमसोरिह ।
युगपद्भवतो यद्वत्, तथा निर्वाणकर्मणोः ॥ १८ ॥
तन्वी मनोज्ञा सुरभिः, पुण्या परमभास्वरा ।
प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १९ ॥

नृलोकतुल्यविष्कम्भा, सितच्छत्रनिभा शुभा ।
ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ २० ॥
तादात्म्यादुपयुक्तास्ते, केवलज्ञानदर्शनैः ।
सम्यक्त्वसिद्धतावस्थाहेत्वभावाच्च निष्क्रियाः ॥ २१ ॥
ततोऽप्यूर्ध्वं गतिस्तेषां, कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः ।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥ २२ ॥
संसारविषयातीतं, मुक्तानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं, परमं परमर्षिभिः ॥ २३ ॥
स्यादेतदशरीरस्य, जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथं भवति मुक्तस्य, सुखमित्यत्र मे शृणु ॥ २४ ॥
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु, सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाभावे, विपाके मोक्ष एव च ॥ २५ ॥
सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।
दुःखाभावे च पुरुषः, सुखितोऽस्मीति मन्यते ॥ २६ ॥
पुण्यकर्मविपाकाच्च, सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च, मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥ २७ ॥
सुखप्रसुप्तवत्केचिदिच्छन्ति परिनिर्वृतिम् ।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखानुशयतस्तथा ॥ २८ ॥
श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च सम्भवात् ।
मोहोत्पत्तेर्विपाकाच्च, दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥ २९ ॥
लोके तत्सदृशोह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते ।
उपमीयेत तद्येन, तस्मान्निरुपमं सुखम् ॥ ३० ॥
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यादनुमानोपमानयोः ।
अत्यन्तं चाप्रसिद्धं, तद्यत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम् ।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्नच्छद्मस्थपरीक्षया ॥ ३२ ॥ (इति)

अर्थ—ऊपर तत्त्वज्ञानका उपाय बताया जा चुका है । उस प्रकारसे उक्त तत्त्वोंका परिज्ञान होजानेपर समस्त विषयोंमें वैराग्य उत्पन्न हुआ करता है । इष्ट विषयोंसे राग भाव और अनिष्ट विषयोंसे द्वेषरूप परिणाम नष्ट होजाता है । अच्छी तरह विरक्त हुए मनुष्यके कर्मोंका आस्रव रुक जाता है । आस्रव और उसके कारणोंसे रहित होनेपर नवीन कर्म—सन्तति छिन्न होजाती है । नवीन कर्मोंके आनेका मार्ग रुक जानेपर—संवरकी सिद्धि होनेपर निर्जराका

मार्ग भी प्रवृत्त होता है। पहले कर्मक्षय–निर्जराके कारण बताये जा चुके हैं। उन्हीं कारणोंके द्वारा पहलेके संचित कर्मोंका क्षपण करनेवाले जीवके सबसे पहले संसारके बीजरूप मोहनीय-कर्मका पूर्णतया क्षय हुआ करता है। मोहनीयकर्मका सर्वथा अभाव होजानेपर अन्तराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन तीन कर्मोंका एक साथ ही क्षय हो जाता है। मोहनीयके अभावके बाद ही इन तीनोंका भी पूर्णतया अभाव होता है। जिस प्रकार गर्भसूचीके नष्ट होनेपर तालका भी विनाश होजाता है। उसी प्रकार मोहनीयकर्मका भी सर्वथा क्षय होजानेपर कर्मोंका अत्यन्त अभाव होजाता है। इस प्रकार चार घातिकर्मोंको क्षीण करके अथाख्यातसंयमको प्राप्त हुआ जीव बीजरूप बन्धनसे निर्मुक्त होनेपर परमेश्वर–परम ऐश्वर्यको धारण करनेवाला स्नातक कहा जाता है। इन स्नातक भगवान्के चार अघातिकर्म अभी बाकी हैं, उनके फलोपभोगकी अभी अपेक्षा बाकी है। जिनको उन कर्मोंका फल भोगना ही मात्र शेष रह गया है, उनको शुद्ध बुद्ध निरामय सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिन और केवली कहा जाता है। क्योंकि मोहजनित अशुद्धिसे वे सर्वथा रहित हैं, ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय होजानेसे उनका अज्ञानभाव सर्वथा नष्ट होगया है, उनको किसी भी प्रकारकी व्याधि नहीं होती, पदार्थमात्र और उनकी त्रिकालवर्त्ती सूक्ष्म स्थूल समस्त अवस्थाओंको वे हस्त–रेखाके समान प्रत्यक्ष और एकसाथ जानते तथा देखते है। सम्पूर्ण कर्मोंपर वे विजय प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये उनको जिन कहते हैं, और वे पर-भाव और परसंयोगसे सर्वथा रहित होकर शुद्ध आत्मरूप ही रह गये हैं, इसलिये अथवा केवल ज्ञानादिके ही अधीश्वर हैं, इससे उनको केवली कहते हैं। इस स्नातक अवस्थाके अनन्तर शेष चार अघातिकर्मोंका क्षय होजानेपर उस शुद्धात्माकी ऊर्ध्व–गति होती है। इसीको निर्वाण-प्राप्ति कहते हैं। जिसप्रकार अग्निमें ईंधनका पड़ते रहना यदि बन्द हो जाय, और मौजूद ईंधन भी जलकर भस्म होजाय, तो विना उपादानके वह अग्नि निर्वाण–दशाको प्राप्त होजाती है, उसी प्रकार केवलीभगवान् भी कर्मरूप ईंधनके जल जानेपर निर्वाणको प्राप्त होजाते हैं। निर्वाण होजानेपर उस जीवको फिर भव–धारण नहीं करना पड़ता।–पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता। जिस प्रकार बीजके सर्वथा जलजानेपर किसीभी तरह अंकुर प्रकट नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीजके जलजानेपर संसाररूपी अंकुर भी उत्पन्न नहीं हुआ करता। जिस समय शेष अघातिकर्मोंका अत्यंत क्षय होता है, उसके उत्तरक्षणमें ही यह जीव लोकके अंततक ऊपरको गमन किया करता है, शुद्ध जीवके ऊर्ध्व–गमनमें कारण–पूर्वप्रयोग असङ्गता बन्धच्छेद और ऊर्ध्व–गौरव हैं। कुम्भारके चक्रमें एक वार घुमा देनेपर और वाणमें एक वार छोड़ देनेपर भी पूर्वप्रयोगके द्वारा गति होती हुई देखी जाती है, उसी प्रकार सिद्ध होनेवाले जीवोंकी भी गति पूर्वप्रयोगके द्वारा हुआ करती है। मिट्टीके लेपका संगम–साथ छूट जानेपर तुम्बी जलके ऊपर आजाती है, ऐसा देखा जाता है। इसी

प्रकार कर्मोका संगम छूट जानेपर सिद्ध–जीवोंकी भी ऊर्ध्व–गति हुआ करती है। जिस प्रकार एरण्ड यन्त्रकी पेड़ामेंसे बन्धके छूटते ही गमन किया करता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध का विच्छेद होनेपर सिद्ध–जीव भी गमन किया करते है। जिनोत्तम श्रीसर्वज्ञ भगवान् ने ऐसा कहा है, कि पुद्गल द्रव्य अधोगौरवधर्मा है, और जीव द्रव्य ऊर्ध्वगौरवधर्मा है। पुद्गलोंमें स्वभाव से ही ऐसा गुरुत्व पाया जाता है, कि जिसके कारण वे नीचेको ही गमन कर सकते या किया करते हैं, जीवोंका स्वभाव इसके प्रतिकूल है–वे स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाले है। शुद्ध अवस्थामें जीवोंका यह स्वभाव भी प्रकट हो जाता है, और अपना कार्य किया करता है। जिस प्रकार स्वभावसे ही मिट्टीका ढेला नीचेकी तरफ और वायु तिरछी–पूर्वादि दिशाओंकी तरफ और अग्नि ऊपरको गमन किया करती है, उसी प्रकार शुद्ध जीवोंकी भी ऊर्ध्व–गति स्वभावसे ही हुआ करती है। लोकमें ऊर्ध्व–गतिके विरुद्ध जीवोंकी गतिमें जो विकार नजर आता है, उसका कारण कर्म है। कर्मके प्रतिघातसे अथवा बुद्धि–पूर्वक होनेवाले प्रयोगसे जीवोंकी विकृत–गति भी होसकती है। जीवोंकी कर्मके निमित्तसे जो गति हुआ करती है, वह ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् सब तरहकी होसकती है, परन्तु जिनके कर्म सर्वथा क्षीण हो चुके है, और कर्मोंके क्षीण होजानेसे जिनका उर्ध्व–गति–स्वभाव प्रकट हो गया है, ऐसे जीव नियमसे ऊपरको ही गमन किया करते हैं। जिस प्रकार द्रव्य कर्मके उत्पत्ति आरम्भ और विनाश एक साथ ही हुआ करते है। उसी प्रकार सिद्धजीवके भी गति मोक्ष और संसारका क्षय एक साथ ही हुआ करते है। जिस प्रकार प्रकाशकी उत्पत्ति और अन्धकारका विनाश लोकमे एक साथ होता हुआ दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार निर्वाणकी प्राप्ति और कर्मोका क्षय भी एकसाथ ही हुआ करते हैं। लोकके अन्तमें मूर्धा–शिरके स्थानपर एक प्राग्भारा नामकी पृथिवी व्यवस्थित है, जोकि तन्वी–पतली मनोज्ञ सुगन्धित पुण्य–पवित्र और स्वच्छ तथा अत्यन्त भास्वर–प्रकाशमान है। उसका विष्कम्भ मनुष्यलोककी बराबर ४५ लाख योजनका है, और श्वेत छत्रके समान शुभ है। उस पृथ्वीके भी ऊपर लोकके अन्तमें–तनुवातवलयके भी अन्तमें सिद्धपरमेष्ठी अवस्थित है। सिद्धभगवान् केवलज्ञान और केवलदर्शनके साथ साथ तादात्म्यसम्बन्धसे उपयुक्त हैं। सम्यक्त्व और सिद्धत्वमें अवस्थित है। तथा कारणका अभाव होजानेसे निष्क्रिय है। यदि किसीको यह शंका हो, कि जब जीवका स्वभावही ऊर्ध्व–गमन करनेका है, और वह गुण सर्वथा प्रकट हो चुका है, तो शुद्धजीव ऊर्ध्व–गमनही सदा क्यों नहीं करता रहता, तनुवातवलयके अंतमें ठहर क्यों जाता है, उससे ऊपर भी गमन क्यों करता हुआ चला नहीं जाता? तो यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँपर धर्मास्तिकायका अभाव है। जीव और पुद्गलके गमनमें सहकारी–कारण वही है। और वह यहाँतक है, जहाँपर सिद्ध–जीव जाकर अवस्थित हो जाते है। मुक्तात्माओंके सुखको

परमर्षियोंने संसारके विषयोंसे अतिक्रान्त अव्यय—कभी नष्ट न होनेवाला और अव्याबाध—बाधाओं—सम्पूर्ण आकुलताओंसे रहित, तथा सर्वोत्कृष्ट बताया है । यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि लोकमें सुखका उपभोग कर्म सहित और शरीरयुक्त जीवोंके ही होता हुआ देखा जाता है । सिद्धजीव इन दोनों ही बातोंसे रहित हैं । वे शरीरसे भी रहित हैं, और सम्पूर्ण—आठों कर्म भी उनके नष्ट हो चुके हैं । अतएव मुक्तात्माओंके सुखका उपभोग किस प्रकारसे हो सकता है ? इसीके उत्तर रूपमें कहते हैं कि—लोकमें सुख शब्द चार अर्थोंमें प्रयुक्त होता है ।—विषय वेदनाका अभाव विपाक और मोक्ष । इनमेंसे विषयकी अपेक्षा इष्ट वस्तुके समांगममें सुख शब्दका प्रयोग किया जाता है । यथा——सुखो वन्हिः सुखो वायुः । अर्थात् शीतपीड़ित मनुष्य अग्निके मिलनेपर उसको सुखरूप मानता है, और कहता है कि सुख है—आनन्द आगया, इसी प्रकार गर्मीसे जिसके प्रस्वेद—पसीना आगया है, वह जीव वायुको सुखरूप मानता है । कहींपर दुःख—वेदना और उसके कारणोंके नष्ट होजानेपर अपनेको सुखी समझता है । इसके सिवाय यह बात तो सभी जानते और कहते हैं, कि इन्द्रियोंके विषयोंसे जन्य—वैषयिक सुख पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ करते हैं । चौथा सुख मोक्षमें है अथवा मोक्षरूप है, जो कि कर्म और क्लेशके क्षयसे उद्भूत—पैदा हुआ करता है, और इसीलिये जो अनुत्तम माना गया है, उस सुखसे बढ़कर और कोई भी सुख नहीं है—मोक्षका सुख सबसे उत्कृष्ट है । कोई कोई कहते हैं, कि निर्वाण—अवस्था सुस्वप्नके समान है । अथवा जिस प्रकार सोता हुआ मनुष्य बाह्य विषयोंसे बेखबर रहा करता है, उसी प्रकार मुक्त—जीव भी समझना चाहिये । किन्तु यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सुसुप्ति—दशामें क्रियावत्ता और सुखानुशय—सुखोपभोगके अल्प बहुत्वकी अपेक्षा सिद्ध—अवस्थासे महान् अंतर है । सिद्ध निष्क्रिय हैं, और अल्प बहुत्व रहित सुखके स्वामी हैं । सुप्तजीवमें यह बात नहीं है । इसके सिवाय सुसुप्ति या निद्राके कारण श्रम क्लम—खेद मद और मदन--मैथुन—सेवन है । इन कारणोंसे निद्राकी संभूति—उत्पत्ति हुआ करती है । मोहकर्मका उदय तथा दर्शनावरणकर्मका विपाक भी इसमें कारण है । किन्तु सिद्ध—अवस्थाका सुख इन कारणोंसे जन्य नहीं है । सिद्ध—अवस्थामें जो सुख है, उसकी सदृशता रखनेवाला तीन लोकमें भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जिसकी उसको उपमा दी जा सके । अतएव सिद्धोंके सुखको अनुपम कहा जाता है । हेतुवादके द्वारा जहाँपर सिद्धि की जाती है, उस प्रमाणका भी वह विषय नहीं है, और अनुमान तथा उपमान प्रमाणका भी वह सर्वथा अविषय है, इसलिये भी उसको अनुपम कहा जाता है । भगवान् अरहंत-

देवने प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उसको देखा है, इसलिये उन्हींके ज्ञानका वह विषय हो सकता है। अन्य विद्वान् उनके कहे अनुसार ही उसको ग्रहण किया करते हैं, और उसके अस्तित्व-को स्वीकार करते है। क्योंकि वह छद्मस्थोंकी परीक्षाका विषय नहीं है।

भाष्यम्—यस्त्विदानीं सम्यग्दर्शनज्ञानचरणसम्पन्नो भिक्षुर्मोक्षाय घटमानः कालसंहन-नायुर्दोषादल्पशक्तिः कर्मणां चातिगुरुत्वादकृतार्थएवोपरमति स सौधर्मादीनां सर्वार्थसिद्धा-न्तानां कल्पविमानविशेषाणामन्यतमे देवतयोपपद्यते। तत्र सुकृतकर्मफलमनुभूय स्थितिक्ष-यात्प्रच्युतो देशजातिकुलशीलविद्याविनयविभवविषयविस्तरविभूतियुक्तेषु मनुष्येषु प्रत्याया-तिमवाप्य पुनः सम्यग्दर्शनादिविशुद्धबोधिमवाप्नोति। अनेन सुखपरम्परायुक्तेन कुशलाभ्या-सानुबन्धक्रमेण परं त्रिर्जनित्वा सिध्यतीति॥

अर्थ—वर्त्तमान शरीरसे ही मोक्ष प्राप्त करनेका जो क्रम है, और उसके लिये जो जो और जैसे जैसे कारणोंकी आवश्यकता है, उन सबका वर्णन ऊपर किया या चुका है। जो भव्य तद्भव मोक्षगामी हैं, और उसके अनुकूल काल संहनन आयु आदि सम्पूर्ण—कारण सामग्री जिनको प्राप्त है, वे उसी भवसे मोक्षको प्राप्त करलेते हैं। किन्तु जो आजकलके साधु हैं, वे अल्पशक्ति हैं—उनका बल और पराक्रम बहुत थोड़ा है, तथा उनके कर्मोंका भार भी अत्यंत गुरुतर है—एक ही भवमें जिनका क्षय किया जा सके, ऐसे अल्पस्थिति अनुभाग आदिके धारक उनके कर्म नहीं हैं। अतएव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप सम्पत्तिसे युक्त और मोक्षके लिये प्रयत्नशील रहते हुए भी वे इसी भवसे कृतार्थ नहीं हो सकते। कृतकृत्य-दशा—निर्वाण पदको वे प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि उसी भवसे कर्म—भारको निःशेष करनेके लिये जिस शक्तिकी आवश्यकता है, काल संहनन और आयुके दोषसे वह उनमें नहीं पाई जाती। इस प्रकारके मुमुक्षु भिक्षु तद्भवमुक्त न होकर ही उपरामको प्राप्त हो जाया करते हैं, जिससे कि आयुके अन्तमें वे देव पर्यायको धारण किया करते है। सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थ-सिद्ध पर्यन्तके कल्प विमानोंमेंसे किसी भी एक कल्पके विमानमें जाकर देव हुआ करते है। वहाँपर अपने संचित पुण्यफलको भोगकर आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत होते हैं, और मनुष्य—पर्यायको धारण किया करते है। मनुष्य—गतिमें ऐसे मनुष्योंमेंही वे जन्म धारण किया करते हैं, जोकि देश जाति कुल शील विद्या विनय विभव और विषयोंके विस्तारसे तथा विभूतियोंसे युक्त है। जिन देशोंमें या जातियों अथवा कुलोंमें जन्म—ग्रहण करनेसे रत्नत्रय धारण करनेकी पात्रता उत्पन्न होती है, उन्हीं देश जाति या कुलोंमें ऐसे जीव जन्म—ग्रहण किया करते हैं। इसी प्रकार जो शील या विद्या आदि गुण निरवद्य और मोक्ष पुरुषार्थके साधनमें उपयोगी हो

सकते हैं, वे ही उनको प्राप्त हुआ करते हैं, और इन गुणोंसे युक्त कुलीन पुरुषोंके वंशमें ही वे अवतार–धारण किया करते हैं। इस तरहके मनुष्य जन्मको पाकर वे फिरसे सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध–निर्मल–निर्दोष रत्नत्रयको प्राप्त हुआ करते हैं। इसी क्रमसे जिसमें कि पुण्यकर्मके फलका उपभोग साथ लगा हुआ है, और इसी लिये जो सुख परम्पराओंसे युक्त है, ऐसे ज्यादेसे ज्यादे तीन वार जन्म–धारण करके अन्तमें वह जीव सिद्ध–अवस्था–निर्वाण पदको हुआ करता है।

प्रशस्तिः—

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः, प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २ ॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्त्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

ग्रन्थ समाप्तम् ।

अर्थ—प्रकाशरूप है, यश जिनका–जिनकी कीर्त्ति जगद्विश्रुत है, ऐसे शिवश्री नामक वाचकमुख्यके प्रशिष्य और एकादशाङ्गवेत्ता–ग्यारहअङ्गके ज्ञानको धारण करनेवाले श्री घोषनन्दिश्रमणके शिष्य तथा प्रसिद्ध है कीर्ति जिनकी और जो महावाचकक्षमण श्रीमुण्डपादके शिष्य थे, उन श्रीमूलनामक वाचकाचार्यके वाचनाकी अपेक्षा शिष्य, न्यग्रोधिका स्थानमें उत्पन्न होनेवाले कुसुम–पटना नामक श्रेष्ठ नगरमें विहार करते हुए, कौभीषणी गोत्रोत्पन्न स्वाति पिता और वात्सी माताके पुत्र नागर वाचक शाखामें उत्पन्न हुए श्रीउमास्वातिने भलेप्रकार गुरु-